हिन्दी-रीतिकविता और समकालीन उर्दू-काव्य

[सन् १६४३ से १८५० तक]

लेखक

डॉ० मोहन अवस्थी एम्० ए०, डी० फ़िल्०, डी० लिट्०

रीडर, हिन्दी विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

सरस्वती प्रेस

इलाहाबाद : दिल्ली

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत

●

प्रथम संस्करण : जुलाई १९७८

मूल्य : साठ रुपये

Hindi Reeti Kavita Aur Samkaleen Urdu Kavya
By Dr. MOHAN AVSTHI

●

Printed by Kameshwar Nath Bhargava at the
SUPERFINE PRINTERS, 1-C. Bai ka Bagh, ALLAHABAD.

प्राक्कथन

काव्य-कला की दृष्टि से हिन्दी-रीतिकाव्य का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। रीतिकवियों की दृष्टि जिस तरह कलात्मकता की ओर है, उसी प्रकार उर्दू-शाइर भी कला को महत्व देते हैं। अत हिन्दी-रीतिकविता के साथ उर्दू-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन करना अत्यन्त समीचीन है।

रीतिकाव्य से मेरा आशय रीतिकाल में लिखी गई पूरी कविता से है। रीतिकविता की जो धारा समीक्ष्य काल में बही है उससे उस समय का कोई भी कवि अछूता नहीं बचा। कवि चाहे शृङ्गार रस भरी रचनाएँ करे, चाहे वीर रस भरी, रीति-प्रवाह ने उसे भी अपने साथ लगाया अवश्य है। यह दूसरी बात है कि कोई उसमें डूबा, कोई बहा और कोई सिक्त मात्र हुआ। इसलिए रीतिबद्ध रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त आदि भेद मुझे उचित नहीं प्रतीत होते। रीतिमुक्त कवि भी रीतियुक्त हैं। यह बात इस ग्रंथ मे घनानंद के काव्य-शिल्प के विवेचन द्वारा अच्छी तरह प्रमाणित की गई है।

हिन्दी-रीतिकविता की अबाध धारा का प्रारम्भ सन् १६४३ से माना जाता है। उर्दू-कविता की स्थिरता भी इसके आस-पास अली आदिलशाह सानी (रा० का० सन् १६२७-१६५७) से प्रारम्भ होती है। यह ठीक है कि उससे पूर्व भी कुली क़ुतुब शाह (रा० का० सन् १५८०-१६११) का कविता-संग्रह उपलब्ध है लेकिन इस समय तक उर्दू-कविता की धारा अनिश्चित थी। उर्दू-काव्य में मो 'वली' औरंगाबादी तथा 'फ़ायज़' के समय में आया। 'वली' और 'फ़ायज़' का उत्कर्ष काल सन् १६४३ के बाद ही है। तुलना की दृष्टि से उत्तरी भारत के पहले उर्दू-शाइर 'फ़ायज़' का बहुत महत्व है, क्योंकि उनकी कविता हिन्दी रीतिकाव्य के सान्निध्य में रची गई। 'फ़ायज़' की जन्म तिथि सन् १६४३ के समीप ही पड़ती है। 'फ़ायज़' के पश्चात् 'मीर' और 'सौदा' आदि के समय उर्दू-हिन्दी का एक दूसरे पर प्रभाव क्रमबद्ध रूप से पड़ने लगता है। इसलि अध्ययन का प्रारम्भ सन् १६४३ से किया गया है।

'भारतेन्दु' हिन्दी-साहित्य मे आधुनिकता के अग्रदूत हैं। 'भारतेन्दु' का जन्म सन् १८५० में हुआ। हिन्दी में आधुनिक काल सन् १८५० के बाद प्रारम्भ होता है। सन् १८५७ के ग़दर के पश्चात् हिन्दी-उर्दू-कविता में नए लक्षण प्रक होने लगे थे। हिन्दी में 'भारतेन्दु' तथा उनके वर्ग के साहित्यकारों ने सन् १८७ के आस-पास दृढ़ नये स्वर प्रारम्भ कर दिये थे और उर्दू-काव्य में भी 'आज़ा तथा 'हाली' सन् १८७५ के आसपास निश्चित रूप से परिवर्तन लाने लगे थे

इस प्रकार हिन्दी-उर्दू दोनों काव्यों ने सन् १८५० के बाद अपने को रीतिबद्धता से मुक्त करना शुरू कर दिया था।

'ग़ालिब' का काव्य-संग्रह सन् १८५० से पूर्व तैयार हो चुका था और 'ज़ौक़', 'मोमिन' का कविता-काल भी सन् १८५० के पहले का है। इसलिए दोनों दृष्टियों से सन् १८५० को अध्ययन की अंतिम सीमा मानना उचित ठहरता है।

सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से भी आलोच्यकाल बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति का वास्तविक मेल इसी काल में उभर कर सामने आता है। यद्यपि मुसलमानों ने भारत पर पहली बार आक्रमण सन् ७१२ में किया था, परन्तु छोटा-मोटा राज्य स्थापित कर लेने पर भी ये आक्रमणकारी मुसलमान भारत में टिके नहीं। उनका असली प्रभाव दसवीं शताब्दी के बाद पड़ना शुरू हुआ।

अब्बासी खिलाफ़त के पतन के साथ इस्लाम-जगत् में तुर्की सरदारों की शक्ति निरंकुश हो गई थी, अतः उन्होंने राज्य स्थापित किए। सुबुक्तगीन ने सन् ९८६-८७ में पंजाब पर आक्रमण किया और उसके पुत्र महमूद ने चढ़ाइयाँ करके लूटमार की। तत्पश्चात् सन् ११७० में मुहम्मद ग़ोरी ने भारत पर आक्रमण किया। वह अनेक बार हारा, लेकिन राजपूतों के पारस्परिक विद्वेष के कारण अंत में विजयी हुआ। उसका सरदार कुतुबुद्दीन ऐबक जो ग़ोरी के अधिकृत प्रदेश का प्रबंधक था, उसके मरने पर शासक बन बैठा और इस प्रकार सन् १२०६ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। लेकिन लगभग तीन-चार सौ वर्षों तक भारत में स्थायी निवास करते हुए भी उन शासकों ने अरब, मिस्र तथा बग़दाद से बराबर सम्पर्क बनाए रखा। वे अपने को उसी सांस्कृतिक सूत्र से जुड़ा हुआ मानते थे। इसके अतिरिक्त इन मुसलमान शासकों की नीति अपनी हिन्दू-प्रजा के प्रति अत्यन्त अनुदार थी। मुहम्मद तुग़लक़ (रा० का० सन् १३२५-१३५१), बहलोल लोदी (रा० का० सन् १४५१-१४८९) तथा शेरशाह सूरी (रा० का० १५४०-१५४५) को छोड़कर अन्य शासकों ने हिन्दुओं के साथ मानववादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू लोग मुसलमानों को 'म्लेच्छ' और मुसलमान उन्हें 'काफ़िर' समझकर दूर-दूर रहे।

सहिष्णुता तथा एकता के प्रयत्न हिन्दू संत-महात्माओं और सूफ़ी फ़क़ीरों की ओर से प्रारम्भ हुए। लेकिन मुग़ल-शासन में जब राजनैतिक शान्ति स्थापित हो गई और अकबर (रा० का० सन् १५५६-१६०५) की उदार नीति के कारण हिन्दू-मुसलमान परस्पर बहुत निकट आ गए तो सांस्कृतिक आदान-प्रदान की गति तेज़ हो गई। आगे चलकर यह मेल बढ़ता गया। बस औरंगज़ेब की

धर्मान्धता को छोड़कर और किसी ने इस विकास को प्रतिहत नहीं किया। शाहजहाँ के शासन-काल (सन् १६२७-१६५८) में मुग़ल-वैभव अपनी पूर्ण उन्नति पर था, जिसके पश्चात् उसका ह्रास और फिर पतन हुआ। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उत्तर भारत की अस्थिर राजनैतिक अवस्था, लूटमार, विदेशियों के आक्रमण तथा बर्बरतापूर्ण नरसंहार में हिन्दू-मुसलमान समान रूप से शोषित-पीड़ित हुए। फलस्वरूप वे परस्पर निकट से निकटतर आते गए।

आदान-प्रदान का यह क्रम तो आज तक चल रहा है, लेकिन अँगरेज़ों का राज्य जैसे-जैसे बढ़ता गया, वैसे-वैसे अँगरेज़ी संस्कृति का प्रभाव अधिक पड़ने लगा। अवध राज्य का सन् १८५६ में अंत हो गया और अँगरेज़ पूरे उत्तर भारत के शासक बन बैठे। सन् १८५६ के बाद अँगरेज़ी संस्कृति अपना प्रभाव डालने लगी, अतः हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति की दृष्टि से सन् १६४३ से १८५० तक का समय बहुत अहमियत रखता है।

संस्कृति का प्रभाव न केवल आचार-व्यवहार पर, अपितु विचार और भावों की अभिव्यक्ति-प्रणाली पर भी पड़ता है। किसी देश के काव्य को समझने के लिए वहाँ की संस्कृति से परिचित होना ज़रूरी है। इसलिए हिन्दी-रीतिकविता और समकालीन उर्दू-काव्य का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन करना एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है।

इतने महत्वपूर्ण विषय पर हिन्दी में अभी तक कोई काम नहीं हुआ था। सन् १८५० के बाद के हिन्दी-उर्दू-काव्य की तुलना हिन्दी और उर्दू के दो-तीन अनुसंधित्सुओं ने की है, परन्तु उनके शोध-प्रबंधों में न कोई विवेचन है, न किसी प्रकार का विश्लेषण। जिन सज्जनों ने कार्य किया है, उन्हें दोनों भाषाओं के काव्य का कितना ज्ञान है, यह बात हमें बताने की ज़रूरत नहीं, उनके ग्रंथ खुद चिल्लाकर उनकी क़ाबिलियत का इज़हार करते हैं। ऐसे उड़न-छू कार्यों का होना न होना बराबर है।

तुलनात्मक अध्ययन की बात तो दूर रही, केवल रीतिकालीन काव्य पर भी दो-चार विद्वानों के अतिरिक्त अन्य अनुसंधित्सुओं ने पल्लवग्राही अनुसंधान ही किया है। रीतिकालीन कविता को लेकर कई तरह के शोध प्रबंध लिखे गए हैं और इनके लेखक विभिन्न स्तरों के हैं। इनमें से अधिकतर ऐसे हैं, जिन्होंने इधर-उधर की आलोचनात्मक पुस्तकें पढ़कर पोथे तैयार कर दिये हैं, मूलग्रंथ पढ़ने का या तो उन्होंने कष्ट नहीं उठाया अथवा कष्ट उठाने पर भी ग्रंथ उनके पल्ले नहीं पड़े। कुछ लेखक ऐसे हैं, जिन्होंने अँगरेज़ों के लिखे इतिहासों या यात्रा-वृत्तान्तों के अनुवाद कर डाले हैं और उनकी पुष्टि में कविता से दस-पाँच उद्धरण देकर विश्रान्ति ले ली है; पूरी काव्य-चेतना के स्वर को पहचानने की चेष्टा नहीं की।

इन लेखकों के ग्रंथों में यदि 'नाजिब' शब्द मिले तो आप समझ लीजिए कि रोमन लिपि में लिखे गए 'नजीब' शब्द की कैसी दुर्गति हुई है ? समझदार विद्वानों ने जो अनुसंधान किया है उसमें सतहीपन तो नही है, परन्तु समकालीन किसी अन्य भाषा के काव्य से तुलना करके निर्णय न होने के कारण उनके बहुत-से निष्कर्ष ग़लत है या अनतुपन्न रह गए है। तुलना से अनेक भ्रमों का निवारण होता है साथ ही अनेक नई स्थापनाओं को बल मिलता है।

इन समस्त तथ्यों को ध्यान मे रखते हुए मैंने हिन्दी-रीतिकविता और समकालीन उर्दू-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन स्वान्तः सुखाय आरंभ किया था। उपाधि लेने की मेरी इच्छा बिल्कुल नहीं थी, क्योंकि उपाधियों के नाम पर जो कूड़ा हिन्दी में उँड़ेला जा रहा है, उसे देखकर बिना उपाधि के रहना ही श्रेयस्कर है। परन्तु हमारे तत्कालीन विभागाध्यक्ष डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० फ़िल्, डी० लिट्० के बार-बार कहने पर सन् १९७० में यह विषय पंजीकृत कराया गया और लगभग दस वर्ष के अध्ययन से संकलित अपनी सामग्री को व्यवस्थित करके मैंने सन् १९७४ में शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया, जिस पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने उसी वर्ष डॉक्टर ऑव लेटर्स (डी० लिट्०) उपाधि प्रदान की। यह ग्रंथ उसी प्रबंध का पुस्तकीकृत रूप है। पंजीकरण के बाद उपाधि मिलने तक के मानसिक उत्पीड़न तत्पश्चात् व्याधि एवं संघर्ष की कहानी अलग है, फिर भी यदि विषय पंजीकृत न हुआ होता तो शायद आलस्यवश आज तक वह सारी सामग्री ज्यों की त्यों पड़ी रहती, अतएव अपने परामर्शदाता डॉ० वार्ष्णेय को धन्यवाद देना मेरा कर्त्तव्य है।

हिन्दी-रीतिकाव्य के अनुसंधित्सु के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह है कि मूल ग्रंथ अलभ्य है। चारों ओर दौड़-धूप करने और पुस्तकालयों की खाक छानने पर भी महत्वपूर्ण ग्रंथों के दर्शन नहीं हो पाते। मेरे सामने भी यह समस्या थी, परन्तु संयोगवश मेरा परिचय डॉ० किशोरी लाल (नैनी, इलाहाबाद) से हो गया, जिनके पास रीतिकालीन काव्यों का विशाल संग्रह है। उन्होंने वे सारे ग्रंथ मुझे पढ़ने को दिये और वापस करने में अवधि की कोई क़ैद नहीं लगाई। उनके इस सद्भाव के लिए मैं आभारी हूँ।

मध्यकालीन हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के ग्रंथ इतने महत्वपूर्ण है कि कोई भी अनुसंधित्सु उनकी सहायता लिये बिना यह लम्बी मंज़िल अंजसा पार नहीं कर सकता। मैंने भी उन ग्रंथों से लाभ उठाया है। अतः आभारी हूँ। आचार्यजी ने मेरा शोध-प्रबंध जाँच-परखकर 'पुरोवाक्' लिखने का कष्ट उठाया, यह उनकी अतिरिक्त कृपा है। ऋषि-ऋण के भार से दबा मैं उनके इस अनुग्रह के आगे श्रद्धावनत हूँ।

वर्तमान समय में जब कि मँहगाई आसमान छू रही है, सरस्वती प्रेस ने यह ग्रंथ इतने सुन्दर ढंग से प्रकाशित करके अपनी गुण ग्राहकता का परिचय दिया है। एतदर्थ मैं संस्था के संचालक आदरणीय भाई श्री श्रीपतराय जी तथा प्रबंधक श्री प्रेमनारायण मिश्र को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। साधुवाद 'सुपरफ़ाइन प्रिंटर्स' को भी है जिन्होंने छापने में डेढ़ वर्ष तक धैर्य का अद्भुत परिचय देकर इस कृति-सीता को आज मुक्त किया।

आलोचना के राजनीतिक वटाटोप में आज कविता का अर्थ विलीन हो रहा है। काव्य-ग्रंथों के पठन-पाठन से लोग कोसों दूर भाग रहे हैं। प्राध्यापक की दशा यह है कि काव्य ग्रंथ पर इधर-उधर की चर्चा तो वह घंटों करेगा, लेकिन ज्यों ही किसी ने एक छंद का अर्थ पूछा, उसकी बोलती बन्द हो जाती है और वह छिन्नाभ्रमिव नश्यति। हिन्दी का यह दुर्भाग्य है कि ऐसे आलोचक ही उस पर छा गये हैं। परिणामस्वरूप साहित्य-क्षेत्र में दंभ और पाखंड रक्तबीज की तरह बढ़ रहे हैं। विद्या की देवी सरस्वती शुभ्रवस्त्रा ही नहीं, श्वेत पद्मासना भी है। जब तक हृदय में शुभ्रता नहीं होगी, वह बैठेगी कहाँ? इसलिए सच्चे साहित्य-सेवी का हृदय शुभ्र होना चाहिए। ऐसे सरल एवं ज्ञानार्जन-निरत-सत्साहित्यिकों के हाथों में यह ग्रंथ सौंपते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। सुधी ही वस्तुतः सच्चे पारखी है, उनका मत ही वास्तविक मत है, इसलिए उनके द्वारा इंगित त्रुटियों का परिहार करने में मैं सुख का अनुभव करूँगा।

प्रयाग —मोहन अवस्थी

१, जुलाई १९७८ ई०

पुरोवाक्

'हिन्दी-रीतिकविता और समकालीन उर्दू-काव्य' में दोनों कविताओं का तुलनामूलक अध्ययन किया गया है। 'रीतिकविता' का तात्पर्य यहाँ रीतिकालिक कविता है अर्थात् जिन्हें रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त कहा गया है वे सभी इसके अन्तर्गत हैं। रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध नाम से अभिहित रचना को तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी एक ही धारा की माना है। किन्तु रीतिमुक्त या स्वच्छन्द को उन्होंने फुटकल खाते में ही डाला। 'रीति' का अर्थ उन्होंने रीतिशास्त्र लिया है। जो रीतिशास्त्र लिखते थे या जो रीतिशास्त्र न लिखकर उसका अनुगमन करते थे दोनों में शास्त्रीयता की दृष्टि से भेद सामान्यतया नहीं होना चाहिये। किन्तु कोई शास्त्र का निर्माण न करके यदि शास्त्र का आधार ही लेता है तो ऐसा करने में उसका कुछ न कुछ प्रयोजन तो होता ही है। इसीलिए काव्यमीमांसाकार ने कवियों के तीन भेद माने हैं—वे हैं शास्त्रकवि, काव्यकवि और शास्त्रकाव्योभय कवि। शास्त्रकवि वह होता है जो शास्त्र से पूर्णतया बद्ध होता है। काव्यकवि शास्त्र से बद्ध न रहकर काव्योच्छलन स्वतत्र-स्वच्छन्द करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह कड़ाई से शास्त्रबद्धता से सर्वत्र बचता है। परंपरा की बहुत सी धारणाएँ-मान्यताएँ ऐसी हैं जिनसे बचने का प्रयास करके भी नहीं बचा जा सकता। शास्त्र की वश्यता जहाँ अनपेक्षित रहती है, कवि सर्जना में प्रवृत्त होकर जहाँ काव्य की नूतन सृष्टि में ही आत्मार्पित रहता है, पुरातनता का मोह नहीं रह जाता। जो शास्त्रकाव्योभयकवि होते हैं वे कहीं शास्त्रीयता की सरणि पर चलते हैं और कहीं उससे हटकर भी निकल जाते हैं। उनका भी लक्ष्य नूतनता होती है। कहीं तो उसे शास्त्र के सहारे और कहीं बेसहारे उद्भूत करते हैं। तत्वतः शास्त्रकाव्योभय कवि होता है आधा शास्त्रपरक और आधा स्वच्छन्द। दोनों वृत्तियों को पृथक्-पृथक् रखकर भी वह काव्यपंथ में पदन्यास कर सकता है।

'रीति' के बदले 'शृंगार' पद को लें तो दो विशेषताएँ सुस्पष्ट लक्षित होती हैं—एक तो प्रेम की वृत्ति के विविध रूप अर्थात् भावनाभेद और दूसरे उसकी अनेकविध सजावट या सौन्दर्यभेद। ये दो प्रवृत्तियाँ सभी प्रकार के कवियों में हैं। कोई रीति से बँधा हो या उन्मुक्त हो, ये दो मनोवृत्तियाँ उस युग की कविता

में बहुत स्पष्ट हैं। यदि 'रीति' का संस्कृतवाला अर्थ ही लिया जाए—'विशिष्ट-पदरचना' और '[illegible]' तो 'गुण' को चित्तवृत्ति से ही सम्बद्ध करना होगा। कहीं चित्तद्रुति, कहीं चित्तदीप्ति और कहीं चित्तप्रसृति ही दिखेगी। 'रीति' में 'पदसंघटना' सौंदर्यमूला होती हैं। 'गुण' [illegible] से बँधता है। वामन ने 'सौन्दर्यमलंकारः' कहकर 'अलंकार' में 'विशिष्ट अलंकार' और 'रीति' दोनों को अन्तर्भुक्त किया। 'अलंकार' चारुत्व में स्वरूपमात्रनिष्ठ होते हैं और रीति में चारुता संघटनाश्रित रहती है। चारुत्व या सौन्दर्य की ओर दोनों ही उन्मुख हैं। 'अलंकार' अंगों का अश्लिष्ट सौंदर्य सामने करता है, जैसे नेत्र का, नासिका का, मुख का आदि आदि। किन्तु जहाँ सुषम संस्थान होता है, एक अंग को दूसरे से संश्लिष्ट करके सौन्दर्य द्योतन करते है वहाँ सौंदर्य की सुषमता रहती है। सुषमा तब हो जाती है परमा शोभा। काव्यवपु का वह सौन्दर्य जो रूप की आकर्षकता, निर्मिति की अतिमा में निष्ठा रखता है 'अलंकार' है। जो संघटना अंगों की सापेक्ष स्थिति दर्शित करे 'रीति' है। 'रीति' का अर्थ 'सुषमा' लिया जाए तो भी सौंदर्य की अतिशयता ही प्रयोजनीय है। सौंदर्यभेद में सभी की समाई है। अतः 'रीति काव्य' कहकर समस्त सौन्दर्यभेदों का ग्रहण किया जाए तो इसके आभोग में सभी कवि आ जाते हैं। 'गुण' से चित्तवृत्ति को विशेष समेट लेने से इसमें 'भावना-भेद' की भी समाई है। हिन्दी मे 'रीति' का ऐसा अर्थ किसी ने किया नहीं, स्वयं आचार्यप्रवर रामचन्द्र शुक्ल ने भी नहीं सकारा। अन्यथा घनानन्द आदि को फुटकल खाते मे न फेंकते। यहाँ 'रीतिकविता' में 'रीति' की ऐसे ही कुछ संगति बैठती दृग्गोचर होती है।

हिन्दी और उर्दू के स्वरूप का भी यत्किंचित् अवधारण सुविधाप्रद होगा। हिन्दी का एक नाम भारई या भारती भी है। इन दोनों अभिधाओं में इसका स्वरूप इंगित है। यों तो भारत में उर्दू को छोडकर जितनी भाषाएँ है सर्वत्र भारतीयता, भाषा और साहित्य उभयत्र, भरित है, फिर भी हिन्दी की भारतीयता उभयतः औरों से कुछ भिन्न है। हिन्दी के भीतर ब्रजी, अवधी, और खड़ी तीनों हैं। इन तीनों का उत्स कोई न कोई प्रदेश या अंचल ही है, किन्तु साहित्य में व्यवहृत होने पर तीनों ने प्रादेशिकता का मोह छोड़ा है। इन तीनों का यही हिन्दीपन या भारतीयता है। अवधी मे रचना का जो प्रवाह चला उसमें बोली-पन बनाये रखने का प्रयास प्रेमाख्यानक सूफ़ी कवियों ने किया। यह भूल गोस्वामी तुलसीदास को सुधारनी पड़ी। उन्होंने रामचरितमानस में उसकी भारतीयता उजागर की। प्रादेशिक स्तर के लिए रची छोटी-छोटी पोथियों में प्रादेशिक बोली का रूप अवश्य रक्षित रखा। प्रत्युत जो रचनाएँ ब्रजभाषा की कही जाती हैं उनमें भी अवधी के व्यापक प्रयोग रखकर काव्य मे ब्रजभाषा और अवधी दो

सर्वमान्य भाषाओं की विभेदकारी गति ही समाप्त कर दी। रीतिकविता में यही संमिश्र काव्यभाषा प्रयुक्त हुई। भारतीयता का तात्पर्य भाषा क्षेत्र में है क्या ? साहित्यारूढ़ होने पर भाषा का संस्कृत-शब्द-भांडार की ओर जाना। प्राकृतों, अपभ्रंशों और देशी भाषाओं में जब-जब साहित्य-सर्जना की उमंग आई है तब-तब संस्कृत भाषा की पदावली का संग्रहण होता आया है। प्राकृतों में आलोचकों द्वारा जो साहित्यिक प्राकृतें प्रथित हैं वे वस्तुतः संस्कृत-पदावली के न्यास से ही साहित्यिक अथवा कृत्रिम कह दी गई है। कृत्रिमता का हेतु है प्रादेशिकता से सार्वदेशिक स्तर की ओर प्रस्थान। साहित्य का उन्मेष सर्वत्र सीधे संस्कृत-साहित्य से जुड़कर हुआ। सभी भाषाएँ संस्कृत-बहुल हैं, हिन्दी ही नहीं। अन्तर है तो यह कि हिन्दी संस्कृत भाषा से उच्चारणगत रूप-भेद के अतिरिक्त अन्यतः विच्छेद नहीं करती। प्रादेशिक देशी भाषाएँ शब्द को भी [illegible] [illegible] हैं और यदि संस्कृत शब्द ज्यों का त्यों बना रहता है तो अर्थ अपना भी दे देती हैं। हिन्दी में 'निर्भर' शब्द आधुनिक बँगला से आया। किन्तु तुलसीदास ने 'निर्भर' का अर्थ संस्कृत वाला ही रखा। 'निर्भर प्रेम मगन हनुमाना' में निर्भर का अर्थ बँगला वाला 'आश्रित' नहीं है, संस्कृतवाला 'पूर्ण' है। मराठी में 'शिक्षा' का अर्थ 'दंड' हो गया है। तुलसीदास को 'दंड' अर्थ में 'सिख' शब्द का प्रयोग करना पड़ा तो उन्होंने उसे अवधी बोली से ही उधार लिया—

हँसि कह रानि गालु बड़ तोरें।
दीन्हि लखन सिख अस मन मोरें।

रीतिकविता में भी यह परम्परा है। ऐसा केवल संस्कृत शब्दों के ही लिए नहीं है। हिन्दी किसी दूसरी भाषा का शब्द लेकर उसके रूप और अर्थ दोनों को रक्षित रखने का प्रयास करती है। परिवर्तन केवल उच्चारणगत होता है। कभी-कभी संस्कृत का कोई शब्द हिन्दी में स्वकीय रूप में ग्राह्य नहीं प्रतीत हुआ तो रीतिकवि ने संशोधन करके वेश भर बदल दिया। देव कवि ने आम के लिए 'नूत' शब्द बहुत्र प्रयुक्त किया हैं। इसमें 'न' 'च' का स्थानापन्न है। अर्थ संस्कृतवाला ही हैं। अरबी-फ़ारसी के शब्द भी अपने मूल रूप और अर्थ में ही आए है। जो शब्द बोली से या बोली से होकर आए है उन्हीं का अंगभंग विशेष है।

'उर्दू' शब्द 'उर्दू ए मुवल्ला' का संक्षिप्त रूप है। शाही बाज़ार में कर्मचारियों के हेतु वस्तु के क्रय-विक्रय में बोली जाने वाली बोली 'उर्दू' है। उस पर शाही बोली जुबान या भाषा का प्रभाव रहना सहज है। 'उर्दू' को भी साहित्यारूढ़ होने पर पदावली की अपेक्षा हुई। उसने खज़ाना खोला अरबी-फ़ारसी शब्दों का। शब्दों की वर्तनी में वर्णो के समान, पर भिन्न उच्चारणों की

सुरक्षा के लिए लिपि भी अलग ही सुकर प्रतीत हुई। जब तक पार्थक्य की भावना नहीं जगी थी तब तक उसके और हिन्दी के बोली वाले रूप में अधिक अन्तर नहीं था। यहाँ सर्वभारतीय प्रवृत्ति का उन्मेष तो नहीं था, पर प्रादेशिकता की वृत्ति एक-सी थी। हिन्दी ही नहीं उर्दू से इतर सभी भारतीय भाषाओं की जैसी पद-प्रवृत्ति थी, अर्थात् संस्कृत-शब्दावली के प्रयोग-व्यवहारवाली, वैसी उर्दू में कभी नहीं आई। कहने को कोई 'उर्दू' को व्रजभाषा से उद्भूत कह ले, उसे आमफ़हम ज़ुबान भी बता दे, किन्तु सच्चाई यह है कि वह अधिकांश विशेष संस्कृति की बाहिका ही बनना चाहती थी और बनी भी। उर्दू व्रजभाषा के दो-चार शब्द चाहे प्रयुक्त कर लेती रही हो, उसका शौरसेनी प्राकृत से विकसित व्रजी से निःसृत कहा जाना भाषाशास्त्रीय या भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी भ्रम ही भ्रम है। वह हमजोली है खड़ीबोली की। खड़ीबोली और व्रजबोली में अंतर है। जहाँ खड़ी में शौरसेनी और पैशाची का मेल है वहाँ व्रजी विशुद्ध शौरसेनी है। इस प्रकार खड़ी यदि अपने सहज रूप में भी रहती तो भी व्रजबोली से उसका भाषा की दृष्टि से अधिक नैकट्य होता। पर भारत से दूर देश की भाषा का आश्रयण भेद बढ़ाता चला गया। हिन्दीवाले चाहे मियाँ मिट्ठू बनकर कह लें कि उर्दू हिन्दी की ही एक शैली है, किन्तु उसमें 'हिन्दी' शील है ही नहीं। उसने संस्कृति-भेद बनाए रखा।

संस्कृतियाँ विभेद बनाए रखना चाहती हैं और साहित्य विभिन्नता हटाता चलता है। कोई साहित्य दूसरे साहित्य के संपर्क में आता है तो उससे मेल-मिलाप चाहता है, कुछ लेना चाहता है और कुछ देना भी। भाषा भेद रखना पसन्द करती है और साहित्य अन्तर मिटाता रहता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में दोनों साहित्यों की समकालिक प्रवृत्तियों का तलस्पर्शी गहराई से अभिनिवेशपूर्वक तुलनामूलक अध्ययन है। रीतिकविता मे चारुत्वमूलक प्रवृत्ति प्रमुख मानी जाती है। सौंदर्य के विविध रूपों का प्राधान्य उसमें आलोचक मानते है। आधुनिक शब्दावली में कहें तो कलात्मकता की ओर उसका झुकाव है। 'कला' का भारतीय पारम्परिक अर्थ ही लिया जाए तो भी 'कला संगीते शिल्पभेदे च' के अनुसार संगीत और शिल्प दो उसकी सरणियाँ ठहरती है। उर्दू-काव्य में भी शिल्प अर्थात् कारीगरी और लालित्य के प्रति विशेष झुकाव बताया जाता है। इसलिए दोनों मे साम्य की कुछ दूर तक स्थिति सुस्पष्ट है। तुलना के लिए विभिन्न शीर्षकों मे विचार किया गया है। प्रथम खण्ड में सांस्कृतिक अध्ययन है। 'संस्कृति' शब्द अधुनातन है। पुरातन दृष्टि से संस्कृति या संस्कारवत्ता आचार-विचार की वृत्तियों का समाकलन होगी। आचारपक्षीय विमर्श भौतिक पक्ष में और विचारपक्षीय परामर्श मानसिक पक्ष में किया गया है। उपलब्धियाँ बहुत ही स्पष्ट हैं। रीतिकविता

'शाकाहारी' प्रमाणित हुई है। भारतीय परम्परा में 'आलस्योग्रयजुगुप्सा: संयोगे वर्ज्याः' के अन्तर्गत 'जुगुप्सा' ध्यातव्य है। इसकी रक्षा रीतिकवियों ने 'संयोगे' ही नहीं 'वियोगे' भी की है। व्यवहार में भारतीय दृष्टि गंभीरतापूर्वक संलग्न होती है। फल यह हुआ कि रीतिकविता उर्दू को सांस्कृतिक वृत्तियों को ग्रहण करने में सजग रही। उसने न तो जीवन को ही खेल माना और न काव्य को ही। 'मीन मृग खंजन' की नियोजना भर करके हलकेपन तक उतरने वालों ने भी कविता से छेड़छाड़ या खिलवाड़ नहीं किया। अफ़ीम, कोकीन, चरस, गाँजा का सरस्वती-मंदिर में प्रवेश निषिद्ध रहा। बाज़ारूपन से कवि प्रायः बचते रहे।

सांस्कृतिक-साहित्यिक एकता के उत्स के लिए पीछे की ओर दूर-विदूर तक जाने की अपेक्षा है। 'प्रतीहार-गुर्जर' और उनके द्वारा प्रयोजित अपभ्रंश तक। 'प्रतीहार-गुर्जर' पर ऐतिहासिकों से कुछ हटकर सोचने-विचारने की आवश्यकता है। 'प्रतीहार' तो संस्कृत का सुपरिचित शब्द है। पर 'गुर्जर' क्या है इस पर ऐतिहासिकों ने विचार नहीं किया। हिन्दी-कोशों ने 'गुर्जर' को संस्कृत कहकर पल्ला झाड़ लिया। एक देश से दूसरे में जाने पर भारी कठिनाई विचारों के आदान-प्रदान में भाषा की भिन्नता डालती है। ऐसी स्थिति में उभय देशों के शब्द-युग्म बनते हैं। ब्याह-शादी, हर-एक आदि संकेत करते हैं कि सामान्य व्यवहार में ऐसा किस सुविधा के लिए होता है। 'हर-एक' बोलने वाले आगत-बन्धु 'हर' के साथ एक का प्रयोग उस गृहस्थ के लिए कर रहा है जिसका वह अभ्यागत है। 'प्रतीहार-गुर्जर' शब्द का प्रयोग भारतीय का है। वह 'प्रतीहार' के अपने सुपरिचित शब्द के साथ 'गुर्जर' का प्रयोग आगत बन्धु की भाषा के आधार पर गढ़कर कर रहा है। इस प्रकार प्रतीहार और गुर्जर को समानार्थी होना चाहिए। 'प्रतीहार' का अर्थ अमरकोश यह देता है—

प्रतीहारो द्वारपाला द्वास्थद्वाःस्थितदर्शकाः।

'प्रतीहार' राजाओं के यहाँ द्वार पर स्थित उन कर्मचारियों को कहते हैं जो आगंतुक का संदेश राजा तक ले जाते हैं और राजा का मन्तव्य उन्हें आ सुनाते हैं। 'मुकुट' ने इसकी व्याख्या यों की है—'प्रतिराभिमुख्येन। राज्ञोऽभिमुखं जनान् प्रतिहरति बहिः प्रापयति'। जो लोगों को राजा के निकट ले जाता और बाहर पहुँचाया करता है। द्वार पर रहने से उसे 'द्वारस्थित' और राजा तक ले जाने से 'दर्शक' भी कहते हैं। एक प्रकार का द्वारपाल ही है वह। द्वारपाल द्वार की रक्षा करने वाला मात्र नहीं होता। द्वार पर आनेवालों का संदेश वहन करना, देखरेख करना, लाना ले जाना, सब कुछ उसका कार्य है। द्वार पर अनपेक्षित व्यक्तियों को वह क्यों टिकने देगा। इस प्रकार द्वार की रक्षा या पालन भी उसी में निहित है। यह तो हुई भारतीय राजद्वार पर रहने वाले की स्थिति। पारस

'शाकाहारी' प्रमाणित हुई है। भारतीय परम्परा में 'आलस्योग्यजुगुप्साः संयोगे वर्ज्याः' के अन्तर्गत 'जुगुप्सा' व्यातव्य है। इसकी रक्षा रीतिकवियों ने 'संयोगे' ही नहीं 'वियोगे' भी की है। व्यवहार में भारतीय दृष्टि गंभीरतापूर्वक संलग्न होती है। फल यह हुआ कि रीतिकविता उर्दू की सांस्कृतिक वृत्तियों को ग्रहण करने में सजग रही। उसने न तो जीवन को ही खेल माना और न काव्य को ही। 'मीन मृग खंजन' की नियोजना भर करके हलकेपन तक उतरने वालों ने भी कविता से छेड़छाड़ या खिलवाड़ नहीं किया। अफ़ीम, कोकीन, चरस, गाँजा का सरस्वती-मंदिर में प्रवेश निषिद्ध रहा। बाज़ारूपन से कवि प्रायः बचते रहे।

सांस्कृतिक-साहित्यिक एकता के उत्स के लिए पीछे की ओर दूर-विदूर तक जाने की अपेक्षा है। 'प्रतीहार-गुर्जर' और उनके द्वारा प्रयोजित अपभ्रंश तक। 'प्रतीहार-गुर्जर' पर ऐतिहासिकों से कुछ हटकर सोचने-विचारने की आवश्यकता है। 'प्रतीहार' तो संस्कृत का सुपरिचित शब्द है। पर 'गुर्जर' क्या है इस पर ऐतिहासिकों ने विचार नहीं किया। हिन्दी-कोशों ने 'गुर्जर' को संस्कृत कहकर पल्ला झाड़ लिया। एक देश से दूसरे में जाने पर भारी कठिनाई विचारों के आदान-प्रदान में भाषा की भिन्नता डालती है। ऐसी स्थिति में उभय देशों के शब्द-युग्म बनते हैं। व्याह-शादी, हर-एक आदि संकेत करते हैं कि सामान्य व्यवहार में ऐसा किस सुविधा के लिए होता है। 'हर-एक' बोलने वाले आगत-बन्धु 'हर' के साथ एक का प्रयोग उस गृहस्थ के लिए कर रहा है जिसका वह अभ्यागत है। 'प्रतीहार-गुर्जर' शब्द का प्रयोग भारतीय का है। वह 'प्रतीहार' के अपने सुपरिचित शब्द के साथ 'गुर्जर' का प्रयोग आगत बन्धु की भाषा के आधार पर गढ़कर कर रहा है। इस प्रकार प्रतीहार और गुर्जर को समानार्थी होना चाहिए। 'प्रतीहार' का अर्थ अमरकोश यह देता है—

प्रतीहारो द्वारपाला द्वास्थद्वाःस्थितदर्शकाः।

'प्रतीहार' राजाओं के यहाँ द्वार पर स्थित उन कर्मचारियों को कहते हैं जो आगंतुक का संदेश राजा तक ले जाते हैं और राजा का मन्तव्य उन्हें आ सुनाते हैं। 'मुकुट' ने इसकी व्याख्या यों की है—'प्रतिराभिमुख्येन। राज्ञोऽभिमुखं जनान् प्रतिहरति बहिः प्रापयति'। जो लोगों को राजा के निकट ले जाता और बाहर पहुँचाया करता है। द्वार पर रहने से उसे 'द्वारस्थित' और राजा तक ले जाने से 'दर्शक' भी कहते हैं। एक प्रकार का द्वारपाल ही है वह। द्वारपाल द्वार की रक्षा करने वाला मात्र नहीं होता। द्वार पर आनेवालों का संदेश वहन करना, देखरेख करना, लाना ले जाना, सब कुछ उसका कार्य है। द्वार पर अनपेक्षित व्यक्तियों को वह क्यों टिकने देगा। इस प्रकार द्वार की रक्षा या पालन भी उसी में निहित है। यह तो हुई भारतीय राजद्वार पर रहने वाले की स्थिति। पारस

देश में द्वार पर रहने वाले गदा लिए रहते थे। वे 'पहलवान' होते थे। संस्कृत 'पह्लव' से पहलवान शब्द विकसित है। पह्लवों की गणना उन संस्कारच्युत क्षत्रियों में की गई है जो ब्राह्मणादर्शन से और क्रियालोप से संस्कारच्युत हो गए थे। कदाचित् इसी से गदा धारण कर द्वारपाली करने लगे होंगे। इन्हीं की भाषा पह्लवी है, जिससे फ़ारसी विकसित हुई। फ़ारसी में 'गदा' को 'गुर्ज' कहते हैं। गदाधारी अर्थ में भारतीयों के लिए या भारतीयों-द्वारा निर्मित प्रतीत होता है 'गुर्जर' (गुर्ज वाला, गदाधारी) शब्द। इस प्रकार प्रतीहार से मिलते-जुलते अर्थ में ही यह भी है। ये ही गुर्जर-प्रतीहार या प्रतीहार-गुर्जर जब भारत में आए तो अपनी सरदारी और बलवत्ता के बूते लगभग सारे देश में फैल गए। भारत के मध्य और उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक छा गए, राज करने लगे। क्यों आए आदि का लेखा-जोखा देना इतिहास का काम है। भारत में आकर ये जिस भाषा का व्यवहार धीरे-धीरे करने लगे वह 'अपभ्रंश' नाम से जानी गई। दंडी ने 'आभीरादिगिरः' को 'अपभ्रंश' कहा ही है। संस्कृत ये ठीक से नहीं बोल पाते थे, प्राकृत में भी इनकी अच्छी गति नहीं हो सकी। अतः अपभ्रष्ट भाषा से काम चलाने लगे। संस्कृत-भाषा में रूपभेद दिग्भेद से होते थे और प्राकृत में देश-भेद से। पर इन भेदों की संख्या चार-पाँच ही रही। अपभ्रंश तो 'भूरिभेदात्' न जाने कितने हो गए। सत्ताईस की तो गिनती भी कर ली गई।

गुर्जर-प्रतीहार और अपभ्रंश की चर्चा विशेष प्रयोजन से करनी पड़ी है। संस्कृत-छंदों में तुक की व्यवस्था नहीं है, प्राकृत में भी नहीं है। अपभ्रंश में है। अपभ्रंश वस्तुतः उत्तर प्राकृत ही है। देशी भाषाओं के निकट जब प्राकृत पहुँच गई तब चाहे उसे उत्तर प्राकृत कहिए या अपभ्रंश। कुछ लोग अपभ्रंश और देशी प्राकृत के बीच एक और सोपान मानकर उस पर उतारते हैं 'अवहट्ठ' को। अवहट्ठ वस्तुतः 'अपभ्रष्ट' शब्द का ही उत्तर प्राकृत या अपभ्रंश का अपभ्रष्ट रूप है। 'प्राकृतपैंगलम्' में प्राकृत नाम से 'अपभ्रंश' के छंदों का विचार है, उसकी टीका जिस भाषा में है उसे 'अवहट्ठ' ही कहा गया है। अस्तु। विचारना यह है कि अपभ्रंश में तुक की व्यवस्था आ कहाँ से गई। 'विक्रमोर्वशीय' में भी अपभ्रंश का प्रयोग है और उसमें भी तुक की व्यवस्था है। 'दूहा' कहने से अपभ्रंश का बोध होना प्रख्यात है। मात्रिक छंदों की ओर झुकाव और तुक का नियोजन अपभ्रंश से प्रारम्भ होता है। प्राकृत में शपथ खाने भर के लिए एक मात्रिक छंद गाथा है। भले ही उसके कई रूप हों और उसकी देखा-देखी संस्कृत वालों ने उलटी गंगा बहाकर 'आर्या' में वैसे ही उतने ही रूप बना लिए हों। किन्तु तुक वहाँ भी नहीं है। अपभ्रंश से ही तुकारंभ क्यों? प्रतीत होता है कि यह विशेषता इन्हीं प्रतीहार-गुर्जरों के साथ पारसीक प्रदेश से आई है और भारत में

धीरे-धीरे सारे देश में फैली है और उत्तर प्राकृत या अपभ्रंश के अनन्तर सभी देशी भाषाओं में छा गई है। अपभ्रंश में उलटे समास भी कहीं-कहीं देख पड़ते हैं। यह उलट बाँस इन्हीं पारसीकों का संसर्गज दोष या गुण है। घनानंद ने भी 'पुकार मधि मौन' 'कान मधि नैन' फ़ारसी तर्ज़ पर ही लिखा है।

अपभ्रंश से मात्रिक छंदों का प्रयोग अधिक होने लगा और देशी भाषाओं में उसकी बहुलता हो गई। वर्णवृत्त की भी चाट हुई तो देशी भाषाओं ने अपने वर्णवृत्त ऐसे बनाए जो संस्कृत-मानस से अपना स्वरलहरी भिन्न रूपों में तरंगायित करने लगे। जैसी लचक मात्रावृत्तों मे है वैसी ही इन वर्णवृत्तों में भी। अन्य देशी भाषाओं के ऐसे वर्णवृत्तों के उदाहरण यहाँ अनभीप्सित है। हिन्दी या व्रजी के वर्णवृत्तों को ही देख लीजिए। जिन कबित्तों-सवैयों, दंडकों-मुक्तकों का रीति-कविता में अत्यधिक व्यवहार है उनमें मात्रावृत्तों की-सी लचक क्यों है? इसी से कि ये लोकगीतों के गर्भ से आविर्भूत हैं। जो इनकी खोज में संस्कृत-वर्णवृत्तों को हींड़ते हैं इन्हे उनके बेटे-पोते मानते हैं वे विशुद्ध भ्रम में है।

फ़ारसी पहलवी से और पहलवी ज़ेंदावेस्ता की भाषा से विकसित है। उस भाषा का वैदिक संस्कृत से कितना मेल है, सभी जानते है। ऐसा लगता है कि कोई प्रातिशाख्य विशेष प्रकार की उच्चारण-व्यवस्था से ही वैदिक शब्दों-पदों को बोल रहा हो। उच्चारण भर बदला है। फ़ारसी भाषा में जितने अपने शब्द या धातु है लगता है, उनका विकास वैदिक-लौकिक संस्कृत से ही हुआ। फ़ारसी के सभी शब्दों और धातुओं पर यदि सत्यशीलता से शोध किया जाए तो कदाचित् ही इसमें अपवाद मिले। ऊपर 'हर-एक' मे 'हर' फ़ारसी का है। सामान्यतया ऐसा लगता है कि यह उसका अपना शब्द है, किन्तु वास्तविकता यह है कि जहाँ एक या प्रति अथवा प्रत्येक का व्यवहार आज चला है वहाँ संस्कृत में 'सर्व' व्यवहृत होता था। 'प्रत्येक करता है' का संस्कृत सरणि से 'प्रत्येक : करोति' नहीं, 'सर्वः करोति' होगा। इसी 'सर्व' का प्राकृत रूप 'सर्' और 'स' की फ़ारसी जीभ द्वारा 'ह' उच्चारण से 'हर्' होकर 'हर' हो गया है। उसका अर्थ बदलकर 'एक' हो गया। 'व्याह' के साथ 'शादी', संस्कृत 'प्रसाद' मे के 'साद' से ही विकसित है। शादी का अर्थ है खुशी और 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' है ही। 'प्र' उपसर्ग है और 'साद' में 'षद्लृ विशरणादौ' धातु है। फ़ारसी और संस्कृत की आत्मा मूल में एक है। इसलिए मेल-जोल की प्रवृत्ति का न होना ही आश्चर्य की गाथा लगती। हिन्दी में सूफ़ी कवियों का एक संप्रदाय ही है जो फ़ारसी-काव्य की परम्परा से परिचित था। उसे अपने ढंग से यहाँ की भाषा के माध्यम से प्रवर्तित करना चाहता था। हिन्दी के समानान्तर विदेशी शब्दों की भरमार से भाषा गढ़

लेने की प्रवृत्ति नहीं थी उनकी। उर्दू में यह परवर्तीकाल की, रीतिकविता के प्रवाह के समांतर-काल की, उच्छलित वृत्ति है।

रीतिकविता व्रजभाषा में लिखी जाती थी। उर्दू-कविता के माध्यम से खड़ी बोली का काव्य में प्रवेश हुआ। उर्दू-वालों ने काव्य भाषा के रूप में अपने ढंग से उसे पर्याप्त समृद्ध किया। सूफ़ियों की भाँति उन्होंने यहाँ की बोली को सहज-रूप में काव्योपयोगी नहीं रहने दिया। उस पर आरोपण किया। सूफ़ियों की अवधी में तसव्वुफ़ झाँकता है, कुछ फ़ारसी-साहित्य की सरणियाँ भी झलकती हैं, किन्तु सहजता तिरोहित नहीं हुई है। उर्दू-कविता की अदा और क़वायद और ही हैं। उसने नई क्षमता और सामर्थ्य खड़ी बोली को दी। सांस्कृतिक दृष्टि से भी दोनों भाषाओं वाले एक दूसरे के निकट स्वभावतः आते रहे। आदान-प्रदान भी काव्य क्षेत्र में होता ही रहा। किन्तु दोनों भाषाओं और साहित्यों की निजता बनी रही। एक दूसरे के प्रति झुकाव या प्रणय तो हुआ, किन्तु समन्वयात्मक प्रीति नहीं हो सकी। आँकड़ों ने सिद्ध किया है कि रीतिकविता उर्दू-धारा से उतनी प्रभावित नहीं हुई जितना रीतिधारा से उर्दू-प्रवाह प्रभावित हुआ। इसका कारण भारतीयता के प्रति अनुरक्ति और निजता की मानसिक वृत्ति ही हेतु है। घनानन्द के सम्बन्ध में पता चलता है कि उन्होंने फ़ारसी में एक मसनवी भी लिखी है। किन्तु उनकी स्वच्छन्द रचना 'कबित्त' में फ़ारसीमन नहीं है, व्रजभाषा-पन अवश्य है। वे भाषाप्रवीण तो थे ही व्रजभाषाप्रवीण भी थे। यहीं के मुहावरों की भंगिमा से उन्होंने 'सुन्दरतानि के भेद' दर्शित-प्रदर्शित किए हैं। यहाँ समन्वय की नहीं व्यवस्था की वृत्ति रही है। समन्वय में दो के मेल से तीसरा नवीन व्यक्ति बनता है। व्यवस्था विशेष अवस्था होती है; वेश-रूप में ही कुछ नवता आती है, व्यक्ति नहीं बदलता। उर्दू भाषा और साहित्य ने नवीन व्यक्तित्व खड़ा किया। बक़ौल मुंशी भिखारीदास व्रजभाषा 'सहज पारसी हू' मिलाती रही, नाग एवम् यवन भाषा का मेल करती रही, पर बनी रही व्रजभाषा की व्रजभाषा ही। इश्कहक़ीक़ी और मजाज़ी की भी कुछ-कुछ चर्चा होती रही, पर साहित्य भारतीय का भारतीय ही रहा।

साहित्यिक द्वितीय खंड में भाषा के अतिरिक्त शब्द निर्माण-विधियों, मुहावरों आदि, अलंकार, बिम्बविधान, शैली तथा छंद, शृंगाररस, अन्यरस, सौन्दर्य-चित्रण, प्रकृति-वर्णन आदि शीर्षक देकर विस्तृत, तलीय एवम् स्तरीय विवेचन है। दोनों में सर्वत्र साम्य-वैषम्य दिखाया गया है। मैं मुहावरों के महावरे पर ही कुछ कहकर मौनावलंबन कर लूँगा। संस्कृत, प्राकृत, देशी भाषा किसी भी सोपान पर भाषा के भांडार में मुहावरे या वाग्योग न हो, ऐसा नहीं है। किन्तु मुहावरों अथवा रूढ़िलक्षणा के प्रयोग-बाहुल्य से काव्य-भंगिमा उत्पन्न करने का चलन भारतीय

परम्परा में नहीं था। रूढ़िलक्षणा भी प्रयोजन शून्य लक्षणा नहीं होती, किन्तु प्रयोग के रूढ़ हो जाने से उसका मूलभूत प्रयोजन अनपेक्षित और आयासलभ्य हो जाता है। पुष्प के फूलने में विकास होता है, किन्तु 'मुँह फूल गया' में विकास तो ज्यों का त्यों है, किन्तु 'हर्ष' या उल्लास प्रयोजन नहीं है। 'बुरा मानने,' 'अप्रसन्न हो जाने' के अर्थ में मुँह फूलता है। यहाँ रागात्मक द्रुति नहीं, द्वेषात्मक दीप्ति का संकेत है। किन्तु इस छानबीन की कहीं कोई आकांक्षा लक्ष्यार्थ के प्रयोजन के लिए होती ही नहीं। लक्षणा आरोपिता क्रिया है। कहने वाला विशेष प्रयोजन से अर्थान्तर करता है, अभिधेयार्थ से लक्ष्यार्थ की ओर ले जाता है। संस्कृत वालों में प्रयोजनवती लक्षणा के ऐसे नए-नए प्रयोग 'नैषधचरितम्' में राशीभूत हुए हैं। रूढ़ि के प्रयोग पारम्परिक होते हैं, उनका सारा सम्भार और लालित्य पूर्ववर्ती पथिकृतों द्वारा निश्चित और परिमिति रहता है। स्वच्छन्द कवि इन रूढ़ प्रयोगों से संतुष्ट-परितुष्ट नहीं होता, वह सीमा का उल्लंघन करता है और ऐसा करना शास्त्रीयता या परम्परावादो आचार्यों को नहीं रुचता। इसी से कहा जाता है कि मम्मटाचार्य को जब 'नैषधचरितम्' के नवीन प्रयोगों का उन्मेष शंसात्मक उद्गारपूर्वक दिखाया गया तब उन्होंने कहा कि यदि पहले यह रचना मिल जाती तो काव्य प्रकाश में मुझे दोष-प्रकरण के लिए जो आयास-प्रयास करना पड़ा उससे सुखपूर्वक बच जाता। इसके ही उदाहरणों और विमर्श से वह 'उल्लास' पूरा हो गया होता।

'नैषधचरितम्' संस्कृत का छायावादी काव्य है। 'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः' इसी से उसके सम्बन्ध में कहते हैं। रूढ़ि की काष्ठा है, तुकिन प्रयोजनवती तो निस्सीम होती है। रूढ़ि का सम्प्रदाय सुपरिचित होता है, किन्तु फलवती का पंथ स्वच्छन्द होने के कारण सामाजिक के लिए कठिनाई उपजाता है। किसके लिए किस प्रयोजन से कौन सा प्रयोग किया गया है, यह सर्वत्र सुस्पष्ट नहीं होता। प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में न तो फ़ारसी-उर्दू की सी रूढ़िवादिनी चमत्कृति की उमंग हुई और न देश्य भाषा के स्तर पर पहुँचकर आरम्भ में इधर झुकाव ही हुआ। फ़ारसी-उर्दू के सम्पर्क से रूढ़ि की ढरनि पर घनआनन्द और मध्यकालिक स्वच्छन्दतावादी अवश्य यथासाध्य गए। भारतीय परम्परावादियों में उसके प्रति उत्साह नहीं जगा। बिहारी केवल एकाध दोहरा लिखकर विरत हो गए। वर्तमान युग में छायावादियों, प्रयोगवादियों, नई कवितावालों में प्रयोजनवती की ही प्रवृत्ति हुई। इसी से उनकी विरुद्ध आलोचना होती रहती है। उनके लक्ष्यार्थ की प्राप्ति के लिए उनके लक्ष्य को जान जाए तब तो छाया का रहस्य खुले, प्रयोग का कर्मयोग समझ में आए, नई किधर नई यह दिखे। इसी-

झुँझलाते रहते हैं। रीतिकविता वालों की तो टीकाएँ भी हुई, पर अब टीका को हलका काम समझा जा रहा है। ग्राहक इतने कम होते जा रहे हैं कि कदाचित् कभी कवि तक ही पाठक की मिति हो जाए। अस्तु।

परम्परा से कहीं न कहीं कैसे भी नूतनता को जुड़ना चाहिए। उसकी पुष्टि करने के लिए नहीं, आगे बढ़ने, के लिए भी। किस जमीन से हट रहे हैं उसका बोध होने से नवीनता पहचानी जा सकेगी। मनमानी होने से होगी व्यर्थता-निरर्थकता या अर्थवत्ता की आयाससाध्य उपलब्धि। घनआनन्द ने बहुधा रूढ़ि की सरणि पर कहने का हौसला दिखाया है, फिर भी कृति हो गई अनपहचानी। किसी ने टीका लगाने को हाथ नहीं बढ़ाया। पुकार मौन में होने लगी। बात (वाणी-उक्ति) बनी (दूलहन) हृदय के कोने में मौन का घूंघट ताने जा बैठी। कवि की बात भले ही बनी हो किन्तु पाठक की बात बनी ही नहीं। प्रयोजन की व्यंजनाएँ आवृत्त हो गई। ऐसे सुजान थे कहाँ जो अवरोध को हटाकर सौंदर्य के दर्शन करते।

डा० मोहन अवस्थी के इस कर्तृत्व में जैसा श्रम है, जितना समय लगा है और अर्थों की जो परतें जिस सूक्ष्मता से उद्घाटित हुई हैं वैसी महनीय शोध-साधना वाला रीतिधारा पर प्रबन्ध पहले कोई नहीं दिखा। यह पहला ही है। किसी को इनके साथ कहीं गहराइयों में उतरने मे विमति का पल्ला पकड़कर साथ देने का उत्साह न हो तो हो, किन्तु इनकी सहृदयता और सूक्ष्मेक्षिका का शंसन करने में विमुखता की ओर उन्मुखता नहीं होगी। रीतिकविता का वाङ्मय अपरंपार है और उर्दू-काव्य का अंबार भी प्रभूत है। ऐसे समुद्रों-पहाड़ों के थहाने-तोड़ने में जैसी सूझ-बूझ का परिचय दिया गया है और रत्नों को निकाल-निकालकर मरजीवा की निमग्नोन्मग्नता द्वारा जैसी-जैसी रूपराशियाँ एकत्र की गईं या सिद्ध अंजन लगाकर, आकर देख लेने के लिए जैसा नेत्र-मार-व्यापार-व्यवसाय में प्रवृत्त हुआ गया है, उससे कोई कोना ढूंढ़-खोज से बच ही नहीं पाया। अपूरण का भान हो तो कैसे। जानकारी तो मिलती है स्थान-स्थान पर अज्ञातपूर्व और अभूतपूर्व। शोध की चरितार्थता इसी को कहते हैं। अवस्थीजी ने शोध करके उपाधि अवश्य पाई किन्तु है यह निरुपाधिक ही, स्वान्तः सुखाय ही, समाधि की निर्विकल्प स्थिति में लब्ध। भारतीय परम्परा शोध-क्षेत्र में जीवन व्यापी पदन्यास को महिमामंडित मानती है; जीवनार्पण से प्राप्त सच्ची कमाई को। अतः मेरा दृढ़ विश्वास है कि सच्चा साहित्य रसिक होगा इससे संतृप्त-परितृप्त। हिन्दी-साहित्य में रहेगा प्रकाशस्तंभ-सा ज्योति बिखेरता यह। आलोक से कितने ही अदृष्टपूर्व पदार्थ दृष्टिपथ मे आते जितने दर्शा दिए गए हैं वे ही कम नहीं हैं। मुझे ये पथिकृत मनीषी

इसका हिन्दी-जगत् में अभिनन्दन तो नैसर्गिक है। मेरे विचार से सत्य के शोधार्थियों के लिए यह होगा आदर्श। वे मुँह देख लें। ऐसे सत्प्रयास के लिए हिन्दी-पद्धति पर इन्हे बधाई और उर्दू-रस्मोरिवाज से बधाइयाँ, क्योंकि है यह—

प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम् ।
[illegible]रं विष्वग्गति निराकुलम् ॥

हरितालिका तृतीया, २०३४ वैक्रम
वाणी-वितान,
ब्रह्मनाल, वाराणसी ।

— [illegible]

अनुक्रम

खण्ड २

साहित्यिक अध्ययन

खण्ड २

साहित्यिक अध्ययन

संक्षिप्त रूप

षट्० का०—षट्ऋतु काव्य संग्रह
म० म०—मनोज मंजरी
शृं० मं०—शृंगार मंजरी
भु० भू०—भूवनेश भूषण
पा० क० र०—पावस कबित्त रत्नाकर
शृं० सु०—शृंगार सुधाकर
भ० सं०—भड़ौआ संग्रह
हि० सा० अ०—हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग २)
हि० को० सा०—हिन्दी कोश साहित्य
हफी० ह०—हफ़ीजुल्ला खाँ का हज़ारा (भाग १ व २)
विरहवारीश—विरहवारीश माधवानल कामकंदला चरित्र भाषा
उ० का० ई०—उर्दू काव्य में ईश्वर भक्ति
उ० म० र०—उर्दू मर्सिए की रवायत
उ० स०—उर्दू और उसका साहित्य
री० मौ०—रीतिकालीन कवियों की मौलिक देन
ता० रे०—तारीखे रेख्ती मय दीवान्-ए-जान साहब
र० का०—रचना काल
रा० का०—राज्य काल

( ) कोष्ठक का यह चिह्न छंदों में जहाँ आया है वहाँ उसका अर्थ यह है कि वह अंश प्रस्तुत ग्रंथ-लेखक का है। मूल ग्रंथ का पाठ वहाँ अशुद्ध है।

भूल-सुधार

पृ० ६७ पंक्ति ३० के 'गहनों में गजरा' के आगे "कंगन, पहुँची, पटेला और चूड़ी का सन्निवेश हिन्दी-रीतिकाव्य में हुआ है। उर्दू-शाइरी में" और होना चाहिये।

पृ० ८० पंक्ति २२ में बहूरे नहीं, 'बह्र' है।

पृ० १७७ पंक्ति २४ के आगे शाइर का नाम 'सौदा' है।

पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति प्रकृतितः समन्वयवादी संस्कृति रही है। वैदिककाल से लेकर मध्यकाल के प्रारम्भ तक आर्य-संस्कृति ने अनेक संस्कृतियों को आत्मसात् किया। ताम्बूल का प्रयोग, विवाह पद्धतियाँ, श्राद्ध-प्रणाली तथा वास्तुकला-सम्बन्धी अनेक तत्व आर्यों ने द्रविड़-संस्कृति से ग्रहण किए थे, परन्तु उनकी संस्कृति इतनी सशक्त एवं दृढ़ थी कि उसके स्वरूप में इस आदान से कोई विकार पैदा नहीं हो सका। वैदिक हिन्दू-संस्कृति की धार्मिकता, भक्ति, यज्ञवितान तथा वर्ण-व्यवस्था गौतम बुद्ध के उदय तक ज्यों-की-त्यों चलती रही। यह संगठन इतना मज़बूत था कि सिकन्दर महान् के आक्रमण (ई० पू० ३२६) और यूनानियों के सम्पर्क से भी विचलित न हुआ, उलटे उसने यूनानियों को अपनी संस्कृति में दीक्षित कर लिया।

गौतम बुद्ध (जन्म ई० पू० ५६३) ने न केवल वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध आवाज़ उठाई, अपितु औपनिषद्-चिन्तन के परिणाम तटस्थता एवं उदासीनता के भावों का भी प्रत्याख्यान किया। उन्होंने जीवन की सरलता, दया, प्रेम, करुणा तथा अहिंसा पर बहुत बल दिया। बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म का अशोक महान् (रा० का० २७१ ई० पू०—२३२ ई० पू०) के प्रयत्नों से काफ़ी प्रसार हुआ। बौद्ध धर्म की विशेष देन यह थी कि उसने ब्राह्मण-वर्ग की प्रभुता घटा दी और वर्ण-व्यवस्था पर भीषण प्रहार किया। इसके साथ ही एक बहुत बड़ा परिवर्तन यह हुआ कि संस्कृत के स्थान पर जन साधारण की बोली को गौरव मिला। इस प्रकार जीवन में सरलता एवं समानता के भावों का प्राधान्य हुआ। बौद्ध काल के उस भारतीय मानस को हम तत्कालीन मूर्तियों (ई० पू० दूसरी शताब्दी से तीसरी ईस्वी शती तक) में प्रतिबिम्बित देखते हैं। इन प्रतिमाओं के सारल्य एवं अनलंकृति से उस समय के भारतीय रहन-सहन तथा आचार-विचार का आख्यान होता है।

इसके पश्चात् पौराणिक हिन्दू-संस्कृति का युग आया। रामायण-महाभारत की रचना हुई। धर्म-शास्त्रों ने वर्ण-व्यवस्था को समाज की नींव मानते हुए भी, न्याय-विधान में निरपेक्षता का प्रतिपादन किया और सभी संस्कृतियों एवं दलों को जीवन-निर्वाह में स्वतंत्रता प्रदान की। रामायण-महाभारत के चरित एवं उपाख्यान लोकजीवन के अंग बन गए।

इस युग तक राज्य की सत्ता स्वतंत्र हो चुकी थी, वह धर्म आदि के आश्रित

न थी। फलतः कला और साहित्य धर्मसापेक्ष्य नहीं रहे। इसलिए उस काल में इन क्षेत्रों के भीतर समग्र मानव-जीवन को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। संस्कृत भाषा को पुनः प्रतिष्ठा मिली और महाकाव्यों, प्रगीतों, नाटकों तथा गद्य की अनेक विधाओं की उन्नति के साथ-साथ गणित, नक्षत्र-विद्या एवं चिकित्सा के क्षेत्र में अनुसन्धान हुए। गुप्तकाल (सन् ३००-५००) में इस संस्कृति का उत्कर्ष अपने चरम विन्दु पर पहुँच गया था। हर्षवर्द्धन (रा० का० ६०६-६४७) के समय में भी विद्या, कला, एवं साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला, परन्तु हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् राजनीतिक अव्यवस्था एवं केन्द्रीय शक्ति के उच्छिन्न हो जाने से पौराणिक हिन्दू-संस्कृति को गहरा आघात लगा। मध्य एशिया से आने वाले आक्रमणकारी शक, हूण तथा गुर्जरों ने यहाँ के राजनीतिक जीवन को छिन्न-भिन्न और संत्रस्त कर दिया। यद्यपि इन लोगों ने हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया था, और यहाँ के क्षत्रियों में सम्मिलित हो गए थे, परन्तु ये लोग अपने साथ जो क़बायली प्रवृत्ति लाए थे उसकी प्रबलता के कारण क्षत्रियों में इतने अधिक वर्ग बन गए कि ये परस्पर कलह-वैमनस्य में उलझे रहने लगे और देश सैकड़ों छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया।

आक्रमणों की चोटें प्रायः उत्तरी भारत पर ही पड़ीं, अतः दक्षिणी भारत में अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता एवं सुरक्षा रही। इसलिए धार्मिक पुनरुत्थान का प्रवाह दक्षिण से चला। आलवार भक्तों के पदों ने लोकमानस में विष्णु-भक्ति की लहर जगाई। इसी समय श्री शंकराचार्य ने हिन्दू-धर्म के विभिन्न वादों को अपने अद्वैतवादी दर्शन-द्वारा समन्वित किया। उन्होंने चिन्तन एवं ज्ञान को पराकाष्ठा पर पहुँचाया, लेकिन कर्म तथा उपासना को महत्व न दिया। अतः स्वामी रामानुजाचार्य (सन् १०१७-११३७), मध्वाचार्य (जन्म सन् १२५७) आदि ने शांकर मत का खण्डन करके भक्ति एवं उपासना का समर्थन किया।

जिस समय ये आचार्यगण कर्म और उपासना का उपदेश देकर श्री शंकराचार्य के 'जगन्मिथ्या' सिद्धांत का खंडन कर रहे थे, उसी समय के आस-पास मुसलमान आक्रान्ताओं ने भारत पर चढ़ाइयाँ प्रारम्भ की और सन् १२०६ मे दिल्ली पर अधिकार करके अपना राज्य स्थापित किया। मुसलमान आक्रान्ता भारत से काफ़ी दूर-स्थित भिन्न जलवायु वाले देशों के निवासी थे। उनका अपना धर्म था, अपने आचार-विचार थे और ये सभी हिन्दू-संस्कृति के एकदम विपरीत पड़ते थे, इसलिए हिन्दू-संस्कृति से उनका समन्वय न हो सका।

इस्लाम धर्म 'क़ुरान' में उल्लिखित दीन एवं शरीअत का समन्वित रूप है। 'दीन' का अर्थ है शाश्वत नैतिक आदर्श और 'शरीअत' जाति विशेष के जीवन-विधान का कहते हैं। दूसरे शब्दों में शरीअत का रूप देश, काल एवं जाति के

अनुसार परिवर्तित होता रहता है, जब कि दीन देश काल तथा जाति के अधीन नहीं है। दीन के सम्बन्ध में इस्लाम धर्म अन्य धर्मों से पृथक् नहीं है, अन्तर शरीअत के कारण प्रतीत होता है।

प्रत्येक धर्म ने ईश्वर-जगत् तथा ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध के विषय में विचार प्रकट किए हैं। 'क़ुरान' के अन्तर्गत इस धारणा की पुष्टि है कि सृष्टि का एक स्रष्टा है जो उसका पालन करने वाला उदार तथा दयालु नियंता है। वह एक है। उसे खुदा कहते हैं और उसके कर्तव्य-वैभिन्य के कारण उसे खालिक़, रब, रहमान तथा रहीम की संज्ञा दी जाती है। वह खुदा न्याय करने वाला सच्चा मुंसिफ़ है। हर आदमी को अपने पुण्य-पाप का फल प्रलय (क़यामत) के दिन मिलता है। इस लोक के अतिरिक्त परलोक भी है। कर्मफल के अनुसार मनुष्य को नरक या स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

ईश्वर एक है, इस बात पर इस्लाम धर्म इतना बल देता है कि जो भी ईश्वर के किसी गुण की समकक्षता करना चाहे वह अपराधी है। इसलिए ईश्वर से प्रतिद्वन्द्विता या मूर्ति को ईश्वरीय गुण सम्पन्न मानना दोनों ही निषिद्ध हैं।

इस मान्यता के कई फल निकले—(१) ईश्वर, ईश्वर है और बंदा बंदा। अतः सभी बंदे (जीव, प्राणी) समान हैं। परिणामस्वरूप मुसलमानों में परस्पर ऊँच-नीच की भावना का अभाव है। (२) सृष्टि में एक व्यवस्था है, वह सत्य है, अतः उसका महत्व है। इसलिए समाज का स्थान उच्च है। सामाजिकता की इस भावना के कारण इस्लाम धर्म में सामूहिक नमाज़, सामूहिक हज यात्रा आदि को सर्वोपरिता प्राप्त हुई। (३) कोई भी व्यक्ति ईश्वर के गुणों से युक्त नहीं हो सकता। ईश्वर तथा बंदे का सम्बन्ध सीधा तथा शाश्वत है। पैग़म्बर पथ-प्रदर्शन करता है, जिससे वह सम्बन्ध ठीक बना रहे, अतः उसका आदर करना चाहिए, लेकिन श्रद्धा एवं भक्ति ईश्वर के प्रति ही होनी चाहिए।

इस्लामी भ्रातृत्व-भावना के आधार पर क़ुरान मे 'इस्लामी राज्य' की परिकल्पना भी की गई है। खुदा ही प्रभु है, सर्व समर्थ है। वह अपनी प्रभुता पैग़म्बर में नियोजित करता है और पैग़म्बर से वह खलीफ़ा अथवा इमाम को मिलती है।

क़ुरान ने व्यक्तिगत धनसंचय एवं तज्जन्य शोषण को रोकने के लिए एक ओर तो खम्स और ज़कात का नियम बनाया और दूसरी तरफ़ सूदखोरी तथा अन्न-संचय का निषेध किया।

पैग़म्बर और उनके उत्तराधिकारों ने इस सामूहिक जीवन की भावना को ही विकसित करने का उपदेश दिया। कहने का आशय यह कि हिन्दू-धर्म की वैयक्तिकता और कल्पना एवं विचारों की सूक्ष्मता के साथ जब सामूहिकता तथा

भौतिक व्यावहारिकता का संघर्ष हुआ तो उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया से एक मिश्र संस्कृति का जन्म होना अवश्यम्भावी था।

दोनों संस्कृतियों का यह संघर्ष लगभग तीन शताब्दियों तक चला। शासकों की हिन्दू-विरोधी नीति से हिन्दुओं के भीतर उनसे पृथक् रहने की भावना दृढ़ हो गई थी। दो एक मुसलमान शासकों ने उदारता की नीति भी अपनाई, लेकिन उसमें समन्वय के लिए प्रयास की कमी थी। दोनों संस्कृतियों के भीतर एकत्वानुसन्धान करने का सबसे प्रथम सतर्क प्रयत्न बादशाह अकबर (रा० का० सन् १५५६-१६०५) द्वारा प्रारंभ हुआ।

अकबर ने धर्म-निरपेक्ष पाठशालाओं की स्थापना करके ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का प्रबंध किया। आचार-शास्त्र, अंकगणित, कृषि-शास्त्र, क्षेत्रमिति, रेखागणित, ज्योतिष, राजनीति, चिकित्सा, तर्कशास्त्र, भौतिकी तथा इतिहास आदि अनेक विषयों के पठन-पाठन की सुविधाएँ देकर उसने समाज के वैचारिक संसार का विस्तार किया। अनेक संस्कृत ग्रंथ फ़ारसी में अनूदित हुए जिनमें अथर्ववेद, रामायण, महाभारत तथा लीलावती उल्लेखनीय हैं। शाहजहाँ (रा० का० सन् १६२७-१६५८) के समय में दाराशिकोह के सत्प्रयासों से उपनिषद्, भगवद्गीता तथा योगवाशिष्ठ का अनुवाद फ़ारसी में किया गया। यही नहीं, उसने स्वयं एक ग्रंथ 'मजमा उल बहरीन' लिखा, जिसमें हिन्दू तथा इस्लामी दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन है। इन अनुवादों ने इस्लामी संस्कृति पर निश्चितरूप से प्रभाव डाला। अनेक पौराणिक सन्दर्भ उनके साहित्य में प्रयुक्त होने लगे। राज्यभाषा फ़ारसी थी, अतः हिन्दू फ़ारसी ग्रंथों से परिचित थे, इसलिए उनकी संस्कृति भी इस्लामी संस्कृति से प्रभावित हुई।

स्थापत्य-कला के क्षेत्र में भी समन्वय के दर्शन होते हैं। संस्कृति-सम्मिलन-जन्य अज्ञात प्रभाव अकबर के समय में 'मुगल शैली' के रूप में सुस्पष्ट हुआ, जिसका नमूना फ़तहपुर सीकरी की जामा मस्जिद है। इस मस्जिद का आदर्श यद्यपि इस्फ़हान की मस्जिद थी, फिर भी उसके गुम्बदों का निर्माण जैन शैली पर किया गया है।

चित्रकला के माध्यम से भी अकबर ने दोनों संस्कृतियों को मिलाने का प्रयत्न किया। ईरानी शैली की नाजुकी के साथ हिन्दू-शैली की सहजता एवं यथार्थता का मेल हो जाने से एक स्वतंत्र नई शैली का जन्म हुआ।

सबसे गहरा मिश्रण संगीत में हुआ। इस्लाम-धर्म के आगमन के साथ सूफ़ी संत भी भारत में आ गये थे। भारतीय संतों के साथ उनके सम्मिलन से भजन-कीर्तन में हिन्दू एवं इस्लामी संगीत का मेल हो गया। इसके अतिरिक्त बादशाहों तथा अमीरों ने भी इस कला को काफ़ी प्रोत्साहन दिया। बीजापुर के बादशाहों

में इब्राहीम आदिलशाह (रा० का० १५८०-१६२६) हिन्दी संगीत का गहरा ज्ञान रखता था। उसका संगीत विषयक 'नवरस नामा' ग्रंथ प्रसिद्ध है। इस्लाम-धर्म में चित्रकला एवं संगीत पर प्रतिबंध होने से इन दिशाओं में मुसलमानों पर हिन्दू-संस्कृति का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

मुग़ल काल में अनेक वस्त्र तथा खाने-पीने की वस्तुएँ फ़ारस, ईराक़, ईरान, तुर्किस्तान तथा अफ़गानिस्तान से आती थीं। इन सभी वस्तुओं का प्रचार हिन्दुओं में भी हो गया। मुसलमानों के अनेक रीति-रिवाज हिन्दुओं ने अपना लिए और हिन्दुओं के बहुत से रीति-रिवाज मुसलमान-संस्कृति के अंग हो गए। शादी-ब्याह जन्म-मृत्यु में न मालूम कितने कृत्य दोनों संस्कृतियों में एक समान हैं। इसी प्रकार लोक-विश्वासों के क्षेत्र में भी बहुत समानता मिलती है। अकबर ने युगल-संस्कृति-संगम का जो अनुष्ठान प्रारंभ किया था उसे जहाँगीर (रा० का० १६०५-१६२७) तथा शाहजहाँ के समय में और गति मिली। औरंगज़ेब की धर्मान्धता इस प्रगति में अवश्य बाधक हुई, लेकिन हिन्दू-मुसलमानों के जो सांस्कृतिक संस्कार बन चुके थे, वे मिटे नहीं।

शाहजहाँ (रा० का० सन् १६२७-१६५८) ने आगरे में ताजमहल और दिल्ली में लाल क़िला जैसी विशाल इमारतें बनवाईं। उसका सिंहसन (तख़्तेताऊस) देखकर संसार के अत्यन्त वैभवशाली सम्राटों के नेत्र चकाचौंध हो जाते थे। शाहजहाँ ने अपने राज्यकाल में आगरे को छोड़कर दिल्ली को राजधानी बनाया था। उस समय दिल्ली (शाहजहानाबाद) का विलास-वैभव अपनी चरम सीमा पर था। लालक़िले के भीतर दीवान्-ए-खास की दीवारों पर शाहजहाँ ने निम्नांकित शेर अंकित कराया था—

अगर फ़िर्दौस बररूए ज़मीं अस्त।
हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त।

'यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो यहीं है, यहीं है यहीं है।' राजनैतिक सत्ता की दृढ़ता एवं व्यवस्था ने भोग-प्रवृत्ति को प्रबल कर दिया था। परन्तु शाहजहाँ के समय में ही विघटन भी प्रारम्भ हुआ, जिसकी गति औरंगज़ेब (रा० का० १६५८-१७०७) की मृत्यु के पश्चात् बहुत तीव्र हो गई।

मुगल साम्राज्य के सभी सूबेदार धीरे-धीरे स्वतंत्र हो गए। बंगाल में सन् १७०७ से, पंजाब में सन् १७१३ से, स्वतंत्र राजवंश स्थापित हुए। अवध में सन् १७२३ मे तथा दक्षिण मे सन् १७२४-१७२५ के बीच स्वतंत्र सत्ता की प्रतिष्ठा हो गई। तात्पर्य यह कि मुग़ल-साम्राज्य अब सिमिट कर दिल्ली के आस-पास तक रह गया था और इस क्षयिष्णु साम्राज्य में भी आए दिन ईर्ष्या-द्वेष के

कारण सड़कों पर खुले आम लड़ाई-झगड़े लूट-पाट होती रहती और सारे आघात बेचारे बादशाह को झेलने पड़ते थे।

मुग़ल-साम्राज्य की निर्बलता तथा अस्थिरता का अंदाज़ इसी से लग सकता है कि औरंगज़ेब (रा० का० १६५८-१७०७) की मृत्यु के बाद बारह सालों के भीतर छह बादशाह राजसिंहासन पर बैठे। इनमें से कुछ तो बैठे कि हटे और कुछ बैठे नहीं, बल्कि बिठाए गए। बहादुरशाह प्रथम (रा० का० सन् १७०७-१७१२), जहाँदारशाह (रा० का० सन् १७१३), फ़र्रुख़सियर (रा० का० सन् १७१३-१७१९), रफ़ीउद्दरज़ात (रा० का० सन् १७१९) या रफ़ीउद्दौला (रा० का० सन् १७१९) में से प्रत्येक का राज्यकाल इतना छोटा था कि इतने समय में क्या व्यवस्था हो सकती? लेकिन मुहम्मदशाह (सन् १७१९-१७४८) के तीस वर्षीय राज्यकाल में दशा और भी शोचनीय हो गई। मुहम्मदशाह की अतिशय भोगप्रियता एवं दरबारियों एवं सामंतों के पारस्परिक षड्यन्त्र साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुए। आपसी विद्वेष का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश के सशक्त शासक को यथोचित आर्थिक सहायता केवल इसीलिए नहीं दी जाती थी कि वह दरबार के प्रभावशाली दल का व्यक्ति नहीं था। सीमा की कमज़ोरी विदेशी आक्रमणकारियों को आमंत्रण देती रही। दरबार में निज़ामुल्मुल्क, समसामुद्दौला तथा सआदत ख़ाँ के पक्षधर तीन दल बनाए हुए थे। मीरबख़्शी के पद के लिए तीनों में होड़ थी। जब वह पद निज़ामुल्मुल्क को मिल गया तो सआदत ख़ाँ ने नादिरशाह को प्रलोभन देकर दिल्ली को लूटने के लिए उकसाया। फलस्वरूप दिल्ली में क़त्लेआम हुआ, जिसमें बीस हज़ार व्यक्ति मारे गए, हज़ारों ग़ुलाम बनाए गए और लगभग सत्तर करोड़ रुपए की सम्पत्ति नादिरशाह के हाथ लगी। यह धन इतना अधिक था कि नादिरशाह ने फ़ारस पहुँचकर अपनी प्रजा को सारी मालगुज़ारी तथा करों से तीन साल तक मुक्त रक्खा।

सामंतों के पारस्परिक षड्यन्त्र, रुहेले, सिक्खों तथा मरहठों के आक्रमण, नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली द्वारा किये गये बलात्कार, हत्याकांड तथा लूट से जनता मर्दित, ध्वस्त तथा निष्प्राण-सी हो गई। सारे राज्य में घोर अव्यवस्था, असंतोष तथा विद्रोह छाया हुआ था। इस स्थिति में अहमदशाह (रा० का० सन् १७४८-१७५४) तथा आलमगीर द्वितीय (रा० का० सन् १७५४-१७५९) बादशाह हुए जो नाममात्र के बादशाह थे और उस अराजकता के बीच शाहआलम (रा० का० सन् १७५९-१८०६) की स्थिति शतरंज के बादशाह से अधिक न थी। अहमदशाह द्वितीय तथा शाहआलम के समय में अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण (सन् १७४८ से १७५४ तक) हुए। अहमदशाह अब्दाली के अत्याचारों की

भयंकरता इतिहास प्रसिद्ध है। अब्दाली के चले जाने पर प्रख्यात रुहेला नजीब उसका प्रतिनिधि बन गया। इस निरक्षर अफ़ग़ान के पौत्र ग़ुलाम क़ादिर ने बादशाह की आँखें फोड़ डालीं और उसे तथा उसके अन्तःपुर को नाना प्रकार से अपमानित किया।

मुग़ल-साम्राज्य के पूर्ण पतन से मराठे अत्यन्त प्रबल हो गए। वे लोग दिल्ली से पंजाब तक धावा करने लगे। उन्होंने अब्दाली के पंजाब-स्थित सूबेदार को परास्त कर दिया। अतः अब्दाली से उनका युद्ध हुआ। पानीपत के इस तीसरे युद्ध (सन् १७६१) में मराठों की रीढ़ टूट गई और मुग़ल-सम्राट् का अस्तित्व समाप्त-सा हो गया। इधर अँगरेज़ों की शक्ति बढ़ने लगी। सन् १७६५ में बक्सर का युद्ध हुआ, जिसमें अँगरेज़ विजयी हुए, परिणामस्वरूप इलाहाबाद की संधि हुई, जिससे अवध का नवाब शुजाउद्दौला और [illegible] उसके प्रभावक्षेत्र में आ गए। मुग़ल-सम्राट ने कड़ा और इलाहाबाद के ज़िले लेकर बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी अँगरेज़ों को सौंप दी और २६ लाख रुपए वार्षिक पेंशन लेकर संतुष्ट हो गया। इस तरह अँगरेज़ों ने मुग़ल-साम्राज्य के पतन के साथ-साथ भारतीय राजनीति में मुख्य भूमिका अदा करना शुरू कर दिया। सन् १८५० तक सारा उत्तरी भारत उनके झंडे के नीचे आ गया, लेकिन उन्होंने तब तक भारतीय संस्कृति को प्रभावित नही किया था। हालाँकि वाजिदअली शाह (रा० सन् १८४७-१८५५) जैसे शासक अपनी रखैलों को ऊँची एड़ी की जूतियाँ पहनाने लगे थे, परन्तु अँगरेज़ों का सामान्य जनता से मानसिक मिलन नहीं हुआ था। सन् १८५७ के ग़दर में बहादुरशाह द्वितीय 'ज़फ़र' (रा० का० १८२७-१८५७) तथा वाजिदअलीशाह का शासन समाप्त हो गया और अँगरेज़ एकच्छत्र शासक बन गए। अतः रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति का समन्वित रूप ही मिलता है, उस समन्वय में अँगरेज़ी संस्कृति को कोई स्थान नहीं है।

यह सारा वर्णन शोध-प्रबन्ध की पूर्वपीठिका-रूप है। इसमें हमने इतिहास प्रसिद्ध तथ्यों को एकत्र करके इसलिए प्रकाश डाला कि शोध-प्रबन्ध की स्थापना समझने में सुविधा हो। पूर्वपीठिका में हम किसी नूतन अनुसंधान का दावा नहीं करते। इस सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनका अध्ययन स्थिति पर और प्रकाश डाल सकेगा। यहाँ इतनी पृष्ठभूमि पर्याप्त है।

मध्यकालीन समाज का परिवेश आज से नितांत भिन्न था। आधुनिककालीन सरकार कर्तव्य, अधिकार एवं उत्तरदायित्व में तत्कालीन शासक के समान नहीं है। आज का मनुष्य अपनी (वैयक्तिक) स्वतन्त्रता में समाज का कम से कम हस्तक्षेप चाहता है, किन्तु मध्यकाल का समाज अपने क्रिया-कलाप में व्यक्ति का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करता था। उदाहरणार्थ मध्यकाल में विवाह एक अत्यन्त

महत्वपूर्ण सामाजिक विषय था, जिसके सम्बन्ध में समाज के अपने नियम थे। उन नियमों का पालन करना प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए अनिवार्य था, व्यक्ति उनका उल्लंघन नहीं कर सकता था। वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित करने का अधिकार माता-पिता को प्राप्त था। इस वैध सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य प्रकार का प्रेम एक प्रकार का सामाजिक अपराध समझा जाता था और उत्पथिक जीवन भर दंड भोगते रहते थे। वह समाज अवस्थित समाज था। राजनैतिक उथल-पुथल कितनी ही जबरदस्त हो, परन्तु वह ऐसे समाज में घटित होती थी, जो सदियों तक अपरिवर्तित रहने में सक्षम था। यह अवस्थिति न केवल सामाजिक संस्कार-सम्बद्ध थी, अपितु साहित्य में भी उसकी छाप थी—रीति, अनुशासन एवं गतानुगति का समाज एवं साहित्य दोनों में समान रूप से बोलबाला था।

मध्यकालीन समाज में विद्या और संस्कृति के विकास के लिए राजा का आश्रय साधारण बात थी। जिस प्रकार पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहिन और मालिक-नौकर आदि के सम्बन्ध निश्चित थे, उसी प्रकार शासक (राजा या सामंत) तथा कवि का सम्बन्ध भी मान्य था।

इस सांस्कृतिक व्यवस्था ने तत्कालीन काव्य-पद्धति को प्रभावित किया। इसलिए आलोच्यकालीन हिन्दी-रीतिकविता तथा उर्दू-शाइरी की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के उद्देश्य से शोध-प्रबन्ध को संस्कृति एवं साहित्य के अनुसार दो खण्डों में विभक्त किया गया है। संस्कृति का महत्व प्राथमिक होने से पहले खंड में सांस्कृतिक अध्ययन है और दूसरे में साहित्यिक।

●

खण्ड–१

सांस्कृतिक अध्ययन

संस्कृति का भौतिक पक्ष

संस्कृति का मानसिक पक्ष

अध्याय | १

संस्कृति का भौतिक पक्ष

'संस्कृति' शब्द की अर्थ-व्याप्ति के विषय में विचार-वैभिन्य होने पर भी उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वान् प्रायः एकमत हैं। संस्कृति के दो पहलू होते हैं—पहला भौतिक है और दूसरा मानसिक। दोनों पार्श्वों का अपना-अपना महत्व है।

भौतिक पार्श्व का सम्बन्ध जलवायु से है। किसी देश एवं काल-विशेष मे शरीर को सुसंस्कृत बनाने के लिए जिन-जिन उपस्करणों को जुटाया जाता है, वे सब संस्कृति के भौतिक पार्श्व के अन्तर्गत हैं। आलोच्यकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता के तुलनात्मक अध्ययन से संस्कृति के भौतिक पक्ष के सम्बन्ध में अनेक रोचक तथ्य प्रकाश मे आते है।

खानपान

भोजन

रीतिकालीन समाज दो वर्गों में विभक्त था—सामंत वर्ग और प्रजावर्ग। प्रजावर्ग में कुछ लोग भरपेट स्वादिष्ट भोजन पा जाते थे, लेकिन अधिकांश का भोजन, रोटी, साँवा, खिचड़ी और बथुआ का साग आदि था। 'ठाकुर' के कबित्त में इन पदार्थों का उल्लेख है—

छिपिया को दूध भात खीचरी हू करमा की
चक्करा रैदास जू चमार हूँ के खाए हैं।
विदुर की भाजी रोटी बथुआ समाँ की रुची
बीदुरैन केर छोल छिकुला खवाए हैं।

उच्च लोग चुपड़ी चपातियाँ तथा हल्वा उड़ाते थे, परन्तु ग़रीब लोगों के व्यंजन थे काले गुड़ की लपसी और कढ़ी—

ठलियाँ चपाती हल्वे की तो सब मे चाल है।
ऊना ग़रीब के तईं यह भी मुहाल है।
काले से गुड़ की लपसी कढ़ी की मिसाल है। —नज़ीर

समाज में अनेक प्रकार के व्यंजन एवं मिठाइयाँ प्रचलित थीं! लोग पूड़ी, कचौड़ी, मुगौचै, बड़े आदि खाते थे। रोटी को मींजकर उसमें गुड़-घी मिलाते थे। इसे मलीदा कहते थे। मलीदा खाना [illegible] का लक्षण था। 'सौदा' ने मलीदे का वर्णन किया है—

मौक़ूफ़ करो न नाज, सब के बदले
भरपेट मलीदा ही खिलाओ मुझको।

हिन्दी-रीतिकाव्य मे पूड़ी, कचौड़ी, खोया, मिठाई तथा मैदा-घी-शक्कर-मिश्रित पक्वान्नों का उल्लेख मिलता है—

बरन बरन पंगत सब न्यारी।
जेंवत खोवा पुरी सुहारी।
° °
तुलहि मिठाई गजलैं गावैं।
छकरा भरि जनवासे आवैं।
पुरी, कचौरी बहु तरकारी।
ढेरी सब जनवासे डारी।
चारौ पानी लकड़ी सोई।
कनिकदार घृत शक्कर सोई। —बोधा

'नज़ीर' अकबराबादी ने महादेव के ब्याह में हलवाई लगाकर दूध, मैदा तथा मेवों से तरह-तरह की मिठाइयाँ एवं पक्वान्न तैयार कराए हैं। पेड़ा, बरफ़ी, लड्डू, बादाम, गरी, मगद, खुर्मा, अमिरती, जलेबी, खजले, घेवर तथा बालूसाई का वर्णन मिलता है। पक्वान्नों में 'नज़ीर' ने 'अँदरसा' का उल्लेख भी किया है—

कोई कहे है अपने दिलदार खुशनज़र से।
हाथों से मेरी जानी खा ले ये दो अँदरसे।

अँदरसा चावल के आटे से बनाया गया एक मिष्ठान्न है, जो उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में होली के अवसर पर और पूर्वी जिलों में वर्षाकाल में आज भी खाने को मिलता है।

चीनी से बनी हुई मिठाइयों में तिलशकरी एवं गट्टे का ज़िक्र हुआ है।

तिलशकरी तिल और शकर को मिलाकर बनती थी। आजकल इसे गज़क कहते हैं। गट्टा शकर से बनता था। गट्टा कन्नौज में आज भी प्राप्त हो सकता है। ये मिठाइयाँ साधारण लोगों की थीं। इन लोगों को अमीरों की बरफ़ियाँ कहाँ नसीब थीं? ये तो शकर में दालचीनी मिलाकर खाते थे, मिसरी डालकर गुड़पेड़ियाँ बना लेते थे या फिर गुड़ की चाशनी में तिल मिलाकर लड्डू बाँधते थे—

उम्दों ने सौ तरह की याक़ूतियाँ बनाईं।
लोगों ने दारचीनी शक्कर में ले मिलाईं।
सरदी में दौलतों ने हर गर्म चीज़ें खाईं।
और विन ने डाल मिसरी गुड़पेंडियाँ बनाईं।
हमने भी गुड़ मँगाकर बँधवाए तिल के लड्डू। —नज़ीर

नमकीन व्यंजनों के उल्लेख भी पूर्वोद्धृत उदाहरणों में हैं। लेकिन नमकीन पदार्थों की संख्या मीठे के सामने बहुत कम है। हिन्दी-रीतिकाव्य में मीठे और सलोने को लेकर कवियों ने खूब उक्तियाँ बाँधी हैं। 'सलोने' का अर्थ लावण्ययुक्त मात्र समझना भूल होगी। हिन्दी-रीतिकविता में 'सलोने' शब्द की ध्वनि समझने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ 'पदमाकर' का निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है—

गुल गुलकंद कों सुमंद करि दाखन कों
देखहु दुचंद कलाकंद की कमाई सी।
कहै 'पदमाकर' त्यों साहिबी सुधा की सबै
ब्रज बसुधा में सो कहाँ धौं भरी आई सी।
खरिक खरी कों मधु हू की माधुरी सों सुभ
सारदसिरी कों मीसरी कों लूटि लाई सी।
साँवरी सलोनी के सलोने अधरान ही में
मृदु मुसकान भरी मंजुल मिठाई सी।

इस छंद मे गुल, गुलकंद, कलाकंद, सारदसिरी, मिसरी आदि की संगति में 'सलोने' का प्रयोग साफ़ बताता है कि यह कोई नमकीन पदार्थ है। पुष्टि के लिए उर्दू-शाइरी से निम्नांकित उद्धरण लीजिए—

कोई पान बेचे खिलौने कोई।
कोई दालमोठ और सलोने कोई। —मीर हसन

गुल, गुलक़ंद तथा कलाक़ंद आदि का उल्लेख तो उर्दू-शाइरी में भी है, परन्तु 'सारदसिरी' नामक पदार्थ का नाम कहीं भी नहीं मिलता। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'सारदसिरी' को 'बसौंधी' नामक पदार्थ बताया है, जो दूध से बनाया जाता था।

नाना प्रकार की मिठाइयों और पकवानों के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के मेवे भी स्वादिष्ट भोजन के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। बहुत से मेवे मुसलमानों के साथ ही आए थे। सामंत वर्ग में मेवों का खूब प्रयोग होता था। तत्कालीन समाज में अपने स्वाद के कारण वे एक नेअमत समझे जाते थे। हिन्दी-उर्दू-कवियों की रचनाओं में मेवों का उल्लेख है—

पौन को न गौन होय भरक्यो सु भौन होय
मेवन के खौन होय डिबियाँ मसाला की। —'षट्० का०'

'नज़ीर' अकबराबादी भी कहते हैं—"मेवे मिठाई अम्बा अंगूर और सर्दे।"

मुस्लिम समाज में कबाब खाना भोजन का प्रधान अंग था। उर्दू-शाइरी में 'कबाब' और 'गिरिय-ए-चश्मे-कबाब' का वर्णन है—

खाता नहीं हूँ उसको मैं खाता हूँ अपना गोश्त
दिल टूटता है गिरिय-ए-चश्मे-कबाब से। —आतश

हिन्दी-रीतिकविता में भी कबाब का वर्णन हुआ है, यथा—

तुम जो कह्यो सो साँच इह में न झूँठ कछू
मेघन के मास को कबाब मैं हूँ खायो है। —रघुनाथ

लेकिन यह वर्णन कबाब का उल्लेख भर करता है, वैसे भोजन की दृष्टि से हिन्दी-रीति-काव्य शाकाहारी काव्य है।

मद्य

आलोच्यकालीन सामन्तीय समाज में शराब का आम रिवाज था, इसलिए उर्दू तथा हिन्दी-कविता में शराब के उन्मुक्त उल्लेख हैं। पुरुषों का ही नहीं, स्त्रियों का शराब पीना भी चित्रित किया गया है—

हँसि हँसि हेरति नवल तिय मद के मद उमदाति।
बलकि बलकि बोलति वचन, ललकि ललकि लपटाति। —बिहारी

हिन्दी-रीतिकवियों ने शराब की तफ़सील देने की आवश्यकता नहीं समझी, लेकिन उर्दू-शाइरी में शराब की क़िस्मों की भी चर्चा कर दी गई है। उर्दू-काव्य के उदाहरणों से मालूम पड़ता है कि उन दिनों पुर्तगाल की शराब सबसे अच्छी और तेज़ समझी जाती थी—

'वली' तुझ शेर को सुनते हुए हैं मस्त अहले-दिल
असर है शेर में तेरे शराबे-पुर्तगाली का।

अँगरेज़ी शराब अथवा फ़्रेंच शराब जहाजों में भर-भर कर यूरोप से आती थी। 'आतश' ने एक शेर में इसका ज़िक्र किया है—

मुबारक कश्तियाँ मय की बुताने-हिन्द को होवें
जहाज़ों मे फ़रंगिस्ताँ से आबे-आतशी आया। —आतश

उर्दू-शाइरी में अंगूरी शराब के प्रचुर उल्लेख हैं। उसे 'दुख़्तरे रज़' कहा जाता है। उर्दू-कविता में शराब का सामान्य अर्थ अंगूरी शराब ही होता है—

बसकि दौड़े है रगे-ताक मे खूँ हो-होकर
शहपरे-रंग से है बालकुशा मौजे-शराब। —ग़ालिब

अच्छी क़िस्म की शराब पुर्तगाल और फ़ारस से आती थी। फ़ारसी शराब अंगूर से बनती थी। उर्दू-शाइरी मे शराब-पीने से संबंधित साज-सामान से फ़ारसी वातावरण का स्पष्ट प्रतिभान होता है। 'पदमाकर' ने अंगूरी शराब का वर्णन किया है—"आसव अंगूर को अंगूर ही की टाटी है।"

शराब के साथ गज़क के उल्लेख उर्दू-हिन्दी दोनों काव्यों में खूब हुए हैं। साग़र के साथ गज़क का होना अनिवार्य था—

शराबों के शीशे चुने ताक़ में।
गज़क वो कि निकले न आफ़ाक़ में। —मीरहसन

हिन्दी-कवि 'पदमाकर' ने शिशिर का कसाला दूर करने के लिए जो मसाला इकट्ठा किया है, उसमे गज़क पर ध्यान भी रक्खा गया है—

कहै 'पदमाकर' त्यों गजक गिजा हैं सजी
सेजै हैं सुराही हैं सुरा हैं अरु प्याला हैं।

हिन्दी-काव्य के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि शराब में गुलाबजल मिलाकर पान करते थे—

सँग नौल बधू लिये दोऊ अटा पर बैठे बिलोकत जोन्ह अरी।
'रघुनाथ' गुलाब को धोवो बनाइ मँगाइ के वारुणी पास धरी।

उर्दू-शाइरी मे शराब के तीन काम हैं—(१) आशिक़ का ग़म ग़लत करना, (२) माशूक़ का सौन्दर्य-वर्द्धन, (३) माशूक़ का आशिक़ के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार दिखाना।

हिन्दी-कवियों ने शराब का प्रयोग यत्किंचित् भिन्न ढंग से किया है। हिन्दी-रीतिकाव्य मे शराब आलम्बन का सौन्दर्य तो उर्दू-शाइरी की शराब के समान ही बढ़ाती है, परन्तु शेष दो कार्य नहीं करती। हिन्दी-कविता की शराब प्रेमी-प्रेमिका के संयोग का कारण है। शराब एक तरफ़ तो नायक की सहायता करती है, दूसरी तरफ़ नायिका को प्रेम-सक्षम बनाती है।

यदि दो नायिकाएँ उपस्थित हैं और नायक नई नवेली कनिष्ठा से रतिकेल करना चाहता है तो शराब से बढ़कर उसका सहायक कौन हो सकता है? वह

ज्येष्ठा को सानुरोध शराब पिलाकर सुला देगा और कनिष्ठा के साथ रुचिपूर्वक रस लूट करेगा—

पियो आपु औ कै हठ प्यावो उन्हें सर से यकै एकै नींद भरी।
तिय एक सों काम कला रुचि कै सब राति लला रस लूटि करी।—रघुनाथ

यदि नायिका नई है और लज्जाधिक्य के कारण प्रेम-व्यापार-निरत नहीं हो पाती तो शराब उसकी लज्जा दूर करके उसे नायक के प्रति मुग्ध बना देती है—

आसव सेइ सिखाए सखीन के सुन्दरि मंदिर में सुख सोवै।
सापने में बिछुरै हरि हेरि हरैंइ हरैं हरिनी दृग रोवै।
'देव' कहै उठि के बिरहानल आनँद के अँसुवान समोवै।
आजु ही भाजि गई सब लाज, हँसै अरु मोहन को मुख जोवै।

शराब ने संयुक्ता को वियुक्ता बनाकर संयोगकामा कर दिया। एक ही दिन में सारी लज्जा दूर हो गई। वियोग का ऐसी पटुता से इस्तैमाल उर्दू-काव्य में कहाँ? शराब केवल लज्जा को ही नहीं भगाती, अपितु नायिका को 'ललकि ललकि' लिपटना भी सिखाती है। इस प्रकार शराब हिन्दी-रीतिकाव्य में रसवत्ता और मस्ती बढ़ाने का प्रमुख साधन है।

हिन्दी-रीतिकवियों ने शराब के पश्चात् दूसरी नशीली वस्तुओं मे भंग को सर्वाधिक याद किया है, परन्तु भंग का सम्बन्ध नायक-नायिकाओं से न दिखाकर भगवान् शंकर से जोड़ा है। हास्य-व्यंग्यपरक रचनाओं में शंकरजी भंग पिए नाचते दिखाई पड़ते हैं। हिन्दी-रीतिकाव्य सामन्तीय परिवेश में पल्लवित-पोषित काव्य है, अतः उसमें भंग-वर्णन का अभाव देखकर अनुमान होता है कि दरबारों में भंग का प्रचार नहीं था। उर्दू-शाइरी भी भंग-महत्व से अनभिज्ञ-सी है। भाँग की प्रशंसा 'नज़ीर' अकबराबादी ने की है। उनका कहना है कि अब तक तुमने माजून खाई है, पोस्त घोले हैं, अफ़ीम का प्रयोग किया है, ताड़ी, सेंधी, बोड़ा या शराब पी है अथवा गाँजे या चरस की दम लगाई है, लेकिन जो बात भंग के नशे में है वह इनमें कहाँ? भंग का ऐश और रंग सबसे अलग है—

जितने हैं अब जहाँ के सब्ज़े के इश्क़ वाले।
दिलशाद सुर्ख़ आँखें सरसब्ज़ मुँह उजाले।
पीते हैं सब्ज़ तुर्रे खाते हैं तर निवाले।
क्या देखता है बैठा ओ यार हुस्न वाले।
पी आशिक़ों में आकर दो बंग के पियाले।
जो एकदम में तेरा घर घूमे छपर हाले।

माशूक़, जो उच्च स्तर का है, भाँग नहीं पीता। शाइर ने उसे आमंत्रित किया है कि वह खस्ताहाल, खानाखराब आशिक़ों में आकर भाँग के दो प्याले पिए। स्पष्ट है कि भाँग ग़रीबों का पेय था। भाँग के अतिरिक्त हिन्दी-काव्य मे तम्बाकू पीने का उल्लेख भी है—

ओठु उँचै हासी-भरी दृग भौँहनु की चाल।
मो मनु कहा न पी लियौ पियत तमाकू लाल। —बिहारी

तम्बाकू सन् १६०५ के आस-पास पुर्तगालियों द्वारा लाई गई थी, परन्तु इसका व्यवहार जन-सामान्य में हो गया था। प्रमाण प्राप्त हैं कि लोग अक्सर अपने दरवाज़े पर बैठकर तम्बाकू पीते थे। 'बिहारी' के दोहे में तम्बाकू पीते समय की चेष्टाओं का वर्णन है। नायक ने ओठ को ऊँचा किया और भौंहों को चलाया। यह चिलम पीने का वर्णन है। साधारण लोग चिलम पीते थे, उच्चवर्ग में हुक़्क़े का प्रचलन था। तम्बाकू स्त्रियाँ भी पीती थीं। 'सहरुलबयान' मसनवी में बद्रे मुनीर को पर्दे के अन्दर हुक़्क़ा पीते चित्रित किया गया है—

लबे-नाजुक ऊपर वो मुँहनाल धर।
निकाले थी परदे में दूदे-जिगर। —मीर हसन

हिन्दी-कविता में अन्य मद्य पदार्थों का वर्णन प्रायः नही है, लेकिन उर्दू में अफ़ीम, कोकीन के अलावा ताड़ी, चरस, गाँजा आदि अन्य मद्यों के उल्लेख भी मिलते हैं।

वेश भूषा

वस्त्र

'आईन्-ए-अकबरी' में जिन ऊनी, रेशमी और सूती कपड़ों के नाम हैं, उनमें से कुछ को छोड़कर बाक़ी सब-के-सब वस्त्र रीतिकाल में या तो व्यवहार से बाहर हो गए थे, या अपना नाम-रूप बदल चुके थे। हिन्दी-रीतिकाव्य में बादला, ताश, ताफ़्ता, बाफ़, मख़तूल, अतलस, मखमल तथा तमामी नामक रेशमी कपड़ों के उल्लेख हुए हैं। इन वस्त्रों में ताफ़्ता एवं बाफ़ को छोड़कर अन्य कोई भी नाम 'आईन्-ए-अकबरी' में नहीं मिलता। बाफ़ एक क़ीमती रेशमी कपड़ा था, जो क़ाबुल और फ़ारस से आता था और प्रति गज़ के हिसाब से बिकता था। 'ताज़ा बाफ़' और 'दाराए-बाफ़' नाम से उसके दो रूप प्राप्त थे। हिन्दी कवि 'गंजन' ने 'कमरुद्दीन ख़ाँ हुलास' में बाफ़ के पर्दों का वर्णन किया है—

मीना के महल जर बाफ दर परदा हैं
हलबी फनूसन में रोशनी चिराग की।

ताफ़्ता का उल्लेख 'बिहारी' के एक दोहे में हुआ है। 'ताफ़्ता' शब्द का अर्थ है चमकदार, रौशन। यह एक प्रकार का रेशमी वस्त्र था, जिसका ताना एक रंग का और बाना दूसरे रंग का होता था। इसे प्रायः धूपछाँही वस्त्र कहते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने 'संजीवन भाष्य' में हरि प्रकाश की टीका से उद्धरण देकर ("दोइ रंग सों मिलिकै ताफ़ता रेसमी कपरा होत है कोई वाकौ 'देवाग' कहैं हैं") उसका नाम 'देवांग' बताया है। 'आईन्-ए-अकबरी' में ताफ़्ता का उल्लेख है।[१] अली आदिलशाह द्वितीय की रचना में भी ताफ़्ता का वर्णन है, परन्तु शाइर ने उसे उसके दक्खिनी नाम से पुकारा है। ताफ़्ता का दक्खिनी नाम 'वाला' था—

हरे पाताँ मने डाल्याँ दिसें नारंज की मुज यूँ
तरुन सुन्दर के जोबन पर सबज़ वाला उढ़ाया है।

इन दो स्थलों के अलावा ताफ़्ता को हिन्दी-रीतिकविता में स्थान नहीं मिला और उर्दू-शाइरी ने तो इस वस्त्र का नाम ही नहीं लिया। हिन्दी-कवियों ने ताश के गद्दों, बिछावनों, तमामी के तकियों तथा मखतूल के ग़लीचों का ज़िक्र किया है और कवि 'देव' की रचना मे अतलस का नाम आया है—

(क) तासन की गिलमै गलीचा मखतूलन के —पदमाकर
तास सेत बिछत करी है चौक हद मैं —ग्वाल

(ख) सोने के पलँग मखमल के बिछावने है
तकिया तमामी के तमाम तरकीब के। —बेनीप्रबीन

(ग) लसित अतलस लाल —देव

सूती वस्त्रों में ख़ासा, मलमल तथा डोरिया का उल्लेख-हिन्दी रीतिकविता में हुआ है। ये वस्त्र 'आईन्-ए-अकबरी' के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार हिन्दी-रीतिकाव्य में वस्त्र के कथन परिसीमित हैं। लेकिन उर्दू-शाइरी वस्त्रों की दृष्टि से बहुत आढ्य है। उर्दू-शाइरी मे यों तो बादला, हरीर, अतलस, कमख़्वाब, क़ाक़ुम, संजाब, समूर, दीबा, दोदामी तथा कताँ का ही बारम्बार वर्णन हुआ है, लेकिन रेख़्ती-शाइरी में आलोच्यकाल के प्रचलित सभी वस्त्र आ गए हैं, जैसे आबेरवाँ, आड़ा, बादला, बुलबुलचश्म, फूलाम, ताश, तिरछा, तंज़ेब, चारख़ाना, चाँदतारा, ढाका, राधाननरी, संगी, सूसी, शबनम, शरबती, सहन, कलंदरी, कामलेट, गाज, गाढा, गजी, गुलबदन, लंकलाट, महरमात, महमूदी, मख़मल, मुशज्जर, तम्ल, मोमीछींट, नैनसुख तथा नैनूं।

हिन्दी-कवि 'ग्वाल' के काव्य में 'झलाझल' नामक वस्त्र का उल्लेख हुआ है, किन्तु हिन्दी-रीतिकाव्यान्तर्गत किसी और कवि द्वारा इसका प्रयोग नहीं किया गया—

तानै सामियाने जरीदार सत जेब भरे
मोतिन की झालरैं झलामल के सद मैं। —ग्वाल

रेख्ती-शाइरी में 'झलामल' का प्रयोग है, लेकिन उर्दू-शाइरी में अन्य किसी स्थल पर इस वस्त्र का उल्लेख नहीं हुआ।

परिधान

रीतिकालीन समाज की पोशाक उस समय के इन्हीं वस्त्रों से निर्मित होती थी। हिन्दी तथा उर्दू-कविता में वर्णित परिधानों से पता चलता है कि हिन्दू एवं मुसलमानों का पहनावा कुछ अंश मे एक-सा, लेकिन उसका अधिकांश एक-दूसरे से भिन्न था।

हिन्दी-रीतिकाव्य मे पुरुषों की पोशाक के वर्णन अधिक विवरण से नहीं किए गए हैं। इन कवियों का ध्यान नायिका पर विशेष रूपेण केन्द्रित है। उर्दू-कविता की प्रवृत्ति भी ऐसी ही है। रेख्ती-शाइर तो स्त्रियों के वस्त्रों के अलावा कुछ देखते ही नहीं, अन्य शाइर भी कुछ ही परिधानों का वर्णन करते हैं।

पगड़ी

पुरुष-धार्य परिधानों मे पगड़ी हिन्दी-उर्दू दोनों काव्यों में समान रूप से वर्णित हुई है। अन्तर यदि कुछ मिलता है तो वह संदर्भ का है, महत्व-सम्बन्धी नहीं है।

आलोच्य काव्य में पगड़ी के उल्लेख दो रूपों में मिलते हैं—(१) किसी समाज अथवा जाति-विशेष के लिंग रूप मे (२) सामान्य पुरुष-लिबास के रूप में।

जाति-विशेष-लिंग-रूप पगड़ी भारतवर्ष की प्रसिद्ध वस्तु है। मारवाड़ियों, मराठों तथा सिक्खों की पगड़ियों के ढंग अलग-अलग हैं। राजपूतों की पगड़ी का रंग केसरिया है, तो तिलंगानावालों का नीला। 'पदमाकर' ने समुद्र-तरंगों के समान उमड़ते हुए उमंग-भरे तिलंगे सैनिकों की नीली पाग का वर्णन किया है—

पहिरैं बहु भाले कुर लैं ताले संध्याकाले मेघ मनौ।
लहि लीली पागैं खुरसत साँगैं आँगै-आँगै तिनहि गनौ।

जिस प्रकार रंग पगड़ी विशेष का लक्षक है, उसी प्रकार उसका निबंधन-ढंग भी। छोटी-बड़ी पगड़ी से भी व्यक्तित्व की पहचान होती थी। मिर्ज़ा 'सौदा' ने शेख़जी की पेचदर-पेच बाँधी गई पगड़ी पर व्यंग्य किया है—

पेच पर पेच देते ही चले-जाओगे शेख़ !
होगी गुम्बद से बड़ी दस्तार दिन दो चार में ।

रीतिकालीन उर्दू-काव्य से प्रतीत होता है कि उस समय पगड़ी बाँधने की कई शैलियाँ थीं । कोई गुम्बददार पगड़ी बाँधता था तो कोई फैली हुई वृत्ताकार अर्थात् कुम्हार के चाक की तरह । यही नहीं लोग खिड़कीदार पगड़ी बाँधने के भी शौक़ीन थे—

आने दरवाज़े पर लगे सौ बार ।
सर प रख बाँकी पगड़ी खिड़कीदार । —मीर

'मतिराम' के एक कबित्त में भी मानवती नायिका अपना मान छोड़कर प्रियतम की खिड़कीदार पाग सँवारती दृष्टिगोचर होती है—

छूटि गयो मान, लगी आपु ही सँवारन कौं,
खिरकी सुकवि 'मतिराम' पिय पाग की ।

पगड़ी को तुर्रों से सजाने के वर्णन उर्दू-शाइरी में मिलते हैं । धनी लोग सुनहरे तुर्रे लगाते थे । 'पदमाकर' ने क़लगी को चर्चा की है । लेकिन साधारण तौर पर पगड़ी को फूलों से सज्जित करने का चलन था—

पगड़ी में फूल रखते हैं राना जवाने-शह्र ।
दाग़े जुनूँ ही सर प रहा यों बजाए-गुल । —मीर

पगड़ी फेर कर रखने से उस समय अभिमान की व्यंजना होती थी । 'मीर' के कई शेर इस भाव को अभिव्यक्त करते हैं—

काट के सर आजिज़ का उनने और भी पगड़ी फेर रखी ।
फ़.ख्र की कौन सी जागा थी याँ ऐसा क्या रुस्तम मारा ?

उर्दू-कविता के उपर्युक्त उदाहरण सावधान पाग-निबंधन-शैली के नमूने हैं । हिन्दी-रीतिकाव्य में इसके विपरीत हड़बड़ी-जन्य पाग-निबंधन के संकेत मिलते हैं और उसके लिए कवियों ने प्रायः 'लटपटी' अथवा 'लटपटे' विशेषण का प्रयोग किया है । हिन्दी-रीतिकाव्य की 'लटपटी पाग' शृंगार रस में द्विपार्श्वीय योग देती है--(१) नायक की मनोवृत्ति सूचित करके, जैसे वसंतश्री देखने के लिए शीघ्रता से उठकर पाग बाँधते हुए व्यक्ति के इस चित्र में—

लटपटी पाग सिर साजत उनीदें अंग
'द्विजदेव' ज्यों त्यों कै सँभारत सबै बदन ।

(२) नायिका के कोप तथा मान के हेतु-रूप जैसे—

लटपटे पेंच सिर बात न कहत बनै
लटपटे पेंच सिर पाग के सुधारिए । —मतिराम

नायिका कहती है कि ज़रा अपनी पगड़ी के शिथिल-अस्तव्यस्त पेच देखिए जो वास्तव में लटपटे हैं अर्थात् जिस स्त्री के साथ तुमने रात बिताई है, उसके केशों की लटों से पटे (भरे) हुए हैं। 'लटपटे' शब्द का व्यंग्य ध्यातव्य है। रीतिकालीन समाज मे बालों को पगड़ी के साथ बाँधने का फैशन था, जैसा कि 'मीर' के निम्नांकित शेर से प्रकट है—

यार के बालों का बँधना क़ह्‌र है पगड़ी के साथ
एक आलम दोस्ताँ इस पेच में मारा गया।

अतः नायक के बाल पगड़ी के साथ बँधे हुए हैं। उन बालों की ओर संकेत करके ही नायिका व्यंग्य करती है। तत्कालीन फ़ैशन को बिना जाने इस उक्ति का सौन्दर्य हृदयंगम नहीं हो सकता। कहीं-कहीं 'लटपटी' विशेषण का प्रयोग न होने पर भी पगड़ी की विपर्यस्त दशा इसी भाव की व्यंजना करती है, जैसे—

कहै 'पदमाकर' कहाँ वा मूरि जीवन की
जाकी पग-धूरि पगरी पै पारि आए हौ।

पगड़ी रीतिकालीन सभ्य समाज मे इतनी सम्मानित थी कि कवियों ने कृष्ण को भी पाग बाँधे हुए दिखाया है—

काछ कछें पटपीत को सुन्दर शीश धरे पगिया रँगराती —रघुनाथ

उर्दू-शाइर 'वली' के काव्य में भी कृष्ण का यह रूप चित्रित है। 'वली' उर्दू-शाइर थे, अतः उन्हें अपवाद मानकर छोड़ा जा सकता है। परन्तु हिन्दू-संस्कृति से पूर्ण परिचित कवि 'देव' पर भी रीतिकालीन पगड़ी ने अपना प्रभाव डाला है। 'देव' ने राधा द्वारा कृष्ण की पाग की प्रशंसा करवायी है—

आपुस मैं रस मैं रहसैं बहसैं बनि राधिका कुंज बिहारी।
श्यामा सराहति श्याम की पागहिं श्याम सराहत श्यामा की सारी।

साड़ी

हिन्दी-रीतिकविता पुरुष-परिधानों मे जैसा प्रतिष्ठित स्थान पगड़ी को देती है, स्त्रियों की पोशाक मे वैसा ही स्थान साड़ी को प्रदान करती है। लेकिन वर्णनों की मात्रा को यदि देखा जाय तो साड़ी के आगे पगड़ी बेचारी पानी भरती दिखाई पड़ती है।

आलोच्यकाल के हिन्दी-काव्य में कई प्रकार की साड़ियों का उल्लेख हुआ है। सार, असावरी, शबनमी तथा शरबती साड़ियों के वर्णन उपलब्ध है। 'सार' के जो उल्लेख कविता में हुए हैं, उनसे यह प्रकट नहीं होता कि इस वस्त्र की **क़िस्म** रेशमी है कि सूती—

सार की सारी सो भारी लगै —रसखान

सौहै सारी सार सेत की —आलम

लेकिन 'सार' शब्द से द्योतित है कि यह वस्त्र रेशमी ही होगा। 'आईन्-ए-अकबरी' में 'सार' प्रतिगज के हिसाब से बिकने वाला रेशमी वस्त्र बताया गया है।[२] 'असावरी' के जो प्रयोग हुए हैं उनमें, 'झलकना' क्रिया देखकर उसके रेशमी होने का अनुमान होता है—

सारी असावरी की झलकै छलकै छवि घाँघरे घूम घुमारे —देव

इन वस्त्रों के उल्लेख 'केशव', 'देव', 'आलम' तथा भिखारीदास की रचनाओं में ही हुए हैं। ये वस्त्र अकबरकालीन हैं, इसलिए पूर्व-रीतिकाल तक प्रचलित थे, यद्यपि असावरी अब रेशमी वस्त्रों में आ गया था, जो पहले सूती वस्त्रों की एक क़िस्म था,[3] तथापि उसका नाम चल अवश्य रहा था। लेकिन भिखारीदास के पश्चात् उत्तर-रीतिकालीन कवि इन वस्त्रों से परिचित नहीं मालूम पड़ते। उत्तर-कालीन हिन्दी-काव्य में नायिकाएँ 'शबनमी' तथा 'शरबती' साड़ियाँ पहनने लगी थीं—

धवल अटारी लखि खरी, नवलवधू हरि दंग।
सादी सारी सबनमी, लसत गुलाबी रंग। —रामसहायदास

सरबती सारी सेत सौरभित गोरे गात
भई चारु चम्पई सजत प्राण प्यारी के। —रंगपाल

'शबनम' और 'शरबती' रीतिकालीन वस्त्र हैं। 'शबनम' एक बहुत महीन श्वेत वस्त्र था,[४] इसलिए नायिका का गुलाबी शरीर बाहर से झलकता दिखाई पड़ता है और इस प्रकार साड़ी गुलाबी रंग की हो गई है। 'शरबती' भी एक अत्यन्त बारीक सूती वस्त्र था।[५] 'शरबती' की साड़ी के उल्लेख से ऐसा अनुमान होता है कि साड़ी शब्द केवल रेशमी वस्त्र से संबंधित नहीं था। किसी भी बहुमूल्य वस्त्र का पूरी शरीर-यष्टि के लिए निबंधनीय परिधान साड़ी कहला सकता था।

रीतिकाल के हिन्दी-कवियों ने बादले की साड़ी का चित्रण किया है, जैसा कि 'देव' के कथन से प्रकट है—"बादले की साड़ी दरदावन किनारीदार।" 'बादला' रेशम तथा चाँदी के तारों से बनाया जाता था। कहीं-कहीं उसे सोने-चाँदी के चपटे तारों से निर्मित भी बताया गया है।[६] उर्दू-कविता में 'फ़ायज़' एवं अली आदिलशाह द्वितीय को छोड़कर अन्य किसी कवि ने साड़ी के वर्णन नहीं किए, परन्तु इन शाइरों की रचनाओं में भी बादले की साड़ी की चर्चा नहीं है। उर्दू-काव्य में बादले के ज़्यादातर वर्णन शामियाने या ख़ेमे से सम्बद्ध हैं—

खड़े बादलों के वो खेमे बलंद —मीरहसन

तमामी की है चादर बादले का शामियाना है —आतश

कवियों ने 'डोरिया' की साड़ी को गोरे मुख पर बहुत सुन्दर बताया है। वह ऐसे शोभित होती है, जैसे लहरदार शरद् घन चंद्रमा के ऊपर—

इहिं बिधि गोरे बदन पर लसत लहरिया सेत।
मनो लहरि लौं सरद घन ससि पर सोभा देत। —रसलीन

हिन्दी-रीतिकविता में 'पँचतोरिया' का उल्लेख भी दो-तीन स्थानों पर मिलता है। एक दोहे में 'बिहारी' ने तथा दो कबित्तों में 'देव' ने इस शब्द का प्रयोग किया है। 'देव' के छंद में इस प्रकार का वर्णन है—

दुलही नवल नव दूलह पिया की ऋतु
नवल वसंत में नवल हित जोरिया।
बैठी रंग महल तरंग रस रंग 'देव'
भीजी अंग अंगन अनंग चित चोरिया।
गुपित सखी कह्यो गुलाल लिए आए लाल
चौंकि उठी चपल उतार्‌यो चीर डोरिया।
सेत जरतारी की उज्यारी कंचुकी को कसि
अनियारी (? न्यारी) दीठि प्यारी उठि पैन्हों पँचतोरिया।

इस चित्रण से प्रकट होता है कि 'पँचतोरिया' का चीर है। कवि द्वारा प्रयुक्त 'पैन्हो' क्रिया तथा पूर्व पंक्ति के 'चीर' शब्द से उसके 'चीर' होने की पुष्टि होती है। 'बिहारी' के दोहे में इस शब्द का विनियोग निम्नलिखित है—

सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छबि होति।
जलचादर के दीप लौं जगमगाति तन जोति।

'पंचतोरिया' के सम्बन्ध में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का कथन है कि "एक प्रकार का बहुत महीन कपड़ा ऐसा हलका बनता है जिसकी पूरी साड़ी तौल में केवल पाँच तोले भर होती है। इसी को पँचतोरिया कहते हैं। उर्दू में इसका नाम आबेरवाँ है।" लाला भगवानदीन के अनुसार पँचतोरिया "एक प्रकार की बारीक रेशमी साड़ी है।"

'आईन्-ए-अकबरी' में 'पँचतोलिया' का उल्लेख सूती वस्त्रों के अन्तर्गत किया गया है। वह वस्त्र प्रति खंड के हिसाब से बिकता था, गज के हिसाब से नहीं।[७] 'रत्नाकर' ने 'पँचतोरिया' को 'आबेरवाँ' कह दिया है और लाला भगवानदीन पँचतोरिया को रेशमी वस्त्र बताते हैं, परन्तु दोनों ही विद्वानों ने अपने कथन के

पुष्ट्यर्थ कोई प्रमाण नहीं दिया है। भगवानदीन जी के कथन का 'आईन्-ए-अकबरी' से विरोध होता है, अतः प्रमाण के अभाव में उसे मान्य नहीं कहा जा सकता और 'रत्नाकर' का भी आबेरवाँ को पँचतोरिया कह देना उसी प्रकार का है।

'बिहारी' के इस दोहे के अर्थ भी टीकाकारों ने सही नहीं किए हैं। 'रत्नाकर' का अर्थ है कि "सामान्य श्वेत पँचतोलिया (साड़ी) पहनने से (उसकी) छवि अति (कुछ विशेष) होती है। जलचादर के (पीछे रक्खे हुए) दीपकों की भाँति (उसके) तन की ज्योति जगमगाती है।" लाला भगवानदीन इसका अर्थ इस ढंग से करते है "सफ़ेद बारीक रेशमी साड़ी पहनने से सहज ही में उस नायिका की छबि बहुत बढ़ जाती है। उसके तन की कान्ति जलचादर के भीतर रक्खे हुए दीपक की भाँति जगमगाती है।"

हिन्दी-रीतिकाव्य के अन्तर्गत अभिसारिकाओं को कवियों ने प्रायः समयानुकूल वस्त्र-भूषित दिखाने के लिए ऊपर से नीचे तक श्वेत, कृष्ण या पीत कर दिया है, अन्यथा वस्त्रों मे सापेक्ष्यता का ध्यान रक्खा ज़रूर गया है। उदाहरणार्थ 'तोष' का निम्नोद्धृत छन्द व्यातव्य है—

कंचन छरी सी अपसरी सी खरीसी जरतारी
की लरी सी उतरी सी कविलासे की।
कहै कवि 'तोष' लै लै पानि गुड़ियन चली
चूमि चुनि चूनरी पहिरि चारु खासे की।
एकै कमला सी भोर भानु की कला सी खीनी
कमर छला सी कंचुकी कुचन तासे की
सावन सोहावन में गान करि नाचै राचै
साचै नाग पाचै होति परम तमासे की।

कंचन-यष्टि-सी, ज़रतारी की लड़ी-सी, खड़ी हुई नायिका इस बात का संकेत देती है कि वह ज़रतारी साड़ी पहने हुए है और कंचुकी ताश नामक कपड़े की है। ताश एक क़िस्म का रेशमी ज़री का कपड़ा था।[८] यहाँ ज़रतारी की साड़ी तथा ताश की कंचुकी एक-दूसरे के अनुरूप हैं।

'देव' के पूर्वोद्धृत कबित्त में नायिका डोरिया का चीर उतार कर पँचतोरिया धारण करती है, लेकिन उसके पूर्व श्वेत ज़रतारी की उज्यारी कंचुकी कस लेती है। उज्यारी से तात्पर्य चाँदनी के रंग की है। अतः साड़ी भी इसी श्वेत ज़रतारी की उज्यारी कंचुकी के अनुरूप होनी चाहिए। इसलिए उसने पँचतोरिया

चीर पहना। 'देव' के एक दूसरे छंद में पँचतोरिया का उल्लेख उसके पीतवर्णी होने की पुष्टि करता है—

पीरे पँतोरिया लसित अतलस लाल
लाल रदछद मुखचंद ज्यों शरद को।

यहाँ पँचतोरिया चीर का रंग पीला बताया गया है। इस सन्दर्भ में जब 'बिहारी' के दोहे के 'सहज सेत पँचतोरिया पहिरत अति छबि होति' को देखते हैं तो 'रत्नाकर' तथा लाला भगवानदीन के अर्थ उपयुक्त नहीं जँचते। क्योंकि पँचतोरिया सामान्यतः (आमतौर से) श्वेत नहीं होता था। यदि होता तो देव 'पीरे पँचतोरिया' न लिखते। लालाजी ने 'सहज' को अति छबि के साथ लगाकर 'सेत पँचतोरिया' का सीधा अर्थ सफ़ेद बारीक रेशमी साड़ी कर दिया है। कहने का अर्थ यह कि 'रत्नाकर' पँचतोरिया को 'सामान्य श्वेत' और लाला भगवान दीन निश्चितरूप से श्वेत मानते हैं। 'रत्नाकर' के सामान्य श्वेत का अर्थ 'विशेष श्वेत नहीं' अर्थात् कम श्वेत भी हो सकता है। कुछ भी सही चाहे 'रत्नाकर' का अर्थ सामान्यतया (निसर्गतः) अथवा कम श्वेत हो, तात्पर्य श्वेतता से है।

हमारे विचार से 'बिहारी' 'तन जोति' के विषय में बताते हुए कहते हैं कि 'जगमगाति तन जोति'। अतः अर्थ का प्रस्थान-बिंदु यहीं से मानना चाहिए। जलचादर के पीछे रक्खे हुए जगमगाते दीपकों के कारण जलचादर सुनहरी प्रतीत होती है, इसलिए यदि कवि यह कहता कि उसकी (नायिका की) तनु-द्युति के कारण पँचतोरिया की शोभा जल-चादर-सी हो जाती है, तब पँचतोरिया के साथ सहज श्वेत की संगति बैठती, क्योंकि दर्शक जलचादर के सामने खड़ा होता है और जलचादर की दूसरी ओर से झिलमिलाता दीपक उसे प्रत्यक्ष न दिखाई देकर जलचादर के माध्यम से दिखाई पड़ता है। वस्तुतः जलचादर का रंग सुनहरा हो जाता है और वह झिलमिलाती दिखाई पड़ती है। 'सहज सेत' को पँचतोरिया का विशेषण न मानकर नायिका का विशेषण मानना चाहिए अर्थात् नायिका जो सहज ही गौरवर्णा है, पँचतोरिया पहनने से अत्यन्त शोभित होती है। 'सहज' शब्द नायिका के सन्दर्भ में सार्थक है। अब पूरे दोहे की व्याख्या इस प्रकार होगी—वह सहज श्वेत (गौर वर्णा) नायिका जब पँचतोरिया चीर पहन लेती है तो उसकी शोभा अधिक बढ़ जाती है और उसकी देह-द्युति जलचादर के दीप के समान जगमगा उठती है। इससे प्रतीत होता है कि पँचतोरिया कोई ऐसा महीन वस्त्र है, जिसमें सुनहरा काम रहता होगा, क्योंकि 'ज़रतारी कंचुकी' के साथ तभी उसकी संगति बैठेगी। हो सकता है, उसमे पाँच तोले सोने का प्रयोग करके ज़रतारी का काम किया जाता हो और इसी कारण उसे पँचतोरिया कहते

हों। ऐसी साड़ी अथवा चीर के लिए 'देव' कवि का पीला (पीरे पँचतोरिया) विशेषण भी असंगत नहीं है।

साड़ी के रंगों में रीतिकवियों को अधिकतर सुनहरे काम की या श्वेत रंग की साड़ियाँ बहुत पसंद हैं। राधा के गोरे अंगों पर नीली अथवा श्याम साड़ी के वर्णन भी हुए हैं। गोरे रंग पर काला रंग ख़ूब फबता है, इसलिए नायिका को काकरेज़ी साड़ी भी पहनाई गई है। सौसनी साड़ी के वर्णन भी हैं—

पहिरे साड़ी सौसनी कारी देह दिखाय। —रामसहायदास

कवियों ने केसर के रंग की साड़ी का उल्लेख किया है—

किशोरी की केसरि की रंग सारी —देव

और 'तोष' कवि बूटेदार साड़ी पर निछावर हैं—

लूटि मन लिये जात बूटेदार सारी की

कश्मीरी और सब्ज़ रंग की साड़ियों की चर्चा भी की गई है—

मरगजी सारी कल काश्मीरी रंग की —रंगपाल

मुक्तानि बलित जरी कोर की सुबुज सारी —रंगपाल

लहरिया रंग के चीर का वर्णन 'रसलीन' के काव्य में प्राप्त होता है—

रंग लहरिया चीर में, गोरे मुख को देख
मानो कला अशेष ससि, बैठी है परवेख।

सालू की साड़ी का वर्णन भी हिन्दी-रीतिकविता मे हुआ है। 'देव' कवि ने 'बनिजारी' को सालू की साड़ी पहनाई है। 'सालू' का अर्थ मिश्रबंधुओं ने लाल कपड़ा दिया है, जो उचित प्रतीत होता है,[१] क्योंकि उरोजों पर जो घुँघचियों के हार उसने धारण कर रक्खे हैं, वे साड़ी के नितांत अनुरूप हैं—

एँड़िन ऊपर घूमत घाँघरो तैसिए सोहति सालू की सारी।
हाथ हरी-हरी छाजै छरी अरु जूती चढ़ी पग फूँद फुँदारी।
ऊँचे उरोज हरा घुँघचीन के हाँ कहि हाँकति बैल निहारी।
गात नहीं दिखराय बटोहिन बातन ही बनिजै बनिजारी।

उर्दू-शाइर 'फ़ायज़' के माशूक़ के सर पर सालू का चीरा शोभित है। जिस प्रकार 'देव' की बनिजारिन लाल साड़ी, लाल हार तथा हरी छड़ी लेकर लाल-हरे रंग का मेल प्रस्तुत कर रही है, उसी प्रकार 'फायज़' के माशूक़ की भी क़बा सब्ज़ है और चीरा सालू का लाल है—

क्या ख़ूब तेरे सर प लगे चीरा-ए-सालू
क्या ज़ेब देवे बस्मा तेरी सब्ज़ क़बा पर।

धोती

हिन्दी-रीतिकाव्य की नायिका [illegible] रमणी है, इसलिए उसे हमेशा साड़ी पहने ही दिखाया गया है। आश्चर्य का विषय है कि 'रहीम' और 'देव' ने विभिन्न जाति तथा देशों की स्त्रियों का चित्रण करते समय भी किसी को धोती धारण किये हुए नहीं दिखाया। रजवाड़े की नागरी को पलंग से नीचे उतरने की ज़रूरत ही क्या थी, जो उसकी साड़ी में धब्बा लगता। वह घर का काम-काज करती ही नहीं, फिर मामूली वस्त्र क्यों धारण करती ? फिर भी 'बिहारी' ने रसोई बनाती हुई एक सामान्य घर की नायिका का वर्णन किया है। वह नायिका हाल की धुली हुई धोती पहने हुए है—

टटकी धोई धोवती चटकीली मुख जोति।
लसति रसोई कें बगर जगर मगर द्युति होति।

हिन्दी-रीतिकविता में एक तो धोती का उल्लेख मिलता नहीं, दूसरे उपर्युक्त नमूना यदि मिला भी तो इसमें विशेषता-लक्षक कोई संकेत प्राप्त नहीं है। उर्दू-शाइरों ने भी नायक-नायिकाओं को धोती पहने चित्रित नहीं किया है। हाँ, यह उल्लेख जरूर है कि बरसात मे नायिका पर ऊदी ओढ़नी फबती है तो पुरुष लाल जोड़ा पहनते हैं—

और जिसमे सुर्ख़ जोड़ा या ऊदी ओढ़नी है —नज़ीर

लेकिन 'जोड़ा' शब्द के भीतर धोती भी शामिल है, यह नहीं कह सकते। इसी तरह स्त्रियों के सुर्ख़ लाही जोड़े का उल्लेख भी हुआ है—

जलाने को आशिक़ के दिखला फबन।
लिया सुर्ख़ लाही का जोड़ा पहन। —मीरहसन

'लाही' वस्त्र हिन्दी-रीतिकाव्य में नहीं मिलता। 'मसनवी सहरुल्बयान' के सम्पादक रशीद हसन के अनुसार लाही का अरबी नाम दीबा और फ़ारसी नाम दरयाई था। यह सादा और धारीदार रेशमी कपड़ा था। "सादा मरदाना-पसंद और धारीदार ज़नाना-पसंद कहलाता था।" 'जोड़ा' शब्द दो का सूचक है, अतः वह केवल अधोवस्त्र नहीं है।

उर्दू-शाइरी के 'लाही' वस्त्र से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'लाही' की 'ह' ध्वनि का लोप हो जाने से यही शब्द 'लाई' बन गया। शरीर की पूरी पोशाक जब इस 'लाई' वस्त्र की बनती थी तो उसे 'लाई का जोड़ा' कहते थे, परन्तु जब केवल धोती पहनते थे तो वह 'इकलाई' कहलाती होगी। बाद मे

'इकलाई' शब्द धोती के लिए रूढ़ सा हो गया। उर्दू-शाइर 'मीर' के एक शेर में इकलाई का आँचल पकड़े हुए माशूक़ का चित्रण मिलता है—

तर्के-लिबास से मेरे उसे क्या वो रफ़्ता रानाई का।
जामे का दामन पाँव में उलझा हाथ आँचल इकलाई का।

'पदमाकर' ने कोरदार कुसुंभी इकलाई से शोभित नायिका के मुख की फबन निम्नलिखित पंक्तियों में दिखाई है—

आस पास आनन के फबन फबी है कैसी
कुंचित कुसुंभी कोरदार इकलाई की।

चूनरी

चूनरी भी साड़ी तथा धोती को भाँति निबंधनीय परिधान है। अन्तर सिर्फ़ इतना है कि साड़ी का कपड़ा बहुत क़ीमती होता है और उस पर ज़री का काम होता है, परन्तु धोती सामान्य वस्त्र की होती है। चूनर भी एक प्रकार की धोती है, जो महीन तथा रंग-बिरंगी होती है। हिन्दी-रीतिकविता चूनरी के मोहक वर्णनों से रंगीन है। कवियों ने लाल रंग में डूबी चुचाती हुई चूनरी का चित्रण बड़े चाव से किया है—

बोरि डारी चूनरि चुचात रँगरैनी ज्यों। —पदमाकर

'बिहारी' की नायिका कुसुंभी रंग की चूनर पहनकर सोनजुही-सी जगमगा उठती है।

लाल चूनर की शोभा का वर्णन वर्षाऋतु में बहुधा हुआ है। कवियों ने नायिका की इस चूनर का नायक पर पर्याप्त प्रभाव दिखाया है। 'बिहारी' ने तारांकित श्याम एवं छीबरवाली चूनर का उल्लेख किया है।

चुन्नटें डालकर रँगी हुई चूनर को चिनोटिया चूनर कहते थे। जयपुर में आज भी इस तरह की चूनरें बहुत लोकप्रिय हैं। 'बिहारी' की नायिका की छवि चटक चिनोटिया चीर पहनकर चौगुनी हो जाती है।

चूनरें भी विभिन्न तरह के वस्त्रों की बनती होंगी, लेकिन हिन्दी-रीतिकाव्य में उनकी क़िस्मों का उल्लेख नहीं मिलता। केवल 'तोष' ने ख़ासा की चूनरी का वर्णन किया है—"चूनरी पहिरि चारु खासे की।"

दुपट्टा

जिस प्रकार हिन्दी-रीतिकविता मे चूनर की बहार है, उसी प्रकार उर्दू-शाइरी में दुपट्टे के वर्णन मिलते हैं। आस्मानी तथा काले दुपट्टे का उल्लेख 'नासिख़' और 'मीर' ने किया है—

आज ओढ़ा है दुपट्टा आसमानी यार ने —नासिख़

जल्वा-ए-माह तहे-अब्र तनिक भूल गया
उसने सोते में दुपट्टे से जो मुँह को ढाँपा। —मीर

'मसनवी सहरुल्बयान' में बनारसी दुपट्टे की प्रशंसा है—

वो पाजामा-ए-सब्ज़ कमख़्वाब और।
दुपट्टा बनारस का सूरज के तौर।

हिन्दी-रीतिकाव्य में दुपट्टे के वर्णन विरल हैं। 'पदमाकर' ने सोसनी दुकूल की चर्चा एक कबित्त में की है—"सोसनी दुकूलनि दुराए रूप रोसनी है।"

ओढ़नी

आलोच्यकालीन हिन्दी-कविता में ओढ़नी के वर्णन भी बहुत कम हैं। यद्यपि रीतिकालीन कवियों ने बारीक ओढ़नी में जगमगाते नायिका के नेत्रों का वर्णन बड़ी रुचि से किया है, लेकिन ओढ़नी के चित्रण मे वैविध्य नहीं मिलता।

ओढ़नी का उल्लेख तो 'आईन्-ए-अकबरी' मे है, हालाँकि 'ओढ़नी' शब्द वहाँ नहीं मिलता। अबुल फ़ज़ल ने 'मुअज्जर' शब्द का इस्तैमाल किया है, जिसे अनुवादक श्री जैरेट ने ओढ़नी का समानार्थी बताया है।[10] ओढ़नी सर से लेकर कमर के ऊपर तक रहती थी। इसी को चादर भी कहते थे। 'बेनी प्रबीन' ने नायिका को डोरिया की चादर ओढ़े दिखाया है—



डोरिया की चादर सों झाँपति पहूँचन सो

और 'ग्वाल' की रचना में जालीदार चादर का ज़िक्र हुआ है—

जोर जेवदारी जामै जाहिर जवाहर की
जारीदार चादर तैं बादला झरत जात।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि बादले की साड़ी के ऊपर जालीदार ओढ़नी है। अर्थात् चादर ऊपर से ओढ़ी जाती थी, इसीलिए उसे ओढ़नी कहते थे। ओढ़नी भी वस्त्र तथा रंग के अनुसार कई प्रकार की हो सकती है। 'देव' ने झिलमिली ओढ़नी का उल्लेख किया है—

उचकै उचोहैं कुच झपे झलकत झीनी
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की।

उर्दू की रेख़्ती-शाइरी मे एक नायिका मचल रही है कि मैं तो झलाझल की ओढ़नी ही लूंगी—

मैं तो वो ओढ़ने की नहीं कल की ओढ़नी।
बाजी मुझे ओढ़ा दो झलाझल की ओढ़नी।

झलामल एक प्रकार का वस्त्र है। हिन्दी-रीतिकविता में 'ग्वाल' तथा 'पदमाकर' ने इसका उल्लेख किया है। परन्तु यह पता नहीं चलता कि इसकी क़िस्म क्या थी

था, उसी प्रकार रंग के विषय में भी अपना-अपना चुनाव था। 'नज़ीर' के माशूक़ की ओढ़नी ऊदी है तो 'पदमाकर' की नायिका ने केसर रंग की ओढ़नी ओढ़ रक्खी है—"केसर रंग रँगी सिर ओढ़नी" और 'द्विजदेव' की नायिका की ओढ़नी बैजनी रंग की है।

रंग के अतिरिक्त उर्दू-काव्य मे आँचल को छोटा-बड़ा करके डालने के ढंग का ज़िक्र भी किया गया है, हिन्दी-रीतिकविता में इस तरह का कोई उल्लेख नही है।

लहँगा, घाँघरा

'आईन्-ए-अकबरी' में लँहगे का विवरण दिया गया है। लहँगा एक कटि वस्त्र है, जिसके दोनों सिरे मिलाकर ऐसे सिले रहते है कि उनके भीतर से होकर एक सूत्र उस वस्त्र को बाँध सके।[११] यह बताना तो कठिन है कि लहँगा शब्द कब से प्रचलित हुआ, लेकिन कटिवस्त्र को सूत्रनद्ध करके पहनने का चलन मुसलमानों से पहले भी भारत मे था। श्रीमद्‌भागवत में आए "क्षौमं वासः पृथुकटितटे विभ्रती सूत्रनद्धं" श्लोक से इस बात की पुष्टि होती है। लेकिन इतना अवश्य है कि इस वस्त्र का रिवाज आम नहीं था। सर्वसाधारण को लहँगे का व्यवहार करते हुए मुसलमानों के समय में ही देखा जाता है।

मुसलमानी पहनावे में पेशवाज़ या पिश्वाज़ स्त्रियों का विशेष वस्त्र है। 'सहरुल्बयान' में बद्रे मुनीर की पोशाक का वर्णन करते समय कहा गया है कि—

> करूँ उसकी पोशाक का क्या बयाँ।
> फ़क़त एक पिश्वाज़े-आबेरवाँ।

इससे स्पष्ट है कि स्त्रियाँ खाली पेशवाज़ पहनती थीं। मसऊद हसन रिज़वी 'अदीब' का कथन है—"पेशवाज़ एक घेरदार ज़नानी पोशाक थी, जिसके दामन घुटनों से बहुत नीचे होते है। इसकी शक्ल ऐसी होती है, जैसे एक शलूके से लहँगा जोड़ दिया जाय। एक ज़माने में पेशवाज़ मुसलमान औरतें पहना करती थीं। उसके बाद का इस्तैमाल दुल्हनों के लिए मख़्सूस हो गया। रंडियाँ, डोमनियाँ और भाँड नाचते वक़्त पेशवाज़ पहन लेते थे।"

पेशवाज़ तथा लहँगे का शाब्दिक अर्थ एक ही है। चलते समय आगे की ओर झोंक लेते रहने के कारण ही कदाचित् उसे लहँगा कहने लगे। उसकी आगे की ओर लहक पर हिन्दी-रीतिकवियों के मन ढुलक जाते है—

> लाँक की लचक लसे लहँगा की ढिग ढुरै —आलम

घेराकार होने से शायद उसे घाँघरा कहते होंगे। रीतिकालीन उर्दू-शाइरी मे लहँगे के वर्णन नहीं हैं। हिन्दी-रीतिकविता में लहँगा तथा घाँघरा दोनों ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु उन शब्दों से यह निश्चित करना कठिन है कि लहँगे और घाँघरे में रूपगत कोई अन्तर था या वे एक ही परिधान के दो नाम हैं।

हिन्दी-रीतिकवियों ने लहँगे तथा घाँघरे के निर्माण का विवरण तो नहीं दिया, परन्तु 'मुसरू थान' का उल्लेख ज़रूर किया है। 'तोष' कवि ने एक सवैये में लहँगा और एक कवित्त में घाँघरा मुसरू वस्त्र से बना हुआ बताया है—

(क) बेनी नितंबन पै थहरै लहरै लहँगा मुसरू थनवा के
(ख) घाँघरो सिरिफ मुसरी को सो हरित रंग
अँगिया उरोज डारे हीरन के हार को।

यह मुसरू कपड़ा वस्तुतः 'मश्रू' नामक वस्त्र है, जिसका ज़िक्र नज़ीर अकबराबादी की निम्नोद्धृत पंक्ति मे हुआ है—

कमख़्वाब ताश मश्रू तंज़ेब ख़ासा मलमल

उपर्युद्धृत 'तोष' के उदाहरण से यह अनुमान होता है कि घाँघरा भी मश्रू का बन सकता था। जहाँ तक घेर का प्रश्न है, लहँगे में पूरा थान लगता था, इसीलिए (क) उदाहरण में कवि ने 'मुसरू थनवा के' लिखा है। घाँघरे मे इतना कपड़ा नहीं लगता था, क्योंकि वहाँ घाँघरे को 'मुसरी को' कह दिया गया है। 'थान' शब्द का प्रयोग इस (ख) उदाहरण में नहीं है।

हिन्दी-रीतिकाव्य में घाँघरे के साथ 'घनेरो' 'घूम घुमारे' 'घेर को' आदि विशेषण लगाए गए हैं, जिससे यह मालूम पड़ता है कि घाँघरा अच्छे ख़ासे घेर का है, लेकिन वह पूरे एक थान कपड़े का बना है ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अतः एक अन्तर तो यही निकलता है कि लहँगे में घाँघरे से ज़्यादा कपड़ा लगता था। 'द्विजदेव' ने घाँघरे की नाप घुटनों तक बताई है—

घेर को घाँघरो घूटन लौं शिर ओढ़नी बैंजनी पैंजनी पाँयन

'घेर को घाँघरो' की ध्वनि यह भी है कि साधारणतः घाँघरा कम घेर का होता था, लेकिन यह नायिका घेर का पहने हुए है। 'घूँटन लौ' में भी व्यतिरेक-ध्वनि है कि आम तौर पर वह घुटनों से नीचा होता था। इससे अनुमान होता है कि घाँघरे का चलन पेशवाज़ का अनुकरण मात्र था। प्रारम्भ मे घाँघरा प्रचलित भी मुसलमान स्त्रियों में ही अधिक था।[१२] लेकिन रीतिकाल के आते-आते उसका प्रचार हिन्दुओं में भी हो गया होगा। लहँगे के वर्णन में घुटने तक की नाप हिन्दी-रीति-कविता के अन्तर्गत कहीं नहीं मिलती। इससे मालूम पड़ता है कि वह टखनों के नीचे तक पहुँचता था। उसके अत्यधिक घेर तथा नीचे तक लटकने के कारण

चलते समय घम-घम की हलकी आवाज़ होती थी। लँहगे की इस 'घमकोरनि' का चित्रण शाहजहाँ के राजकवि 'सुन्दर' ने निम्नांकित पंक्तियों में किया है—

बिछिया घुघरू झमकैं, लहँगा की सुनी त्यों तहीं मधुरी घमकोरनि।
मुसुक्याति पैं आपुहिं आइ गई है, जिवाइ लये तिरछी दृग मोरनि।

हिन्दी-रीतिकवियों ने घाँघरे तथा लहँगे के साथ साडी पहनने का उल्लेख किया है—

(क) घाँघरो घनेरो लाँबी लटैं लाँक पातरे पै
काकरेजी सारी खुली अधखुली टाड़ वह। —देव

(ख) सारी असावरी की झलकै छलकै छवि घाँघरे घूम घुमारे —देव

कवि 'देव' के इन उद्धरणों में काकरेजी तथा असावरी साडी के साथ घाँघरा पहनने का वर्णन है। (ख) उद्धरण में साड़ी झलकती है, लेकिन घाँघरे की छवि छलक रही है। 'छलकना' किसी के अन्दर स्थित होने का व्यंजक है। इससे अनुमान होता है कि साड़ी घाँघरे के ऊपर है। यदि 'घुमारे' मे सप्तमी विभक्ति है, तो घाँघरे के भीतर से तनु-यष्टि की प्रभा की ओर संकेत हो सकता है। लेकिन 'तोष' कवि ने लहँगे के साथ भी साड़ी का उल्लेख किया है—

कहै कवि 'तोष' चोखो लहँगा हरित वह
छवि फबि आई दरदावन किनारी की।
जूटै नैन नैननि सो छूटै केस घूटेन लौं
लूटि मन लिये जात बूटेदार सारी की।

यहाँ साड़ी बूटेदार है, असावरी अथवा काकरेजी नहीं है। बूटेदार साड़ी चुनरी के निकट है। 'देव', 'आलम' तथा 'तोष' लगभग समकालीन हैं, इनके समय में घाँघरे तथा लँहगे के संग साड़ी प्रचलित थी, लेकिन 'पदमाकर' (सन् १७७५-१८३३) के समय मे घाँघरे के साथ दुपट्टे का प्रचलन हो गया था—

सोसनी दुकूलनि दुराए रूप रोसनी है
बूटेदार घाँघरी की घूमनि घुमाइ कै।

पाजामा, शलवार और कुर्ता

पाजामा, शलवार और कुर्ता मुसलमानी पहनावे थे, इसलिए हिन्दी-रीतिकाव्य में इनका अभाव है। उर्दू-शाइरी में उनके वर्णन जगह-जगह उपलब्ध है—

झलक पायजामे की दामन से यूँ।
नज़र आए आईना में बर्क़ जूँ। —मीरहसन

पा मे थी शलबारे-ज़र बफ़्ते-तिला।
कुर्ता फ़ानूसे-दो-शाख़ा पुर-जिला। —फ़ायज़

हिन्दी-रीतिकावियों ने गणिका के चित्रण में ही पायजामे तथा कुर्ते का वर्णन किया है, अन्य नायिकाओं के सम्बन्ध मे इन वस्त्रों का उल्लेख नहीं मिलता। वेश्याएँ पाजामा पहनती थीं, जिसका इज़ारबन्द ज़मीन तक लटकता रहता था—

घेरदार पाँइचे इजार की मखापी तापै
पैन्हि पीत कुरती रती को रूप लीपै है। —ग्वाल

छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर। —पदमाकर

इन उद्धरणों से सिद्ध होता है कि पाजामा, शलवार तथा कुर्ता वेश्याओं तथा मुसलमानों के समाज में प्रचलित थे, हिन्दुओं में उनका पहनना निषिद्ध था। पाजामा मुसलमान पुरुष भी पहनते थे। कवि 'रघुनाथ' ने कृष्ण को 'नीमा जामा' पहनाकर पूरा रीतिकालीन प्रभाव दिखा दिया है—

केसरि का नीमाँ जामा जरी को फेटा दुपटा जरी को

किनारी तथा डाँग

हिन्दी-रीतिकविता में ऐसे प्रचुर वर्णन है, जिन्हें पढ़कर मालूम पड़ता है कि आलोच्यकाल में साड़ी तथा लहँगे में किनारी लगती थी—

सकिनारी सारी चितै सबन बिचारी बात —रसलीन

सारी सेत सरस सरीर मैं किनारीदार —ग्वाल

लहँगा हरित वह छवि फबि आई दरदावन किनारी की —तोष

दरदावन या दरदामिन शब्दों का अर्थ है दामन (अंचल) में। इसी अर्थ में किनारी का प्रयोग 'आतश' के निम्नलिखित शेर में हुआ है—

ज़िद से ध्यान उसको तक्ल्लुफ़ का न आया हर्गिज़
रही लग चलने को दामन से किनारी तैयार।

किनारी किसी क़ीमती वस्त्र की लगती थी "किनारी जगमगी ज़रतारी।" तमामी की किनारी का उल्लेख उर्दू-शाइरी में मिलता है "तमामी की संजाफ़ जल्वा कनाँ।"[१३] परन्तु रीतिकाल की कविता में किनारी का अर्थ किनारों पर लगनेवाला वस्त्र मात्र नहीं है, क्योंकि किनारी का इस्तैमाल स्वतन्त्र रूप में भी होता था—

वो कंघी वो चोटी खिंची साफ़-साफ़।
किनारी का पीछे चमकता मुबाफ़। —मीर हसन

कवि 'रघुनाथ' के एक छन्द में वैशिक नायक की भर्त्सना है, जो परकीया को किनारी दे आया है—

हौ अपनी उपमा कहँ आपुहि मैं भली भाँति तुम्हैं लखि पाए।
देत निकारी किनारी दई जब गारी दई तब सारी दै आए।

मीर हसन ने आभूषणों के अन्तर्गत किनारी के हार का भी वर्णन किया है—

वो फूलों के गहने किनारी का हार।
वो बैठी हुई रंडियों की क़तार।

इन सारे वर्णनों से निष्कर्ष निकलता है कि किनारी का अर्थ गोटा था। सोने-चाँदी के तार तथा रेशम मिलाकर बना वस्त्र गोटा कहलाता था। गोटा इसलिए कहा जाता था कि उसकी गोट लगती थी। साड़ी मे उसकी किनारी लगने के कारण उसे किनारी भी कहने लगे थे। रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में किनारी गोटे का ही अर्थ देती है।

गोटे की किनारी 'ज़री' की या ज़रतारी की कहलाती थी। इसी आशय को उपर्युल्लिखित 'देव' का 'किनारी जगमगी ज़रतारी' स्पष्ट करता है। लेकिन किनारी कंचन की भी होती थी—

कंचन किनारी वारी सारी तासु की मै
आस पास झूमी मोतिन की झालरैं इकहरी। —देव

'कंचन किनारी' से तात्पर्य यहाँ सोने के पत्तर से है। सोने-चाँदी के अत्यन्त बारीक और रंगीन पत्तर डाँग कहलाते थे। कपड़ों मे डाँग लगाने का चलन रीतिकाल मे खूब था। 'फ़ायज' की भगेड़न डाँगदार दोदामी की पेशवाज़ पहने हुए हैं—

पेशवाज़ उसकी दोदामी डाँगदार।
दिल गिरफ़्तार उसमें होता तार तार।

'पदमाकर' ने शृंगार-मंडन का उदाहरण देते हुए एक सवैए मे इस डाँग का वर्णन किया है—

माँग सँवारि सिहारि सुबारनि बेनी गुही जु छवानि लौं छावै।
त्यों 'पदमाकर' या विधि औरहू साजे सिंगार जु स्याम कों भावै।
रीझी सखी लखि राधिका को रँग जा अँग जो गहनो पहिरावै।
होत यों भूषनभूषित गात ज्यों डाँक पै ज्योति जवाहर पावै।

इस उद्धरण में 'जा रँग को गहनो पहिरावैं' से ध्वनि निकलती है कि डाँग विभिन्न रंगों के पत्तर होते थे और रत्नों के बीच उनकी ज्योति से रत्नों की चमक बढ़ जाती थी। डाँग की तरह ही 'गोखरू' भी एक आलंकारिक साज़ है। 'गोखरू' शब्द से उसकी आकृति का अनुमान भी हो सकता है। फ़ैलन ने 'हिन्दुस्तानी कहावत कोश' में इसका अर्थ ''गोटे या बादले का बना एक साज़ जो ब्याह-

हिन्दी-रीतिकावियों ने गणिका के चित्रण में ही पायजामे तथा कुर्ते का वर्णन किया है, अन्य नायिकाओं के सम्बन्ध मे इन वस्त्रों का उल्लेख नहीं मिलता। वेश्याएँ पाजामा पहनती थीं, जिसका इज़ारबन्द ज़मीन तक लटकता रहता था—

घेरदार पाँइचे इजार की मखापी तापै
पैन्हि पीत कुरती रती को रूप लीपैं है। —ग्वाल

छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर। —पदमाकर

इन उद्धरणों से सिद्ध होता है कि पाजामा, शलवार तथा कुर्ता वेश्याओं तथा मुसलमानों के समाज में प्रचलित थे, हिन्दुओं में उनका पहनना निषिद्ध था। पाजामा मुसलमान पुरुष भी पहनते थे। कवि 'रघुनाथ' ने कृष्ण को 'नीमा जामा' पहनाकर पूरा रीतिकालीन प्रभाव दिखा दिया है—

केसरि का नीमाँ जामा जरी को फेटा दुपटा जरी को

किनारी तथा डाँग

हिन्दी-रीतिकविता में ऐसे प्रचुर वर्णन हैं, जिन्हें पढ़कर मालूम पड़ता है कि आलोच्यकाल में साड़ी तथा लहँगे मे किनारी लगती थी—

सकिनारी सारी चितै सबन बिचारी बात —रसलीन

सारी सेत सरस सरीर मैं किनारीदार —ग्वाल

लहँगा हरित वह छवि फबि आई दरदावन किनारी की —तोष

दरदावन या दरदामिन शब्दों का अर्थ है दामन (अंचल) मे। इसी अर्थ में किनारी का प्रयोग 'आतश' के निम्नलिखित शेर में हुआ है—

ज़िद से ध्यान उसको तकल्लुफ़ का न आया हर्गिज़
रही लग चलने को दामन से किनारी तैयार।

किनारी किसी क़ीमती वस्त्र की लगती थी "किनारी जगमगी ज़रतारी।" तमामी की किनारी का उल्लेख उर्दू-शाइरी में मिलता है "तमामी की संजाफ़ जल्वा कनाँ।"[१३] परन्तु रीतिकाल की कविता में किनारी का अर्थ किनारों पर लगनेवाला वस्त्र मात्र नहीं है, क्योंकि किनारी का इस्तैमाल स्वतन्त्र रूप में भी होता था—

वो कंघी वो चोटी खिंची साफ़-साफ़।
किनारी का पीछे चमकता मुबाफ़। —मीर हसन

कवि 'रघुनाथ' के एक छन्द में वैशिक नायक की भर्त्सना है, जो परकीया को किनारी दे आया है—

हौ अपनी उपमा कहँ आपुहि मैं भली भाँति तुम्हैं लखि पाए ।
देत निकारी किनारी दई जब गारी दई तब सारी दै आए ।

मीर हसन ने आभूषणों के अन्तर्गत किनारी के हार का भी वर्णन किया है—

वो फूलों के गहने किनारी का हार ।
वो बैठी हुई रंडियों की क़तार ।

इन सारे वर्णनों से निष्कर्ष निकलता है कि किनारी का अर्थ गोटा था । सोने-चाँदी के तार तथा रेशम मिलाकर बना वस्त्र गोटा कहलाता था । गोटा इसलिए कहा जाता था कि उसकी गोट लगती थी । साड़ी में उसकी किनारी लगने के कारण उसे किनारी भी कहने लगे थे । रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य मे किनारी गोटे का ही अर्थ देती है ।

गोटे की किनारी 'ज़री' की या ज़रतारी की कहलाती थी । इसी आशय को उपर्युल्लिखित 'देव' का 'किनारी जगमगी ज़रतारी' स्पष्ट करता है । लेकिन किनारी कंचन की भी होती थी—

कंचन किनारी वारी सारी तासु की मैं
आस पास झूमी मोतिन की झालरैं इकहरी । —देव

'कंचन किनारी' से तात्पर्य यहाँ सोने के पत्तर से है । सोने-चाँदी के अत्यन्त बारीक और रंगीन पत्तर डाँग कहलाते थे । कपड़ों मे डाँग लगाने का चलन रीतिकाल मे खूब था । 'फ़ायज़' की भगेड़न डाँगदार दोदामी की पेशवाज़ पहने हुए हैं—

पेशवाज़ उसकी दोदामी डाँगदार ।
दिल गिरफ़्तार उसमें होता तार तार ।

'पदमाकर' ने शृंगार-मंडन का उदाहरण देते हुए एक सवैए में इस डाँग का वर्णन किया है—

माँग सँवारि सिहारि सुबारनि बेनी गुही जु छवानि लौं छावै ।
त्यों 'पदमाकर' या विधि औरहू साजे सिंगार जु स्याम कों भावै ।
रीझी सखी लखि राधिका को रँग जा अँग जो गहनो पहिरावै ।
होत यों भूपनभूपित गात ज्यों डाँक पै ज्योति जवाहर पावै ।

इस उद्धरण में 'जा रँग को गहनो पहिरावै' से ध्वनि निकलती है कि डाँग विभिन्न रंगों के पत्तर होते थे और रत्नों के बीच उनकी ज्योति से रत्नों की चमक बढ़ जाती थी । डाँग की तरह ही 'गोखरू' भी एक आलंकारिक साज़ है । 'गोखरू' शब्द से उसकी आकृति का अनुमान भी हो सकता है । फ़ैलन ने 'हिन्दुस्तानी कहावत कोश' में इसका अर्थ ''गोटे या बादले का बना एक साज़ जो ब्याह-

शादियों में बढ़िया कपड़ों पर लगाया जाता है" किया है। 'इंशा' के एक शेर से यह डाँग और 'बनत' की तरह का कोई साज़ ही मालूम पड़ता है—

गोखरू लहर बनत डाक सितारे क्या चीज़
इससे हो जाती है कम्बख़्त गँवारी अँगिया।

कंचुकी

समीक्षाधीन हिन्दी-कविता में कंचुकी अथवा अँगिया या चोली के उल्लेख बारम्बार हुए हैं। कंचुकी की फुदेदार तनी की हँसी एवं हुलास ने कवियों को मोहित किया है। जहाँ तक रंग का सम्बन्ध है, गोरे उरोजों पर कवियों ने सफ़ेद, लाल, नीली तथा हरी कंचुकी का सौन्दर्य अभिव्यक्त किया है। 'ग्वाल' ने कंचुकी के माध्यम से गौर स्तनों पर त्रिवेणी ही स्थापित कर दी है—

ए हो नन्दलाल आज देख्यो मैं विसाल ख्याल
ह्वै गई निहाल ताको मन यह साखी है।
गोरे गोरे उरज उतंगन पै तंग कसी
नई नीली कंचुकी मिहीं सुगन्ध चाखी है।
'ग्वाल' कवि कहै खुलीं गोटा की सफ़ेद धारें
बीच बेल बिंदुली अरुन अभिलाखी है।
गंग सिव सीस पै खुली ही सब लोगन पै
प्यारी नै त्रिबेनी सिव सीस करि राखी है।

नीली कंचुकी पर गोटे की श्वेत धारियाँ और बीच-बीच में लाल-लाल बिन्दियाँ, पूरी त्रिवेणी शोभायमान हो गई। उर्दू-शाइरी में लाल, हरी, नीली अँगिया तो मिल जाती है, परन्तु उपर्युक्त उद्धरण में चित्रित तिरंगी अँगिया नहीं दिखाई पड़ती।

हिन्दी-रीतिकविता मे यदि ताश की अँगिया का वर्णन मिलता है तो उर्दू-शाइरी में आबेरवाँ तथा मलमल की अँगिया बहुत पसंद की गई है—

(क) कंचुकी कुचन तासे की —तोष
कसे कंचुकी तास की हास भरी अँगिराय —रामसहायदास
(ख) किसी के महरमे आबेरवाँ की याद आई —आतश
पुछा चंचल से मस्ती में तेरी काहे की अँगिया है
छुपा छाती छबीला हात सों हँसकर कहा मलमल। —वली

हिन्दी-रीतिकविता में अँगिया के बंद खुलने, कसने, टूटने या अँगिया के फटने का वर्णन प्रायः मिलता है। यह व्यापार यौवनागम पर उरोजवृद्धि या नायक के सहसा आ जाने पर हर्षातिरेक से अंगस्फुरण के कारण होता है—

(क) अँगिया की तनी खुलि जाति धनी
सुबनी फिरि बाँधत है कसि कै। —देव
मोती हरा के उठे, सब हालि
भए अँगिया सों तनी के तराके। —रघुनाथ
(ख) दरकि दरकि आँगी सारी की सरीक सारी
औचक उचौहैं कुच फरकि फरकि उठैं। —देव
(ग) अँगिया की तनीन तनाव गह्यो है —मतिराम

उर्दू-शाइरी में भी कंचुकी का फटना वर्णित है, लेकिन प्रियागम-जनित हर्ष की कल्पना वहाँ नहीं है। हिन्दी-कवियों ने चोली दरकने की वजह रति-रंग भी बताई है—

दरकी सु आँगी राती रति रंग पोखे मैं —द्विजदेव

परन्तु उर्दू-कविता में ऐसे वर्णन नहीं मिलते। हाँ, यौवनागम से माशूक़ की कंचुकी दस जगह से मसक जाने के चित्रण हुए हैं—

रुक गए देखते दस जा से तेरे मोंढे चसे।
चोली मसकी हुई सब मुहरियों मे पहुँचे फँसे। —मीर

रीतिकालीन हिन्दी तथा उर्दू-कविता में कंचुकी के चसने का वर्णन प्रायः किया गया है। उर्दू-शाइरों का माशूक़ तंग पोश है—

सैर क़ाबिल हैं तंग पोश अब के
कुहनियाँ फँसती चोलियाँ चसते। —मीर

हिन्दी-काव्य में कंचुकी चसीली होने से उठी हुई कुच कोर को स्पष्टता से दिखाया गया है—

कंचुकी चसीली चढ़ी कढ़ी कुच कोरही —बेनी प्रबीन

इन वर्णनों से निष्कर्ष निकलता है कि रीतिकालीन समाज मे स्त्रियाँ ख़ूब कसी हुई कंचुकी धारण करती थीं ताकि अंग-उभार की नुमाइश हो सके। कसी तथा चिपकी रहने से उसका मसक जाना स्वाभाविक था। उर्दू-शाइर मसक जाने का वर्णन इसलिए भी करता है कि इससे माशूक़ा के सुन्दर स्तनों के दर्शन हो जाते थे—

चोली जहाँ से मसकी फिर आँखें वहीं चिपकीं —मीर

हिन्दी-रीतिकाव्य में कंचुकी के वर्णन लगभग एक ढर्रे के है और विविधता तथा विवरण के वर्गीकरण की दृष्टि से उनकी मात्रा अधिक नहीं कही जा सकती। परन्तु उर्दू-शाइरों ने अँगिया के सारे हिस्सों पर नज़र रक्खी है। बंगला, कंठा

(घाट), बाज़ू, बंद, पान, पुट्ठे, पिछुए, चिड़िया, खस्सी, दोवारें, डोरी, कटोरियाँ, लहर, ठर्रा तथा आस्तीन सभी को लेकर शाइरों ने शेर लिखे हैं। 'सहर' साहब की निम्नांकित पंक्तियों में अँगिया की कटोरियाँ फूलों के दोनों-सी कैसी ख़ूबसूरत दिखाई पड़ती हैं—

फूल अँगिया में जो रक्खे उस बहारे हुस्न ने
फूलों के दौने की सूरत हर कटोरी हो गई।

आभूषण

आलोच्यकालीन हिन्दी-कविता में नायिका का नखशिख वर्णन करना एक रीति बन गई थी, इसलिए तत्तद् अंग से सम्बद्ध अलंकारों के आनुक्रमिक उल्लेख वहाँ भूरिशः उपलब्ध हैं। उर्दू-शाइरी में कुछ आभूषणों के नाम सिलसिलेवार भले ही मिल जायँ, लेकिन समस्त आभरणों का निश्चित प्रणाली पर उल्लेख न होने के कारण वहाँ ये वर्णन विकीर्णावस्था में ही प्राप्त होते हैं।

पैर के आभूषण

'आईन्-ए-अकबरी' में पैर के आभूषणों के अन्तर्गत सर्वप्रथम 'जेहर' का नाम आता है। जेहर को टखने का आभूषण बताया गया है। इसमें तीन स्वर्ण वलय रहते थे।[१४] पहले को चूड़ा, दूसरे को ढूँढनी तथा तीसरे को मसूची (Masuchi) कहते थे। हिन्दी-रीतिकवियों ने जेहरि का वर्णन करते हुए इन तीन वलयों (Rings) को तन-मंदिर में आभा चढ़ने की सीढ़ी कहा है—

कैधों तन मंदिर में आभा चढ़िबे की सीढ़ी
कीनी काम कारीगर कंचन सुढारी की। —'म० मं०'

हिन्दी-रीतिकविता "जराव जरी जेहरि छबीली" का ख़ूब वर्णन करती है, लेकिन उर्दू-शाइरी में (जेहरि) चेहर का उल्लेख सिर्फ़ 'फ़ायज़' के काव्य में मिलता है—"ज़बाँवंदा है उसके पग में चेहर।"

शाहजहाँ के आश्रित कवि 'सुंदर' ने भी "जेहरि को खटुको जबहीं भयो" कहकर यही बताया है कि यह आभूषण अनुरणनशील नहीं था। चलते समय 'खट-खट' की ध्वनि होती थी।

'आईन्-ए-अकबरी' ग्रंथ जेहर के बाद पायल का उल्लेख करता है। इस आभूषण को अरबी में 'खल्खाल' कहते थे।[१५] उर्दू-काव्य में खल्खाल की आवाज़ सुनाई पड़ती है, तो हिन्दी-कविता पायल की ध्वनि से मुखरित है—

उन पाँवों से आवाज़ा-ए-खल्खाल हुआ है —आतश

ज्यों-ज्यों सुनै पग पायल की धुनि
सेज पै त्यों-त्यों लला उठि बैठै। —बेनी प्रबीन

पायल को पैंजनी भी कहते थे। भक्त कवियों ने राम-कृष्ण की बाल-लीला के सन्दर्भ में पैंजनी का वर्णन किया है। रीतिकालीन हिन्दी-काव्य मे नायिका को पैंजनी पहने दिखाया तो गया है, परन्तु पैंजनी के उल्लेख विरल हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पतली और छोटी पायल को पैंजनी कहते थे, इसलिए ज़्यादातर वह छोटे बच्चों को पहनाई जाती थी।

'आईन्-ए-अकबरी' में 'पाज़ेब' का नाम नहीं है। रीतिकालीन उर्दू तथा हिन्दी-कविता में पाज़ेब अथवा पायजेब के अनेक वर्णन मिलते हैं, अतः पायजेब रीति-कालीन आविष्कृत गहना है।

हिन्दी तथा उर्दू-कविता के वर्णन पढ़कर ऐसा ज्ञात होता है कि पाज़ेब पायल की बनक का ही आभूषण था, लेकिन उसमें रणन-ध्वनि नहीं होती थी—

कैधौं रति रानी उर हार पीत फूलन को
कैंधौं कदली के अंग कंचन की बेल है।
कैधौं कमला के गेह बाँधी अति सोभित है
पीत मनि तोरन उठत छबि रेल है।
'सूरति' सुकवि छबि कहाँ लौ बखानौ नेक
देखत हिये री मन सबको सकेल है।
तेरे पाय पर ये न पायजेब आली कैधौं
गति गजराज गरे हेम की हमेल है।

हार, बेलि, तोरण और हमेल सभी शोभाकर अप्रस्तुत हैं। इनमें रणन-व्यंजना नहीं है। पाज़ेब का अर्थ ही है पैर की शोभा या पैर जिससे शोभित हो। उर्दू-शाइरी में भी पाज़ेब के जड़ाऊपन का कथन है, लेकिन उसकी ध्वनि का वर्णन नहीं है—

वो लालों की पाज़ेब आवेज़ादार।
सदा अश्के-खूनीं हों जिस पर निसार। —मीर हसन

'भरमी' कवि के एक कबित्त से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है—

'भरमी' सुकवि कटि किंकिनी रसाल बाजै
जेहरि औ पायजेब सोभा सुखकारी की।

पायल झनकती थी। गुलाम नबी 'रसलीन' ने उसकी ध्वनि को झनकायल ध्वनि कहा है—

पायन पायल के परत झनकायल धुनि कान।
मायल कर घायल करत कुरछायल ज्यों तान।

पायल के विपरीत जेहरि निर्ध्वनि आभूषण है। जेहरि की भाँति ही पायजेब में भी ध्वनि नहीं होती थी। इसीलिए उपर्युक्त उद्धरण में जेहरि तथा पायजेब को कवि ने एक साथ रखकर उनकी 'शोभासुखकारी' छवि का वर्णन किया है।

पायल को नूपुर, नेवर या नेउर कहते थे। रीतिकाल के कवियों ने नूपुरध्वनि के विविध प्रयोग किए हैं। 'मतिराम' की मुग्धा वासकसज्जा नायिका को सखी शिक्षा देती है कि "नेवर की भनक-भनक राखि प्यारी आज" और मध्या वासक सज्जा के चलते समय किंकिनी तथा नूपुर बज उठते हैं "पग के धरत कल किंकिनी नूपुर बजै" एवं 'रसलीन' की अतृप्ता वृद्धवधू घर सूना पाकर देवर के पास नेवर भनकाती फिरती है—

वृद्धकामिनी काम ते सून धाम मे पाइ।
नेवर भनकावत फिरै देवर के ढिंग आइ।

अनवट अथवा अनौट पैर के अँगूठे का आभूषण था। हिन्दी-कविता में अनवट के पर्याप्त वर्णन हुए हैं—

सुबरन अनवट चरन को बरन करत यह मूल।
नवल कमल पर विमल मनु सोहत गेंदा फूल। —रसलीन

बिछिया अथवा मंजोर पैर की उँगलियों में पहने जाते थे। हिन्दी-रीति-कविता में बिछिया बड़ी करामात दिखाते हैं। कवियों ने इन बिछियों को काम के सवार होने की जीन बताया है—

'कालिदास' कहै कैधों कान्ह बस करिबे को
पायन में कीन्हीं करामात की कतार है।
जगमगै बिछिया जराऊ जीन मेरी जान
पग अँगुरीन में अनंग असवार है।

उर्दू-शाइरी में न तो अनवट का उल्लेख है और न बिछुए के वर्णन मिलते हैं। 'औरंगज़ेब नामा' से पता चलता है कि 'अनवट' का प्रचलन मुसलमान स्त्रियों में भी था। शाहज़ादे बेदारबख़्त की शादी के प्रसंग में उल्लेख है कि दादा ने पोते को ख़िलअत, लालों का सरपेच आदि दिये। "दुलहन को अँगूठी, मोतियों की माला और जड़ाऊ अनवट इनायत किये।"[१६] परन्तु उर्दू-काव्य इस अलंकार के बारे में भी ख़ामोश है।

'आईन्-ए-अकबरी' में 'भाँक' नामक एक आभूषण का विवरण भी दिया गया है। यह गहना त्रिकोणीय और चौकोर होता था।[१७] उर्दू-शाइरी में तो इस आभूषण का कहीं नाम नहीं मिलता, हाँ हिन्दी-काव्य में 'बोधा' कवि ने ज़रूर इसकी खोज-खबर ली है—

बिछिया अनौट बाँक सुखमा की बारी-सी

'आईन्-ए-अकबरी' में जेहर, पायल, घुँघरू, भाँक, बिछुआ तथा अनवट का ही उल्लेख है, परन्तु रीतिकाल के हिन्दी-उर्दू-काव्य मे पैर के आभूषणों में पाज़ेब के अतिरिक्त झाँझ के वर्णन मिलते हैं।

पैर के आभूषणों में झाँझ का आलोच्यकाल मे प्रमुख स्थान था। झाँझ शब्द से ही उसका झनझनाना प्रकट है। भिखारीदास की मुग्धा नायिका नायक से कहती है कि प्रियतम यदि तुमने थोड़ा भी अंग तोड़ा-मोड़ा तो झाँझें झनक उठेंगी और ग़ज़ब हो जाएगा—

झाँझरियाँ झनकेंगी खरी खनकेगी चुरी तनिकौ तन तोरे।
'दास' जू जागतीं पास अलीगन हास करेंगी सबै उठि भोरे।

झाँझ प्रायः चाँदी की होती थी। 'नज़ीर' अकबराबादी ने पार्वती को विवाह के अवसर पर चाँदी की झाँझन पहनाई है—

वो झाँझन बजती चाँदी की और जोड़े घुँघरू चौरासी

इन आभूषणों के अलावा उर्दू-शाइरों ने कड़े, छड़े एवं तोड़े का पुनः पुनः कथन किया है—

वो मेंहदी का आलम वो तोड़े छड़े।
वो पाँवों में सोने के दो-दो कड़े। —मीर हसन

तोड़ा एक प्रकार की जंजीर को कहते थे। यह तोड़ा हाथ, पाँव या गले में पहना जाता था—

होके दीवाने हम हुए ज़ंजीर
देखकर उसके पाँव का तोड़ा। —मीर

मुरवों के पास चूड़ा पहने जाते थे। 'बिहारी' के दोहे में नायिका के चूड़ों से कुचलकर मन के चूर होने का उल्लेख है—

रह्यौ ढीठु ढाढ़सु गहै ससहरि गयौ न सूरु।
मुर्‌यौ न मनु मुरवानु चभि भौ चूरनु चपि चूरु।

कटि के आभूषण

'आईन्-ए-अकबरी' के अन्तर्गत कट्याभूषणों मे क्षुद्र घंटिका तथा कटि-मेखला का उल्लेख है। सोने के तार में प्रोत स्वर्ण घंटियों को कमर के चारों ओर बाँधा जाता था, जिसे क्षुद्र घंटिका कहते थे। हिन्दी-रीतिकविता में क्षुद्र घंटिका का वर्णन उपलब्ध है—

चोटी बंद डोरी क्षुद्र घंटिका नई निहार —बेनी प्रबीन

क्षुद्र घंटिका की जालिका —बोधा

लेकिन उर्दू-काव्य में क्षुद्रघंटिका का उल्लेख नहीं मिलता। कटिमेखला के वर्णन हिन्दी-उर्दू दोनों काव्यों मे प्राप्त हैं। कटि मेखला को रशना, किंकिणी या करधनी भी कहा जाता था। उर्दू-शाइर माशूक़ की करधनी पर मुग्ध है। करधनी क्या है, शरीर की विषुवत् रेखा है—

काफ़िर ख़ते-इस्तिवा बदन का
तेरी सोने की करधनी है। —नासिख़

हिन्दी-कविता में किंकिणी की महत्ता बहुत अधिक है। रति-केलि के समय 'विहारी' ने उससे यदि कोलाहल करवाया है तो 'तोष' ने अपनी नायिका द्वारा किंकिनी कसकर पकड़वा रक्खी है—

पर्‌यौ जोरु विपरीत रति रुपी सुरत-रन-धीर।
करति कुलाहल किंकिनी गह्यौ मौनु मंजीर। —बिहारी

उससै, दबि त्यों-त्यों बजै, कर ते कल किंकिनि या कटि की पकरै —तोष

इसके अतिरिक्त उसके मधुर-मधुर बजने का उल्लेख करके कवियों ने स्वतंत्र चित्रण भी किए हैं। 'देव' ने उसकी रुनझुन को विहग-पंक्ति के कलरव से उपमित किया है।

कंठ के आभूषण

'आईन्-ए-अकबरी' के कंठाभरणों मे हार, गुलूबंद तथा हंस (या हाँस) नाम मिलते हैं। गुलूबंद की बनावट का विवरण अनुवादक ने इस प्रकार दिया है—"Guluband consists of five or seven rose shaped buttons of gold, strung on to silk and worn round the neek." आलोच्यकाल की हिन्दी-कविता में गुलूबंद के वर्णन हैं—

मनौ गुलीबँद लाल की लाल लाल दुति-लीक —बिहारी
गुलीबंद मैं भाय भर्‌यो भरक्यो —ग्वाल

हंस या हाँस का 'आईन्-ए-अकबरी' में कोई विशेष वर्णन नहीं है। केवल इतना उल्लेख है कि यह एक प्रकार का 'ब्रासलेट' है।[१८] सूदन ने 'हाँस' नामक गहने का वर्णन किया है "चम्पाकली सु हुमेल हाँसवर", जो संभवतः यही आभूषण है। रीतिकाल के उर्दू-काव्य में हाँस नामक आभूषण का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु हँसली का नाम ज़रूर आया है—

पहने पड़े हैं शोख़ कड़े और हँसलियाँ —नज़ीर

कंठाभूषणों के अन्तर्गत मीर हसन की मसनवी में हैकल का और हिन्दी-रीति-कविता में हमेल का उल्लेख है—

वह इल्मास की हैकल इक खुशनुमा —मीर हसन

मोतिन को हार माल (? मेलि के) हमेल हेम —'म० मं०'

गले के आभूषणों में हार एक श्रेष्ठ आभूषण माना जाता था। हार की बनावट में मोती तथा सुवर्ण का काम रहता था। मुक्तायष्टि के बीच-बीच सोने के बने गुलाब के फूल गुँथे रहते थे। ये हार सामान्यतः मुक्ताहार कहलाते थे। हिन्दी-रीतिकवियों की नायिकाओं का शृंगार इन्हीं हारों से होता था—

रहै गुनी ह्वै गर-पर्यौ भलैं न मुक्ता-हारु —बिहारी

इस मुक्ताहार को कहीं-कहीं सिर्फ़ 'हार' भी कहा गया है "हार पहिरे गोपालिका"।

जब केवल मोती सूत्रित रहते थे तो उसे मोती की माला या मुक्तामाल कहा जाता था। उर्दू-कविता में ये 'मोती के माले' बहुत बार उल्लिखित हैं। पुष्पों की माला को पुष्पहार, फूलों का हार या फूलमाला कहते थे। वनमाला कई प्रकार के फूलों से बनती थी—

क्यों मन हाथ करौं सजनी वनमाल में बैठि भयो वनवासी —मतिराम

चार लड़ियों का हार 'चौसर' कहलाता था। पुष्पहार को मोतियों की माला या हार के साथ भी पहना जाता था—

औसर चौसर के गुहिबे को न कुंज कलीनि हू बीनि हमै है —कुमारमणि

मोतिन की माल मिले चौसर चमेली के —देव

लड़ियों के अनुसार भी आभूषणों का नामकरण हो जाता था। 'रसलीन' ने नायिका के कंबु कंठ पर कनक चौलड़ी की दमदमाती ज्योति का वर्णन किया है—

कंबु कंठ पर धरत यों कनक चौलरी ज्योति।
चतुर माल जनु दीप की डगमग डगमग होति।

'सहरुल्बयान' मे दोलड़ा, पँचलड़ा, सतलड़ा का जिक्र है और 'नज़ीर' की कविता में नौघड़ी का उल्लेख हुआ है।

हैसियत के अनुसार कोई मुक्तामाल, कोई गुंजामाल और कोई काँच के गुरियों की माला पहनता था। 'बिहारी' की नायिका के संतप्त प्राणों को चुहुटिनी (गुंजा) की माला से शीतलता मिलती है—

हँसि उतारि हिय तैं दई तुम जु तिहिं दिना लाल।
राखति प्रान कपूर ज्यौं वहै चुहुटिनी माल।

'आलम' कवि की नायिका ऐसी लावण्यवती है कि उसके अंग-अंग से नई-नई छबि उमंग रही है। वह हौंस के कारण मुक्ताहार नहीं पहनती। उसे मोतियों

के हार की आवश्यकता ही क्या है, वह तो काँच के ही गुरियों की कंठी पहनकर अप्सरा सी लगती है—

मोतिन को हार हिये हौंस ते पहीरे नहीं
पोत ही के छरा अपछरा सी लगति है।

'आलम' की रचना में गले में पहना जाने वाला 'टीक' नामक एक आभूषण भी उल्लिखित है, परन्तु इस गहने का हिन्दी-रीतिकविता मे वर्णन अत्यल्प है और उर्दू-शाइरी में तो उसको जगह ही नहीं मिली है। इनके अलावा हिन्दी-कविता में कंठी, कंठमाला, चौक और कंठसिरी का कथन भी हुआ है।

वक्षःस्थल पर धारण किए जाने वाले गहनों में 'उरबसी' की चर्चा हिन्दी-रीतिकविता में बार-बार हुई है। 'बिहारी' की नायिका मोहन के उर-बसी होने से 'उरबसी' बन गई है। 'रसलीन' ने लाल चुन्नियों के बीच हरे नग जड़ी उरबसी का वर्णन किया है—

लाल चुनी में हरित नग यों उरबसी सोहाय।
मानों इन्द्रबधून मे इन्द्रपुत्र सरसाय।

'औरंगज़ेब नामा' मे मुहम्मद आज़मशाह को बीजापुर की तरफ़ रुख्सत करते समय "खिलअत, २ घोड़े हाथी मुत्तका, क़लगी, पहुँची और उरबसी"[१९] इनायत की गई है। अर्थात् यह आभूषण औरंगज़ेब (रा० का० सन् १६५८-१७०७) के समय में प्रचलित था, परन्तु उर्दू-शाइरों ने 'उरबसी' शब्द का प्रयोग नही किया है। उर्दू-शायरी मे उरबसी की जगह 'धुकधुकी' अभिधान मिलता है और 'धुकधुकी' के वर्णन पर्याप्त हुए है—

वो छाती प इल्मास की धुकधुकी —मीर हसन

भुजा के आभूषण

भुजदंड के प्रक्षेप्य आभूषण 'बाजूबंद' तथा 'टड' है, जिनका विवरण 'आईन्-ए-अकबरी' में प्राप्त है। टड पोला होता था, जब कि बाज़ूबंद ठोस रहता था[२०]। 'आईन्-ए-अकबरी' में 'बाहु' नाम का भी एक आभूषण है, जो 'चूड़' से कुछ छोटा बताया गया है[२१]। यह आभरण किस स्थान पर धारण किया जाता था, इसका निर्देश नहीं है। चूड़ के लिए कथन है "a bracelet worn above the wrist"[२२] इससे संकेत संकेत मिलता है कि यह गहना चूड़ के पास ही पहना जाता होगा। रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में इस 'बाहु' का कोई उल्लेख नहीं है। हाँ 'भुजबंद' नामक आभूषण जरूर उपलब्ध है—

यों भुजबंद की छबि लसी झबियन फन (? फुंदन) चौर।
मानो झूमत हैं छके अमी कमलतर भौंर —रसलीन

वो भुजबंद बाज़ू के और नौरतन ।
कि जूँ गुल से हो शाख़ ज़ेबे-चमन । —मीर हसन

तरक्यो फिर ह्वाँ ते सुकिंकिनी मैं भुजबंद मैं फेर फिर्यौ फरक्यो —ग्वाल

'रसलीन' ने 'अंगदर्पण' की रचना सन् १७३७ में की थी और 'ग्वाल कवि' (सन् १८०२-१८६७) का कविता-काल सन् १८२२-१८६१ है। मीर हसन की मसनवी सन् १७८५ में पूरी हुई थी, जो संभवतः अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में लिखी गई होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि 'भुजबंद' नामक गहना सन् १७३७ से सन् १८६१ के बीच प्रचलित था।

'भुजबंद' के अलावा बाजूबंद का उल्लेख भी हिन्दी-रीतिकाव्य में प्राप्त है, यथा "बाजूबंद ककना पटेला चूरी"। यह उद्धरण 'बोधा' के 'विरह वारीश' से है, जिसकी रचना सन् १७८७-१८०३ के मध्य हुई थी। 'रसलीन' के दोहे की उद्धरणी-सी करते हुए रामसहायदास (कविता-काल सन् १८०३-१८२३) ने एक दोहे में भुजबंद के स्थान पर 'बाज़ूबंद' शब्द का प्रयोग किया है—

यौं बाजूबंद मैं भली झबियन झुमका झोंरि।
कनकलता मानहुँ फली मरकत मनि की घोंरि।

इन उद्धरणों से प्रमाणित है कि 'बाज़ूबंद' सन् १७८७ से लेकर १८२३ तक चलन में अवश्य था।

अब प्रश्न यह है कि 'आईन्-ए-अकबरी' में 'बाजूबंद' का उल्लेख है, भुजबंद का नहीं। अतः रीतिकाल से एक शताब्दी पूर्व 'बाज़ूबंद' नाम प्रचलित हो चुका था, फिर उर्दू-शाइर मीर हसन ने 'बाज़ूबंद' न लिखकर 'भुजबंद' क्यों लिखा? इससे मालूम पड़ता है कि पर्यायवाची प्रतीत होने पर भी बाज़ूबंद और भुजबंद अलग-अलग आभूषणों के नाम है। उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि दोनों आभूषण समकालीन है। अतः उनके धारक अंगों में अन्तर होना चाहिए। 'आईन्-ए-अकबरी' मे जो 'बाहु' नामक गहना है, उसे 'भुज' भी कह सकते हैं। बहुत सभव है यह 'बाहु' ही 'बाहुबंद' और 'भुजबंद' हो गया हो। 'बाहु' कलाई से थोड़ा ऊपर पहना जाता होगा, क्योंकि 'आईन्-ए-अकबरी' में उसे 'चूड़' से छोटा बताया गया है। अतः भुजबंद का स्थान कलाई से ऊपर तथा चूड़ नामक गहने के स्थान से नीचे ठहरता है।

भुजा के अन्य आभूषणों में बरा, टाड, ककना तथा हाथों के गहनों में गजरा, कंगन, पहुँची, पटेला और चूड़ी के अतिरिक्त बरा, टाड, ककना एवं पटेला के वर्णन नहीं हैं—

बरा बाज़ूबंद ककना पटेला चूरी रतन चौक जारी की —बोधा

कंकन हमेल टाँड़ —आलम

जलसुत गजरा दोइ कर माहीं —बोधा

उँगलियों में मुद्रिकाएँ और छल्ले पहने जाते थे। नायिकाएँ ही नहीं छबीले लाल भी छल्लों के शौक़ीन थे। छल्ले जड़ाऊ भी होते थे—

मुँदरी सु पौंची चुरी कंकन वलय नीके —बेनी प्रबीन

छल्ले जड़ाऊ रखते हैं वो पोर पोर में —आतश

बाएँ हाथ के अँगूठे में 'आरसी' नामक आभूषण रहता था। हिन्दी तथा उर्दू-कविता में आरसी के उल्लेख हैं—

कंकन जराव छबि आरसी निहारी की —'म० मं०'

अँगूठे की ले सामने आरसी —मीर हसन

उर्दू-शाइरी में इन आभूषणों के अतिरिक्त कड़े, खड़ुए, नौरतन और जहाँ-गीरियों का उल्लेख भी है—

उन हाथों की दौलत से कड़ा माल हुआ है —आतश

बहू की नौघड़ी बेटे के हाथ के खड़ुए —नज़ीर अक़बराबादी

धुकधुकी नौरतन से बेहतर है —आतश

जहाँगीरियों का करूँ क्या बयाँ —मीर हसन

सिर के आभूषण

सिर के आभरणों मे सर्वोच्च स्थान शीशफूल का है। हिन्दी-रीतिकविता में इस शीशफूल के वर्णन पर्याप्त हैं। शीशफूल के साथ ही 'माँग' का भी उल्लेख मिलता है—

मोतिन सों माँग भरी सीसफूल टीको दियो —'म० मं०'

अली आदिलशाह द्वितीय ने माँग तथा शीशफूल का भारतीय संस्कृति के अनुकूल बड़ा उदात्त वर्णन किया है—

भागीरथी सो माँग है सिसफूल ब्रहमन
नित वाँ झलक किया सो वो तीरत की गत कहूँ।

शीशफूल के अतिरिक्त हिन्दी-कविता मे वेणीफूल तथा माँगफूल का उल्लेख भी हैं—

वेनीफूल माँगफूल शीशफूल कर्णफूल —बेनी प्रवीन

माथे पर शोभा देने वाले अलंकारों में बिँदुली अथवा बेंदी का वर्णन कवियों ने प्रायः किया है। बिंदुली सादा भी होती थी और जड़ाऊ भी। 'बिहारी' के एक दोहे मे हीराजड़ी बेंदी की शोभा का चित्रण है—

तिय मुख लखि हीरा-जरी बेँदी बढ़ैँ विनोद।
सुत-सनेह मानो लियौ विधु पूरन बुध गोद।

बेंदी अनेक रंगों की हो सकती थी, लेकिन गौरवर्णा नायिका पर लाल, पीली, श्वेत एवं श्याम बेंदी अधिक छजती थी—

सबै सोहाएई लगैँ बसै सुहाऐँ ठाम
गोरैँ मुँह बेँदी लसै अरुन पीत सित स्याम। —बिहारी

'बिहारी' ने लाल बेंदी को अधिक महत्व दिया है। इससे प्रतीत होता है कि आलोच्यकाल मे लाल बेंदी का चलन अधिक था। जो स्त्रियाँ अधिक सम्पन्न नहीं थीं, वे जडाऊ बेंदी की जगह भोंडर की बेंदी लगाती थीं। 'बिहारी' ने एक गँवारिन को सुनकिरवा (स्वर्णकीट) की बेंदी लगाए चित्रित किया है। बेंदी की तरह 'टीका' भी लगाया जाता था। टीका भी रत्नजटित होता था—

नीको लसतु लिलार पर टीकौ जरित जराइ।
छबि हिबढ़ावतु रवि मनौ ससि मंडल मैँ आइ। —बिहारी

माथे के गहने में 'बेन' का उल्लेख हिन्दी-काव्य मे मिलता है, उर्दू-शाइरी में भी यत्र-तत्र उसका ज़िक्र है, लेकिन उर्दू-काव्य में उपलब्ध 'झूमर' हिन्दी-कविता में नहीं दिखाई पड़ता—

शीशफूल बेन बेंदी बेसरि औ बीरन मैं —देव

बेनी और नथ का य आलम कि छिदे दिल जिससे —नज़ीर

माथे पर तेरे चमके है झूमर का पड़ा चाँद —ज़ौक़

कान के आभूषण

कर्णाभूषणों में हिन्दी-कविता के अन्तर्गत तरौना, कर्णफूल, खुटिला, खुभी तथा कुडल के उल्लेख प्रायः मिलते हैं। उर्दू-शाइरों ने तरौना, खुटिला एवं खुभी का वर्णन बिल्कुल नहीं किया, कर्णफूल अवश्य उनके काव्य में आया है। 'फ़ायज़' ने 'दर वस्फ़े भँगेड़न' में गहनों के साथ करनफूल को भी दिखाया है, परन्तु उर्दू-शाइरों का परम प्रिय आभूषण 'बाला' है—

फ़क़त कान में एक बाला पड़ा।
कहे तू कि था मह के हाला पड़ा। —मीर हसन

ये बाले प्रायः मछली की आकृति के होते थे। मीना कृति बाले का ही नहीं, चन्द्राकृति का उल्लेख भी उर्दू-काव्य मे हुआ है—

मकर नीलम में ताँजा पैन बैठे है चँदर बाले —अली आदिलशाह द्वितीय

कर्णफूल और बाला दोनों ही कान के अभूषण है। उर्दू-कविता के एक उदाहरण से ऐसा मालूम पड़ता है कि ये दोनों अलंकार साथ-साथ भी पहने जाते थे। अतः उनके स्थान पृथक्-पृथक् रहते होंगे—

वो आँखों की मस्ती वो मिज़गाँ की नोक।
करनफूल की और बाले की झोंक। —मीर हसन

हिन्दी-कविता मे झुमके की गंध भर है, मगर उर्दू-कवि झुमके के सौन्दर्य पर मुग्ध हैं—

लगाले झुमके दिखाकर उसी को
जिसे मुग़बचा पारसा जानता है। —मीर

उर्दू-शाइरों ने 'चम्पाकली' के अनेक बार वर्णन किए हैं, मगर हिन्दी-रीतिकाव्य में इस आभूषण का उल्लेख नाममात्र का है। 'रसलीन' के एक दोहे मे मोतीजड़ी चम्पाकली का वर्णन इस तरह है—

मोती जड़ित चंपाकली तरे ढरे बहु गूँद।
सहस किरन रवि तें मनों चुवत सुधा की बूँद।

उर्दू-शाइरों ने भी जडाऊ चंपाकली का ही उल्लेख किया है—

जड़ाऊ दमकती वो चंपाकली।
रहे जिससे इलमास को बेकली। —मीर हसन

चंपाकली कान के खोल में पहना जाने वाला गहना था,[२३] परन्तु काव्य के वर्णन उसके स्थान पर कोई प्रकाश नहीं डालते।

'मुरकी' के उल्लेख हिन्दी-उर्दू दोनों काव्यों मे प्राप्त है। मुरकी की व्युत्पत्ति 'मुड़ना' शब्द से है। 'बिहारी सतसई' में 'मुरासा' नामक कर्णाभूषण एक स्थल पर आया है—

लसै मुरासा तिय स्त्रवन यौं मुकतनु दुति पाइ।
मानहुँ परस कपोल कैं रहे स्वेद-कन छाइ।

'मुकतनु दुति पाइ' के कारण ज्ञात होता है कि यह आभूषण जड़ाऊ है और इसलिए मुरासा को वस्तुतः अरबी शब्द 'मुरस्सा' का तद्भव मानना अधिक उचित है। बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकार' उसे 'मुरस्सा' तथा 'मुड़ा सा' दोनों से व्युत्पन्न मानते हैं और उनका कथन है कि 'मुड़ा सा' से भी इसकी व्युत्पत्ति मानी जा

सकती है, क्योंकि कर्णरंध्र के किनारे जो भाग मुड़ा-सा होता है उसमें पहना जाने वाला आभूषण 'मुरकी' कहलाता है। वास्तव में कान का यह भाग कुछ मुरका हुआ होता है, इसलिये इसमें पहनी जाने वाली कील मुरकी कहलाती है। उसी प्रकार कान की लौ में पहना जाने वाला गहना तरकी कहलाता है, क्योंकि वह तर = तल की वस्तु है। 'फ़ायज़' की नायिका मुरकी पहनती है—

मुरकी औ नथ माँग टीका कानफूल।
देखकर सुध गई सकल तन मन की भूल।

सम्पादक ने 'मुरकी' का अर्थ 'कानों की लौ मे पहनने की फूलदार कील' दिया है। वर्तमान काल में मुरकी कान की लौ में पहनी भी जाती है। मुड़ने का संबंध इस आभूषण की बनावट से होने के कारण उसे मुरकी कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यह कुछ मुरका-सा रहता है। हमारे विचार से 'खुँटिला' शब्द भी इसी तरह का है। यह गहना सम्भवतः खूँटी के आकार का होता होगा, अर्थात् गोल और सिरा उतार। आईन्-ए-अकबरी' के विवरण से इसकी पुष्टि भी होती है "A ear ring tapering in shape."[२४]

मुरकी की भाँति ही हिन्दी-रीतिकविता में 'बीर' नामक गहने का वर्णन भी उपलब्ध होता है। उर्दू-शाइरी ने इस आभरण का उल्लेख नहीं किया, लेकिन हिन्दी-कवि 'आलम' 'बीरों' के नगों पर तारे न्यौछावर करने को प्रस्तुत हैं—

सीस फूल सीस धर्‌यो भाल टीको लाल जर्‌यो
कछु सुक्र मंगल मे भेद न विचारिहौं।
बेसरि की चूनी जोति खुटिला की दूनी द्युति
बीरन के नगनि तरैयाँ ताकि बारिहौं।

'बेनीप्रवीन' की रचना में 'बीरकी' नामक आभूषण का उल्लेख हुआ है। उस गहने का स्थान क्या था, इसका पता नहीं चलता, लेकिन संभव है 'बीर' को ही 'बीरकी' कहते हों—

छीन महातन क्यों सजि है उन पीन सरोजन के पट लाय है।
बीरकी यों पहरौंगी बई सखि आज हमारे पिया घर आय है।

'बिहारी सतसई' में 'झलमली' का ज़िक्र आया है। 'बिहारी सतसई' के टीकाकार कृष्ण कवि ने इसका अर्थ 'पीपलपत्ती' किया है। 'आईन्-ए-अकबरी के अनुसार 'पीपलपत्ती नामक आभूषण कान में आठ-आठ नौ-नौ एक साथ पहने जाते थे। ये बहुत पतले-पतले होते थे "Crescent shaped, eight or nine being worn in each ear."[२५] उर्दू-काव्य में पत्तों का ज़िक्र है—

काफ़िर वो जड़ाऊ तेरे पत्ते हैं कि काफ़िर
है जिनकी फबन कान में बाले से भी बाला। —जुरअत

इस झलमली या पीपलपत्ती के अतिरिक्त उर्दू-शाइरी 'बिजली' का वर्णन भी करती है—

ऐ परीरू तेरे कान की बिजली बिजली
नज़र आते हैं तेरे गेसू-ए-ख़मदार घटा। —नासिख़

'पदमाकर' (सन् १७५३-१८२२) ने 'गोशपेच' की चर्चा अपने एक कबित्त में की है—

गोशपेंच कुंडल कलंगी सिर पेंच पेंच
पेंचन तैं खैंचि बिन बेचे वारि आये हौ।

'आईन्-ए-अक्बरी' मे 'गोशपेच' और 'सिरपेच' ऊनी कपड़ों के नाम है। परन्तु रीतिकालीन काव्य मे सिरपेच का उल्लेख आभूषण के रूप में मिलता है। 'सहरुल्बयान' के अन्तर्गत 'सरपेच' का वर्णन आभूषणों के अन्तर्गत ही किया गया है। परन्तु 'गोशपेच' न तो 'आईन्-ए-अकबरी' में है और न रीतिकवि 'सुंदर', 'बिहारी', 'मतिराम' तथा 'देव' के काव्य में 'गोशपेंच' जैसे किसी गहने का नाम आया है। उर्दू-शाइर मीर तक़ी 'मीर' (सन् १७२५-१८१०) व मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' (सन् १७१३-१७८१) ने इस आभूषण का कोई उल्लेख नहीं किया। इन शाइरों को छोड़ भी दें तो हमारा ध्यान मीर हसन (सन् १७२५-१८८७) पर जाता है। मीर हसन ने 'सहरुल्बयान' मे जितने भी आभूषण गिनाए हैं उनमें 'गोशपेच' नाम नहीं आया है। तात्पर्य यह कि रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता में अठारहवीं शताब्दी तक 'गोशपेच' शब्द किसी गहने के लिए प्रयोग में नहीं आता था। उर्दू की रेख़ती शाइरी में भी 'गोशपेच' नहीं मिलता। हो सकता है, कुडल की भाँति यह आभूषण भी पुरुषधार्य हो, इसलिये रेख़्ती शाइरों ने इसे ग्रहण न किया हो, परन्तु 'आतश' (सन् १७६७-१८४६) तथा 'नासिख' (मृत्यु सन् १८३८) की कविता मे भी इसका वर्णन नहीं है। 'नासिख' उर्दू-कविता से देशी और तद्भव शब्दों को भद्दा-भोंडा कहकर बहिष्कृत कर रहे थे, अतः उनके लिये 'गोशपेच' शब्द ग्रहण करना बहुत स्वाभाविक था। लेकिन उनकी कविता में माशूक़ 'बालें' पहने हुए नज़र आता है, गोशपेच' पहने नहीं मिलता। रीतिकाल के अंतिम आचार्य 'ग्वाल' कवि की रचनाओं में भी गोशपेच का कोई ज़िक्र नहीं है। इसलिये ऐसा अनुमान होता है कि गोशपेच किसी गहने का फ़ारसीकृत नाम है।

'इंशा' ने कान में लौंग पहनने का उल्लेख किया है "मैंने देखी है उसके कान

मे लौग।" परन्तु हिन्दी-कविता मे इस गहने का उल्लेख कान से सम्बद्ध नहीं मिलता।

नासिका के आभूषण

नासिका के आबेध्य आभूषण भारत में मध्यकाल से पूर्व प्रचलित नहीं थे। 'भागवत' मे स्त्रियों के आभूषणों मे नासिका के इन आभूषणों का वर्णन अप्राप्त है। यह निश्चित है कि यह फ़ैशन मुसलमान विजेताओं द्वारा भारत में उत्तर-पश्चिम से लाया गया था। तत्कालीन चित्रों से पता चलता है कि ये आभूषण न तो देश में ही आमतौर पर प्रयोग किए जाते थे और न शाही अन्तःपुर मे उनका रिवाज था। लेकिन रीतिकाल आते-आते नथ, बेसर, लौंग, नकमोती तथा सींक आदि गहने खूब लोकप्रिय हो गए थे और फ़ैशनप्रिय स्त्रियाँ सींक या लौंग पहनने मे गर्व का अनुभव करती थीं। 'बिहारी' की मानवती नागरी नायिका लौग पहने हुए है—

जदपि लौँग ललितौ तऊ तू न पहिरि इक ऑक।
सदा साँक वडियै रहै, रहैं चढ़ी सी नाक।

'रहीम' के एक बरवै में एक सखी अन्य सखी या दूती से कहती है कि नथुनिया प्रियतम को वश मे करने के लिए उतनी अधिक भली नहीं लगती, जितनी मींक। इसलिए नायिका को सींक बड़े मनोयोग से पहनाओ—

थोरेसि नाक नथुनियाँ मितहित नीक।
कहेसि नाक पहिरावहु चित दै सींक।

'आईन्-ए-अकबरी' में चार नासाभूषणों का उल्लेख हुआ है—बेसर, फूली, लौंग तथा नथ[२६]। इन गहनों में बेसर तथा नथ सामान्य आभूषण थे।

हिन्दी-रीतिकाव्य में बेसर के माध्यम से अनेक प्रेमाभिव्यंजनाएँ की गई हैं। कोई नायिका बेसर में उलझी लट सुधारने के लिए नायक की विनती कर रही है, तो कोई "गिरि गई बेसरि हमारी मधुबन मे"[२७] कहकर रति-प्रसंग को गुप्त रखना चाहती है। परन्तु इन सारे वर्णनों को पढ़ने से न तो बेसर के आकार का बोध होता है और न उसके स्थान के सम्बन्ध मे कुछ मालूम होता है।

रीतिकाल मे नासिकाभूषणों में 'बुलाक़' नामक गहना भी चलन मे आ गया था। आलोचकों तथा विद्वानों ने इस 'बुलाक़' तथा 'बेसर' को एक समझ लिया है। डा० ग्रियर्सन के कथन से यह भ्रम उजागर हो जाता है—"the Bulak or Besar is a ring hung from the central cartilege of the nose" यह भ्रम अभी तक अखण्ड रूप में चला आ रहा है। 'सूदन' के 'सुजान चरित्र' में बेसर तथा बुलाक़ का अलग-अलग उल्लेख हुआ है—

बेसर नथ्थ बुलाक सुलटकन।
जाट जूह लागे सब भटकन।

अतः स्पष्ट है कि बेसर और बुलाक़ पर्यायवाची शब्द नहीं हैं।

हिन्दी-रीतिकाव्य में बेसर-सम्बन्धी कथन केवल विलासपरक है या अतिशयोक्तिपूर्ण है। उस गहने के बारे में कवि लोग कुछ बताना ही नहीं चाहते, यथा—

कासौं जाय बरनि बनक नाक बेसरि की
ललित बिलोकनि पै विविध विलास है। —मतिराम

बेसर के सम्बन्ध मे 'बिहारी' का एक दोहा अपनी श्लेषचमत्कार-सामर्थ्य के कारण बहुत प्रसिद्ध हो गया है—

अजौं तर्‌योना हीं रह्यौ श्रुति सेवत इक रंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु कैं संग।

ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने पर इस दोहे में 'बेसरि' के सम्बन्ध का दृढ़ सूत्र प्राप्त होता है। 'नाक वास वेसरि लह्यो' वाक्य से बेसर के स्थान का पता चलता है। 'नाक वास' मे तत्पुरुष समास तो है, किन्तु सप्तमी अथवा षष्ठी में से किसे ग्रहण किया जाय प्रश्न यह है। षष्ठी सामान्य अर्थसूचक है। सप्तमी लेने पर दो प्रकार के अर्थ सम्भव हैं—(१) नाक मे वास प्राप्त किया। (२) नाक पर (के ऊपर) वास लिया (लह्यो) अर्थात् बनाया। नाक (स्वर्ग) में स्थान मिल जाना बड़ी बात नहीं है, बडी बात तो है स्वर्ग पर स्थान बनाना। इसलिए 'नाक पर वास लह्यो' अन्वयार्थ ही अधिक ग्राह्य है। इस अर्थ से बेसर के स्थान पर भी प्रकाश पडता है अर्थात् बेसर नामक आभूषण नासिकाग्र पर धारण किया जाता था।

'मतिराम' के एक दोहे मे बेसर का वर्णन है। यह वर्णन भी रसिकों को शृंगार-रसाभिपोषक होने से और आलंकारिकों को यमक के कारण पसंद है। दोहा निम्नांकित है—

दूनी मुख मे छबि भई बेसरि धरी उतारि।
हरि के उर सोई लगी करति रसोई नारि।

इस दोहे के प्रथम चरण के दो अर्थ किए जा सकते है—(१) नयिका ने मुख की छवि दूनी हो जाने के कारण बेसर उतार कर रख ली। (२) नायिका ने जब वेसर उतार कर रख दी तो उसकी मुखच्छवि दूनी हो गई।

यहाँ पहला अर्थ असंगत है। मुख की छवि दूनी हो जाने पर उसने बेसर क्यों उतार दी? बेसरि तो मुखच्छवि बढ़ाने के लिए ही पहनी जाती है। उसके साथ ऐसी कोई पूर्वनिश्चित शर्त नहीं रहती कि वह मुखच्छवि को केवल दूना

करती है, इसलिए मुखच्छवि दूनी हो जाने पर उसे उतार देना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस अर्थ में यह बात भी स्पष्ट नहीं होती कि मुखच्छवि दूनी होने का कारण क्या था ?

दूसरे अर्थ की संगति पूर्व दोहे के साथ स्वतः बैठ जाती है। उद्धृत दोहे का साधारण अर्थ इस प्रकार [illegible] ने जब बेसर को उतार कर अलग रख दिया तो उसकी मुखच्छवि द्विगुणित हो गई और वही नायिका जो रसोई कर रही थी, नायक के वक्षःस्थल से लग गई।

प्रसंग समझने पर अवगत होता है कि नायिका रसोई बना रही थी। किसी कार्यवश नायक वहाँ आया। नायिका उस अल्पकाल में अपने मन की ललक शांत कर लेने के लिए आतुर हो गई। यहाँ नायक सामने है फिर भी समय की न्यूनता तथा रसोई के कार्य में व्यस्तता के कारण उसे लगा कि उसकी ललक अतृप्त ही रह जाएगी, अतः उसके मुख पर निराशा की भावना अंकित हो गई। तभी उसको एक युक्ति सूझी। क्यों न अपने मुख को नायक के वक्षःस्थल में निमज्जित करके तल्लीनता-सुख की अनुभूति कर ली जाय ? मगर ऐसा करने में बेसर बाधक होती थी, इसलिए उसने बेसर उतार कर रख दी और नायक के वक्षःस्थल से लग गई। फलस्वरूप उसका चित्त प्रसन्न हो गया, जिससे उसकी मुखच्छवि दूनी हो गई।

बेसर उतारने का कारण बेसर का नासिकाग्र पर स्थित होना है। नासिकाग्र पर रहने से वह नायक की छाती में चुभेगी और नायिका की नाक भी पीड़ित होगी। इसलिए उसने बेसर उतार दी। एक सूक्ष्म व्यंजना और भी है। कवि ने 'दूनी मुख की छवि भई' नहीं कहा, प्रत्युत 'दूनी मुख मे छवि भई' लिखा है। 'मुख की छवि' नहीं, 'मुख मे छवि' दूनी हुई। बात यह है कि नायिका का मुख नायक के वक्षःस्थल के मध्य धँसा हुआ है। वक्षःस्थल के प्रतिबिम्ब से नायिका के मुख मे दूनी छवि आ गई है। यह मुख की स्वरूपावस्था नहीं है। यहाँ कवि ने मुख की वक्षःस्थलोपहित-अवस्था का वर्णन किया है, जिसे प्राप्त करने के लिए बेसर उतारना अनिवार्य था। वक्षःस्थल से हटने पर उसकी स्वरूपावस्था होगी और तब मुखच्छवि-विवर्धनार्थ बेसर धारण करनी पड़ेगी।

बेसर के उतारने का वर्णन केशवदास ने भी किया है। कृष्ण ने राधा के साथ मनमानी की तथा दंतक्षत छिपाने के लिए उसके मुँह पर केसर मल दी। लेकिन केसर मलने से पहले बेसर उतार दी—

भेटी भरि अंक मनभायो करि छाड्यो मुहँ
केसरि सों माँडि लई बेसरि उतारि कै। —केशव

बेसर उतार कर (हाथ में) ले ली तब भेटी भरि अंक, मनभायो कियो और मुँह

केसर सों माँडि (उसे—राधा को) छाँड्यो । आखिर बेसर क्यों उतारी ? इसलिए कि अंक भरने तथा केसर मलने में वह कृष्ण के वक्ष एवं हाथ में चुभे नहीं और नायिका की नाक दुखे नहीं । यदि बेसर नासिकाग्र बेधकर न पहनी जाती होती तो उसके उतारने के लिए सावधानी क्यों बरती जाती ? हमारे इस कथन का समर्थन निम्नांकित कबित्त से पूर्णरूपेण हो जाता है—

सुनि चित चाहै जाकी किंकिनी की झनकार
करत कलासी सोई गति जु बिदेह की ।
'सेख' भनि आजु है सुफेरि नहि काल्हि जैसी
निकसी है राधे की निकाई निधि नेह की ।
फूल की सी आभा सब सोभा लै सकेलि धरी
फूलि ऐहै लाल भूलि जैहे सुधि गेह की ।
कोटि कवि पचैं तऊ वरनि न पावैं
फबि बेसरि उतारे छबि बेसरि के बेह की ।

इस उदाहरण में बेसर उताने पर बेसर-बेध (छिद्र) की शोभा का वर्णन है । बेसर-बेध तभी दृश्य होगा जब वह नासिकाग्र या नथुने पर हो अन्यथा उसके दृश्य होने का वर्णन व्यर्थ हो जाएगा ।

हिन्दी-उर्दू-रचनाएँ बेसर के रूप (आकार) पर भी कुछ प्रकाश डालती हैं । अली आदिलशाह द्वितीय के एक शेर से बेसर की बनावट का कुछ आभास होता है—

बेसर का हल्का छब सों दिसे माहे-नौ नमन
तिसके लटकते मोती कों मैं बिरस्पत कहूँ ।

बेसर का घेरा द्वितीया के चन्द्र की तरह और उसमें लटकता मोती वृहस्पति है । 'आईन्-ए-अकबरी' के विवरण से मिलान करने पर इस शेर के कथन का समर्थन होता है—"Besar is a broad piece of gold, to the upper ends of which a pearl is attachd, and at the other a golden wire which is clasped on to the pearl and hung from the nose by gold wire."[२८] 'देव' ने एक कबित्त में बेसर का रूप इन्द्रधनुष-सा बताया है "इन्द्र को सो धनु साजि बेसरि कसति आज ।" इससे भी बेसर की आकृति अर्ध-चन्द्र-सी प्रतीत होती है ।

'आईन्-ए-अकबरी' की रचना अकबर के शासन-काल में हुई थी । अली आदिल शाह द्वितीय अकबर का समकालीन था, इसलिए बेसर की तत्कालीन बनावट का बिल्कुल सही रूप उसके इस शेर में उपलब्ध है । बेसर का 'चौड़ा

स्वर्ण खंड' थोड़ा झुका हुआ होने से द्वितीया के चन्द्र-सा है। 'आईन्-ए-अकबरी' में एक मोती का ज़िक्र है, उपर्युक्त शेर मे उसकी पुष्टि है। 'बिहारी सतसई' के पूर्वोद्धृत दोहे में कई मोतियों (मुतकनु) का उल्लेख है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि 'बिहारी' के समय (सन् १५९५-१६६३) मे कई मोती भी लगने लगे थे, यद्यपि एक मोती का चलन भी था, जैसा कि 'बिहारी' के अन्य दोहे से प्रकट होता है—

बेसरि-मोती धनि तुहीँ, को बूझै, कुल, जाति।
पीबौ करि तिय-ओठ कौ रस निधरक दिन राति।

'आईन्-ए-अकबरी' मे बेसर के लटकने का ढंग 'फ़्रॉम द नोज़' कहकर व्यक्त किया गया है। अतः उपर्युक्त सारे प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बेसर नासिकाग्र को बेधकर नासापुट तथा नासाभित्ति की संधि से लटकते स्वर्णतार से जुड़ा रहने वाला एक आभूषण था, जिसमें द्वितीया के चन्द्र के आकार का एक स्वर्णखण्ड होता था, और उस स्वर्णखंड के सहारे एक या एक से अधिक (दो या तीन) मोती लगे रहते थे।

बुलाक़ नामक ज़ेवर नाक के अन्दर पहना जाता था। डा० ग्रियर्सन ने बेसर को भ्रम से बुलाक़ समझकर लिखा है कि वह मध्य नासा-भित्ति से लटकाया जाता है। 'बिहारी' ने बेसर के स्थान का संकेत 'नाक बास' (नाक पर वास) शब्दों में दिया, तो 'मीर' ने बुलाक़ की तस्फ़ील देकर उसका नाक के भीतर पहना जाना बताया—

दम नाक मे बक़ौले ज़नाँ आशिक़ों के है
हिलना बला है मोती का उसके बुलाक़ मे।

'दम नाक में' पद के आलंकारिक प्रयोग से प्रकट है कि बुलाक़ नाक के भीतर पहना जाता था। हिन्दी-कवियों ने बेसर-मुक्ता-वर्णन किया, तो उर्दू-शाइर बुलाक़ के मोती पर क़ुर्बान हुए—

अल्ला रे ताबे हुस्न कि उसका दुरे-बुलाक़
चश्मकज़नीं करे है सुहैले-यमन के साथ। —ज़ौक़

उत्तर भारत में रचे गए रीतिकालीन उर्दू-काव्य में बुलाक़ के वर्णन हैं, बेसर के नहीं और हिन्दी-कविता बेसर का चित्रण करती है, बुलाक़ के उल्लेख वहाँ प्राप्त नहीं होते। उर्दू-शाइरों में केवल अली आदिलशाह द्वितीय ने बेसर का उल्लेख किया है। अली आदिलशाह द्वितीय भाव-व्यंजना की दृष्टि से हिन्दी का कवि है। उसकी प्रेम-चित्रण-प्रणाली उर्दू या फ़ारसी शैली से एकदम भिन्न है। अतएव हम उसे दक्खिनी हिन्दी का कवि न कहकर, हिन्दी का दक्खिनी कवि

कहते हैं। अली आदिलशाह द्वितीय को अपवाद मानकर यह कहा जा सकता है कि बेसर शायद हिन्दू-स्त्रियों मे अधिक मान्य हो गई थी और बुलाक़ को मुसलमान रमणियों ने अधिमान्यता दे रक्खी थी।

रीतिकाल तक आते-आते नथ हिन्दू-संस्कृति में उच्च स्थान पा चुकी थी। आलोच्यकालीन उर्दू-शाइरी तथा हिन्दी-काव्य में नथ के वर्णन मिलते हैं। नथ विवाह के अवसर का सौभाग्य-विशिष्ट आभूषण है। मिर्ज़ा 'सौदा' ने इमाम हसन के पुत्र क़ासिम से सम्बन्धित मर्सिए में नथ का वर्णन इसी सन्दर्भ में किया है—

बेना नथ सिंगार सब पल में देउ गवाय।
चादर ओढ़े मलगजी बैठी सीस नवाय।

हिन्दी-रीतिकविता में अवसरसूचक उल्लेखों की ओर तो दृष्टि नहीं है, लेकिन कवियों ने नथ के वर्णन किए अवश्य हैं। इन वर्णनों में नथ के मोती पर ख़ासतौर से प्रकाश डाला गया है—

कँकना जड़ाऊ बेंदी बाजू बीर कंठसिरी
हार बड़े गथ के औ मोती बड़े नथ के। —रघुनाथ

'रसलीन' ने मुक्ता के स्थान पर 'लाल' का उल्लेख किया है। हिन्दी-कवियों की रचनाओं में नथ की अपेक्षा नथुनी को ज़्यादा पसंद किया गया है। नथुनी नथ से छोटी होने के कारण व्यवहार मे अधिक आती थी। कन्याएँ नथुनियाँ ही पहनती थीं। नथ विवाह के मांगलिक अवसर पर दी जाती थी। स्वच्छंद विचरने वाली अनूढ़ा के सौन्दर्य से आकृष्ट कवि की दृष्टि में नथुनी ही पड़ती थी, अवगुंठन में छिपी नथ के द र्न इतने सुलभ कहाँ थे ? इसीलिए हिन्दी-कवि नथुनी के अधिक पुजारी हैं, लेकिन उर्दू-शाइर सिर्फ़ नथ पर प्राण देते हैं। उर्दू-शाइरों के मध्य रहने वाले नवाब रामपुर के आश्रित कवि 'ग्वाल' को भी नथ से ही ज़्यादा लगाव है। उनका मन मंजीरों से मुरवा की ज़ंजीरों पर सरक कर अटका, फिर वहाँ से तरककर किंकिणी में, किंकिणी से भुजबंद में फिरा-फरका, कुछ देर हीरावली में थरका, फिर गुलीबंद में भरका। इस प्रकार पथ में हरकता हुआ थका नहीं, लेकिन नथ में आकर थमा और वहीं ग़र्क़ हो गया—

सरक्यो मन सेरो मँजीरन मैं मुरवा की जँजीरन मैं अरक्यो।
तरक्यो फिरि ह्वाँ ते नुकिंकनी मैं भुजबंद मैं फेर फिर्यो फरक्यो।
थरक्यो कवि 'ग्वाल' हिरावली मैं गुलीबंद मैं भाय भरयो भरक्यो।
हरक्यो पथ मैं गथ के सथ मैं न थक्यो न थक्यो नथ मैं गरक्यो।

हिन्दी-रीतिकवियों ने यद्यपि बड़े मुक्तायुक्त नथ का वर्णन करते हुए उसे अच्छा बताया है "बड़े मोतिन सों नीकी नथ",[२९] मगर कवि ठाकुर के मत में बड़े

मोतियों में छोटी नथुनी की सुघरता वर्णनातीत है। मोती की क़िस्म के बारे में भी कहीं-कहीं कवि सजग दिखाई पड़ता है। 'मतिराम' को छोटी नथुनी तभी शोभायमान लगती है जब उसमें गजमुक्ता लगे हों—

कहै 'मतिराम' मनि मंजुल तरौना, छोटी
नथुनी विराजै गजमुक्तन के संग की।

इस मोती के भी वर्णन विविध हैं। 'तोष' ने नथ के झूलते हुए मोती का उल्लेख किया है—

मंजन कै दृग अंजन दै मनरंजन भूषण साज सुधारे।
झूलत त्यों नथ को मुकुता हल कीर मनो ससि मैं मतवारे।

इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुक्ता लटकता रहता था। इसे लटकन कहते थे। 'रसलीन' ने इस लटकन को ठग कहा है जो नथ की फाँसी लिए संसार का आखेट कर रहा है—

ठग लटकन नथ फाँस ले पाय नासिका साथ।
मारि मरोरचो जगत इन नट नट डोलै हाथ।

लटकन जो अधर तक पहुँचता है उसे 'लुरकी' कहते हैं। यह शब्द 'मुरकी' के समान व्युत्पन्न है। लुढ़कती रहने के कारण उसे लुरकी कहते थे—

मोती भयो नथ मैं नथ ह्वै लुरकी सों लग्यो अधरा पर डोलै —देव

लेकिन 'देव' तथा 'ठाकुर' के पूर्वोल्लिखित उद्धरणों में वृत्ताकार सुवर्णतारप्रोत मुक्ता का वर्णन है। एक, दो तथा दो से अधिक मोतियों के वर्णन भी हिन्दी-रीतिकविता मे प्राप्त हैं। दो से अधिक मोती तार मे कहाँ-कहाँ लगाते थे, इसका पता नहीं चलता। किन्तु जब दो मोती लगाए जाते थे तो उनका स्थान बहुत कुछ निश्चित रहता था। 'नवरस तरंग' में कवि ने नथुनी में लगे दो मुक्ताओं का चित्रण करके उनके स्थान की व्यंजना भी कर दी है—

तेरी नथुनी के नीके मुक्ता 'प्रबीनबेनी'
सोभा के सदन ऐसे बदन निमुन्द हैं।
सरद ससी ते रसि बसि न सकत केहू
च्वही परचौ चाहत सुधा के बिबि बुद है।

मोती क्या है? शरच्चन्द्र से रिसकर सुधा के दो बूँद कहीं ठहर न सकने के कारण चुए पड़ रहे हैं। इस छंद में 'शोभा के सदन' विशेषण मुक्ताओं का है, वदन का नहीं है। ये मुक्ता ऐसे शोभा के सदन हैं मानों शरत्-शशि से दो सुधा-बिन्दु चू रहे हों।

शब्द-संगति के आधार पर पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि 'मुक्ता' तथा 'वदन निमुन्द' में परस्पर विरोध है। 'वदन निमुन्द' है का अर्थ यह नहीं कि मोतियों का मुँह बंद है या खुला है, क्योंकि इसका आगे वाली उक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ अन्वय इस प्रकार होगा—तेरी नथुनी के नीके मुक्ता जो बदन निमुद (पर स्थित) हैं ऐसे शोभा के सदन है मानो....। वदन निमुंद अर्थात् नथुनी का मुँह जहाँ मुँदा हुआ है। 'निमुंद' का अर्थ है 'अच्छी तरह मुँदा हुआ।' 'बिहारी' का 'कीन्हे वदन निमूँद' पद तुलनीय है। अतएव इस उद्धरण से व्यक्त हुआ कि नथुनी के गोलाकार तार के दोनों सिरे जहाँ मिलते थे उस स्थान पर दो मोती लगाए जाते थे। एक मोती बंध के दाईं ओर और एक बंध के बाईं ओर। छंद की ध्वनि से अवगत होता है कि नायिका ने नथुनी इस ढंग से पहनी है कि नथुनी का यह बंध (गाँठ या आँकड़ा) नीचे की ओर है। ऐसी स्थिति मे यह उत्प्रेक्षा है कि चन्द्रमा के दाएँ अर्द्धभाग से रिस कर सुधा का एक विन्दु दाईं ओर और बाएँ अर्द्धभाग से रिसकर एक विन्दु बाई ओर आकर चू पड़ना चाहता है।

नथ के आकृति-वैशिष्ट्य पर कवियों ने यत्र-तत्र जो प्रकाश डाला है उससे उसकी मयूराकृति का भी पता चलता है "छोटी नथ मोर की मरोर मन लै गई।"[30]

नथुनी-वर्णन हिन्दी-काव्य तक ही सीमित है। उर्दू-शाइरी में नथुनी के उल्लेख नहीं हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि मुसलमानों मे नथ का ही रिवाज था, नथुनी वहाँ प्रयोग में नहीं थी। हिन्दू-समाज में नथुनी तथा नथ दोनों ही प्रचलन में थीं।

हिन्दी-कवि नथ या नथुनी के सौन्दर्य का वर्णन करता है, परन्तु नासिका की स्थिति-विशेष के सन्दर्भ में उसकी शोभा को नहीं देखता। उर्दू-शाइर मिर्ज़ा 'सौदा' ने नथ के वृत्त मे फड़कते हुए नथने का बहुत सुन्दर चित्रण किया है—

> बह्रे-खूबी की गोया मछली है क़ुल्लाब के बीच
> नथ के हल्क़े में जो देखे कोई नथने की फड़क।

हिन्दी-रीति रचनाओं के अन्तर्गत नासाभूषणों में नकमोती के भी विरलोल्लेख मिलते हैं "खुटिला, तिलक नकमोती बनी बालिका",[31] परन्तु उर्दू-शाइरी में नक-मोती के वर्णन का पूर्ण अभाव है।

उपर्युक्त आभूषण हिन्दी-उर्दू-काव्य के उभयनिष्ठ आभूषण हैं। लेकिन बहुत से आभरण ऐसे भी है, जिनका एकांत उल्लेख उर्दू-शाइरी में ही मिलता है। रेख़्ती शाइरों ने इक्का, तावीज़, जुगुनू, जोशन, छपका, तौक़, नौनगे आदि अनेक गहनों को सन्निविष्ट किया है। 'सुजान चरित्र' में बगुरी, पछेली, चुटकी, बंदनी आदि अनेक आभरणों का नाम आया है। परन्तु अन्य आभूषणों का कथन नहीं मिलता। 'सहरुल्बयान' में जहाँगीरी, तुक्मा तथा दस्तबंद आदि का उल्लेख है।

जहाँगीरी का नाम 'आईन्-ए-अकबरी में है,[३२] लेकिन पता नहीं क्यों हिन्दी-रीति-काव्य में उसकी चर्चा नहीं मिलती। शायद ये आभूषण भी शाही हरम में ही प्रचलित थे, हिन्दू-सामंतों के अन्तःपुरों या सामान्य हिन्दू-समाज में उनका आम प्रचार नहीं था।

सौन्दर्य-प्रसाधन

सुर्मा

सुर्मा भारतवर्ष में मुसलमानों के साथ आया, परन्तु धीरे-धीरे हिन्दुओं में भी लोकप्रिय होने लगा। उर्दू-काव्य में सुर्मा ऐसी काट करता है कि आशिक़ पानी नहीं माँगता।

आलोच्यकाल में सुर्मे के व्यवहार का इसी से अनुमान लग सकता है कि 'ग्वाल' कवि ने राधिका तक के नेत्र सुर्मा से सजा दिए हैं। सुर्मा लगे नेत्रों के बाँकपन की अदा के आगे रति, रंभा, तिलोत्तमा, मेनका, सरस्वती आदि के नेत्रों का सौन्दर्य भी हेय है—

चतुर चमाके सों झमाकेदार झुकि झाँके
चंचल चलाक कोस कोक की कला के हैं।
रति के न रंभा के न सोहत तिलोत्तमा के
मेनका के कहे कौन ऐसे न गिरा के हैं।
'ग्वाल' कवि भरे सुखमा के पै न उपमा के
अजब अदा के मनमोहन मजा के हैं।
हैं न सरमा के ऐसे हैं न सुरमा के सजे
जैसे सुरमा के नैन बाँके राधिका के हैं।

काजल

काजल भारत का अति प्राचीन सौन्दर्य-प्रसाधन है। रीतिकाल में यद्यपि सुर्मे ने काफ़ी प्रभाव जमा रक्खा था, फिर भी काजल का प्रचार सुर्मे से कम नहीं था। हिन्दी-उर्दू-काव्य के वर्णनों को देखने से यह प्रमाणित होता है कि काजल का महत्व उसकी नेत्र-रंजिनी-शक्ति के कारण सुर्मे से कहीं अधिक था। काजल-रंजित आँख काली और अत्यन्त मनोहारी हो जाती है। उर्दू-शाइर 'नासिख' काजल का कीर्ति-गान करते हुए कहते हैं कि माशूक़ की चश्मे-सियाह के गुण तभी लिखे जा सकते हैं, जब स्याही काजल के तौर की हो—

लिक्खूँ 'नासिख़' जो वस्फ़े चश्मे-सियाह
हो सियाही में तौर काजल का।

माशूक़ का काजल देखकर लोगों को रात-रात भर नींद नहीं ग्राती। ग्राँखें जागरण के कारण लाल-लाल हो जाती हैं। इसलिए काजल मामूली चीज़ नहीं है। उसके भीतर हज़ारों गुल खिलाने की सामर्थ्य है—

बनाया है उसे शायद कि दूदे-रौग़ने-गुल से
हज़ारों गुल फुलाता यार की ग्राँखों का काजल है। —ग्रातश

हिन्दी-रीतिकविता तो काजल-रंजित नेत्रों का चित्रण करते ग्रघाती ही नहीं। हिन्दी-कवियों ने काजल के प्रभाव को प्रायः विष से उपमित किया है—

रे मन रीति विचित्र यह तिय नैनन के चेत।
विष काजर निज खाय के जिय ग्रौरन को लेत। —रसलीन

काजल या ग्रंजन से रंजित नेत्रों के वर्णन रीतिकाल से बहुत पहले हिन्दी-काव्यान्तर्गत पुष्कल मात्रा में उपलब्ध हैं, लेकिन वे वर्णन नेत्र ग्रंजित करने की विधि या शैली-विशेष का कोई ग्राभास नहीं देते। हिन्दी-रीतिकाव्य से पूर्व कवि ग्रंजन-रंजित नेत्रों को खंजन कहते थे, क्योंकि खंजन का सिर काला होता है, लेकिन हिन्दी-रीतिकवि 'रसलीन' ने खंजन की पूँछ का चित्रण भी किया ग्रौर इसका कारण यह है कि काजल इस ढंग से लगाया गया है कि उसकी लम्बी लकीर दृग-कोर से ग्रागे निकली हुई है—

तिय काजर कोरैं बढ़ीं पूरन किय कवि पच्छ।
लखियत खंजन पच्छ की पुच्छ ग्रलच्छ प्रतच्छ।

लकीरदार काजल लगाने का फ़ैशन रीतिकाल के दूसरे चरण तक पर्याप्त प्रचलित हो गया था। इस प्रकार काजल लगाने का उल्लेख 'वली' के एक शेर में भी है—

सारी सखाँ ने मिलकर क्या बेखता दिया है
तुझ नाज़नीं मोहन की ग्रख्याँ में खत का काजल।

काजल की यह लकीर निकालना वस्तुतः सुर्मा लगाने की शैली का ग्रनुकरण मात्र है। सुर्मा ग्राँखों में इस ढंग से लगाया जाता था कि उसकी लम्बी रेखा बाहर निकली रहती थी। उर्दू-शाइरी में इस प्रकार के सुर्मे पर ग्रनेक उक्तियाँ बाँधी गई हैं। दीर्घ कज्जल-रेखा के ऐसे उल्लेख हिन्दी-काव्य में रीतिकाल से पूर्व तो उपलब्ध ही नहीं है, ग्रौर रीतिकविता में भी उनका वैसा प्राचुर्य नहीं मिलता जैसा कि उर्दू-शाइरी में प्राप्त है। ग्रतः हिन्दी-रीतिकाव्य की ग्रंजन-रंजन-प्रणाली पर उर्दू-शाइरी के सुर्मे का प्रभाव पड़ा है, यह कहना युक्ति-युक्त है। 'सहरुल्बयान' की ग्रधोलिखित पंक्तियों से भी इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है।

बद्रेमुनीर ने आँखों में सुर्मा नहीं काजल लगाया, लेकिन उसने काजल की रेखा सुर्मे की लकीर के समान बनाई—

वो आँखों का आलम वो काजल ग़ज़ब।
कहे तू पड़ी नरगिसिस्ताँ में शब।
सितम तिस प सुर्मे की तहरीर-सी।
खिची हाथ काफ़िर के शम्शीर-सी।

पान और मिस्सी

पान की लाली को प्रायः आकर्षक एवं सौंदर्य-विवर्धक ही बताया गया है, परन्तु कहीं-कहीं कवियों ने उसकी काट का वर्णन भी कर दिया है—

पान की लालिमा रंग जू पाल सुबानि लखी समता लहरी है।
माहिर मैन मजेज मनौ मुसकान कृपान पै सान धरी है।
—रंगपाल

आलोच्यकाल में मिस्सी को भी दंत-सौन्दर्य-प्रसाधक पदार्थ माना जाता था। मुसलमानों के आने से पहले रचित संस्कृत-काव्यों मे मिस्सी-प्रयोग की चर्चा नहीं है। शासकों का अनुसरण सर्वप्रथम सामंत-वर्ग करता है। रीतिकालीन समाज में मिस्सी का व्यवहार उच्चवर्ग तक ही सीमित था। उर्दू-काव्य में मिस्सी की बहुत चर्चा हुई है। उर्दू तथा हिन्दी के मिस्सी-वर्णनों मे एक अन्तर यह है कि उर्दू में 'मिस्सी की धड़ी', जमाने का उल्लेख होता है, जब कि हिन्दी-कविता उसका सामान्य कथन करती है। इससे मालूम पड़ता है कि बहुत से लोग खूब गहरी मिस्सी लगाते थे और कुछ लोगों को हलकी पसंद थी। 'ग्वाल' कवि ने हलकी मिस्सी लगाकर प्रेम फाँस में फँसा लेने वाली नायिका का वर्णन किया है—

बैठ्यो मैं दलान मैं कलान भरी आवत है
पायन छलान की छमक कान मैं गई।
त्यों ही मनमोहनी मजे की मंजु मीसी दियै
मंद मंद आई नेह फंद मैं फँसै गई।

पान खाने तथा दाँतों में मिस्सी लगाने का चलन स्त्री-पुरुष दोनों में था। शाइरों ने दोनों के सौन्दर्य का बड़े मनोयोग से चित्रण किया है—

लखौटा वो पानों का मिस्सी के साथ।
कि जूं दामने-शब शफ़क़ के हो हाथ। —मीर हसन

'वली' ने भी पान खाए और मिस्सी लगाए हुए कृष्ण को ऐसे रंगीन बादल से उपमित किया है, जिसने रात एवं ऊषा को एकत्र कर दिखाया है—

मोहन इधर रंगीं बदल खा पान मिस्सी लाए हैं।
लब पर शफ़क़ और शाम को एक ठार कर दिखलाए हैं।

मेंहदी

समीक्ष्यकाल की हिन्दी-उर्दू-कविना में मेंहदी के वर्णनों को समान महत्व मिला है, परन्तु उसके स्थान तथा कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से हिन्दी-कविता उर्दू-शाइरी से अलग है। उर्दू-शाइरी मे मेंहदी रचने के अनेक चित्रण हैं। मेहदी-रची पूरी हथेली तथा उँगलियों को 'सौदा' ने किरणों-सहित सूर्य से उपमित किया है—

डूबा है शफ़क़ बीच सनम पंजा-ए-ख़ुर्शेद
या मेंहदी का हाथों में तेरे रंग रच रहा।

हाथ-पैरों में पत्रवल्लरी बनाने के उल्लेख भी उर्दू-कविता में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं—

देख के दस्तो-पाए निगारीं चुपके से रह जावें न क्यों
मुँह बोले है यारो गोया मेंहदी उसकी रचाई हुई। —मीर

इस प्रकार उर्दू-काव्य मेंहदी-गुणानुवाद से मुखरित तथा उसके रंग से रंजित है। मेंहदी वहाँ क्या-क्या नहीं कहती ? उर्दू-शाइरों ने मेंहदी को लेकर अनेक प्रकार की अभिव्यंजनाएँ की हैं।

हिन्दी-काव्य हाथों में रचाई गई मेंहदी का चित्रण ही करता है, पैरों में मेंहदी-रंजन के उल्लेख हिन्दी-कविता में (एक दो अपवादों को छोड़कर) नहीं है।

हिन्दी-कविता में हाथ पर बने मेंहदी-बिन्दुओं का चित्रण बारम्बार हुआ है। कवियों ने इन बिन्दुओं के लिए इन्द्रवधूटी उपमान ही प्रायः चुना है, लेकिन विशेषता यह है कि उन बिन्दुओं को विभिन्न परिवेशान्तर्गत रखकर सौन्दर्य-दर्शन कराया गया है। सामान्यरूप से हाथ पर मेंहदी के लाल-लाल बिन्दु ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे कमल पर इन्द्रवधुएँ हों। लेकिन कुछ-कुछ [illegible] में स्थित बूँदों का सौन्दर्य देखिए—

त्यों कवि हसीली के हाथन बूँदें लगीं मेंहदी की सुछंद मैं।
इन्दु ते बैर विचार मनौ अरबिंदन इन्द्रबधू करी बंद मैं। —ग्वाल

इस शोभा से अलग शोभा 'आँगुरी सुढार मणि मूँदरी वलित' वाली हथेलियों में लगी मेंहदी को बूँदों की है—

कोमल अमल शुभ रेखन कलित कर
मेंहदी के बिन्दु हेरि कीने मन वारने।

अरविन्द मंदिर मनहुँ अनुरागवारी
इन्द्रवधू इन्दिरा को आई हैं निहारने। —रंगपाल

हथेली की रेखाओं के बीच रक्खी हुई लाल-लाल बूँदों का चित्रण है। रेखाएँ क्या हैं, कमल-मंदिर के मार्ग हैं, जिनमे चलकर अनुराग-भरी इन्द्रवधूटियाँ इंदिरा के दर्शन करने आई हैं।

'पदमाकर' ने [illegible] हाथ पर रति-श्रान्ता नायिका द्वारा रक्खे मुख के सौन्दर्य का चित्र प्रस्तुत किया है। नायिका हथेली पर मुँह रक्खे सो रही है, मानो चन्द्रमा कमल पर इन्द्रवधूटियों का आस्तरण बिछाए विराजमान है—

बिन्दु रचे मेंहदी के लसै कर ता पर यों रह्यो आनन आइ कै।
इन्दु मनो अरविन्द पै राजत इन्द्रबधून के बूँद बिछाइ कै।

दूध बिलोकर माखन निकालते हुए नायिका के मेंहदी-बिन्दु-रंजित हाथ के सौंन्दर्य का वर्णन मुबारक अली 'मुबारक' ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है—

काढत माखन ताखिन मे मिहँदी कर बूंद रही छबि छाय कै।
क्षीर समुद्र में डोलै 'मुबारक' इन्द्रबधू ज्यों सुधा सों अन्हाय कै।

काजल लगाते हुए नायिका के मेंहदी-रंजित-नख पर थोड़ा काजल लग गया है। इस पर 'गंग' कवि उत्प्रेक्षा करते हैं, मानो उँगली खंजन को गुंजा चुगा रही हो—

लैकर कज्जल अंगुलि लावति नैन लगावति अंजन को।
राजति यों मेंहदी नख पै मनो गुंज चुगावति खंजन को।

हिन्दी-रीतिकविता में कुछ चित्रण मेंहदी लगाने की शैली का संकेत भी देते है। 'बिहारी' के एक दोहे में कनिष्ठिका के नख में लगी हुई मेहदी का वर्णन है—

गड़े, बड़े छबि-छाक छकि, छिगुनी छोर छुटै न।
रहे सुरँग रँग रँगि उहीँ नह-दी महदी नैन।

नायक की आँखें नायिका के मेंहदी-रंजित-कनिष्ठिका-नख पर लगी हुई हैं। इससे मालूम होता है कि उन दिनों छिगुनी के नख को मेंहदी से रँगने का फ़ैशन था। 'शृंगार सतसई' की एक पंक्ति से प्रकट है कि मेंहदी इस ढंग से भी रचाई जाती थी कि उँगलियाँ तथा आधे नाखून ही रंगीन हों—

आधे नख कर आगुँरी मेंहदी ललित विराजि।
मनु गुलाब की पाँखुरी वीरबधू रहिं छाजि।

हिन्दी-कवियों ने हाथ तथा नखों के सौन्दर्य का चित्रण करने में खूब रुचि दिखाई है। नायिका के मेंहदी-रँगे सुरंग नाखूनों से उठती हुई रंग-तरंग की ओर उनकी दृष्टि गई है—

तीर पर तरनि तनूजा के तमाल तरे
तीज की तयारी तकि आई सखियान मैं।
कहै 'पदमाकर' सु उँमगि उमंग उठे
मेंहदी सुरंग की तरंग नखियान मैं।

हिन्दी-रीतिकाव्य में मेंहदी-रंजन का चित्रण केवल हाथों में ही वर्णित है, उर्दू-शाइरों ने पाँवों में उसके रंग का चित्रण अनेक प्रकार से किया है—

ये असर तेरी हिना का है कि काने-लाल हो
एकदम आ जाय गर हीरे की मादन ज़ेरे-पा। —नासिख

माशूक़ के पैर का रंग इतना रक्तिम है कि यदि हीरे की खान उसके पैर के नीचे आ जाय तो वह खान लाल की खान बन जाय। इतना ही नहीं, उस रंग से ऐसी लौ उठ रही है कि शाइर उससे अपने काव्य के लिए प्रेरणा लेना चाहता है। वह कहता है कि यदि तू अपना नंगा पैर मेरी लेखनी पर रख दे तो चरण-चिह्न के स्थान पर पाँच मशालें जल उठें—

ख़ामा पर रक्खे हिनाई-पा बरहना तू अगर
पंजशाख़ा नक़्शे-पा की जा हो रौशन ज़ेरे-पा। —नासिख

हिन्दी-रीतिकविता में मेंहदी कर-सौन्दर्योपकारक द्रव्य-रूप ही चित्रित हुई है, प्रेम-क्षेत्र में उसके क्रिया-कलाप का दिग्दर्शन कवियों ने नहीं कराया। 'बिहारी' के पूर्वाद्धृत दोहे में नह-दी-मेंहदी अनुराग-जागरण में यत्किंचित् सहायक है, लेकिन ऐसे उदाहरण और नहीं मिलते। रीतिकविता मे मेंहदी के व्याज से प्रेम-निमंत्रण का एकमात्र उदाहरण "मेरे कर मेंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे, लट उरझी हैं नेक बेसर सुधार दे"[33] में मिलता है। परन्तु उर्दू-कविता में मेंहदी सौन्दर्य-स्फुटता से अधिक प्रेमाभिलाष व्यंजित करती है।

उर्दू-शाइरी में मेंहदी का संबंध वियोग से है, संयोग से नहीं। माशूक़ के पैरों में लगी मेंहदी उसे चलने-फिरने से लाचार कर देती है और आशिक़ उसके संयोग से वंचित हो जाता है—

याद आया याँ के आने का वादा भी ख़ूब उन्हे
जब रात को वो पाँव मे मेहदी लगा चुके। —ज़ौक़

उर्दू-काव्य में मेंहदी आशिक़ की अतृप्त अभिलाषाभिव्यक्ति का ज़बरदस्त

माध्यम है। शाइरों का अनुमान है कि आशिक़ के बलि-स्थल के आस-पास जो मेंहदी उगती है उसका कारण यह है कि आशिक़ के मन में माशूक़ के पैर चूमने की अभिलाषा थी वह पूरी नहीं हुई। वह इच्छा उसे किस क़दर सालती रही कि मरने के बाद वह मेहदी बनकर पैदा हुआ ताकि माशूक़ के पैरों में लग सके—

मश्हदे-आशिक़ से जो कोसों तक उगती है हिना
किस क़दर यारब हलाके-हसरते-पा-बोस था। —ग़ालिब

'घनानंद' ने भी मेंहदी का एवंविध चित्रण किया है। उनके एक सवैए में मेंहदी को मिलन-बाधक दिखाया गया है। प्रेमी लाख कहे, लेकिन प्रिय उसकी प्रार्थना पर ध्यान न देकर यह उत्तर भेज देता है कि पाँवों में मेंहदी लगी हुई है, अतः हम आने-जाने के क़ाबिल नहीं हैं। अब बताइए बेचारा प्रेमी कहाँ तक धैर्य धारण करे—

'घन आनंद' जान न कान करैं इत के हित की कित कोऊ कहै।
उत ऊतर पाँय लगी मिंहदी सु कहाँ लगि धीरजु हाथ रहै।

यदि 'ऊतर-पाँय' का अर्थ लक्षणा से न लगाए, तो इन पंक्तियों का भाव प्रकारान्तर से वही है, जो 'ज़ौक़' के उपर्युक्त शेर में व्यंजित है। 'घनानन्द' ने एक अन्य कबित्त में मेंहदी और प्यारी मनोवृत्ति या प्रियाभिमुखी मनोवृत्ति की एकता दिखाकर लिखा है कि वह शाखा (कुल) से टूटती है, घिसी जाती है, घुलती है, शलाका से छिदती है, इतनी बड़ी परीक्षा देकर इतना कष्ट उठाती है। क्यों? इसलिए कि वह प्रिय के पैरों से नेक लगाना चाहती है—

साखा-कुल टूटै ह्वै रँगीली अभिलाषा भरि
परि द्वै पखान बीच घसनि घनी सहै।
सोच सूखी इते मान आनि कै सलिल बूड़ै
घुरि जाय चायनि ही हाय गति को कहै।
तऊ दुखदाई देखौ छिदति सलाकनि सौं
प्रेम की परख दैया कठिन महा अहै।
प्रिय-मनसा लौं बारी मिंहदी 'अनंदघन'
ए री जान प्यारी नेकु पायनि लग्यो चहै।

'ग़ालिब' के शेर से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि 'घनानंद' के कबित्त में प्रेमाभिव्यंजना की वह टीस नहीं है, जो कथित शेर में है। 'घनानंद' की उक्ति में चमत्कार है या अधिक से अधिक उसमें हेत्वाभासाश्रित कल्पना की प्रशंसनीय उड़ान दिखाई देती है, परन्तु 'ग़ालिब' ने मेंहदी को आशिक़ के बधस्थल के साथ जोड़कर अत्यंत गूढ़ वेदना उत्पन्न कर दी है।

महावर

हिन्दी-रीतिकवियों ने हाथों को मेंहदी से ही रचा हुआ चित्रित किया हैं, अन्य किसी रंग की चर्चा नहीं मिलती। लेकिन पैरों में मेंहदी के स्थान पर जावक (महावर) लगाने के उल्लेख हुए हैं। उर्दू-शाइरी हाथों में मेंहदी के अलावा 'फ़ंदुक़' का वर्णन भी करती है, यथा "यूँ लगा मश्शाता तू ऐ फ़ंदुक़ उसके हाथ में।[३४] लेकिन पैर में फ़ंदुक़ लगाने का वर्णन नहीं है। इस प्रकार हिन्दी-उर्दू काव्य अपनी-अपनी मर्यादाओं में रहकर हाथ-पैर से सम्बद्ध-प्रसाधनों का वर्णन करते हैं। इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि मुसलमान स्त्रियाँ पैरों में मेंहदी लगाती थीं, लेकिन आलोच्यकालीन हिन्दू-रमणियों के पैर महावर से रंजित रहते थे। महावर को लेकर कवियों ने तीन प्रकार के भाव प्रकट किए हैं—(१) सौन्दर्याभिव्यक्ति सम्बन्धी, (२) प्रेमाभिव्यक्ति सम्बन्धी, (३) संभोग-सूचना संबंधी। हिन्दी-रीतिकविता में नायक द्वारा नायिका के पैरों में जावक लगाने के प्रचुर वर्णन हैं और खंडिता के उदाहरणों में नायक के भाल पर जावक का चिह्न दिखाया गया है।

ये नमूने प्रेमाभिव्यक्ति एवं संभोग-सूचना से सम्बद्ध है। यहाँ प्रकरण सौन्दर्य प्रसाधनों का है, अतः जावक के सौन्दर्याभिव्यक्ति सम्बन्धी भाव का उल्लेख करना ही सुसंगत है।

जावक-रंजित चरणों का सौन्दर्य अद्भुत होता है। 'देव' तो महावर-रंजित पैरों के इतने प्रशंसक हैं कि उन्होंने राधा के जावक-रंजित चरणों की वंदना कृष्ण से करवा दी है। पैर के सौन्दर्य का कारण कवि ने महावर-रंजित होना बताया है—

बंदत नंदकुमार तिहारेई राधे वधू व्रज की ठकुरायनि।
नूपुर-संजुत मंजु मनोहर जावक रंजित कंज से पायनि।

जावक के रंग की चटक एवं प्रगाढ़ता की व्यंजना 'देव' ने दूसरे छंद में की है—

ललित लिलार श्रम झलक अपार भार
मग में धरत पग जावक घुरो परै।
'देव' मणि नूपुर-पदुम पद दू पर ह्वै
भूपर अनूप रूप रंग निचुरो परै।

जावक जैसे घुला पड़ता है, अर्थात् द्रवित होकर बहना चाहता है। यहाँ जावक की सौन्दर्य-प्रसावकता का उल्लेख है, साथ ही इस बात का संकेत भी है कि गहरा महावर लगाना स्त्रियों को बहुत प्रिय था। 'बिहारी' के एक दोहे से महावर लगाने की विधि का सूत्र भी मिलता है—

पाइ महावर दैंन कौं नाइनि बैठी आइ।
फिरि फिरि जानि महावरी एड़ी मीड़ति जाइ।

इससे ज्ञात होता हैं कि नाइनें महावरी को मीड़-मीड़कर महावर लगाती थीं। महावरी का अर्थ 'रत्नाकर' ने रुई की गोली किया है "महावर के गाढ़े रंग में रुई को भली भाँति भिगो कर नाइनें गोली-सी बना लेती हैं और पाँव में महावर लगाते समय वे इसे मल-मलकर रंग निचोड़ती और लगाती जाती हैं । इसी रुई की गोली को महावरी (महावरवटी) कहते है ।" 'रत्नाकर' ने आधुनिक काल मे महावर लगाने की रुई को महावरी कह दिया है, लेकिन रुई के साथ 'मीड़ना' क्रिया असंगत है । वहाँ तो निचोड़ना क्रिया उपयुक्त हो सकती है । लाला भगवान दीन ने महावरी का अर्थ 'महावर की गोली' दिया है, जो अधिक उपादेय है, क्योंकि कवि का उद्देश्य ऍड़ी के रंग को स्वयं महावर से उत्कृष्ट सिद्ध करना है न कि रुई से । 'महावरी' शब्द पर ध्यान दें तो इसकी व्युत्पत्ति 'महाबटी' से सिद्ध होती है, लेकिन महाबटी शब्द कहाँ से आया और इसका क्या अर्थ है ? लोक भाषाओं में एक शब्द है 'बाटी' जो हाथ की बनी, लोई-जैसी उस मोटी रोटी का वाचक है जिसे कंडों की आग में दबाकर सेंकते हैं । महावरी यहाँ 'महावरबाटी' का लघु 'महाबटी' है । और यदि महावर से सम्वन्धवाची स्त्रीलिंग शब्द 'महावरी' मानें तो भी महावरी अर्थात् महावर की (गोल मोटी पिंडी) अर्थ ठीक है । ऍंडी मे इस पिंडी का भ्रम होना उसकी गोलाकृति के कारण है । इस महावरी को नाइन भीगे अँगूठे तथा तर्जनी से थोड़ा मीसती होगी और तब उँगली से पैर पर लेप करती होगी ।

मुख-लेप

रीतिकालीन उर्दू-काव्य में मुख पर लगाए जाने वाले द्रव्यों का भी यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है । कपोलों पर 'ग़ाज़ा' लगाने का वर्णन प्रायः मिलता है—

पूछ मत रुस्वाई-ए अन्दाज़े-इस्तग़नाए-हुस्न
दस्त मरहूने-हिना रुख़्सार रेहने-ग़ाज़ा था । —ग़ालिब

ग़ाज़ा मुँह पर लगाने का एक लेप था । उर्दू-शाइरों ने मुँह पर सुनहरी अफ़्शाँ-क्षेपण का वर्णन भी किया है—

गोरे मुँह पर तेरे याद आई सुनहरी अफ्शाँ
लौहे-सीमीं प अगर काम तिला का देखा । —आतश

हिन्दी-रीतिकविता में कपोल माँजने का वर्णन है और उन मृष्ट कपोलों की चमक को दर्पण-सा बताया गया है, परन्तु कपोल चमकाने के लिए किस द्रव्य का प्रयोग किया जाता था, इस विषय में कवियों ने कोई निर्देश नहीं किया । 'मतिराम' ने बस इतना मात्र कह दिया है कि "माँजे मंजु मुकुर-से मंजुल कपोल

गोल"। परन्तु 'रघुनाथ' कवि के एक सवैए में मुख पर केसर मलने का चित्रण हुआ है—"अंजन दै द्रग खंजन से करि केसर आनन सों मसती है"।

सुगंधित द्रव्य

रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य सामन्तीय जीवन का दर्पण है, अतएव उसमें शान-शौक़त और विलासपूर्ण वातावरण का चित्रण उन्मुक्त भाव से हुआ है। नायक-नायिकाओं के शरीर तथा वस्त्र सुगंधित द्रव्यों से आप्लावित रहते थे। जहाँ ये लोग बैठते थे या जिधर से निकलते थे वहाँ सुगंध की तरंगें उठने लगती थीं। वे लोग आपाद-मस्तक इत्र-फुलेल मे डूबे रहते थे, उदाहरणार्थ 'सहरुल्बयान' की निम्नांकित पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

ज़ेबस इत्र में थी वो डूबी हुई।
दो बाला हर एक गुल की ख़ूबी हुई।
मुअत्तर हुआ और गुल का दमाग़।
कि महका तमाम उसकी ख़ुशबू से बाग़।

'आईन्-ए-अकबरी' में अम्बरे-अशहाब, ज़बाद, मुश्क, अगर, चोवा गौरा, कपूर, मीद, ज़ाफ़रान, सिलारस आदि अनेक द्रव्यों तथा उनके भेदोपभेदों का उल्लेख है।[35] उर्दू-शाइरी मे अम्बर, मुश्क एवं ज़ाफ़रान और हिन्दी-रीति-कविता में अगर, चोवा, केसर (ज़ाफ़रान), कस्तूरी (मुश्क) तथा कपूर आदि द्रव्यों के नामों की आवृत्ति प्रायः होती है।

'आईन्-ए-अकबरी' में वर्णन है कि दरबार में हेम-रजत पात्रों में सुगंधित द्रव्य बराबर जलते रहते थे। सुगंधित पुष्पों का प्रभूत परिमाण में प्रयोग होता था तथा फूलों से खींचा गया इत्र त्वचा एवं बालों को सुगंधित करने के काम में आता था।[36]

केश-साधना

उर्दू-शाइरी में बालों के लिए अम्बर तथा मुश्क के प्रयोग का ज़िक्र किया गया है—

जब कि मैं करता हूँ अपना शिकवा-ए-ज़ौफ़े-दमाग़
सर करे है वो हदीसे-ज़ुल्फ़े-अंबरबार दोस्त। —ग़ालिब

लाए गर बादे-सबा उस ज़ुल्फ़े-मुश्कीं की शमीम
शम्अ के गुल से गुले-शब्बू की बू निकला करे। —ज़ौक़

हिन्दी-रीतिकाव्य में कहीं-कहीं तो अनेक सुगंधों को डालकर केश गूँथने का

वर्णन है, कहीं फूलों के साथ उन्हें सँवारने का चित्रण हुआ है अथवा दोनों ही तरीक़े एक साथ उल्लिखित मिलते हैं—

सौरभ सकल डारि सुमन सों गूँदे बार
भूषण मनिनवार माँग मुकुतामई। —रघुनाथ

दूसरी विधि कुछ दुरूह है, जिसमे बालों को एक विशेष प्रक्रिया द्वारा सुगंधित किया जाता था। इस क्रिया को केश धूपित करना कहते थे। 'मतिराम' ने एक नायिका को केश धूपित करते हुए चित्रित किया है—

बारनि धूपि अँगारनि धूप कै
धूम-अँध्यारी पसारी महा है।

इस नायिका ने पहले अगरु आदि द्रव्य आग में डाले। उससे जो धुँआ निकला उस धुएँ से सुखाकर अपने बालों को सुगंधित किया। बालों को सुगंधित करने का यह सुप्रचलित उपाय था।

अरगजा

हिन्दी-रीतिकविता में सुवासित करने के लिए अरगजा का प्रयोग बताया गया है। वस्त्र चाहे मैले ही हों, अरगजे से भीगे रहते थे—

अरगजे भीजी मरगजे बागे बनी ठनी
हाट पर बैठी अति ही सुघर पन सों।
इन्दु से बदन मृगमद-बुंद बेंदी भाल
झलक कपोल गोल दूने दरपन सों। —देव

अरगजा विमर्शाधीन काव्य का अत्यंत महार्ह द्रव्य था। 'आईन्-ए-अकबरी' में उल्लेख है कि वह चंदन, इकज़िल, मीद, चोवा, गेहला, कपूर तथा गुलाबजल मिलाकर तैयार किया जाता था।[37] इस अरगजे का उर्दू-शाइरी में नाममात्र का जिक्र 'फ़ायज़' ने किया है—"वे अबीर और अरगजा भरकर रुमाल।"

सोंधा, चोवा, चंदन, कपूर आदि

आलोच्यकालीन हिन्दी-कविता में इत्र, गुलाब, चोवा, चंदन, कपूर आदि सुगंध द्रव्यों से शरीर सुवासित करने के अनेक वर्णन हैं—

अतर गुलाब चोवा चंदन सुगंध सर्व
सहज सरीर की सुवास बिसराती हैं। —भूषण

'चोवा' एक तरल पदार्थ था जिसे वस्त्रों में चुपड़ते थे। 'देव' ने अपने सवैये के

एक चरण में इस शब्द का प्रयोग किया है "कंचुकी मैं चुपर्यो करि चोवा।" इस प्रयोग से चोवा का रंग श्यामल व्यंजित होता है।

'सोंधा' भी एक सुगंधित द्रव्य था। हिन्दी-कवियों ने स्नान के पश्चात् उससे शरीर सुगंधित करने की चर्चा की है—

आई हुती अन्हवावन नायनि
सोधो लिए कर सूधे सुभायनि। —देव

'बिहारी' के एक दोहे मे सोंधे का जो उल्लेख है उससे आभास होता है कि इस द्रव्य की सुगंध बहुत तीव्र होती थी—

जुवति जौन्ह मैं मिलि गई नेकु न परति लखाय
सोंधे के डोरन लगी अली चली सँग जाय।

नायिका गौरवर्णा होने से चाँदनी में ऐसी मिल गई कि दिखाई ही नहीं पड़ती। सखी भ्रमरी की तरह सोंधे के [illegible] के सहारे उसके संग लगी चली जा रही है। इस वर्णन से सोंधे की उमड़ती सुगंध-लहरें व्यंग्य हैं।

उद्धृत दोहे में नायिका का चन्द्रिका मे न दिखाई पड़ना इस बात का प्रमाण है कि उसका शरीर तथा शरीरावेष्टन आदि सभी श्वेत है। वस्त्र श्वेत और उसमें लगा सोंधा भी श्वेत। सोंधे की श्वेतता 'घनानंद' के एक कबित्त में स्पष्टतया सामने उभर आती है—

नीकी नई केसरि को गारो हू गरब गारै
फीको रोरि गारि सी निहारैं रूप गोरी को।
चारु चुहचुही मँजी एड़िन ललाई लखे
चपरि चलत च्वै बरन बूकी बोरी को।
हँसि बोलें कोरिक कपूर सोंधे वारि ढारि,
डारि डारि दीजै हो कलंक इन्है चोरी को।
प्यारे 'घनआनंद' के राग-भास फाग देखौ
रस-भीजे अंगनि अनूठी खेल होरी को।

इस छन्द में केसरि, रोली, बुकनी आदि पदार्थ राधा के अंगों की [illegible] में हैं। हँसी की संगति में कपूर और सोंधे का उल्लेख है। इससे निःशंसय ज्ञात हो जाता हैं कि सोंधा श्वेत रंग का एक तरल द्रव्य था।

अंगराग

अंगराग को प्रायः अनुलेपन का पर्यायवाची समझा जाता है अर्थात् शरीर को सुगंधित करने के लिए जिस द्रव्य का लेप किया जाय वह अंगराग है। परन्तु

'अंगराग' शब्द सामान्यवाची न होकर एक द्रव्यविशेष है, जो चोवा, कपूर, केसर इत्यादि से अलग है। अंगराग कई सुगंधित वस्तुओं के मिश्रण से बनता था। 'बिहारी' के एक दोहे में अंगराग का उल्लेख द्रष्टव्य है—

करतु मलिन आछी छबिहिँ, हरतु जु सहजु विकासु।
अंगराग अंगनु लगै ज्यौं आरसी उसासु।

'ज्यौं आरसी उसासु' उपमा से यह ध्वनि निकलती है कि अंगराग का रंग कुछ-कुछ धुमैला होता था। 'रत्नाकर' ने उसे "मृगमद, चंदन, केसर इत्यादि से बनाया हुआ लेप विशेष" बताया है। यह मिश्रण सही मालूम पड़ता है, क्योंकि इन सभी को मिलाकर बना हुआ द्रव्य धूमिल रंग का ही होगा।

उबटन

शरीर का मैल छुटाने के लिए पहले किसी गीले द्रव्य का लेप करते हैं, फिर रगड़-रगड़कर उसकी बत्तियाँ बना-बनाकर गिराते जाते हैं, जिससे मैल उस द्रव्य में लगकर शरीर से पृथक् हो जाता है। उस द्रव्य को 'उबटन' और इस क्रिया को उबटना कहते हैं। 'आईन्-ए-अकबरी' में 'ओपटन' को सुगंधित साबुन कहा गया है।[३८] साबुन का अर्थ साफ़ करने वाला है और उबटन का कार्य भी यही है। उबटन किसी भी सुगंधित द्रव्य का हो सकता था। 'देव' की नायिका का उबटन सोंधे से होता है, किन्तु 'रघुनाथ' कवि की नायिका का शरीर केसर से उबटा गया है। उबटने से शरीर ऐसा साफ़ हो गया, जैसे चम्पाकली का रंग—

केसरि सों पहले उबट्यो अँग रंग लस्यो जिमि चंपकली है।
फेरि गुलाब के नीर न्हवायो पिन्हायो जो सारी सुगंध रली है।
नाइनि या चतुराइनि सों 'रघुनाथ' कियो वश गोप लली है।
पारत पाटी कह्यो फिरि यों व्रजराज सों आजु मिलौ तो भली है।

तात्पर्य यह है कि उबटन दो कार्य करता था—(१) शरीर का मैल साफ़ करना। (२) शरीर को अपना रंग प्रदान करना। यदि रंग गोरा है तो सोंधे का उबटन ठीक था और यदि शरीर सुनहरा है तो केसर से उबटन करने से उसकी शोभा बढ़ जाती थी। सुगंधित द्रव्य-सेवन इतनी प्रचुर मात्रा में किया जाता था कि स्त्रियाँ जहाँ जाती थीं वहाँ सुगंध के झकोरों से वातावरण भर जाता था—

पहले तो भयो पह को सो उदो कह 'सुन्दर' मंदिर के चहुँ ओरनि।
रसु ही रसु तासु बढ्यौ परगासु रह्यौ भरि गेह सुगंध झकोरनि।

खेल

मनोरंजन के साधन गृह्य-बाह्य दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं। गृह्य मनोरंजनों में शतरंज सबसे अधिक प्रचलित खेल था। शतरंज स्त्रियाँ भी खेलती थीं। 'तोष' कवि की एक पंक्ति से प्रतीत होता है कि नायिका शतरंज खेल रही थी, नायक ने जाकर उसके हाथ में फ़रज़ी दिया—

पहले हम जाय दियो कर मैं तिय खेलति ही घर में फरजी

शतरंज को लेकर कवि तथा शाइरों ने उपमाएँ और रूपक बाँधे हैं, जिनसे खेल-विधि पर भी यदा-कदा प्रकाश पड़ जाता है, उदाहरणार्थ—

धरे हते मुहरा घनै मेले हियो बिसात।
मो मन साहिय कौ करौ तैं दृग दै सह मात। —रसनिधि

अजब ये शतरंज का सा नक़्शा बिछा है दिन रात और इस जा
जो मात चाहे करे किसी को न आवे बुर्द उसको मात उस जा। —नज़ीर

करते हैं सालिक तरक़्क़ी से तनज़्ज़ुल अख्तियार
जब कि मंज़िल पर सवार आया पियादा हो गया। —नासिख़

उपर्युक्त उद्धरण में शह-मात का उल्लेख है। यदि बादशाह के साथ एक मोहरा शेष रह जाय तो बाज़ी बुर्द कहलाती थी। 'नासिख़' के शेर में संकेत है कि अपने स्थान से आगे बढ़ता हुआ मोहरा जब मंज़िल (अंतिम स्थान) पर पहुँचता है तो पियादा बन जाता है।

अन्य खेलों में चौपड़ का प्रमुख स्थान था। यह खेल गोटें डालकर खेला जाता था। गोट कभी फुटकल कभी जुग (युग) रहती थीं। जो गोट अपने निर्दिष्ट खाने तक नहीं पहुँच पाती थी उसे 'कच्ची' कहा जाता था। 'नज़ीर' अकबराबादी और 'मीर' के निम्नांकित मिसरे इस तथ्य पर प्रकाश डालते हैं—

कोई है फुटकल किसी का जुग है फिरें हैं नर्दें भी खाने-खाने —नज़ीर
कच्ची पड़ी हैं नर्दें घर दूर है हमारा —मीर

यह खेल भी स्त्री-पुरुष दोनों में लोकप्रिय था। हिन्दी-रीतिकविता में नायिका को सपत्नियों के साथ चौपड़ खेलते दिखाया गया है—

आपुस में मिलि बैठीं सौतें 'रघुनाथ' जहाँ
तहाँ आनि रची बाजी चौपरि भवीली की।
आयो तहाँ भावतो कह्यो यों सीर सोरह में
ाीठ पीछे चीन्हें चीन्हें पति जरबीली की।

आपु चीन्हि उन्हैं चीन्हिबे को कह्यो फिर बैठो
चीन्हि लेहि चीन्हौ फेरि बानक फबीली की।
बतियाँ बनाइ ऐसे सकल छलति ये हे
नीकी भाँति या सों छुईं छतिया छबीली की।

द्यूत

जुआ खेलने का व्यसन बादशाहों, सामंतों तथा समाज के उच्च वर्ग में बुरी तरह व्याप्त था। काबतैन का उल्लेख उर्दू-शाइरों ने किया है—

खेलना आसाँ नहीं है काबतैने-इश्क़ का
नक़्श से इसके हैं मिस्ले मोहरा शश्दर सैकड़ों। —आतश

हिन्दी-कविता में सट्टा खेलने का वर्णन भी हुआ है। 'बिहारी सतसई' में एक दोहा इस ओर इशारा करता है—

लोभ लगे हरि रूप के करी साँटि जुरि जाइ।
हौं इन बेंची बीच ही लोइन बड़ी बलाइ।

गंजफ़ा के ज़िक्र उर्दू-शाइरी में है, परन्तु हिन्दी-रीतिकविता में न काबतैन का उल्लेख है और न गंजफ़ा का। ऐतिहासिक अभिलेखों से पता चलता है कि स्त्रियाँ भी गंजफ़ा खेलती थीं।

पतंगबाज़ी

बाह्य मनोरंजनों में अनेक प्रकार की बाज़ियों के वर्णन विमर्श्यकालीन कविता में मिलते हैं। इन बाज़ियों में पतंगबाज़ी एक खास स्थान रखती थी। लखनऊ तो पतंगबाज़ी के लिए प्रसिद्ध था ही, उत्तरभारत के दूसरे शहर जहाँ नवाबी वातावरण था, इस बाज़ी के केन्द्र थे। पचासों तरह की पतंगें उड़ाई जाती थी। 'नज़ीर' अकबराबादी ने पतंग के भेदों में दोबाज़, ललसरा, घायल, लँगोटिया, पहाड़िया, तकला, दोपन्ना, गिलहरिया, दुधारिया, माँगदार, बमना, दोकोनिया, चुपका, गुलड़ी, टुकड़ी, चौखड़ा, कनकौआ आदि गिनाए हैं। उड़ाते समय कमर का मुड़ना, लम्बी बाहों से लपझप करते हुए पतंग खींचना, बढ़ाना आदि भी शाइर बड़े सौष्ठव से चित्रित करता है—

पतली कमर को मोड़े हैं जिस वक़्त कजकुलाह।
बाहें दराज़ करते हैं लपझप से खामख्वाह।

अनेक उर्दू-शाइरों ने पतंग उड़ाने का वर्णन किया है, किन्तु हिन्दी-रीतिकाव्य में पतंग के विस्तृत उल्लेख नहीं हैं। हिन्दी-कवियों ने पतंग को अधिकतर अप्रस्तुत-रूप में रक्खा है, यथा—

गरबीली गूजरी गोविन्द कौ गनै न तू (? कछू)
बाँधे गुण गगन चढ़ाए फिरै चंग-सी। —देव

मोहन के गुन सौं बँधायो निज अंग अब
सोच के पवन चढ़्यो उड़त पतंग-सो। —रघुनाथ

अप्रस्तुत-रूप द्वारा भी कवियों ने पतंग के उड़ाने के ढंग का आभास दिया है। निम्नांकित दोहे से ज्ञात होता है कि डोर ढीली करके बढ़ाते जाने से पतंग दूर चली जाती है, डोर खींच लेने से पास आती जाती है—

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन विस्तारन काल।
प्रकटत निर्गुन निकट रहि चंग रंग भूपाल। —बिहारी

पतंग के प्रस्तुत-रूप वर्णन नाममात्र के हैं। 'बिहारी' ने नायक का पतंग उड़ाना वर्णन करके बताया है कि प्रेम-विह्वला नायिका उसकी छाँह छूती फिरती है। बस, इससे अधिक विवरणों का हिन्दी-रीतिकविता में अभाव है। रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में न केवल पतंग उड़ाने का, वरन् माँझा-निर्माण-प्रणाली का वर्णन तक मिलता है।

कबूतर बाज़ी

रीतिकालीन समाज में कबूतर पालने का लोगों को बहुत व्यसन था। 'नज़ीर' ने कबूतरों की तमाम क़िस्में बताई है, जैसे बसरई, क़ाबुली, शीराज़ी, चोया चंदन, सब्ज़मुखी, ताऊसी, कलपोटी, नीलेगली, थप्पर, लक़्क़ा, सीमरी, खीरी, पीट, चुप, तफ़ई, मुखरा, ज़रचा, गुलआँख, ललआँख, ऊदा, ज़र्दा, काबरा, तीरा, मिसी, तूसी पलका, सीमाई, घाघरी, तँबोली, पानलाल, अगरई, सुरमई, अंबरी, खाल, भूरा, मक्सी, ताँबड़ा, बीरा, सबरिया, कासनी, लोटन और सुबुकबाल आदि। ये कबूतर, खूब ऊँचे उड़कर आकाश में गिरह काटते थे, जिसे देखकर लोग प्रसन्न होते थे और सबसे ऊँचे उड़ने वाले कबूतर की जीत मानी जाती थी। कबूतर के गिरह लेने का उल्लेख हिन्दी-कवि बिहारीलाल ने इस प्रकार किया है—

ऊँचैं चितै सराहियतु गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग मुलकित बदनु तनु पुलकित किहिँ हेतु।

मुर्ग़बाज़ी

तीतर, बटेर और मुर्ग़े लड़ाने का शौक़ भी आलोच्यकाल का खास व्यसन था। 'पदमाकर' ने प्रताप सिंह के बटेरों की प्रशंसा "चंचल चुटीले चिक्क चाक चटकीले" कहकर की है। ये बटेर लड़ाई से मुँह नहीं मोड़ते थे। कवि का कथन है कि बटेर क्या हैं छवि के शावक हैं! इनकी चोटें देखकर ऐसा लगता है कि ये वज्र के बाबा हैं—

निपट निखोट करैं चोट पर चोट लौटि
जानत न जुद्ध जुरैं उध्धत अवाई के।
कहै 'पदमाकर' त्यौं बलकैं बिलंद बली
ललकैं लवीन पर लक्का ज्यौ लुनाई के।
चंचल चुटीले चिक्क चाक चटकीले, सक्ति
संगर तजैं न लोय लंगर लराई के।
वज्र के बबा हैं कै छबा हैं छवि ही कै रन
रोस के रवा हैं कै लवा है श्री सवाई के।

तीतर को बोलना सिखाया जाता था। तीतर का मालिक जब आवाज़ देता था तो वह भी उसकी आवाज़ पर आवाज़ देता था और फ़ौरन पिंजड़े से बाहर निकलकर प्रतिपक्षी तीतर पर चोंचों से चभोटा मारता था—

पक्के पींजरन ही तें खोलत खुले परत
बोलत सो बोल बिजै दुदभी मे दै रहै।
कहै 'पदमाकर' चभोटैं करि चोंचन की
चूकत न चोट चटकीले अंग वै रहैं।
तेते तुंग तीतर तयार नृप कूरम के
लै लै फर्र फर्र कै फतूहन फबै रहै।
बासा को गनैं न कछु जंग जुरैं जुर्रन सों
बाजी-बाजी बेर बाजी बाजहू सों लै रहे।

उर्दू-शाइरों की रचनाओं से मालूम पडता है कि उन दिनों 'शौक़े-पाली' ख़ूब था "मुझको ऐ लाल शौक़े-पाली था।"[३९] समीक्ष्यकाल के बड़े आदमियों का यह हाल था कि जिसे देखिए एक मुर्ग़ा बगल में दबाए चला आ रहा है—

आदमी जो बड़े कहाते है।
मुर्ग़ मारे बग़ल में आते है। —मीर

पाली बद दी जाती थी और मुर्ग़ों की लड़ाई शुरू होती थी। इस लड़ाई में विजय-मुकुट कभी टेनी के सर बँधता था और कनैल उसके आगे फीका सिद्ध होता था और कभी मुर्ग़े-ज़र्री-बाल या लाखे की प्रशंसा होती थी। हिन्दी-रीतिकविता मुर्ग़ बाज़ी का उल्लेख नहीं करती।

गेंद

गेंद एक सर्वप्रिय खेल था। हिन्दी-रीतिकाव्य मे नायिका कन्दुक उछालती हुई प्रायः दृष्टिगोचर होती है। गेंद के खेलों मे चौगान अत्यंत उच्च माना जाता

था। यह धनीवर्ग का खेल था। आलोच्यकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में चौगान का वर्णन स्थान-स्थान पर अप्रस्तुत-रूप में ही हुआ है—

बिरही मन चौगान लै इश्क़ महल्ला झेल।
अपने शिर को बढ़ाकर मन भावै तौ खेल। —बोधा

अपना सरे-शोरीदा तो बक़्फ़े-ख़मे-चौगान है
आ बुल्हवस गर ज़ौक़ है ये गो है ये मैदान है। —मीर

गेंद का ही एक खेल पटहबाज़ी भी था। उर्दू-शाइरी में इसके वर्णन हैं, परन्तु हिन्दी-रीतिकविता ने इसका कोई उल्लेख नहीं किया है।

पाती

मिर्ज़ा 'सौदा' के एक शेर में 'पाती' शब्द का साभिप्राय प्रयोग हुआ है जिससे तत्संज्ञक खेल का संकेत मिलता है—

क्योंकि वो शोख़ लिखी मुझको किताबत जिनने
खेल भी ज़िद से मेरे छोड़ दिया पाती का।

पाती का खेल वस्तुतः 'आती-पाती' नामक खेल है, जो पश्चिमी हिन्दी-क्षेत्र के गाँवों में आज भी प्रचलित है। 'आती-पाती' की तरह का ही 'आँख-मिचौनी' का खेल भी है। 'बिहारी' ने दो दोहों मे आँख मिचौनी के वैयक्तिक और एक दोहे में सामूहिक रूप का उल्लेख किया है—

(क) प्रीतम दृग मिहचत प्रिया पानि-परस-सुख पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नैकँ न होति जनाइ।

दृग मिहचत मृग लोचनी भरयो, उलटि भुज बाथ।
जानि गई तिय नाथ के हाथ परस हीं हाथ।

(ख) दोऊ चोर मिहीचनी खेल न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै छुवत हियैं लपटात।

उदाहरण (क) गृह्य मनोरंजन के वर्ग में है। नायिका बैठी है, नायक ने पीछे से आकर उसके नेत्र मूंद लिए। (ख) उदाहरण बाह्य मनोरंजन का है। इसमें अनेक किशोर-किशोरियों के खेलने का वर्णन है। जब कोई दूसरा चोर होता है तो वे दोनों (नायक-नायिका) छिपते हैं और परस्पर आलिंगन करते हैं। जब उन दोनों में से कोई चोर होता है तो वह दूसरे साथियों को ढूंढने जाता है, तब उसे एकान्त में अपने इष्ट (नायक या नायिका) से मिलने का मौक़ा मिलता है। इस प्रकार दोनों बार-बार परस्पर लिपटते हैं।

कुश्ती

रीतिकालीन समाज में कुश्ती लड़ने को शारीरिक बल-वर्धन-साधन से कहीं ज़्यादा मनोरंजन का साधन समझा जाता था। 'सौदा' ने 'मसनवी दर-हज्व तिफ़्ले-ज़ाश्रा-ए-रोज़गार लकड़ी बाज़' में कुश्ती के ढंग तथा उठा-पटक का वर्णन किया है—

रख के गर्दन प हाथ मारी उड़ी।
क्या कहूँ किस तरह की कुश्ती लड़ी।
करके यकदस्ती और पीछे जाय।
गिरह दुखने से उसको पीछे बुलाय।
किसी हफ़्ते चढ़ा दिए घिस्से
और क्या-क्या किया कहूँ किससे।

इस नज़्म में 'ढाक', 'धोबी पाट', 'कला करना', 'बग़ल में रंग देना' आदि दाँव-पेचों के उल्लेख के बाद कुश्ती का अन्त इन शब्दों में होता है—

दे लँगोटे में हाथ चरना फाड़।
क्या कहूँ कैसी की उखाड़-पछाड़।

अन्य खेल

इन बाह्य मनोरंजनों में अनेक खेल-तमाशे ऐसे हैं, जिन्हें पेशेवर दिखाते थे और जनता का मनोरंजन करते थे। ऐसे खेलों मे पशु-नचाना तथा नटों की कलाबाज़ी आदि मनोरंजन सम्मिलित हैं। रीछ नचाने का उल्लेख 'रघुनाथ' ने किया है—

गले मे जंजीर बाँधि रीछ की तरह सेती
लोगनि के आगे ल्याइ उनको नचायो है।

नट का रस्सियों पर चलना, बटा घुमाना 'बिहारी सतसई' मे वर्णित है—

डीठि बरत बाँधी अटनु चढि धावत न डरात।
इतहि उतहि चित दुहुन के नट लौं आवत जात।

झटकि चढ़त उतरति अटा नैक न थकति देह।
भई रहति नट कौ बटा अटकी नागर नेह।

'ग़ालिब' ने शीशाबाज़ का ज़िक्र किया है—

हैं बस कि जोशे-बादा से शीशे उछल रहे
हर गोशा-ए-बिसात है सर शीशाबाज़ का।

आतशबाज़ी

उर्द-शाइरी मे भाँडों के उल्लेख है और रीतिकालीन हास्य काव्य भी यत्र-तत्र उनका ज़िक्र कर देता है। नट के खेलों के अतिरिक्त चकई, लट्टू और फिरकी घुमाने के वर्णन भी आलोच्यकालीन काव्य में उपलब्ध हैं।

मनोरंजनों मे आतशबाज़ी के चित्रण समीक्ष्यकालीन हिन्दी-उर्दू दोनों काव्यों में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं। आतशबाज़ी ख़ुशी के मौक़ों पर छुटाई जाती थी। आतशबाज़ी में हवाई, गुलरेज़ों, भचंपा, अनार, पटाख़ों और सितारों के वर्णन उर्दू-शाइरी में पुनः पुनरपि हुए है। 'नज़ीर' अकबराबादी ने घनचक्कर, चटाख़े तथा छछूँदर का उल्लेख भी किया है। हिन्दी-रीतिकविता में चरखी, हवाई, टोटा, जहाँगीरी आदि अनेक प्रकारों का ज़िक्र हुआ है—

चरखी अलात धनु धूमधार धोरवा है
बीजुरी हवाई उड़ी दारू दुख खरी की।
जुगुनू चलत टोटा चन्द्र ज्योति ताल जरे
निरझरि चादरि दुसह आगि घरी की।
जहाँगीरी इन्द्रवधू देखि 'रघुनाथ' की सों
फैलि रही पावस हवाई गर करी की।
सीकरैं न होहिं आली नीरकी तरंगैं, ये
अनंगै छोड़ी छूटतीं फुलंगैं फुलझरी की।

रामसहायदास ने 'श्रृंगार सतसई' में महताबी का उल्लेख किया है और 'कुल्लियाते शाही' में 'चकरबान' का वर्णन है—

छाय रही सखि बिरह सों वे आबी तन छाम।
पी आए लखि बरि उठी महताबी सी बाम।

चकरबान सिसफूल निस के अलग।
खड़ी आके ख़िदमत कों शह के झलक।

आलोच्यकालीन काव्य में उल्लिखित विभिन्न बाज़ियाँ तथा सौन्दर्य-प्रसाधनों के प्रचुर वर्णन तत्कालीन समाज की विलासपरकता एवं शारीरिक सौष्ठव-समृद्धि के परिचायक हैं। उस काल के नर-नारी खान-पान में विविधता के प्रेमी थे और वेशभूषा में अलंकरण, नफ़ासत एवं चमक के पुजारी थे। संस्कृति के भौतिक पक्ष की दृष्टि से रीतिकाल सुगंध, मार्दव एवं जगमगाहट का काल है।

अध्याय | २

संस्कृति का मानसिक पक्ष

भौतिक पक्ष संस्कृति का बाहरी रूप प्रकाशित करता है तो मानसिक पक्ष उसके आन्तरिक स्वरूप को सामने रखता है। आन्तरिक रूप के गठन का ज्ञान रहन-सहन, आचार-विचारों, रीति-रिवाजों तथा विश्वासों आदि के अध्ययन से होता है। संस्कृति का यह पहलू बहुत महत्वपूर्ण पहलू है, क्योंकि भौतिक पहलू की अपेक्षा यह कहीं अधिक स्थायी एवं कम परिवर्तनशील है और इसका प्रेरक स्रोत हमारे मानसिक संस्कारों में निहित रहता है।

सच पूछा जाय तो संस्कृति का वास्तविक सम्बन्ध मानसिक संस्कारों से ही होता है। विवेचन और विश्लेषण करने पर अन्त में जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि युगों-युगों से संचित-संस्कारों पर आधारित किसी जाति की जीवन-गति का नाम संस्कृति है। संस्कारीय सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है—(१) निमित्तकारण-रूप, (२) उपादान कारण-रूप। संस्कार मानव को परम्परया प्राप्त होते हैं और वे शैशव से ही पुष्ट होने लगते है। संस्कारों के ग्रहण में पारिवारिक वातावरण का प्रधान योग रहता है और उसमें भी माँ का हाथ सबसे बड़ा होता है। माँ उन संस्कारों को अपने पिता के तथा पति के परिवार से प्राप्त करती है, अतः उसके ये दोनों रूप (अर्थात् कन्या और वधू) भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार संस्कार-परम्परा का निमित्तकारण नारी है। नारी द्वारा रक्षित एवं पोषित संस्कार ही हमारे रीति-रिवाज, आस्था-विश्वास, आचार-विचार तथा कला आदि का स्वरूप निश्चित करते हैं। अतः ये संस्कार इन तत्वों के उपादान-कारण है।

नारी मानव-संस्कृति की धुरी है, अतः संस्कृति का विवेचन करते समय उसके स्वरूप पर विचार करना सबसे प्रथम आवश्यक है। रीतिकालीन उर्दू-प्रेम-काव्य में स्त्री का कोई विशिष्ट रूप नहीं है। माशूक़ को पुरुष-रूप मे चित्रित करने के

कारण ग़ज़ल के अन्तर्गत तो नारी प्रेमिका अथवा प्रेयसी रूप में भी उपलब्ध नहीं होती। मसनवियों मे वह प्रेमिका या प्रेयसी-रूप में है ज़रूर, परन्तु वहाँ वह व्यक्तित्व-विहीन एक साधारणीकृत नारी मात्र है। मर्सिया काव्य के भीतर अवश्य नारी के माँ, बहन, फूफी, पत्नी और बेटी आदि रूपों का चित्रण है, लेकिन इन सभी के मनोभाव अवश्यंभावी आसन्न मृत्यु से जुड़े हुए हैं। अतः उनके करुण रस-भरे उद्‌गारों में कोई ऐसा विलक्षण अन्तर नहीं दृष्टिगोचर होता, जिससे विविध परिस्थितियों में उसके विभिन्न भावों का आकलन किया जा सके।

नारी के रूप

हिन्दी-रीतिकविता में नारी का प्रमुख रूप प्रेयसी या प्रेमिका का है। इसी रूप को सामाजिक मर्यादा के अनुसार या अवस्था-भेदानुसार या वयानुसार देखा गया है। नारी के स्वभाव, प्रवृत्ति आदि को लेकर जो भेद किए गए हैं, वे पूरी नारी जाति को लेकर हैं, किसी विशेष देश-काल की नारी के संस्कारों को लेकर नहीं हैं और उस जातिभेद को भी प्रेम के अन्तर्गत ही आँका गया है। अतः जिस प्रकार उर्दू मर्सियों की नारी करुण रस-वृत्त के भीतर है, उसी प्रकार हिन्दी-रीति-काव्य की नारी शृंगार रस-वृत्त के भीतर है। इसलिए दोनों ही काव्यों में विविध सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में नाना परिस्थितियों के बीच नारी-जीवन के विभिन्न पार्श्वों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं हुआ।

समाज में नारी के कन्या, वधू तथा माँ—ये तीन रूप ही प्रमुख है। हिन्दी-रीतिकविता कन्या का उल्लेख नायिका के अन्तर्गत ही करती है, कन्या के कर्तव्य या मनोभावों का वर्णन उसे नायिका-रूप से पृथक् रखकर नहीं करती। माँ तथा कन्या का सम्बन्ध हिन्दी-रीतिकवि की दृष्टि में एक बहाना मात्र है। कन्या का असली उद्देश्य तो नायक से रतिकेलि करना है—

अंबे फिरि मोहिं कहहिगी कियो न तूँ गृह काज।
कहै सु करि आऊँ अबै मुद्यो जात दिनराज। —भिखारीदास

इसी प्रकार स्वकीया के वर्णनों में आपसी छेड़छाड़, हँसी-मजाक आदि के उल्लेख भी प्रेमी-प्रेमिका-रूप में ही अन्तर्वसित हैं, वे पति-पत्नी-सम्बन्ध की मोहक झलक नहीं देते।

पति-पत्नी

पति-पत्नी का सम्बन्ध जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध ही वस्तुतः पारिवारिक जीवन का मूल है। न केवल प्रेम की, अपितु जीवन की पूर्णता इसी सम्बन्ध में स्थित है। परन्तु नायक-नायिका-रूप के अतिरिक्त

पति-पत्नी-सम्बन्ध के विविध पार्श्वों के ऊपर हिन्दी-रीतिकवियों की दृष्टि प्रायः नहीं है, फिर भी कभी-कभी कवियों ने विरह-वर्णन के संदर्भ मे जीविकोपार्जन की ओर संकेत किया है—

विकल बटोही बिरह बस यहै रह्यौ चित चाहि।
मिलै जु कहुँ पारस परचौ मुरकि मिलौ तौ ताहि। —पदमाकर

इस दोहे में विदेश जाने का उद्देश्य धनोपार्जन व्यंग्य है। इससे तत्कालीन पारिवारिक जीवन की आर्थिक समस्या पर प्रकाश पड़ता है। आलोच्यकाल के उर्दू-शाइरों के यहाँ इस तरह के अवसर ही नहीं हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि या तो आशिक़-माशूक़ के पास पूर्व-संचित सामग्री इतनी है कि उन्हें कुछ करना ही नहीं पड़ता अथवा वे समाज से कोई ताल्लुक़ नहीं रखते, इसलिए उन्हें आर्थिक संकट का अनुभव ही नहीं होता।

कुलवधू

जैसा कि कहा जा चुका है हिन्दी-रीतिकवियों ने स्त्री को प्रेम की भूमिका के अन्तर्गत रखकर ही विभिन्न संबंधों मे चित्रित किया है, अतः स्वकीया का ननद के साथ अधिकतर सम्बन्ध प्रेम-रहस्य-ज्ञात्री सखी के सम्बन्ध-सा है। इन कवियों का मन देवर-भाभी के अवैध सम्बन्धों का व्यंग्य या प्रत्यक्ष-रूप वर्णन करने मे खूब रमा है। देवर ऐसे धृष्ट हैं कि भाभी के कमरे के द्वार पर जमे रहते हैं "देवर गाढ़ो गड़ो रहै द्वारहिं"[1] और भाँभियाँ ऐसी स्वैरिणीं कि देवर के पास जा-जाकर पायल झनकाती फिरती हैं "नेवर झनकावति फिरै देवर के ढिँग जाइ।"[2] ये तो मनचले देवरों और सैलानी भाभियों की बात है, परन्तु सच्चरित्र लज्जाशीला कुलवधुओं के शील का भी रीतिकालीन धूर्त देवर कैसा अनुचित लाभ उठाते थे, इसका आभास निम्नांकित दोहे से मिलता है—

कहति न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति।
पंजर गत मंजार ढिग सुक ज्यौं सूकति जाति। —बिहारी

यह कुलवधू संयुक्त परिवार की है। देवर ने उससे कुछ कुवार्ता की। बेचारी देवर की कुचेष्टा पति को इसलिए नहीं बताती कि इससे भाई-भाई मे कलह उत्पन्न हो जाएगी, परन्तु वह दिनों दिन इस प्रकार सूखती जाती है, जिस प्रकार पिँजड़े के भीतर का तोता समीपस्थ बिल्ली के कारण सूखता जाता है।

इस उक्ति में कई बातें व्यंग्य हैं। 'पंजरगत' से ध्वनित होता है कि नायिका चारों ओर से सुरक्षित है। संयुक्त परिवार मे नायिका के आसपास सास, ननद, ससुर, जेठ आदि कोई-न-कोई गुरुजन सदैव बने रहने से देवर उसका स्पर्श नहीं

कर सकता, फिर भी देवर उसका सतीत्व नष्ट करने पर तुला हुआ है, यह वह जानती है और अपने सर्वनाश का यह भय उसके भीतर बैठ गया है। रीतिकालीन परिवार के सितासित पक्षों को जिस सूक्ष्मता से इस दोहे में उद्घाटित किया गया है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम है।

सती-प्रथा

पति-पत्नी-सम्बन्ध की चरमावस्था सती-प्रथा के अन्तर्गत मिलती है। पति की मृत्यु पर हिन्दू रमणियाँ सहर्ष सहगमन करती थीं। वे पति की चिता पर बैठकर जल जाती थीं। 'पदमाकर' ने एक कवित्त में जोधपुर की रानी के सती होने का वर्णन किया है—

पाली पैज पन की प्रवेश करि पावक में
पौन तें सिताब सहगौन की गती भई।
कहै 'पदमाकर' पताका प्रेम पूरन की
प्रगट पतिब्रत की सौगुनी रती भई।
भूमि हूँ अकास हूँ पताल हूँ सराहैं सब
जाको जस गावत पवित्र मो मती भई।
सुनत पयान श्री प्रलय को पुरंदर पै
धन्य पटरानी जोधपुर की सती भई।

पर्दा प्रथा

हिन्दी-रीतिकाव्य मे नायिकाएँ घूँघट निकालती हैं। इस प्रथा का प्रचलन हिन्दू-समाज मे कब से हुआ और किन परिस्थितियों के कारण हुआ, यह अनुसंधेय है, परन्तु इतना निश्चित है कि भारत मे पर्दे का प्रचलन ईसा से काफ़ी पूर्व भी था। आदिकवि वाल्मीकि ने 'रामायणम्' के अन्तर्गत उच्च कुल की वधुओं का अवगुंठनावेष्टित रहना वर्णन किया है—

दृष्ट्वा न खल्वाभिक्रुद्धो मामिहानवगुण्ठिताम्।
निर्गतां नगरद्वारात् पद्भ्यामेवागतां प्रभो।
पश्येष्टार दारांस्ते भ्रष्टलज्जावगुण्टनान्।
बहिर्निष्पतितान् सर्वान् कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि।

रावण की मृत्यु पर मंदोदरी विलाप करती हुई कहती है—हे प्रभो आज नगर द्वार से यहाँ पैदल चलकर आई मुझ घूँघटरहिता को देखकर आप क्रोधित क्यों नहीं होते ? आप अपनी पत्नियों के प्रेमी थे, देखिए आपकी पत्नियाँ लज्जा छोड़कर अवगुंठनविहीन होकर बाहर आ गई हैं, उन्हें देखकर आप क्रोध क्यों नहीं करते ?

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि उच्च कुल की वधुएँ पर्दा करती थीं और उनका घर के बाहर पैदल जाना अशोभनीय समझा जाता था। इसी बात को हम भासप्रणीत 'चारुदत्तम्' नाटक में भी पाते हैं। वेश्यापुत्री वसंतसेना अपने प्रेमी को पति-रूप में स्वीकार कर लेती है, अतः उसकी अवस्था बदल जाती है अर्थात् वह वेश्या से वधू बन जाती है। इस समय उसकी माँ उसके पास संदेश भेजती है कि वह घूँघट निकाले और गाड़ी में बैठकर आए—

अज्जए ! अत्ता आवणेदि—इदं दुवारं
पविट्ठं पोक्खरं उवावत्तिदं पवहणं। ता तुवरमाणमण्डणा
गहीदावउण्ठणा आअच्छदु।

भास ने 'प्रतिमा नाटकम्' के अन्तर्गत भी अवगुंठन का उल्लेख किया है। वनवास के लिए प्रस्थान करते समय सीता को सम्बोधित करते हुए रामचन्द्र जी का कथन है—"मैथिलि ! अपनीयतामवगुण्ठनम्।" और सीता जी अवगुठन हटा देती हैं। इस पर राम निम्नांकित वचन कहते हैं—

भो-भोः पौराः। शृण्वन्तु शृण्वन्तु भवन्तः।
स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद्
बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो
यज्ञे विवाहे व्यसने वने च।

इसके पश्चात् ननिहाल से लौटने पर सुमंत्र तथा माताओं से भरत के वार्तालाप के अवसर पर अवगुठन का संकेत है। भरत पूछते है—"अथ मातृणा-मिदानीं कावस्था"। इसे सुनकर माताएँ कहती हैं 'पुत्र यह अवस्था है हमारी' और अवगुठन हटा देती है—

जाद ! एसा णो अवत्था। (अवगुण्ठनमपनयन्ति)

भास ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के नाटककार हैं। भास के परवर्ती कालिदास भी अवगुंठन-प्रथा का उल्लेख करते है। उदाहरणार्थ 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में शकुन्तला को अवगुंटनवती चित्रित किया गया है—

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटलावण्या
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्।

नाटक अभिनेय विधा है, अतः उसमे सामाजिक रीति-रिवाजों का अधिक प्रामाणिक रूप रहता है। भास तथा कालिदास के नाटकों में पर्दे के चित्रणों से प्रतीत होता है कि वाल्मीकि के समय से चली आती हुई पर्दा-प्रथा चौथी ईसवी

शताब्दी में भी उसी रूप मे थी। इसलिए पर्दे की यह मर्यादा भारत की प्राचीन मर्यादा ही कही जाएगी। उपर्युक्त उद्धरणों से यह भी ध्वनि निकलती है कि यह पर्दा उच्च घराने की वधुएँ ही करती थीं, कन्याओं के घूँघट निकालने के उल्लेख नहीं मिलते।

मुसलमानों का आगमन भारत मे आठवीं शताब्दी के आस-पास हुआ, इसलिए भारत मे पर्दा-प्रथा वे लोग नहीं लाए यह सिद्ध है। इतना ज़रूर है कि उनकी संस्कृति मे पर्दे का जो प्रबल चलन था, उसके फलस्वरूप हिन्दुओं में भी पर्दे का रिवाज कुलीन घरानों के अतिरिक्त समाज के अन्य वर्गों मे भी हो गया। लेकिन यह पर्दा विवाहिताओं तक ही सीमित था, कन्याएँ पर्दा नहीं करती थीं। मुसलमान-समाज मे पर्दे की पाबन्दी इतनी कड़ी है कि न केवल वधुएँ, अपितु कन्याएँ और वृद्धाएँ भी पर्दे में रहती हैं। रीतिकालीन उर्दू-शाइरी का माशूक़ बराबर पर्दे में रक्खा जाता है।

हिन्दी-रीतिकवियों ने वधुओं को ही घूँघट काढ़े दिखाया है और वधुएँ इस मर्यादा का पालन ससुराल में ही करती हैं। विवाहिता लड़की भी मायके में घूंघट नहीं काढ़ती। 'नागरीदास' ने राधा को अपने घर में भी अवगुंठनवती चित्रित किया है। चित्रण में अन्तर है तो बस इतना कि उर्दू-शाइरी मे आशिक़ आजीवन हवा से दुआ माँगता रहता है कि वह माशूक़ के चेहरे को बेनक़ाब कर दे, लेकिन हिन्दी-कविता में हवा और बिजली स्वयमेव प्रेमी की सहायता कर रही हैं—

भादौं की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावै।
स्यामाजू आपनी ऊँची अटा पै छकी रस रीति मलारहि गावै।
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै।
पौन मया करि घूंघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावै।

इस इस्लामी संस्कृति का ऐसा प्रभाव पड़ा कि हिन्दी-रीतिकविता में होली खेलते समय नायिकाओं को प्रायः घूँघट में दिखाया गया है। कवियों ने नायिका के लिए 'राधा' (वृषभान लली) सम्बोधन का प्रयोग किया है—

खेलत फागु सोहाग भरी व्रषभान लली भली भाँति उमंग सों।
घूंघट ओट किये 'रघुनाथ' दई हरि पै सखि छूटि कै संग सों।

यही नहीं, 'तोष' कवि ने तो एक ऐसी मृगनयनी नज़र मे डाल रक्खी है जो सब तरह ठीक है; क्योंकि उसमें रूप है, यौवन है, तारुण्य है और प्रेम की उमंग भी है, लेकिन उसमें आकृष्ट करने का सबसे पहला तत्व यह है कि वह 'ईराक़ी' घूंघट में रहती है—

घूंघट यरक्की तरुनाइयो थिरक्की
पाइ रूप की तरक्की सब सौतिनि करक्की है।

संस्कार

पुत्र-जन्म

मानव जीवन में पुत्र-जन्म अत्यन्त आनन्द एवं सौभाग्य का अवसर माना जाता है। हिन्दू-समाज मे पुत्र-जन्म पर अनेक संस्कारों का विधान है। ऐसे अवसर पर राई-भूसी उतारने का रिवाज है। रीतिकालीन उर्दू-शाइर 'नज़ीर' अकबराबादी ने इन सारी रीतियों का वर्णन किया है। आजकल तो बुआ अपने भतीजे के लिए प्रसन्न होकर हँसली-खड़ुए और कुरता-टोपी लाती है, लेकिन 'नज़ीर' के उल्लेख से मालूम होता है कि रीतिकाल में ये वस्तुएँ भेंट या निछावर रूप में किसी भी महिला द्वारा लाई जा सकती थीं—

कोई लाई हँसली और खड़ुए कोई कुरता टोपी मेवा घी

हर्षोद्रेक में लोग दही-हल्दी मिलाकर परस्पर एक-दूसरे पर छिटकते थे—

फिर और खुशी की बात हुई जब रीत हुई ददिकाँदो की।
रखवाई दधि की मटकी फिर और डाली हल्दी बहुतेरी।
ये उस पर फेंके भर भर कर वो उस पर डाले घड़ी-घड़ी।
कोई पूजे मख और बाहन की कोई सिखरनी फेंके कोई मिसरी।

'नज़ीर' ने सारी सामग्री के अन्तर्गत मेवा, सिखरनी और मिसरी का वर्णन भी किया है। ये तीनों चीज़ें रीतिकाल की हैं। 'सिखरन' नामक खाद्य पदार्थ का उल्लेख जायसी के 'पदमावत' मे हुआ है "सिखरन सोंधि छनाई गाढ़ी", परन्तु उसके स्वरूप का पता नहीं चलता। हो सकता है बाद मे उसी को सिखरनी कहने लगे हों। यह भी संभव है कि यह बिल्कुल दूसरी वस्तु हो। 'मिसरी' शब्द अरबी का है, जिसका अर्थ है मिश्र देश से सम्बन्धित। कृष्ण-जन्म पर 'सूरसागर' में मिसरी का उल्लेख नहीं मिलता। स्पष्ट है कि 'नजीर' के कृष्ण-जन्म-वर्णन पर तत्कालीन संस्कृति की छाप है। हाँ परम्परया प्राप्त पक्वान्न भी उपलब्ध है—

कुछ थाल पँजीरी के रखतीं कुछ सोंठ सुठौरा करती थीं।

इस अवसर पर पड़ोस की स्त्रियाँ इकट्ठी होकर गाती थीं। पुत्र-जन्म की खबर पाकर भाँड़-भगतिए और हिंजड़े नेग लेने के लिए आ जाते थे। समृद्ध लोग उन्हें बैल-भैंस दान कर देते थे। बजन्तरी नरसिंहा, सरना एवं तुरही बजाते तथा बढ़ई रंगीन सुनहरा पालना बनाकर लाते थे—

कुछ नाचें भाँड़ भगतिए भी कुछ हिंजड़े पावें बैल पड़ी।
आनंद बधावे बाज रहे नरसिंगे सरना और तुरई।
रंगीन सुनहरे पालने भी ले हाथ खड़े कितने पर भी। —नजीर

जितने नेगी-जोगी आते थे उन सबको खुशहाल करना पुत्र के माँ-बाप का कर्तव्य था। यह धूमधाम छठी तक रहती थी। मसनवी 'सहरुल्बयान' में पुत्र-रत्न की प्राप्ति पर नृत्य-संगीत की धूम का शाइर ने विस्तार से वर्णन किया है। तत्पश्चात् वह कहता है—

छठी तक ग़रज़ थी खुशी की य बात।
कि दिन ईद और रात थी शब्बरात।

छठी के दिन दाई का नेग चुकाया जाता था—

दिन रात छटी के होने तक मन खुश दिल लोग लुगाई का।
फिर थाल रुपए और मुहरे दीं जब नेग चुकाया दाई का। —नज़ीर

पुत्री जब पुत्र को जन्म देती है तो पुत्री का पिता अपने दौहित्र के लिए वस्त्रालंकार तथा अन्य सामग्री भेजता है। यह प्रथा 'छोछक' कहलाती है। रीति-काल में यह प्रथा प्रचलित थी। 'नज़ीर' ने भक्त नरसी द्वारा भगवत्कृपा से छोछक भेजा जाना वर्णित किया है। नरसी अकिंचन भक्त थे। उनकी बेटी के जब बालक हुआ तो स्त्रियों ने कहा कि अपने पिता को क्यों नहीं लिखती? पुत्री ने उत्तर दिया—

जो चीठी मैं लिख भेजूंगी वो बाँच उसे पछतावेंगे।
इक दमड़ी उनके पास नहीं वो छोछक क्या भिजवावेंगे?

जिस तिथि को पुत्र-जन्म होता था, उसी तिथि को प्रति वर्ष जन्मोत्सव मनाया जाता था। इसे वर्षगाँठ कहते थे। उस दिन परिवार का हृदय-कमल खिल जाता था—

बरस गाँठ जिस काल उसकी हुई।
दिले बस्तगाँ की गिरह खुल गई। —मीर हसन

विवाह

जीवन में जन्म के पश्चात् दूसरा प्रसन्नता का अवसर विवाह है। वैवाहिक अनुष्ठान के प्रारम्भ से लेकर समाप्त होने तक अनेक रीति-रिवाजों का पालन किया जाता है। लेकिन सर्वाधिक महत्व पाणिग्रहण संस्कार का है। विवेच्य काव्यान्तर्गत इस संस्कार से सम्बद्ध कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। हिन्दू तथा मुसलमानों में यद्यपि इस संस्कार से संबंधित प्रथाएँ एक-सी नहीं हैं, फिर भी रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू कविता उभयत्र मान्य अनेक रीति-रिवाजों पर प्रकाश डालती है। मंडप बनाने का ज़िक्र दोनों काव्यों में प्राप्त होता है। हिन्दी-काव्य ने मण्डप की तफ़सील भी दी है—

हरित बाँस मण्डप शुभ साजा।
जामुन पल्लव छाय विराजा। —बोधा

हरे बाँस का बना मण्डप जामुन पल्लवों से छा दिया जाता था। उर्दू-शाइरों ने मर्सियों मे वैवाहिक प्रणाली पर बार-बार प्रकाश डाला है, लेकिन मण्डप का विवरण नहीं मिलता। मण्डप के बाद तेल चढ़ाने का वर्णन है—

ग़म दिल प ख़लायक़ के एवज़ मँडवे के छाया।
सर शह का जगह तेल के नेज़े प चढ़ाया। —सौदा

हिन्दी-रीतिकविता में गौरी-स्थापना के बाद तेल चढ़ाने की बात कही गई है—

गौरि थापि मायें सब साजीं।
करैं श्रृंगार नारि रत राजी।
मोद भरी मंगल सब गावैं।
एकै तीया तेल चढ़ावैं। —बोधा

वर-वधू को पहना-ओढ़ाकर सुसज्जित किया जाता था। उनकी कलाइयों पर कंगन बाँधा जाता था। 'नज़ीर' ने महादेव का ब्याह-वर्णन करते समय शिवजी को पान खाए और मेंहदी, काजल लगाए हुए दिखाया है। शिवजी सुनहरी पोशाक, कानों में जड़ाऊ आभूषण तथा सूर्याभ मुकुट पहने हुए हैं। लेकिन मुकुट के साथ सेहरे का उल्लेख भी है—

उस तार ज़री के चीरे पर जूँ मेहर चमकता मुकट धरा।
हर कान मुरक़्क़ा कुन्दन थे और मुख पर सोने का सेहरा।

मुकुट अथवा मउर के साथ-साथ रीतिकालीन समाज में सेहरे का प्रचलन भी हो चुका था। 'नज़ीर' के संस्कृति-संगम में मुकुट तथा सेहरा गले मिल गए हैं।

'नज़ीर' की रचना में गठजोरन की रीति, होम, गणेश-नवग्रह-पूजन आदि का यथायथ वर्णन है। उर्दू-शाइरी में साचिक़ के दस्तूर का वर्णन करते समय मटका, कलावा आदि का ज़िक्र किया गया है। उर्दू-शाइरी में ब्याह के मौक़े पर रंग खेलने का वर्णन भी है "रंग खेलने का शादी के देखो ये अजब तौर।"[3]

निकाह हो जाने के बाद कुछ रस्मे पूरी की जाती हैं। 'सहरुल्बयान' में निकाह का वर्णन है। जब बेनज़ीर का बद्रमुनीर से निकाह हो गया तो दोनों महल मे आकर मिले। वहाँ मुसहफ़-आरसी के बाद कान में सुहागा लगाना, दुल्हन की जूती चुराना आदि अन्य रीतियों का ज़िक्र हुआ है—

किसी ने पिसाई सरोंच आनकर।
कोई गालियाँ दे गई जानकर।

सुहागा गई कॉ को कोई लगा।
गई कोई दुल्हन की जूती चुरा। —मीर हसन

हिन्दी-रीतिकविता में वैवाहिक कृत्यों मे नृत्य-गान का उल्लेख तो परम्परा से होता आया है, परन्तु किसी गीत-विशेष की ओर संकेत नहीं किया गया है। इससे यह ज्ञान नहीं होता कि रीतिकालीन समाज में कौन-कौन से गीत प्रचलित थे? मसनवी 'सहरुल्बयान' में मीर हसन ने एक गाने के बोल भी दे दिए हैं। इस गीत की टेक थी "अच्छा बना लाड़ला"। संभवतः उन दिनों समाज मे यह गाना बहुत लोकप्रिय था—

वह तब्लों का बजना और उनकी सदा
य गाना कि अच्छा बना लाड़ला।

मृत्यु

मृत्यु महान् शोक का अवसर है। जिस प्रकार जन्म और विवाह के समय अनेक रीति-रिवाजों का पालन किया जाता है, उसी प्रकार किसी प्रिय जन की मृत्यु हो जाने पर अनेक कृत्य करने की परम्परा है। आलोच्यकाल के काव्य में कई प्रथाओं का उल्लेख मिलता है। कफ़न में अबीर रखने के वर्णन उपलब्ध हैं—

उसके कफ़न की खाक मे है हश्र की नजात
उश्शाक़ के कफ़न मे रखो इस अबीर कों। —वली

'मोमिन' के एक शेर से यह आभास होता है कि जो लोग लाश पर रुदन करते थे वे जनाज़े के साथ नहीं जाते थे—

साथ न चलने का बहाना तो देख
आके मेरी नाश प वो रो गया।

मुर्दे को दफ़्न करने के बाद इष्ट-मित्रों द्वारा उसकी क़ब्र पर दीपक जलाए जाते थे—

हो दाग़ 'मीर' तुझ बिन मर भी गया वले तू
आया न गोर पर टुक लेकर दिया पियारे।

मुसलमानों में तीसरे दिन तीजे का कृत्य होता था और हिन्दुओं में श्राद्ध का प्रचलन था। प्रतिवर्ष पितृपक्ष में मृतात्मा के लिए श्राद्ध करते थे, जिसमें कुछ अन्न कौए को भी खिलाया जाता था—

दिन दस आदरु पाइ कै करि ले आपु बखानु।
जौ लगि काग सराधपखु तौ लगि तौ सनमानु। —बिहारी

उर्दू-शाइरी से पता चलता है कि पति की मृत्यु हो जाने पर पत्नी को रँडसाला पहनाया जाता था। यह रँडसाला उसके वैधव्य का चिह्न था—

दूल्हन को बदल जोड़े के रँडसाला पिन्हाया —सौदा

विधवा के चादर उतारने एवं चूड़ी फोड़ देने का उल्लेख 'बिहारी' ने किया है—

घर घर तुरकिनि हिन्दुनी देतिँ असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी तैँ राखी जयसाहि।

कवि 'भूषण' ने भी विधवाओं को चूड़ी-रहित दिखाया है, परन्तु विशेष बात यह है कि उन्होंने मुसलमान-स्त्रियों के मुखों को भी सिन्दूर बिन्दु-विहीन उल्लेख किया है—

सरजा समथ्थ वीर तेरे वैर बीजापुर
वैरी वैयरिन कर चिह्न न चुरीन के।
तेरे वैर देखियत आगरे दिली में बिनु
सिंदुर के बिन्दु मुख इन्दु जमनीन के।

'भूषण' के इस वर्णन से प्रमाणित होता है कि रीतिकाल मे मुसलमान स्त्रियाँ भी सिन्दूर-बिन्दु लगाती थीं। यह सिन्दूर-बिन्दु पति की मृत्यु हो जाने पर नहीं लगाया जाता था। सिन्दूर लगाने का चलन सामंतवर्गीय मुसलमान घरानों में गोरखपुर, बस्ती, आज़मगढ़ आदि ज़िलों की तरफ़ आजकल भी है।

मृत्यु-तिथि के एक वर्ष बाद बरसी मनाई जाती थी। इस दिन मृत इष्टजन को स्मरण कर परिजन रोते थे—

एक हसरत तो बरसती है कभी बरसी के दिन
वर्ना रोता अब्र भी अपनी सरे-तुरबत नहीं। —ज़ौक़

आस्थाएँ

संस्कारों का सामूहिक नाम विश्वास या आस्था है। समीक्ष्यकाल के हिन्दी-काव्य तथा उर्दू-शाइरी में परलोक और स्वर्ग-नरक में आस्था प्रकट की गई है। परोपकार एवं नेकी का फल अच्छा, बदी का बुरा होता है, यह विश्वास भी सभी कवियों और शाइरों ने अभिव्यक्त किया है।

विवेच्यकालीन कविता इस तथ्य पर प्रचुर प्रकाश डालती है कि समाज मे योगियों का काफ़ी प्रभाव था। हिन्दी-रीतिकविता तो जोगिनियों का दूती-रूप में बार-बार उल्लेख करती ही है, उर्दू-शाइरी में भी इनके चित्रणों की कमी नहीं है। मसनवी 'सहरुल्बयान' में 'नजमुन्निसा' का जोगिन बनना वर्णन किया गया है—

कई सेर मोती जला राख कर।
भभूत अपने तन पर मली सर बसर।
पहन एक लहँगा ज़री बाफ़ का।
वो पर्दा-सा कर उस तने-साफ़ का।
ज़री के दुपट्टे से छाती को बाँध।
बदन को छुपा और गाती को बाँध।
ज़मुर्रुद के मुँदरे लगा कान में।
कि जूँ सब्ज़ा-ओ गुल गुलिस्तान मे।
गले बीच डाल अपने मालों के तई।
परेशान कर अपने बालों के तई।
जरी का बना हल्क़ा सर पर रखा।
किया सुबुलिस्तान को जगमगा।

× ×

ज़मुर्रुद की सुमिरन को हाथों में डाल।
और इक बीन काँधे प अपने सँभाल।

यह जोगिन नाथपंथी है। कानों में मुँदरे, हाथ में माला, कंधे पर बान, शरीर पर भभूत आदि के अलावा मृगछाला तथा बीन भी उसके पास है—

बिछा मिरगछाले को और लेके बीन

इस जोगिन के रूप को हिन्दी के सूफ़ी-काव्यों के जोगियों से मिलाइए तो हू-ब-हू वही है। बस उस रूप मे रीतिकालीन वैभव और मिल गया है। इस चित्रण से यह नतीजा निकलता है कि विलास एवं वैभव के बीच भी रीतिकालीन समाज का झुकाव आध्यात्मिकता की ओर था। लोग धर्म में विश्वास करते थे और धार्मिक ग्रंथों या धार्मिक पुरुषों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।

ज्योतिष

परलोक तथा परमात्मा में विश्वास एवं कर्मफल-सिद्धांत के कारण लोग भाग्यवादी बन गए थे। विवेच्यकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य के अन्तर्गत ज्योतिष-सम्बन्धी चित्रण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। ज्योतिष के (गणित एवं फलित) दोनों प्रकार के उल्लेख प्राप्त हैं। [illegible] ग्रहों की गति का अध्ययन करती हैं; अतः तत्कालीन समाज में ऋतु-वर्णनों के सन्दर्भ में उसके उल्लेख हुए हैं, यथा—

जो तिय शिशुता में भयो यौवन आनि उदोत।
मीन राशि के भानु में ज्यों निशि सम दिन होत। —रसलीन

दोहे के इस वर्णन से ज्ञात होता है कि सूर्य जब मीन राशि पर आता है तो रात-दिन बराबर होते हैं। यही बात 'सोमनाथ' ने भी कही है—

बीती लरिकाई न झलक तरुनाई आई
निरखै सुहाई अंग औरै ओप अति है।
तुला चल संक्रमन की सी दिन राति कोऊ
घटि बढ़ि है न साधै ठीक ठहरति है।

कन्या राशि से सूर्य जब तुला राशि पर आता है तो जाड़े की ऋतु का आगमन होता है। 'आतश' के निम्नलिखित शेर से इसी बात पर प्रकाश पड़ता है—

लिपटकर सोइए उस आतशीं रू से ज़मिस्ताँ में
निकल कर सुबुले से आफ़ताब आया है मीज़ाँ में।

हेमन्त ऋतु मे कड़ाके की सर्दी पड़ती है। उस समय सूर्य धनु तथा मकर राशि पर रहता है। 'ग्वाल' कवि ने अपने एक छंद में इस तथ्य को सन्निविष्ट किया है—

ऐसो सीत जवर निरखि रवि डर कर
हरवर धाय धन मकर पर्‌यो रहै।

इसी प्रकार वृषराशिगत सूर्य के कारण शीत को घटता हुआ दिखाया गया है—

जब वनिता-वृषराशि पर यौवन रवि दरशाय।
मदन तपत प्रति द्योस में बढ़ि (?) लाजशीत घट जाय। —रसलीन

कवियों ने नवग्रहों का (अप्रस्तुत-रूप) उल्लेख अनेक छन्दों में किया है। कवि 'ग्वाल' ने चन्द्र, बुध, शनि, सूर्य, मंगल, गुरु, शुक्र, राहु और केतु सभी को स्त्री के भीतर दिखाया है, परन्तु उन ग्रहों के प्रभाव, गति आदि का कोई संकेत नहीं दिया। मिर्ज़ा 'सौदा' एक शेर में शनैश्चर के प्रभाव का ज़िक्र करते हैं—

ये है इस मर्तबा बद-युम्न मनहूस।
सनीचर जिसके होता है क़दम बोस।

फलित ज्योतिष के अन्तर्गत ग्रहों की स्थिति के प्रभाव का उल्लेख किया जाता है। हिन्दी-रीतिकाव्य मे 'बिहारी' के अनेक दोहे इस प्रकार का संकेत देते हैं, जैसे—

सनि कज्जल चख झख लगन उपज्यौ सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सब देहु।

उपर्युक्त दोहे में ज्योतिष-सम्बन्धी विश्वास की अभिव्यक्ति है कि यदि किसी का जन्म मीन लग्न में हो और उस समय शनि ग्रह भी मीन राशि में हो तो वह मनुष्य राजा होता है।

ग्रहों की एक विशेष प्रकार की स्थिति से अमंगल की कल्पना कर लेना भी रीतिकाल के समाज मे प्रचलित था, जैसे चन्द्रमा मे कलंक न दिखाई पड़ना उत्पात का कारण समझा जाता था—

बुरौ बुराई जौ तजै तो चित खरौ डरातु।
ज्यौं निकलंकु मयंकु लखि गनैं लोग उत्पातु। —बिहारी

रीतिकालीन उर्दू-शाइर 'आतश' ने तारीख़ तीसरी के चन्द्रमा का दर्शन दुःख का कारण बताया है—

तारीख़ तीसरी का मगर चाँद यार है
जिसको नज़र पड़ा उसे अन्दोहो-ग़म हुआ।

हस्तरेखा-विज्ञान

ज्योतिष की भाँति ही हस्तरेखा-विज्ञान तथा रमल के प्रति आस्था प्रकट करने वाली रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं, यथा—

पग अंकुस कर में कमल करि जु दियो करतार।
सु सखि सफल ह्वै है तबहिं जब ऐहै घर यार। —पदमाकर

पैर में अंकुश, कर में कमल का होना धन और सुख का प्रतीक है। उर्दू-शाइर 'आतश' भी हस्तरेखा-विज्ञान में विश्वास की झलक देते हैं—

कहते हैं हाथ देखके उस बुत का बरहमन
तुम आशिक़ों को क़त्ल करोगे हिजाब से।

रमल

रमल के उल्लेखों से पता चलता है कि लोग छोटे-छोटे कामों के लिए रमल साधते थे। रतिक्रीड़ा तथा चुम्बन के लिए रमल फेंके जाते थे—

राति को तमासो सुनौ सोई गुरुजन जब
कीन्हो अभिसार तब साधि कै रमल सो। —रघुनाथ

रूए खूबाँ से मिलेगा हमें बोसा कि नहीं
हाल इन शक्लों का कुछ पूछिए रम्मालों से। —आतश

लोक विश्वास

सगुन

आलोच्यकालीन समाज में कोई कार्य (यहाँ तक कि युद्ध भी) प्रारम्भ करने से पहले ज्योतिष के आधार पर शुभ-मुहूर्त्तादि का विचार तो किया ही जाता था, जैसे—

सुभ जोतिषी-सु बुलाइकै पूँछो सुदिन सिर नाइकै।
अब कहौ जुद्ध कबै करैं जब कहौ साइत तब लरैं। —पदमाकर

ज्योतिष के अतिरिक्त सगुन-असगुन देखकर भी कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय होता था। बड़े-से-बड़े शक्तिशाली तथा वैभव-सम्पन्न बादशाह एवं राजे-महाराजे भी सगुनियों से पूछ कर कार्य साधते थे—

बुला सगुनियों को बता सालो-सिन।
मुक़र्रर किया नेक सा‌अत का दिन। —मीर हसन

सगुनियाँ लोग भविष्य की बात बताते थे। इसके लिए सगुनौती धरी जाती थी। सगुनौती धरने का वर्णन हिन्दी-रीतिकाव्य मे मिलता है :—

दैकरि किवारी चित्रसारी मे विलोकै गैल
ठाढ़ी खिरकी सों ओट करि कै सखिय की।
पूजा करिबे की देवी देव की मनौती करै
निति सगुनौती धरे आयबे की पिय की। —रघुनाथ

भक्तिकालीन हिन्दी-कविता में सगुन से सम्बद्ध काग-वर्णन खूब हुए हैं। रीतिकाल में भी काग को वही स्थान प्राप्त है। काग का मुँडेरा पर आकर बोलना, फिर उड़ जाना, किसी के आने का सूचक माना गया है। ऐसी परिस्थिति आने पर रीतिकालीन नायिकाएँ कौओं की काफ़ी खातिरदारी करती देखी गई हैं—

पैंजनी गढ़ाइ चोंच सोन सों मढ़ाइ दैहौं
कर पर लाइ पर रुचि सों सुधरिहौं।
कहै कवि 'तोष' छिन अटक न लैहौं कबौं
कंचन कटोरे अटा खीर भरि धरिहौं।
ए रे कारे काग तेरे सगुन सँजोग आज
मेरे पति आवैं तौ बचन ते न टरिहौं।
करती करार तौन पहिलै करौंगी सब
अपने पिया को फिरि पाछे अंक भरिहौं।

नायिका कौए के लिए पैंजनी बनवाने को तैयार है, उसकी चोंच वह सोने से मढ़

देगी, कंचन-कटोरे में दूध पिलाएगी, उसके पंख अपने हाथों सँवारेगी; लेकिन तभी, जब उसका प्रियतम आ जाए। इससे ज्ञात होता है कि काग का बोलना बिल्कुल पक्का सगुन नहीं समझा जाता था। 'सगुन-संजोग' शब्दों से भी संदेह की ध्वनि निकलती है। कविवर 'देव' की नायिका तो दिन भर कौए उड़ाती है, परन्तु नायक से भेंट नहीं होती "आँसुनि मोचति सोचति यों सिगरो दिन कामिनि काग उड़ावै।" उर्दू-शाइरी में भी ऐसा ही संशय अभिव्यक्त किया गया है—

क्या परेशाँ गुल से करता है दमाग़
कुछ ख़बर क़ासिद की भी ऐ ज़ाग़ है। —नासिख़

मिलन-संयोग-सूचक सगुनों में बाँह या नेत्र का फड़कना भी बहुत महत्वपूर्ण है। स्त्री का वामांग फड़कना शुभ होता है। हिन्दी-रीतिकविता में इस प्रकार के अनेक वर्णन मिलते हैं—

बाम बाँह फरकति, मिलैं जौ हरि जीवनमूरि।
तौ तोहीं सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि। —बिहारी

परन्तु इस दोहे में भी शर्त लगी हुई है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि एक सगुन निश्चित भावी-सूचक नहीं कहा जाता था। जब एक साथ कई सगुन हों, तो भविष्य-विषयक धारणा दृढ़ होती थी, जैसे यदि काग बोले और नेत्र भी फड़कें तो मिलन अटल समझा जाता था—

बोलत है उत काग अरु फरकत नैन बनाइ।
याते यह जान्यो परत प्रीतम मिलिहैं आइ। —रसलीन

असगुन

सगुन शुभ सूचक हैं तो असगुन अशुभ सूचक। असगुन का अर्थ ही है शुभ गुण रहित। मीमांस्य काव्यान्तर्गत आए असगुनों में एक असगुन है 'रीती गागर' देखना। ऐसा विश्वास था कि यदि रास्ते पर रिक्त गागर दिखाई पड़ जाय तो गन्तव्य से रीते हाथ ही वापस आना पड़ता है। इस कारण लोग ऐसी स्थिति में प्रायः प्रस्थान नहीं करते थे। 'मतिराम' की प्रवत्स्यत्पतिका रिक्त घट दिखाकर अपने प्रियतम को रोक लेती है—

नागरि नवेली रूप आगरि अकेली, रीती
गागरि लै ठाढ़ी भई बाट ही के घाट मैं।

रीती गागर की तरह ही छींक को भी बुरा मानते थे। धारणा बन गई थी कि यदि चलते समय छींक हो तो कार्य सिद्ध नहीं होगा। इसके अतिरिक्त आफ़त आ जाना भी असंभाव्य नहीं है। हिन्दी-रीतिकविता में छींक का सदुपयोग कवियों

ने नायक का विदेश-गमन स्थगित करने के लिए किया है। हठीला नायक सबसे मोह छोड़कर प्रस्थान करने ही वाला था कि "एते में काहू अचानक छींको।"[४] अतः नायक को उस दिन रुकना पड़ा।

उपर्युक्त उदाहरणों में अंधविश्वास की झलक है, क्योंकि वहाँ किसी पर कोई वास्तविक बाधा नहीं आई है। परन्तु 'आलम' कवि ने छींक की उपेक्षा करके चल देने पर नायिका को विपत्ति-ग्रस्त दिखाया भी है—

छींकत हौं गई जु वा साँवरे सों भेट भई
सर की सी रे दई सुभाय सौहैं हेरि कै।
'आलम' न नीरो आवै बेनु दूरि तें बजावै
दाधे पर लावै लोन रह्यो मुख फेरि कै।
मनु संग ही लगाय गयो सुधि बिसराय
गनत न गति गाई ऊँचे सुर टेरि कै।
तब ही तें सुधि नाहीं रही कछु मोहिं माहीं
नैना ना अनत जाहीं रहे अवसेरि कै।

नायिका ने छींक की परवाह नहीं की जिससे वह प्रेम का रोग लगा लाई। रोग लगा तो ऐसा जिसे सब लगाना चाहते हैं। समाज के असगुन को कवि ने प्रेम-रसायन द्वारा किस तरह सगुन मे बदल दिया है ?

छींक प्रस्थान रोकती है, परन्तु पैर का तलवा यदि खुजलाए तो प्रस्थान करना पड़ता है। यों अमूमन् तलवे से दो संकेत लिए जाते हैं। आदमी का बायाँ, स्त्री का दायाँ अशुभ और उसके विपरीत शुभ होता है। शुभ अर्थात् प्रस्थान किसी शुभ कार्य के लिए होगा, अशुभ अर्थात् किसी अमांगलिक काम में जाना पड़ेगा। उर्दू-शाइर 'मोमिन' ने तलवा खुजाने का वर्णन निम्नांकित शेरों में किया है—

आया न कभी खयाल हज का
तलबा सौ बार गर खुजाया।

सूए-सहरा ले चले उस कू से मेरी नाश हाय
था यही डर उन दिनों तलवा मेरा खुजलाए था।

यद्यपि शाइर ने बताया नहीं, फिर भी अंदाज़ होता है कि प्रथम शेर का तलवा दाहिना है और द्वितीय शेर में बाएँ तलवे का वर्णन है, क्योंकि हज जाना अच्छा समझा जाता है और माशूक़ की गली से हटना आशिक़ की दृष्टि में बुरा है।

कुछ जानवरों का रास्ता काटना अशुभ समझा जाता है। विमर्श्यकाल की हिन्दी-कविता में बिल्ली के रास्ता काटने का उल्लेख मिल सकता है, परन्तु उर्दू-शाइरी में साँप का रास्ता काटना भी असगुन माना गया है—

जुल्फ़ हायल है निगह रुख़्सारे-जानाँ पर न डाल
है शगुने-बद दिला जब साँप काटे राह को। —आतश

टोना-टोटका

सगुन-असगुन अधिभूत से संबंधित होते हैं, और टोटके प्रायः अध्यात्म से। सगुन-असगुन अपने शरीर अथवा दूसरे के शरीर की चेष्टाओं से मन में कल्पित मंगल या अमंगल की सृष्टि करते हैं, लेकिन टोटके मन में उठी आशंका के निवारणार्थ किए जाते हैं। अर्थात् एक बाहर से मन में आता है, दूसरा मन से बाहर जाता है। टोटका करने में यह उद्देश्य निहित रहता था कि विघ्न बाधाएँ समाप्त हो जाएँगी। रीतिकालीन समाज में शादी-ब्याह तथा आनन्दोत्सवों के अवसर पर टोटका करने का रिवाज था। उर्दू-काव्य से इस तथ्य की पुष्टि होती है—

चला यों वो दूल्हा दुल्हन की तरफ़।
उड़े जैसे बुलबुल चमन की तरफ़।
वहाँ पर पहुँचते हुए क्या कहूँ।
हुए टोटके लाख बहरे-शुगूँ। —मीर हसन

अपने प्रिय को बुरी नज़र से बचाने के लिए कई प्रकार की क्रियाएँ टोटका-रूप में की जाती थी। हिन्दी-रीतिकविता में राई-नोन उतारने का ज़िक्र मिलता है—

क्षण बनाइ भूषण बसन लखति दिठौना ल्याइ।
क्षण वारत धन शीश पै राई नोन बनाइ। —रसलीन

राई-भूसी उतारने का उल्लेख 'नज़ीर' अकबराबादी ने किया है। लेकिन नमक की चर्चा उर्दू-शाइरी में नहीं हुई है। उर्दू-शाइरी ने केवल राई को उतार कर आग में डालने का बर्णन किया है—

नालए-दिल में शब अन्दाज़े-असर नायाब था।
था सिपन्दे - बज़्मे - वस्ले-ग़ैर गो बेताब था। —ग़ालिब

जिस प्रकार सिर्फ़ राई वार कर अग्नि में फेंक देते थे, उसी तरह केवल नमक उतारने का उल्लेख भी प्राप्त है—

साजे मोहन मोह कौं मोहीं करत कुचैन।
कहा करौं उलटे परे टोने लोने नैन। —बिहारी

इस क्रिया को 'लोनाना' कहते हैं। लोनाने से टोना फलटकर टुनिहा पर पड़ जाता है। इस दोहे में नायिका ने कृष्ण पर टोना किया था, लेकिन कृष्ण के लावण्य से लोनाए हुए नेत्र पलटकर उसे ही बेचैन कर रहे हैं।

उर्दू-कविता में पानी वारकर पीने का वर्णन भी बार-बार आता है। शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़' (सन् १७८९-१८५४) ने एक शेर लिखा है—

गर दर्द है खोना दिले मुज़्तर से किसी के।
पानी तो पिला वार के सर पर से किसी के।

'दीवान्-ए-ज़ौक़' के सम्पादक मलिक मुहम्मद इनायतउल्ला का कथन है कि "देहात मे जिसके बच्चा नहीं होता वह किसी औरत (बच्चे वाली) के ऊपर पानी उतार कर पी ले तो उसके बच्चे होने लगें और उसके बंद हो जायँ।"

लेकिन यह क्रिया माता से भी सम्बद्ध दिखाई गई है। मीर हसन की 'सहरुल्बयान' मनसबी में तथा 'नज़ीर' की रचना 'दसम कथा' के अन्तर्गत पानी वारकर पीने का प्रसंग आया है—

फिर देवकी जो आई बहुत होके खुश इधर।
पानी पिया उन्होंने वहीं हरि प वार कर। —नज़ीर

ये दोनों उद्धरण पुत्र तथा पुत्र-बधू के लिए टोटके का वर्णन करते हैं। यदि 'दीवान्-ए-ज़ौक' के सम्पादक का उपर्युक्त अर्थ यहाँ लगाएँ तो भाव एकदम उलट जाएगा। पुत्र और पुत्रवधू पर उतार कर पानी पीना तो इस बात का प्रतीक है कि सारी रोगबला मुझे लगे, लेकिन मेरा पुत्र तथा वधू सकुशल रहें। अतः 'ज़ौक़' के शेर का अर्थ विपरीत लक्षणा से करना चाहिए। भाव यह है कि यदि किसी के (अर्थात् आशिक़ के) व्याकुल हृदय की पीड़ा दूर करनी है तो किसी (अर्थात् माशूक़) के सर पर से पानी उतार कर उसे पिलाओ। तात्पर्य यह है कि आशिक़ को राहत तभी होगी जब माशूक़ का दुख-दर्द उसके पास आ जाय।

पानी वारने का अर्थ है पानी को किसी बर्तन मे लेकर अपने इष्ट व्यक्ति के सर के चारों तरफ़ घुमाना (फिराना)। चारों तरफ़ फिराने के कारण उसे 'पानी फिराना' भी कहते हैं। कवि 'देव' ने 'वारि फेरियत है' प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

तिल है अमोल लोल-नैनी के कपोल गोल
बोलत अमोल जन बारि फेरियत है।

भाव यह है कि तेलिन के गाल का अमोल तिल और उसके अमोल बोल ये दोनों ग़ज़ब के हैं। लोग उस चंचलनयना को कुदृष्टि से बचाने के लिए बारम्बार पानी निछावर करते हैं।

इसी प्रकार का एक विश्वास यह भी है कि यदि किसी को देखकर तिनका तोड़कर फेंक दिया जाय, तो कुदृष्टि नहीं लगती। आलोच्यकालीन हिन्दी-काव्य में तृण तोड़ने के उल्लेख हैं—

यहि बानक सों वृषभान सुता जब बाट गहै बन ओरन की।
'द्विजदेव' जू काहि न चाह बढ़ै मन वारि घने तृण तोरन की।

उर्दू-शाइरी में नज़र से बचाने के लिए 'सर से रोटी छुआने' का ज़िक्र भी हुआ है। हिन्दी-रीतिकविता में इस प्रथा का वर्णन कहीं नहीं प्राप्त होता—

मटक के कोई सदक़े जाने लगी।
कोई सर से रोटी छुआने लगी। —मीर हसन

कुछ टोटके आधिवैदिक प्रकोप शांत करने के लिए किए जाते थे। आँधी रोकने के लिए झाड़ू सिल के नीचे दबाना गाँवों में आज भी प्रचलित है। रीति-कालीन उर्दू-शाइरी से पता चलता है कि पानी बरसना बन्द करने के लिए लोग पानी में तेल डालते थे—

वादा है आने का उसके अब्र खुल जाए तो आए
डालता हूँ दम-बदम उठ-उठ के रोग़न आब में। —ज़ौक़

निषेध

उपर्युक्त क्रिया-कलाप अमंगल या अप्रिय घटना-निवारणार्थ किए जाते थे। मनुष्य अमंगल-भीरु प्राणी है। वह अमंगल-साक्षात्कार से ही नहीं, उसकी आशंका मात्र से सहम जाता है। अमंगलाशंका के कारण लोग अनेक शब्दों का उच्चारण नहीं करते। ऐसे निषेध रीतिकालीन काव्य मे उपलब्ध हैं। साँप को साँप न कह-कर 'कीड़ा' कहा जाता था—

बिच्छू किसी को काटे कीड़ा किसी को घूरे —नज़ीर

इस प्रकार के निषेध वर्तमान समाज में भी प्रचलित हैं। लोग तपेदिक़ को 'बड़ी बीमारी', चेचक को 'माता' या 'सीतला माता' कहते हैं। 'दिया बुझ जाना' मुहावरा है, जिसका अर्थ होता है बंश-नाश हो जाना। अतः वंश-नाश के भय से, 'दिया बुझा दो' के स्थान पर 'दिया बढ़ा दो' बोलते है। आलोच्यकालीन कविता में यह प्रयोग सामान्य था—

अंग-अंग-नग जगमगत दीपसिखा सी देह।
दिया बढ़ाएँ हूँ रहै बड़ो उज्यारौ गेह। —बिहारी

इसी भाँति दूकान खत्म करना ही जगह 'दूकान बढ़ाना' शब्दों का प्रचलन था। 'मीर का निम्नांकित शेर इस सिलसिले में द्रष्टव्य है—

शोरे-मताए-ख़ूबी उस शोख़ का बला था
बाज़ारी सब दुकानें अपनी बढ़ा के बैठे।

भूत-प्रेत

रीतिकाल की जनता को भूत-प्रेतों में बहुत विश्वास था। मिर्ज़ा 'सौदा' ने एक शेर में 'अगिया बैताल' की दुहाई दी है—

बादशाहों की बादशाही है।
अगिया-बैताल की दुहाई है।

आम तौर पर माना जाता था कि भूत-प्रेतादि यत्र-तत्र विचरते रहते है। जो लोग सुगंधित तेल मलकर बाल खोले संध्या-समय निर्जन स्थान पर घूमते हैं वे इन असद् ग्रहों के शिकार हो जाते हैं। 'नज़ीर' अकबराबादी अपने माशूक़ को आगाह करते हैं—

तुम्हें ख़बर नहीं प्यारे अभी तो तुम लड़के।
गुलाबो-इत्र मला है जो तुमने कपड़ों से।
ये बक़्ते-शाम है और दोनों वक़्त हैं मिलते।
मुझे ये डर है किसी की नज़र न लग जावे
फिरो न तुम खुले बालों से जान कोठे पर।

जब भूतावेश हो जाता था तो झाड़-फूंक करने वाले ओझा बुलाए जाते थे। ये लोग आविष्ट व्यक्ति की नाक में लोबान या मिर्च आदि की धूनी देते थे। तत्कालीन काव्य इस तथ्य पर प्रकाश डालता है—

तू भूत हो छाती प अगर आन चढ़ेगा।
तो वाँ भी तेरे वास्ते आमिल कोई बुलवा।
शीशे में उतरवा के तुझे देवेंगे गड़वा।
या खूब सा सुलगा के कोई हाय फ़लीता
धूनी भी तेरी नाक में दिलबाएगी बाबा। —नज़ीर

तंत्र-मंत्र और जादू-टोना

रीतिकालीन समाज परम्परा एवं अंध विश्वासों का समाज था। तंत्र-मंत्र जादू-टोनों का उन दिनों अच्छा प्रचार था। बंगाल तथा कामरूप प्रदेशों को तंत्र-मंत्र जादू-टोने का गढ़ समझा जाता था। 'वली' औरंगाबादी के काव्य में इन दोनों स्थानों का ज़िक्र हुआ है—

कामरू देस है तेरा कूचा
नईं ग़लत है यू शहरे बंगाला।

तंत्र-मंत्र तथा जादू परस्पर संबंधित है। जादू का सम्बन्ध भी मंत्र से है, लेकिन वह प्रायः दृष्टि भर बाँध देता है बस, किसी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं

करता । मंत्र-विद्या से स्थिति वास्तव में बदली जा सकती है। जादू में चमत्कार मात्र रहता है, मंत्र से सारी सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं।

मीमांस्य काल में भैरों आदि देवताओं को सिद्ध करके तांत्रिक लोग अपना प्रभाव जमाते थे। एतदर्थ आधी रात मे मसान पर जाकर मुर्दे की खोपड़ी में काजल पारते थे अथवा चावलों को, सिन्दूर का मोयन देकर मुर्दे की खोपड़ी में राँधते थे। विश्वास था कि इन चावलों को जिस पर फेंक दिया जाएगा वह व्यक्ति वश में हो जाएगा। 'नज़ीर' ने इन तांत्रिक क्रियाओं का उल्लेख अधोलिखित पंक्तियों में किया है—

जादू जो हुस्न देखा तो सीखे जादू टोने।
भैरों के तई जगाके बैठाया कोने कोने।
पार खोपड़ी मे काजल चावल सिंदूर मोने।
जादू में देख डाले काफ़िर कई सलोने।

तमः प्रधान प्रवृत्ति से संबंधित प्रयोजन दृष्टि में रखकर जो क्रियाएँ की जाती हैं वे तंत्र है। उन क्रियाओं के साथ जो मंत्र जपे जाते हैं उनसे क्रिया फलवती होती है। ऐसी क्रियाएँ तथा ऐसे मंत्र-जप घोर अंधकार में किए जाते हैं। एतादृश मंत्र जगाने के लिए दिवाली की रात बहुत उपयुक्त मानी गई है। कवि 'सोमनाथ' के एक सवैये में इस प्रकार मंत्र जगाने का वर्णन आया है—

चारु निहारि तरैयन की द्युति लागौ महा विरहा तन तावन।
ए 'ससिनाथ' कहा कहिए उन सूल गनै नहिं कंज से पावन।
पीत दुकूल में फूलन लै अलबेली के प्रेम की सिद्धि बढ़ावन।
कान्ह दिवारी की रैनि चले बरसाने मनोज को मंत्र जगावन।

'ज़ौक़' ने भी माशूक़ को वश में करने के लिए 'हुब का अमल' किया है।

हिन्दी-रीतिकाव्य मे 'मूठ मारने' की चर्चा अक्सर की गई है। ऐसा विश्वास था कि तंत्रशास्त्र की विधि से अभिमंत्रित कोई वस्तु मुट्ठी में लेकर यदि किसी का नाम उच्चारित करके फेक दी जाय वह व्यक्ति अचेत होएगा। इसे मूठ चलाना अथवा मूठ मारना कहते थे—

पीठ दिये हीं नैंक मुरि, कर घूंघट पटु टारि।
भरि गुलाल की मूठि सौं गई मूठि-सी मारि। —बिहारी

मूठ को अमोघ समझा जाता था। 'जुरअत' के एक शेर में ऐसा ही विश्वास प्रकट किया गया है—

तेग़ा क़ातिल का कहे है कि दवा नै बंदो।
मूठ की तरह से तुम सब प मैं चल जाऊँगा।

साँप के काटने पर गारुडी लोग तंत्र-मंत्र चिकित्सा करते थे। रोगी के सामने फूल की थाली बजा-बजाकर उसकी निद्रा भंग की जाती थी। गारुडी लोग मंत्र पढ़ते थे। रोगी विष के प्रभाव से झूमने लगता था। इसे मंत्र का असर समझा जाता था। गारुडियों की भाषा में यह 'खेलना' कहलाता है। यह प्रथा मृतरूप में आज भी प्रचलित है। रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में इस चिकित्सा की व्यंजना है—

डसा हो काले ने जिसको काफ़िर तो वो फ़सूँ के असर से खेले।
दहानो - गेसू का तेरा मारा न मुँह से बोले न सर से खेले।—ज़ौक़

तंत्र-मंत्र और टोना एक से नहीं होते। टोना वह क्रिया है जो किसी व्यक्ति विशेष को उद्देश्य में रखकर उसे हानि पहुँचाने की दृष्टि से की जाती है। टोना के लिए कोई वस्तु माध्यम बनाई जाती है, जैसे घुग्घू के नाखून आदि। जिसका नाम लेकर टोना किया जाता है उसी व्यक्ति के पास वह पदार्थ पहुँचता है और उसका अहित कर देता है।

टोना और टोटके में यह अन्तर है कि टोटके अमंगल निवारणार्थ किए जाते हैं, लेकिन टोने किसी पर अमंगल लाने का काम करते हैं। विमर्श्य काव्य में टोने के लिए दो-तीन वस्तुओं का ज़िक्र उपलब्ध है।

किसी के घर मे लड़ाई कराने के लिए सेह का काँटा, कनेर का फूल या गुड़हल का फूल डाल देते थे। 'ज़ौक़' ने सेह के काँटे तथा कनेर के फूल का यही उपयोग दिखाया है—

जिस घर में हो लड़ाई वहाँ आदमी नहीं
काँटा समझिए सेह का या गुल कनेर का।

बिहारीलाल का एक दोहा व्यंजना से गुडहल के फूल को कलह का मूल बताता है—

वाही दिन तैं ना मिट्यौ मानु कलह कौ मूल।
भलै पधारे पाहुने, ह्वै गुडहर को फूल।

पर्वोत्सव

पर्वोत्सव मानवीय मनोभावों को क्रियात्मक रूप देते हैं। वे मानव-जाति के सांस्कृतिक दर्पण हैं, क्योंकि युगों-युगों के संस्कार उन पर्वोत्सवों में संचित रहते हैं। यद्यपि काल-प्रवाह पर्वोत्सवों के बाह्य रूप में परिवर्तन करता रहता है, लेकिन उनसे सम्बद्ध विश्वासों, रीति-रिवाजों एवं संस्कारों मे अनुस्यूत चेतना-सूत्र का रंग अपेक्षाकृत बहुत कम परिवर्तित होता है। अतः किसी जाति या देश के पर्वोत्सवों का अध्ययन वहाँ की संस्कृति के ज्ञान में बहुत अधिक सहायता पहुँचाता है।

समीक्ष्य काल की उर्दू-शाइरी में नौरोज़, ईद आदि मुसलमानी त्योहारों के वर्णन हैं, लेकिन हिन्दी-रीतिकविता में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नही हो सका। हिन्दू-पर्वों में अक्षय तृतीया, वट सावित्री, गनगौर, हरितालिका और गणेश चतुर्थी के उल्लेख कवियों ने किए हैं, परन्तु तत्कालीन उर्दू-शाइरी उनका कोई ज़िक्र नहीं करती। श्रावणी का वर्णन हिन्दी-रीतिकाव्यान्तर्गत 'ठाकुर' के एक छंद में हुआ है—

आज सुभ पावन सलोनो की परब आज
अंग अंग सुभग सिंगारन बनैहों मैं।

श्रावणी को 'सलोनों' भी कहते हैं। श्रावणी पर रक्षाबंधन बाँधा जाता है और किसी पात्र मे बोए हुए अन्न के अंकुर किसी नदी या तालाब में सिराते हैं। ब्रज प्रदेश में इस व्यापार को भुजरिया या कजलिया सिराना कहते हैं। उपरि उद्धृत छंद से सम्बद्ध निम्नांकित पंक्तियों में कवि ने इन दोनों बातों का वर्णन किया है—

देखि रक्षाबंधन गोविन्द जू के हाथ साथ
राधे की कजलिया सिरावन को जैहों मैं।

रीतिकालीन उर्दू-शाइरों मे 'नज़ीर' अकबराबादी के काव्य में राखी का विस्तृत चित्रण है, लेकिन अन्य शाइरों ने इसका उल्लेख इस रूप में नहीं किया। दशहरा का उल्लेख 'ठाकुर' के एक कवित्त को छोड़कर और कहीं नहीं मिलता। बस 'बिहारी' ने एक दोहे में नाम भर ले लिया है। जब हिन्दी-कवियों में भी इन पर्वों को वर्णन करने का उल्लास नहीं, तो तत्कालीन उर्दू-शाइरों से उसकी आशा कैसे की जा सकती है। उर्दू-शाइरी में गंगा के मेले का यत्र-तत्र उल्लेख है। इस सन्दर्भ में दशहरे का वर्णन भी हुआ है और गंगा-स्नान का कभी-कभी ग्रहण के सिलसिले में कथन भी हो गया, अथवा माशूक़ के 'ख़त्ते शबरंग' का चित्रण करते समय शाइर ने चन्द्रग्रहण लगने का उल्लेख कर दिया, जैसे—

ख़त्ते-शबरंग य गालों प नहीं ध्यान करो।
है अजी चाँद-गहन बोसा कोई दान करो। —नासिख़

अन्यथा पृथक् रूप से इन पर्वों या त्योहारों के चित्रण उर्दू-शाइरों ने नहीं किए हैं।

दीपावली के वर्णन हिन्दी-काव्य में प्रस्तुत-रूप तो बहुत ही कम हैं, हाँ अप्रस्तुत के रूप में उसका उल्लेख बहुत हुआ है। कवियों ने नायिका को लेकर दीपावली के अनेक रूपक बाँधे हैं। उर्दू-शाइरी में भी दिवाली अप्रस्तुत-प्रसंग में ही उपलब्ध है—

हुजूम रखते हैं जाँबाज़ यों तेरे आगे
जुवारियों का दिवाली में जैसे हो जमघट । —नासिख़

दीपावली के पश्चात् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को गोधन-पूजा होती है। 'बिहारी' के एक दोहे में इसका संकेत हैं। उर्दू-कविता ने इसका कही उल्लेख नहीं किया।

हिन्दुओं के पर्वों में होली का पर्व ऐसा है, जिसके राग-रंग ने पूरे भारतीय जीवन को प्रभावित किया है। होली अतीव हर्षोन्माद का त्योहार है। उर्दू-शाइरों ने इसे भारतीय नौरोज़ कहा है और इस उत्सव को जश्ने-नौरोज़ी कहकर पुकारा है—

जश्ने नौरोज़े-हिन्द होली है।
राग रंग और बोली ठोली है। —मीर

इस जश्न में मुसलमान भी सम्मिलित होते थे। 'मीर' नवाब आसफ़ुद्दौला का होली खेलना वर्णन करते हैं—

होली खेला [illegible] वज़ीर।
रंगे-सोहव्त से अजब हैं, ख़ुर्दो-पीर।

हिन्दी-रीतिकाव्यान्तर्गत होली की धूम का प्रारंभ बसंत पंचमी से माना गया है। बसंत पंचमी को श्रीपंचमी भी कहते हैं। आलोच्यकालीन हिन्दी-कवियों ने बसंत पंचमी को ऐसा पर्व बताया है, जिसमें नाचे बिना रहा ही नहीं जा सकता "नाचैं बनैगी बसंत की पांचैं।"[५] 'देव' कवि के अनुसार ऐसा कोई घर नहीं जहाँ इस दिन स्त्रियाँ नाचती न हों "कौन कौन कामिनी न भौन में नचति है।" बसंत पंचमी के पश्चात् होली की घनघोर प्रसन्नता का वर्णन मिलता है।

बसंत से होली का प्रारम्भ उर्दू-शाइर 'फ़ायज़' की रचना में भी है। लोग केसरिया लिबास पहनकर होली खेलते थे। हिन्दी-कवियों ने मुट्ठी भर-भरकर गुलाल फेंकने का वर्णन किया है, परन्तु 'फ़ायज़' अबीर और अरगजा रूमाल में भरकर छिड़कने तथा उड़ाने का उल्लेख करते हैं। नारियों का हिंडोलों में झूलना, नाचना, होली गाना, पिचकारी लेकर इधर-उधर दौड़ना—सभी का चित्रण 'फ़ायज़' की रचना 'तारीफ़े-होली' में उपलब्ध है—

ज्यों झड़ी हर सू है पिचकारी की धार।
दौड़ती है नारियाँ बिजली के सार।

हिन्दी-रीतिकविता तो होली की रँगरेलियों से और भी रंगीन है। कवियों ने अबीर गुलाल से घर, तरु, केकी, शुक, पिक सभी को लाल दिखाया है। अबीर

के इन रंगीन बादलों में नायिकाएँ बिजली-सी चमकती हैं। रीतिकालीन उर्दू-कवि 'मीर' के वर्णनों से मालूम पड़ता है कि गुलाल के क़ुमक़ुमे मार-मार कर भी होली खेलते थे। गुलाब की पत्तियाँ मिलाकर अबीर उड़ाया जाता था।

होली का आनंदोत्सव ब्रज भूमि में अपनी चरम सीमा पर पहुँचता था। 'नज़ीर' अकबराबादी इस होली के विषय में कहते हैं—

ये सैर होली की हमने तो बिरज में देखी।
कहीं न होवेगी इस लुत्फ़ की मियाँ होली।
कोई तो डूबा है दामन से लेके ता चोली।
कोई तो मुरली बजाता है कह कन्हैया जी।
है धूमधाम ये बे-अख़्तियार होली में।

हाथों में पिचकारी लिए हुए स्त्री-पुरुष रंग की झड़ी लगा देते थे, जैसे बरसात हो रही हो। स्त्रियाँ पुरुषों को पिचकारी का निशाना बनाकर लज्जावश सखियों की ओट ले लेती थीं। उस समय उनके उरोजों से वस्त्र खिसक जाता था, कमर लचक जाती थी—

छाय जात आनँद लजाय जात गोरी सुनि
चोट करि कान्ह पै अली की ओट आइ जात। —'षट्० का०

ये स्त्रियाँ जूड़ा समेट कर अपना बड़ा लँहगा कमर मे जकड़ कर बाँध लेती थीं। "कबरी समेटि बाँधी सबरी सुभग शुचि लँहगो जबर कस्यो लंक मे जकरि कै।"[६] वे पुरुष को चारों ओर से घेर कर गिरफ़्तार कर लेती थीं। इस समय वे बिल्कुल मस्त हो जाती थीं "अतर अबीर तर बतर शरीर कीन्हें सतर उरोज भीने चन्दन अगर मैं।"[७] गुलाल की उलीच तथा केशर की कीच के बीच स्त्री-पुरुषों का फिसलना एक सामान्य दृश्य था। 'ठाकुर' ने नायक को लेकर केसर-कीच में गिरने वाली नायिका का चित्र प्रस्तुत किया है—

रंग सों माचि रही रस फाग पुरीं गलियाँ ज्यों गुलाल उलीच में।
जाय सकैं न इतै न उतै सो घिरे नर-नारि सनेह रँगीच में।
'ठाकुर' ऐसो उमाह मचो भयो कौतुक एक सखीन के बीच में।
रंग भरी रसमाती गुवालि गोपालहि लै गिरी केसर कीच में।

यह रस-रंग सारी मर्यादाएँ तोड़कर हुड़दंग में बदल जाता था। 'बोधा' कवि ने इस 'धूसरधस्सा' का उल्लेख करते हुए बताया है कि लोग गधे पर सवार होकर तरह-तरह के स्वाँग बनाते थे। होरिहारों की भीड़ का रूप शिव की बारात की तरह विचित्र होता था। कोई गधे पर सवार, किसी के गले में हाड़ों की माला, कोई धूल उड़ा रहा है तो कोई गा रहा है। लोग गोबर में सने, शराब के नशे में

धुत दिखाई देते थे। स्त्रियों की बात न पूछिए, बाल बिखेरे रस में मस्त एवं हाथों में लट्ठ लिए मँडराती फिरती थीं। लोग घूड़ों पर लोट-लोट कर विष्टा में सन जाते थे—

एके फूँक होलिका आवैं।
भाँति भाँति के स्वाँग बनावैं।
गदहा चढ़ै जार शिर बाँधैं।
हाड़न की माला आराधैं।
धूर उड़ावत गावत सोई।
अन होनी जो जग में होई।

गोबर कीच सनैये बने अरु कीन्हें कुसुंभ शराब के नस्सा।
हाथ में लट्ठ लटैं बिथिरीं उन्माती सी नारिं किये रसमस्सा।
घूरन पै लपटैं झपटैं सनैं इल्लत गावैं खूसर फस्सा।
को बरनै जो लख्यो इन आँखिन फागुन मास को धूसरधस्सा।

होली में न केवल हृदयावेग बाँध तोड़कर फूट पड़ता था, अपितु मन की सारी दुर्भावनाएँ समाप्त कर दी जाती थीं। मित्रों की कौन कहे दुश्मन भी अपने मन का मैल दूर कर गले मिलते थे। प्रेमी-प्रेमिकाओं को अपने अरमान निकालने का अवसर इस त्योहार से बढ़कर कहाँ मिल सकता था? हिन्दी-रीतिकविता में नायक-नायिकाओं की पचासों रंग-क्रीड़ाओं के चित्रण किए गए हैं। प्रेमी-प्रेमिकाओं की छीना-झपटी का दृश्य ही विलक्षण है। नायिकाएँ अँगिया कसे, गुलालों से झोलियाँ भरे कूदती फिरती हैं—

आँगी कसैं उकसैं कुच ऊँचे हसैं हुलसैं फुँफुदीन की फूँदैं।
चंदन ओट करै पिय जोट पै अंचर ओट दृगंचल मूँदैं।
'देव' जू कुंकुम केसरि की मुख वारिज बीच विराजत बूँदैं।
बाढ्यो विनोद गुलाल लै गोदनि मोद भरी चहुँ कोदनि कूदैं।

यदि नायक सामने मिल जाता तो नायिका दोनों हाथों में गुलाल भर कर उसे मीज डालती थी। नायक उसे पकड़ कर आलिंगन कर लेता था, जिससे उसकी श्वासगति बढ़ जाती थी, छाती उच्चावच होने लगती थी। उस समय उसके उरोजों की शोभा देखते ही बनती थी—

केसरि कुसुम रंग अंग की किशोरी, रंग
केसरि के बोरि 'देव' प्रेम की पहुँच कै।
जगमगे गातन उठत रँगमगे रोम
नाभि के नगीच बीच त्रिबली सहुँच कै।

लालन गुलाल मैं दुहू करन मींजे, रस
भीजे जे पसीजे हियरा मैं लेत हुचकैं।
अंचल मैं कंचन कमल कलिका से कुच
कंचुकी में रंचक उसासैं लेत उचकैं।

आलोच्यकालीन हिन्दी-रीतिकाव्य मे होली नायक-नायिका को मिलाने का माध्यम होने से एक प्रकार से दूती का काम करती है। ऐसा सर्वकार्यसाधक पर्व मुसलमानों के धर्म में नहीं है। इसीलिए उर्दू-शाइरी में आशिक़ बेचारा ख़ून के आँसू रोता रहता है और माशूक़ से बार-बार अर्ज़ करता है कि प्यारे एक पिचकारी इधर भी लगा दो। यदि इतनी कृपा नहीं करते तो एक गाली ही दे दो—

जो हँस के दो हमें प्यारे तुम इस घड़ी गाली
तो हम भी जाने कि ऐसा है प्यार होली में। —नज़ीर

संगीत

उत्सव के साथ राग-रंग का अभिन्न सम्बन्ध है। राज-दरबारों में रहने के कारण कवियों तथा शाइरों को संगीत की जानकारी थी। अतएव यह जानकारी आलोच्यकाल की कविता में प्रकट हुई है। संगीत-शास्त्र का ज्ञान कहीं तो काव्य में सन्दर्भवश आया है और कहीं सिर्फ़ कवि अपना ज्ञान-प्रदर्शन करने के लिए राग-रागनियों के नाम गिनाता है। ऐसे अवसर पर यह ज्ञान कविता में ऊपर से चिपका हुआ प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ 'बोधा' ने 'विरह वारीश' में प्रसंग चलाया कि माधवानल और कामकंदला रात भर रतिरण करके जब सबेरे उठे तो दोनों एक सेज पर बैठ गए, और बातचीत होने लगी—

बूझै सुकन्दला बालमंत।
मोहिं नाद-भेद समझाव कंत।

बस फिर क्या था, माधवानल ने राग-भेद बताना प्रारम्भ किया—

राग भूप भैरव प्रथम वाला पाँच बखान।
लाला तिनके आठऊ कह नौ विविध विधान।
प्रथम भैरवी गावत लोई।
ताके परे बिलावल होई।

और इस प्रकार बंगावली, विभासा, भूपाली, अल्हैया, सुहेला, मालकौस्तुभ, धनाश्री युवश्री, जैतश्री, मालरूप दौनाश्री, मारु, सूर, गंधार, धाराधर, बडहंस, गौरि, गिरी, टोड़ी, रामकली, हिडोला, मंगला, चंद बिव, हिडोल, तैलंगी, अहीरी, दीपक, गूजरी, कावेरी, पटमंजरी, पंचक, कामोदी, कुंतल, कमल, कुसुम, कल्यान,

गौर, सारंग, सोहनी, माला, गौरी, करनाटकी, आशावरी, कुकंभ, कुंभ सारदा, सोरठ, ईमन, श्रीराग, केदारा, विहाग, विहागरोठान, शंकर नाट, श्यामा कलिंग, जतधमार तथा नारंदी आदि राग-रागिनियाँ गिनाई गई हैं। 'सहरुल्बयान' मे धुरपद और गीत गाने की चर्चा है।

ऋत्वनुकूल राग गाने के वर्णन भी कवियों ने किए हैं। वसंत ऋतु मे तथा होली पर 'धामरि' गाने के उल्लेख हैं। आलोच्यकालीन हिन्दी-कविता में 'मलार' राग गाने का वर्णन उद्दीपन-रूप में प्रायः हुआ है। संध्या समय कृष्ण का मलार बजाना गोपियों के लिए प्रबल निमंत्रण है—

तहाँ आज साँझ समै साँवरे सलोने आइ
बाँसुरी बजाई गाई सुघर मलार है। —रघुनाथ

मलार राग वर्षा ऋतु का राग है। मलार गाने से वर्षा होती है, ऐसा संकेत 'बिहारी' के दोहे में प्राप्त है। प्रवत्स्यत्पतिका ने पूस मास में मलार गाकर प्रियतम का परदेश-गमन स्थगित करा दिया—

पूस मास सुनि सखिन पैं साईं चलत सवार।
गहि कर बीन प्रबीन तिय राग्यौ रागु मलार।

राज-दरबारों के आश्रय में संगीत के अखाड़े होते थे और समय-समय पर प्रतियोगिताएँ भी की जाती थीं। प्रतियोगिताओं का एक नमूना 'विरह वारीश' में द्रष्टव्य है।

साधारणतया महफ़िलों में वेश्याएँ चलती तर्ज़ के गाने गाती थीं। गाते समय लम्बी तान खींचती थीं। इसे 'टीप, कहते थे। कभी-कभी 'टीप' लगाते हुए उनका स्वर विवादी भी हो जाता था—

जात कहूँ ते कहूँ को चल्यो सुर
टीप न लागति तान धरे की। —रघुनाथ

इन चलते रागों में 'ख्याल' भी प्रसिद्ध था। 'रघुनाथ' कवि ने प्रातः के राग 'विभास' के बीच एक 'ख्याल' गाने का वर्णन किया है—

तब लागी गावन विभास बीच ख्याल एक
ताल तान सुर को बधान बीच ग्वै रह्यो।

मीर हसन ने मसनवी 'सहरुल्बयान' के अन्तर्गत 'खरग' तथा 'एमन' का विशेष महत्व बताया है। खरग राग खूब जमता था—

वो अरबाबे-इशरत का आपस में मिल।
जमाना खरग राग का देके दिल।

और 'एमन' राग की लहराती तानें मन आकर्षित कर लेती थीं—

वो एमन की तानें इधर और उधर।
मिले सुर तँबूरों के बा इकदिगर।

लेकिन ज्यादा दिलकश तान 'टप्पे' की होती थी—

लगी गाने टप्पा वो इस आन से।
निकलने लगी जान हर तान से।

वाद्य यंत्र

गाने के संग अनेक प्रकार के वाद्य यंत्रों के उल्लेख हुए हैं। वसंत ऋतु में लोक गीतों के साथ चंग, मुहचंग, मुरली, मृदंग, वीणा, डफ़, ढोलक तथा मृदंग आदि का उल्लेख बारम्बार मिलता है।

उर्दू-शाइरी में इनके आलावा पखावज तथा ऊद का उल्लेख हुआ है। रबाब और सरोद का प्रचलन ख़ूब था। ये वाद्य दरबारी संस्कृति से विशेषतः सम्बद्ध हैं। लेकिन 'नज़ीर' की शाइरी मे खंजड़ी की आवाज़ भी सुनाई पड़ती है।

मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में बाँसुरी को वाद्यों के अन्तर्गत प्रमुख स्थान प्राप्त है। रीतिकाल में भी उसका महत्व कम नहीं है। नायक प्रायः बाँसुरी बजाकर नायिका को बुलाता है। लेकिन रीतिकालीन हिन्दी-कविना में 'अलग़ोज़े' बजाने के वर्णन भी हैं—

अलगोजे बज्जत छिति पर छज्जत
सुनि धुनि लज्जत कोइ रहैं —पदमाकर

'अलग़ोज़ा' बाँसुरी की तरह का सुषिर वाद्य है। बाँसुरी एक होती है, परन्तु अलग़ोज़े एक साथ दो बजाए जाते है। ये अलग़ोज़े रीतिकाल में लोकप्रिय थे।

उर्दू-काव्य के प्रभूत वर्णनों से ज्ञात होता है कि शादी या पुत्र-जन्म के अवसर पर नौबत बजाने का रिवाज था। पहरा देते समय रात में नरसिंहे बजाए जाते थे—

गश्त जब उसका फिरता आता है
यही नरसिंगियाँ बजाता है। —सौदा

सारंगी उस काल का एक खास बाजा था। मीर हसन ने 'सहरुल्बयान' में

वेश्याओं के साथ संगत में सारंगी, नक़्क़ारा, क़ानून, बीन, रबाब, तब्ला, मृदंग, चंग तथा सितार का वर्णन किया है।

रबाब तथा नगाड़े युद्ध-क्षेत्र में भी बजाए जाते थे। 'पदमाकर' की 'प्रतापसिंह विरुदावली' में इनका ज़िक्र है। 'बोधा' कवि ने रण वाद्यों में बहुत से बाजों का उल्लेख किया है। उज्जैन के राजा विक्रमसेन की सेना कामसेन पर आक्रमण करने को तैयार हो रही है। देखिए कौन-कौन से बाजे बज रहे हैं—

बजै खाखरा यों घनी घोर कीन्हीं।
मतै दिग्गजन जोर चिक्कार दीन्हीं।
नगाड़े यथा मेघमाला धुकारैं।
तिन्हैं चाहि ढाढ़ी शिखंडी पुकारैं।
बजै तूरही भूरही भेरि गाजैं।
मनौ गाज चिल्ली हजारान राजैं।

बजै साहनाई घने ढोल जंगी।
गजैं शाह के चाह मानो मतंगी।
बजैं गुड़गुड़ी ढक्क बीना भनाके।
यथा वाटिका भूरि भगी भनाके।
बजै नारसिंही चढ्यो जोर चित्ता।
पढ़ै रावराना हजारों कवित्ता।

नगाड़े, शहनाई, नरसिंही तथा तुरही के अतिरिक्त खाखरा, गुड़गुड़ी एवं ढक्क बीना का जो उल्लेख कवि ने किया है वह रीतिकालीन कविता में प्रायः नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि इन वाद्यों का विशेष रूप से युद्ध में ही प्रयोग होता था, आम तौर से समाज में उनका प्रचलन नहीं था।

नृत्य

सामन्तीय वातावरण मे साँस लेने के कारण आलोच्यकालीन समाज राग-रंग नृत्य-गान प्रिय समाज था। ऐसे समाज की महफ़िलों में नाच-गाने का आम रिवाज था। हिन्दी-रीतिकाव्य में नायिका-भेद के अन्तर्गत सामान्या के वर्णन सभी कवियों ने किए हैं, परन्तु आश्चर्य है कि उसके नृत्य का कोई विवरण उन्होंने नहीं दिया। नृत्य का सामान्य कथन कृष्ण और गोपियों की रासलीला के प्रसंग मे हुआ है, परन्तु वहाँ इतना भर बताया गया है कि—

गोपिनु सँग निसि सरद की रमत रसिक रस-रास।
लहाछेह अति गतिनु की सबनु लखे सब-पास। —बिहारी

इस दोहे से सिर्फ़ यह मालूम पड़ जाता है कि रास में अति लघ्वाक्षेप के कारण नृत्य अति द्रुत लय से होता था, लेकिन नृत्य के अन्य लक्षण नहीं मिलते।

हिन्दी-कविता में नृत्य के सिलसिले में प्रायः पातुरों का नाम लिया जाता है। परन्तु उर्दू-शाइरी में 'डोमनी' शब्द प्रचलित है। उर्दू-शाइरों ने नृत्य का वर्णन करते समय नर्तकी की चाल-ढाल, नाज़ो-अदा तथा गति का सोपक्रम उल्लेख किया है। 'सहरुल्बयान' में बद्रेमुनीर ने जब हुस्नबाई को बुलाया तो वह किस बनाव-सिंगार से आई—

अजब हाल से वह चली नाज़नीं।
कि मस्ती में पाओं कहीं का कहीं।
वो ख़िलक़त की गर्मी वो डोमनपना।
नशे में भभूका-सा चेहरा बना।
लटें मुँह प छूटी हुई सर बसर।
कि बदली हो जूँ मह के ईधर-उधर।

नृत्य-गान के उपक्रम में वादक लोग अपने-अपने बाजे ठीक करने लगते थे। नर्तकी आई कि सारंगी की कमाँचें सँभलीं, तँबूरे तथा मृदंग के सुर मिलाए गए, और—

सितारों के पर्दे बनाकर दुरुस्त।
बजाने लगे सब वे चालाको-चुस्त। —मीर हसन

वेश्या पान खाकर अँगूठे की आरसी में अपना रूप देखती हुई आस्तीन और मुहरी का चाक उलट कर अँगिया को नए सिरे से ठीक-ठाक करके दामन झटक कर पंक्ति से बाहर निकल आती थी। पहले उँगलियों को कानों से छुआकर घुँघरुओं को उठाती थी, सर से स्पर्श करती थी फिर कंधे पर इधर-उधर हाथ रखकर वाद्य-संगत के साथ नाचती हुई चलती थी—

दुपट्टे को सर पर उलट और सँभल।
यकायक वो सफ़ चीर आना निकल।
पकड़ कान और घुँघरुओं को उठा।
पहन पाँव में अपने सर से छुआ।
इधर और उधर रख के काँधे प हाथ।
चली नाचती आना संगत के साथ। —मीर हसन

नर्तकियों के आगे बढ़ने, पीछे हटने की गति तथा अदाओं का वर्णन भी मिलता है—

वो घटना वो बढ़ना अदाओं के साथ।
दिखाना वो रख रख के छाती प हाथ।
कभी दिल को पाँवों से मल डालना।
नज़र से कभी देखना भालना।
दिखाना कभी अपनी छब मुस्करा।
कभी अपनी अँगिया को लेना छुपा। —मीर हसन

रात में रोशनी का उचित प्रबन्ध न होने पर मशाल दिखाने के लिए कुछ लोग नियुक्त रहते थे। ये लोग 'भडुए' कहलाते थे। इनका काम था मशाल लेकर वेश्या के साथ-साथ आगे-पीछे लगे रहना। इनकी मशाल नर्तकी के मुँह के सामने रहती थी, जिससे दर्शक मुँह का भली-भाँति दर्शन कर सकें। उनके एक हाथ में मशाल और दूसरे में तेल की कुप्पी रहती थी। 'मीर' की एक मसनवी में ऐसे भडुओं का एक चित्र है—

रंडी गत नाचे ये उसको मुँह दिखायँ।
पा ब पा मिश्अल लिए मज्लिस में जायें।
रौशनी ले दौड़ते हैं वक़्ते-शाम।
घूरते हैं करके अंधेरा मुदाम।
तेल की कुप्पी लिए खुश हैं खड़े।
एक भडुए होते है चिकने घड़े।

नृत्य में नर्तकियाँ विभिन्न प्रकार से कला-प्रदर्शन करती थीं। कभी सर पर जल-पात्र रखकर नाचना, कभी थाली मे मुक्ता रखकर अलकों में गूँथ लेना, कभी थाली पर नृत्य करना, कभी अनेक बटा फिराते हुए नाचना, कभी बटा को कुच पर रखकर इधर-उधर अंग स्पर्श करना आदि के उल्लेख 'विरह वारीश' में उपलब्ध हैं। नृत्य के प्रकारों का कवियों ने उल्लेख नहीं किया है। दो एक नाम ज़रूर प्राप्त होते हैं। शीश पर जलपात्र रखकर 'थुंगी' नृत्य करने का वर्णन है—

बेला जल भरि शीश धरि बाला थुंगी नची।
सहित सभा नर ईश वाह वाह माच्यो वचन। —बोधा

'नज़ीर' ने भोटिया लड़कों के नाच का चित्रण किया है।

'विरहवारीश' में 'बोधा' ने नृत्य की गति भी अंकित की है। कामावती नरेश के अखाड़े में कामकंदला की थिरकन देखिए—

क्रगदं त्रगदं त्रगदं कुकथौ कुकथौ कुकथौ थृगदं।
घननं घननं घननं घननं धिकतं धिकतं धिकतं तननं।

क्रकतं क्रकतं क्रकतं फृगदं फृगदं फृगदं फृगदं करतं ।
मृगधं मृगधं मृगधं मृगधं ततथे ततथे ततथे थृगदं ।

पौराणिक संदर्भ

संगीत-नृत्य या राग-रंग सभी लोगों के मन को अपनी ओर खींच लेते हैं, अतः वे सांस्कृतिक सम्मिलन का अत्यन्त प्रबल माध्यम हैं, परन्तु संस्कृति-संगम का साहित्य में सबसे अधिक और अचूक पता देने वाला साधन पौराणिक संदर्भों का अध्ययन है । दो जातियों के साहित्य में आए पौराणिक संदर्भों का पारस्परिक आदान-प्रदान इस बात का प्रमाण होता है कि वे एक-दूसरे की संस्कृति के प्रति न केवल सहिष्णु हैं, अपितु एक ने दूसरे के सांस्कृतिक संस्कारों को आत्मसात् भी कर लिया है । समीक्ष्यकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य मे आए पौराणिक संदर्भ इस तथ्य को भली-भाँति प्रकाशित करते हैं ।

उर्दू-कविता ने अपने शैशव में ही फ़ारसी-काव्य का स्तन्य पान करना शुरू कर दिया था । फलस्वरूप काव्य-रीति तथा काव्य-विषय दोनों को फ़ारसी-संस्कृति ने पूर्णतः प्रभावित किया । शाइर लोग अप्रस्तुत-योजना फ़ारसी से ग्रहण करने लगे । परिणाम यह हुआ कि फ़ारसी की अन्तर्कथाएँ तथा पौराणिक व्यक्तित्व उर्दू-शाइरी में छा गए । पौराणिक व्यक्तियों में पैग़म्बर और फ़रिश्ते तथा परम्परा से प्रख्यात नाम आ जाते हैं ।

इन नामों मे मूसा, ईसा, इस्माईल, याक़ूब, अयूब, नूह, खि.ज्र, आदम, हव्वा, जिब्रईल, इ.ज्राईल, इस्राफ़ील, रिज़्वाँ, नकीरैन, दाऊद, रुस्तम, ज़ाल, सामिरी, मानी, हातिम, सिकन्दर, जमशेद, मंसूर, शद्दाद, फ़िर्औन, फ़ग़फ़ूर, लुक़मान, जालीनूस, हज़रत अली, इमाम हुसैन (और उनके कुटुम्बी), अबूलहब, अफ़्लातून, फ़रीदूँ, सलमा, अ.ज्रा, शीरीं, लैला, मजनूँ फ़र्हाद, एवं अनेक अन्य पुनः पुनः आते हैं । स्थान-संबंधी नामों में कर्बला, मदीना, चिगिल, खुतन, बहिश्त, दोज़ख़ और इनसे सम्बद्ध वस्तुओं के वर्णन बार-बार हुए है ।

हिन्दी-रीतिकविता पर इन क्षेत्रों में उर्दू-प्रभाव नही के बराबर है, फिर भी सिकन्दर एवं मजनूँ के नाम कवियों ने यत्र-तत्र ले लिए है । 'सेख' ने मजनूँ के गरेबाँ चाक करने तथा कृश होकर बाल-सा हो जाने का वर्णन किया है—

थोरी बार है जु कछु थोरो सौ मैं ताकि आई
ओरो सो बिलाइ कहीं खिन ही में खोइगो ।
धीरज अधार ते रह्यो है खंग धार जैसो
आँसुन की धार सों न धूरि है जु धोइगो ।

आह सुनि आई औ न चाहि ताहि पाई फेरि
देखि 'सेख' मजनूँ बिना ही नींद सोइगो।
नीकै कै निहारि वाके बसननि झारि डारि
तार तर ताकि कहूँ बार सो जु होइगो।

'बेनी प्रबीन' ने भी 'नवरस तरंग' मे वीरता के संदर्भ में हज़रत अली को याद किया है। आसफ़ुद्दौला की प्रशंसा करते हुए कवि उनके भाई सआदत अली का वर्णन करता है—

जिनको अनुज सआदति अली।
अली समान देखिए बली।
तेज पुंज राजत ज्यों रुद्र।
धीर गंभीर समान समुद्र।

'बोधा' कवि अपने शब्दों पर मुहम्मद साहब की मोहर लगाते हैं। उनका कथन है कि हज़रत नबी ने यह फ़र्माया था कि काज़ी के सौ कोड़े लगाओ। वह क्या न्याय करेगा? बिना लौकिक प्रेम के ईश्वर-प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती—

इश्क हकीकी है फुरमाया।
बिना मजाजी किसी न पाया।
हजरत नबी कही थी आगे।
सौ कुर्रा काजी को लागे।

उर्दू-शाइरी में हज़रत मूसा के साथ 'तूर' का नाम आता ही है। संत सीतल-दास कोहे-तूर को अप्रस्तुत-रूप में रखते हुए उसके लिए फ़ारसी संस्कृति के प्रसिद्ध विशेषण 'बू अली सीना' का प्रयोग करते हैं—

मुख शरद चन्द्र पर ठहर गया जानी के बुंद पसीने का।
या कुंदन कली कमल ऊपर झमकाहट रक्खा मीने का।
देखे से होश कहाँ रहवै जो पिदर बू अली सीने का।
या लाल बदख़्शाँ पर खैंचा चौंका इल्मास नगीने का।

महाराज पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' के 'रतनहजारा' का एक दोहा इस संदर्भ में विचारणीय है—

गये जदपि मन सूर तन पत्थर घने चलाइ।
व्यापैं तन जे फूल वै मिहिरम घाले आइ।

सम्पादक हरिमोहन मालवीय ने 'मन सूर तन' या 'मुनि सूर तन' पाठान्तर दिए

हैं। वास्तव मे 'मनसूर' न होकर यह शब्द 'मंसूर' है। 'मंसूर' फ़ारसी तथा उर्दू-काव्य का परम प्रसिद्ध अद्वैतवादी पात्र है, जिसे परमहंसावस्था में देखकर लोग पागल समझते थे और उसके ऊपर ईंट पत्थर चलाते थे। इस शब्द को न जानने के कारण अनेक पाठान्तर प्रचलित हो गए हैं।

हिन्दी-रीतिकाव्य में प्राप्त इन कतिपय नामों की अपेक्षा उर्दू-शाइरों ने हिन्दी-कविता में प्रयुक्त पौराणिक संदर्भों को अधिक मात्रा में ग्रहण किया है। उर्दू-शाइरी मे न केवल अर्जुन, अपितु कौन्तेय तक का स्मरण हुआ है—

जूझन्त करने तुझ बदल जेते सिलह बाँदे बते
बल तूट जा पग बाँह के ज्यूँ कौन्तेय होकर लड़े।

—अली आदिलशाह द्वितीय

राम-लक्ष्मण, भोजराज, कर्ण, श्रवण, हनुमान तथा लंका का उल्लेख भी मिलता है। प्रारंभिक उर्दू-शाइरों के अतिरिक्त बाद के उस्तादों तक के काव्य में ये नाम एकदम नहीं भुलाए गए—

हवेली होगी लंका की तरह ऐ यार सोने की —नासिख

इन्द्र गौतम ऋषि के शाप से सहस्रलिंगी हो गए थे, जो बाद में तपस्या से सहस्राक्ष हुए। अली आदिलशाह द्वितीय ने इस अन्तर्कथा की ओर संकेत किया है—

यथी अरायश हुई महल में इंदर ने देखन नयन किया तन
रंभा ते जेती हुसन में आली बँधी अपस तो बिरद अथारा।

कृष्णलीला से संबंधित और दुर्गा, महादेव, भैरों आदि पचासों नामों के लिए 'नज़ीर' अकबराबादी की रचनाएँ द्रष्टव्य हैं। 'फ़ायज़' ने सौन्दर्य के लिए उर्वशी, रंभा, तिलोत्तमा तथा मेनका का उपमान-रूप-प्रयोग किया है।

हिन्दी-प्रेमकाव्यों में 'वती' प्रत्ययांत बीसियों नाम आए हैं, जैसे पदमावती, पुहुपावती, मृगावती। रीतिकालीन कविता मे भी कामावती, कलावती आदि अनेक नाम मिल जाएँगे, परन्तु 'वली' औरंगाबादी ने 'लीलावती' का प्रयोग जिस सन्दर्भ में किया है, वह सन्दर्भ हिन्दी-रीतिकविता में कहीं नहीं मिलता। माशूक़ का सौन्दर्य-चित्रण करते हुए 'वली' लिखते हैं—

लीलावती तू ख्याल मे पाए है मुन्तही
हर शब तेरी जुलुफ़ सों मुतव्वल की बहस थी।

अर्थात् हर रात यह बहस रहती थी कि तेरे केश लम्बे किए गए हैं। भावार्थ यह कि वे नित्य बढ़ जाते थे। उनके बढ़ने की गति ऐसी थी कि लीलावती तक उसका

अंदाज़ लगाने में पराकाष्ठा को पहुँच जाती थी। 'लीलावती' संस्कृत भाषा में रची गई गणित की अद्वितीय पुस्तक है।

गंगा भारतीय संस्कृति की प्रतीक है। गंगा का महत्व जन साधारण में इतना प्रतिष्ठित था कि रीतिकालीन उर्दू-शाइर लखनऊ का निवासी होने पर भी हिज्र में गंगा के किनारे (गोमती के किनारे नहीं) ही रोता था—

हिज्र में मुज़्तर हूँ लेकिन है वही इख़्फ़ाए-राज़
चुपके रो लेता हूँ गंगा के किनारे रात को। —नासिख़

गंगा का नाम ऐसा सुपरिचित सा है कि 'गंगा' कहकर नदी मात्र का बोध कराया जाता है। मिर्ज़ा 'सौदा' ने 'गंगा' शब्द का प्रयोग नदी के ही अर्थ में किया है—

साहबे-फ़ह्म उसे कहते है जौहर 'सौदा'
दस्तो-पा मारके ये गंगे-जहां तिरते हैं।

गंगे-जहाँ अर्थात् दरया-ए-जहाँ। शाइर ने मानो हिन्दी-रीतिकाव्य में प्रयुक्त 'भव-सागर' का अक्षरशः अनुवाद कर दिया है—

या भव पारावार को उलँघि पार को जाइ —बिहारी

लेकिन गंगा का असली महत्व उसकी पवित्रता के कारण है। वह अपनी महिमा से अपवित्रों को पवित्र बनाकर मुक्ति प्रदान करती है। गंगा की पावनता भी उर्दू-काव्य में व्यंजित हुई है। शाइर प्रवास से वापस आते समय अपना जामा गंगा में धोकर अपने को पुनीत बनाना चाहता है—

चलूं वतन को दिला जामा-पारसा बनकर
ज़रा शराब के धोलूं मैं दाग़ गंगा में। —नासिख़

गंगा-तट पर भक्तों द्वारा चढ़ाए गए फूलों का बहना और रात-रात भर दीपकों का रोशन रहना एक ऐसा दृश्य है, जिसे शाइर जीवन भर नहीं भुला सकता। न केवल इस दुनिया में अपितु उसे "फ़िर्दौस में भी याद रहेगी बहारे गंग।"[१]

गंगा से सम्बद्ध एक वस्तु है 'गंगाजली'। गंगाजली गंगा जल रखने का एक पात्र विशेष है, जिसकी बनक ख़ास तरह की होती है। मसनवी 'सहरुल्बयान' में गंगाजली उपमान-स्वरूप आई है—

सो वो बीन काँधे पर रख यूँ चली
कि लादे कोई जैसे गंगा जली।

अली आदिल शाह द्वितीय ने हज़रत अली की तलवार के आतंक से शेषनाग के फनों का झड़ पड़ना दिखाया है और 'वली' माशूक़ की ज़ुल्फ़ का बयान करते हुए वासुकि को सामने रखते हैं—

जब रन में खैंचे खड्ग तूँ फिर होय दहशत मर्ग कों
उस वार की झनकार ते भूनाग के फन झड़ पड़े।

'वली' तुझ ज़ुल्फ़ की गर सेह्रसाज़ी का बयाँ बोले
चले पाताल सों बासुक सौ पेचो-ताब सों उठकर।

प्रत्येक संस्कृति में कुछ स्थान विशिष्ट माने जाते हैं। हिन्दू-संस्कृति में जिस प्रकार मधुवन, वृन्दावन आदि कृष्णलीला से जुड़े हैं, उसी प्रकार योगियों का सम्बन्ध कदलीवन से जोड़ा जाता है। 'फ़ायज़' ने कदलीवन का उल्लेख इस तरह किया है—

मेरे वीराने-दिल में ऐ परी-रू
शिकार आकर करो ये कजलीवन है।

'कजली' शब्द का अर्थ 'फ़ायज़ देहलवी और दीवान्-ए-फ़ायज़' के सम्पादक ने यह लिखा है "कजली एक दरख़्त है जिसकी लड़की के जहाज़ बनते हैं।" पता नहीं सम्पादक जी यह अर्थ कहाँ से पा गए? कजली 'कदली' का बिगड़ा रूप है, जिसका सीधा सा अर्थ है केला। कदली वन अर्थात् केले का वन। इस वन की कल्पना हिमालय के चरण प्रांत में कहीं की गई है। महाभारत में कदलीवन का उल्लेख है। भीमसेन सौगन्धिक पुष्प लेने कदलीवन में गए थे। महाभारत में पर्वतों के वर्णन बार-बार हुए हैं "गिरिं चचारारिहरः किन्नराचरितं शुभम्" "कदलीवनमध्यस्थमथ पीने शिलातले।" सिंह, मृग, व्याघ्र, सुअर, जंगली भैंसे, गवय, हाथी आदि के चित्रण से अनुमान होता है कि यह प्रदेश हिमालय से सम्बद्ध था। अनुमानतः ऋषिकेश से बदरिकाश्रम तक के वन प्रदेश को कदलीवन कहते थे। चूंकि हिमालय पर्वत पर ऋषि-मुनियों के आश्रम थे, अतः मध्यकाल में कदलीवन को सिद्ध लोगों का स्थान समझा जाने लगा था।

'सहरुल्बयान' में सरन्दीप' नाम मिलता है जिसका अर्थ उर्दूवालों ने 'लंका' दिया है—

कहा उसने ये है मेरी दासताँ।
कि शहरे सर अंदीप है इक मकाँ। —मीर हसन

यह शब्द मध्यकाल का है और जायसी के 'पदमावत' में 'सराँदीप' के रूप में प्रयुक्त है—

दिया दीप नहिं तस उजियारा।
सराँ दीप सरि होइ न पारा।
जंबूदीप कहौं तस नाहीं।
पूज न लंक दीप परिछाहीं।

जायसी ने 'सराँदीप' के साथ 'दियादीप', 'जंबूदीप' और 'लंकादीप' का नाम लिया है, जिससे सिद्ध है कि सराँदीप और लंकादीप एक नहीं हैं। यह 'सराँदीप' स्वर्णद्वीप है। लंका सोने की थी, अतः अरबवाले उसे 'सरन्दीप' कहते थे, मगर जायसी के वर्णन से वह 'सुमात्राद्वीप' मालूम पड़ता है, जिसे मध्यकाल में स्वर्णद्वीप कहा जाता था।

हिन्दी के सूफ़ी प्रेमकाव्यों से प्रभावित उर्दू की मसनवियों में कथा की बुनावट और पात्रों के नाम देखकर साफ़ पता चलता है कि इन पर हिन्दू-संस्कृति की गहरी छाप है। यह प्रभाव रीतिकाल की अंतिम प्रसिद्ध मसनवी 'गुलज़ारे नसीम' तक में उपलब्ध है। पं० दयाशंकर 'नसीम' (सन् १८११-१८४५) की इस कहानी में सिंघलदीप का नाम है—

वाक़िफ़ उस बुतकदे से थीं वो।
सिंघलदीप उसको ले गईं वो।

यही नहीं वहाँ राजा चित्रसेन मौजूद है और पद्मावती के जोड़ में चित्रावती का उल्लेख भी है—

चत्रावत उसकी माह पारा।
ग़ुर्फ़े में से करती थी नज़ारा।
इस शहर का चत्रसेन राजा।
दुख़्तर रखता था माह सीमा।

यदि हिन्दी के सूफ़ी-प्रेमकाव्यों तथा उर्दू की मसनवियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो विषय, शैली एवं भाषा-सम्बन्धी अनेक समानताएँ उद्‌घाटित हों।

स्थान की तरह काल का भी हर संस्कृति मे विशिष्ट संबंध है। हिन्दू-संस्कृति में काल-गणना का एक क्रम है। मनुष्य, देवता, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के संक्रम से हिसाब लगाया जाता है। ब्रह्मा की एक घड़ी का अर्थ है प्रलय। 'फ़ायज़' माशूक़ के विरह की निशा की लम्बाई ब्रह्मा की घड़ी से नापते हैं—

ऐ जाँ शबे-हिजरान तेरी सख़्त बड़ी है
हर पल मगर इस निसि की बिरह्मा की घड़ी है।

उर्दू-शाइरों में 'नज़ीर' के अलावा दूसरों ने हिन्दू-संस्कृति के सन्दर्भ

इसलिए नहीं दिए कि उन्हें उनका ठीक ज्ञान नहीं था। 'नज़ीर' ब्रज के शाइर थे, अतः कृष्णलीला से पूर्णतः परिचित थे, परन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त नामों में भी भ्रम की झलक मिलती है—

जमला व अर्जुन और वो दो देवता जो थे
दो ताड़ बन गए थे किसी की सराप से।

'यमलार्जुन' के अर्थ से अनभिज्ञ होने के कारण मियाँ 'नज़ीर' ने उन्हें जमला तथा अर्जुन नामक दो देवता लिख दिया। यही नहीं, 'अर्जुन' के अर्थ-भ्रम से उन्होंने उन वृक्षों को ताड़ का वृक्ष भी बना दिया।

कृष्ण-कथा के अन्तर्गत मृद्-भक्षण-लीला आती है। माता यशोदा जब साँट उठाकर कृष्ण को मारने के लिए उद्यत हुईं तो कृष्ण ने अपना मुँह खोलकर उन्हें त्रैलोक्य दर्शन करा दिया था। 'नज़ीर' ने इस 'तिरलोक दिखाने' का संबंध मृद्-भक्षण से नहीं, दधि-चोरी से जोड़ा है—

धमका के ग्वालिनों से लिए दूध और दही।
खाने खिलाए उनको जो थे साथ में सभी।
जब ग्वालिनों ने आके जसोदा से यह कही
झिड़का उन्होंने साटी उठाकर जो उस घड़ी
तिरलोक खोल (मुँह) उन्हें हरि ने दिखा दिया।

प्रेम-क्षेत्र में उर्दू-शाइरों ने नल-दमयन्ती को बहुत याद किया है। उर्दू-काव्य में ये दम्पती प्रेम के प्रतीक हो गए हैं। उर्दू में नल को दमयन्ती पर ग़श दिखाया गया है। यहाँ तक ग़नीमत थी, लेकिन 'मीर' ने तो नल का इश्क़ में मर मिटना भी वर्णन कर दिया है—

सुना होगा वामिक़ प क्या कुछ हुआ।
नल इस इश्क़ में किस तरह से मुआ?

नल-दमयन्ती ने अनेक कष्ट उठाए थे, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनके कष्ट का संबंध प्रेम-व्यापार से नहीं है। दमयन्ती के पति नल अपना राज्य जुए में हार गए थे। फलतः उन्हें वन-वन भटकना पड़ा था। वन में दमयन्ती को सोता छोड़-कर नल चले गए थे। 'ग़ालिब' के एक शेर मे नल की जाँघ को तकिया बनाकर लेटी हुई दमयन्ती का ज़िक्र है—

हुआ है काटके चादर को नागहाँ ग़ायब
अगर्चे जानुए-नल पर रखे दमन तकिया।

परन्तु प्रायः शाइरों को इस विषय में जानकारी नहीं है। उन्होंने तो वामिक़-अ.ज्रा की [illegible] को आशिक़-माशूक़ मान लिया है। वे दोनों इश्क़ में आहे भरते दिखाए गए हैं। नल की आह आसमान पर जाती है और दमयन्ती की आह का बगूला ज़मीन पर मँडराता है—

गई आह नल की फ़लक से उधर।
दमन से बगूला ज़मीं के उपर।

ये परिवर्तन अज्ञता के परिणाम हैं। परन्तु कुछ परिवर्तन सुचिंतित मालूम पड़ते हैं। 'नज़ीर' ने इस [illegible] की लपेट में इस्लाम धर्म के महापुरुषों को भी जकड़ दिया है। हिन्दू-संस्कृति में भगवान् शंकर भंग पीने के लिए प्रसिद्ध है। उर्दू-शाइरी में हज़रत ख़ि.ज्र का उल्लेख पथ-प्रदर्शन तथा चिरायु के सिलसिले में आता है। लेकिन 'नज़ीर' ने उन्हें भंग-पियक्कड़ के रूप में चित्रित किया है—

कल मुझे दरया ऊपर ख़्वाजा ख़िज़र जो मिल गए
सब्ज़ पैराहन गले में हाथ में आसा लिए।
कम ख़ुराक़ और नातवानी के गिले जब मैं किए
तब तो वो मुँह देख मेरा हँसके यों कहने लगे।
कूँड़ी सोटे को बजा और देख टुक क़ुदरत के खेल।
छोड़ सब कामों को ग़ाफ़िल भंग पी और डंड पेल।

हिन्दी-रीतिकविता में पौराणिक व्यक्तियों का शील-स्वभाव-परिवर्तन नहीं किया गया। परन्तु 'पदमाकर' ने न मालूम क्यों नारद को युद्ध-क्षेत्र में नाचते हुए दिखा दिया है—

सु बंदी जनों ने बिरद्दावली हैं।
पढ़ी ते भली जुद्ध की जे थली हैं।
चहूँ ओर तें सोर है घोर माचौ।
विहद्दै तहाँ आइ नारद्द नाचौ।

नारद जी का यह रूप अविहित तथा अस्वाभाविक है। नारद का प्रकृत स्वरूप 'नज़ीर' ने अपनी कविता में रक्खा है। वह त्रिकाल द्रष्टा बताए गए हैं—

सुभ साअत से यूँ दुनिया में औतार गरभ में आते हैं।
जो नारद मुनि हैं ध्यान बली सब उनका हाल बताते हैं।

संस्कृति के तत्वों से संबंधित ये समस्त निदर्शन रीतिकालीन समाज की भौतिक एवं मानसिक स्थिति पर पूर्ण रूप से प्रकाश डालते हैं। खान-पान वेश-भूषा की दिशा में तो हिन्दू-मुसलमान परस्पर निकट थे ही, उनकी मानसिक भूमिका भी शनैः शनैः एक-सी होने लगी थी और दोनों हार्दिक एकता-सूत्र में बँधते जा रहे थे।

खण्ड–२

साहित्यिक अध्ययन

भाषा
शैली तथा छंद
अलंकार, ध्वनि और बिम्ब-विधान
श्रृंगार रस
अन्य रस
प्रेम-निरूपण
सौन्दर्य-चित्रण
प्रकृति-वर्णन

अध्याय | ३

भाषा

कविता लय-भाव-बिम्बित मनोरम वाणी है। वाणी का सम्बन्ध भाषा से है, अतः कविता का सबसे प्रथम और महत्वपूर्ण तत्व भाषा है, क्योंकि भाषा ही अभिव्यक्ति का साधन है। कविता के अन्य सभी तत्व बिना अभिव्यक्ति के अनस्तित्व के पर्याय अथवा असत् मात्र सिद्ध होते हैं, इसलिए कविता का विश्लेषण करते समय भाषा का समीक्षण अनिवार्य है। यह समीक्षण तब और भी महत्वपूर्ण हो जाता है, जब हम ऐसी भाषाओं की कविता का तुलनात्मक अध्ययन कर रहे हों, जिनका व्याकरणिक ढाँचा लगभग समान है। हिन्दी-कविता एवं उर्दू-शाइरी का तुलनात्मक अध्ययन इसी प्रकार का है, इसलिए दोनों की काव्य-भाषा का सम्यक् विवेचन करना समीचीन ही नहीं, अपरिहार्य भी है।

आलोच्य काल (सन् १६४३-१८५०) के भीतर हिन्दी-उर्दू-कविता की भाषा का तुलनात्मक विवेचन करने से पहले उन भाषाओं की परम्परा को समझना बहुत आवश्यक है। हिन्दी-रीतिकाव्य की भाषा का प्रवाह शताब्दियों पूर्व से चला आ रहा था। भक्तिकाल के अन्तर्गत ब्रजभाषा ही काव्य की भाषा थी। यह ब्रज-भाषा शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित हुई थी, जिसकी जड़ें प्राकृत, पाली और संस्कृत तक फैली हुई थीं। परन्तु भक्तिकाल में भागवत तथा अन्य पुराणों का विशेष प्रभाव पड़ने से भक्त कवियों की भाषा अपभ्रंश-शब्दनिष्ठ होने के बदले संस्कृतनिष्ठ हो गई। तुलसीदास की भाषा से यह बात भली भाँति प्रमाणित होती है। केशवदास का संस्कृत-पांडित्य तो उनकी रचनाओं में विशदता से झलकता ही है, सूरदास (सन् १४७४-१५८०) भी आचार्यों के सम्पर्क में थे और वह जिन लीला-कथाओं का श्रवण करते थे, उनमें संस्कृत-वाक्यावली का प्राचुर्य रहता था। अतएव सूरदास की ब्रजभाषा बोलचाल की ब्रजभाषा न होकर बोलचाल की भाषा का प्रांजल रूप प्रस्तुत करती है, उदाहरणार्थ—

करि मन नंद-नंदन ध्यान ।
सेव चरन-सरोज सीतल, तजि विषय-रस-पान ।
जानु-जंघ त्रिभंग सुंदर, कलित कंचन-दंड ।
काछनी कटि पीतपट-दुति. कमल-केसर-खंड ।
मनौ मधुर मराल-छौना, किंकिनी-कल-राव ।
नाभि-ह्रद, रोमावली अलि चले सहज स्वभाव ।

इस भाषा को यदि पूर्ववर्ती भाषा की अपेक्षा से देखें तो अंतर का स्पष्ट पता चल जाएगा। विक्रमीय संवत् की चौदहवीं शताब्दी के अंत में विद्यमान हिन्दी-कवि विष्णुदास की रचना का नमूना निम्नलिखित है—

अस गोपिन के प्रेम की महिमा कछू अनंत ।
मैं पूछी षट मास लों तऊ न पायो अंत ।
देह गेह सब छाँड़ि के करत रूप को ध्यान ।
वन को भजन विचारिए सो सब फीको मान ।

और इससे भी दो शताब्दी पूर्व अमीर खुसरो (सन् १२५३-१३२५) द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा का निदर्शन द्रष्टव्य है—

गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस ।
चल ख़ुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस ।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि पाली, प्राकृत, अपभ्रंश से होते हुए जिन तद्भव शब्दों को स्वाभाविक रूप से हिन्दी-कविता में आना चाहिए था, उनका स्थान संस्कृत के (तत्सम) शब्दों ने ले लिया। भक्तिकाल के पश्चात् जब रीतिकाल आया, तब इन्हीं भक्त कवियों की वाणी गूँज रही थी। रीतिकाल के प्रारम्भ में इन्हीं भक्त कवियों को भाषा-क्षेत्र में आदर्श माना जाता था। यों ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों पर दृष्टि डालने से आभास मिलता है कि समीक्ष्य काल की काव्य-भाषा में कुछ परिवर्तन होना चाहिए था, क्योंकि भक्त कवि जिन दार्शनिक या साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के आग्रहों से बँधे थे, उन आग्रहों से हिन्दी-रीतिकवि नहीं बँधा था। अतः हिन्दी-रीतिकाव्य में तत्सम शब्दों की बहुलता नहीं होनी चाहिए थी और किसी हद तक ऐसा हुआ भी। लेकिन हिन्दी-रीतिकविता का विषय दाम्पत्य रति होने से उसे गृहस्थ-जीवन के विविध पार्श्वों पर दृष्टि डालते हुए लोक-भाषा-सम्पत्ति-धर्मा भी होना चाहिए था, परन्तु यह संयोग घटित नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि विवेच्यकाल की कविता राजाश्रय से जुड़ गई। राजाश्रय ने कविता की भाषा के स्वरूप को सप्रयास अन्यथा कर दिया। राजाश्रित कवि का संसार सीमित हो जाने से एक तो उसका शब्द-भंडार-क्षेत्र निश्चित हो

गया, दूसरे उसे नागरिकता की बीमारी सताने लगी और वह देशी तथा तद्भव शब्दों को कविता से बहिष्कृत करने लगा। 'ग्वाल' कवि (सन् १८०२-१८६७) नवाब रामपुर के दरबारी कवि थे। उन्होंने अपने 'दूषण दर्पण' ग्रंथ में न केवल 'नाक', 'पेट', 'गाल' आदि शब्दों को, अपितु 'आँख' और 'कटि' को भी ग्रामीणत्व-दोष से दूषित बताया है।[1]

आलोच्य उर्दू-शाइरी भी दरबारी वातावरण मे पली है, परन्तु उसकी परिस्थितियाँ हिन्दी से भिन्न थीं। उर्दू-कविता को हिन्दी-कविता की भाँति परम्परा से कोई काव्य-भाषा प्राप्त नहीं हुई थी। इसलिए उसने दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली को भाषा-रूप प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दी-रीतिकाव्य को ब्रजभाषा रिक्थ-रूप में मिली थी, किन्तु उर्दू-शाइरी दिल्ली-मेरठ (अथवा पंजाब) की बोलचाल की भाषा को ग्रहण कर प्रारम्भ हुई। उर्दू की जो पहली ग़ज़ल आलोच्यकाल के शुरू में लिखी गई थी, वह नीचे उद्धृत की जा रही है—

न जाने किस शहर अन्दर, हमन को लाके डाला है।
न दिलबर है, न साक़ी है, न शीशा है न प्याला है।
पिया के नाँव की सुमिरन, किया चाहूँ, करूँ कैसे।
न तस्बीह है, न सुमिरन है, न कंठी है, न माला है।
× × ×
'बरहमन' वास्ते असनान के फिरता है बगिया में।
न गंगा है, न जमुना है, न नद्दी है, न नाला है।[2]

उपर्युक्त ग़ज़ल चन्द्रभान नामक ब्राह्मण ने शाहजहाँ के राज्यकाल (सन् १६२७-१६५८) मे लिखी थी। चन्द्रभान फ़ारसी का कवि था और 'बरहमन' उपनाम से कविताएँ लिखता था। इस ग़ज़ल को यदि तत्कालीन हिन्दी-कवि 'मतिराम' या 'चिन्तामणि' की रचनाओं के सामने रखकर देखें तो भाषा की प्रकृति का अन्तर मालूम हो जाएगा। यद्यपि इस समय के उर्दू-शाइर भी उसी प्रकार धार्मिक-दार्शनिक आदि किसी घेरे मे अवरुद्ध नहीं थे, जिस प्रकार कि तत्कालीन हिन्दी-रीतिकवि, परन्तु उर्दू-शाइरों को अपनी भाषा का निर्माण करना पड़ रहा था, हिन्दी-कवियों को वह एक समर्थ-साधन-रूप प्राप्त थी। अतः उर्दू-शाइर लोक-जीवन के निचले स्तर से सम्पर्क स्थापित करके भाषा के मुहावरे सीखते थे। ये उर्दू-शाइर जिन बादशाहों या नवाबों के आश्रित थे, उनमें बहुतों की मातृभाषा फ़ारसी थी, अतएव उर्दू सीखने के साधन उन बादशाहों-नवाबों के भी वही थे जो उन शाइरों के थे। लखनऊ के नवाब आसफ़ुद्दौला (रा० का० सन् १७७५-१७९९) की माँ 'बहू बेगम' के यहाँ तो नौकर-नौकरानियों की बोली सुनकर मुहावरे इकट्ठे

तक किए जाते थे और वहाँ से बाहर आकर उनका प्रचार होता था। लोक-भाषा-सम्पर्क का ऐसा उदाहरण हिन्दी-कविताश्रयों में कहीं नहीं मिलता।

उर्दू-शाइरी का दूसरा युग वह आया जब उसने न केवल विषय वस्तु और परम्पराएँ, बल्कि मुहावरे भी फ़ारसी से लेना शुरू कर दिए। यह चेष्टा हमारी समझ में दो कारणों से हुई। एक बात तो यह हो सकती है कि दरबारों में जहाँ हिन्दी-कवियों और उर्दू-शाइरों की मुठभेड़ होती थी, वहाँ शाइरों की भाषा के ग्राम्य प्रयोगों की खिल्ली उड़ाई जाती होगी। उर्दू-शाइर संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाओं से अनभिज्ञ थे, इसलिए उन्हें शब्द का साधु प्रयोग नहीं मालूम था, अतः वे अपनी भाषा को शिष्ट नहीं बना पाते थे। इसलिए उन्होंने देशी, तद्भव अथवा संस्कृत के शब्दों का प्रयोग बन्द कर दिया। दूसरा कारण यह भी है कि प्रारंभिक उर्दू-शाइर प्रायः फ़ारसी के शाइर थे और फ़ारसी एवं अरबी भाषाओं के विद्वान् थे, अतः उन्होंने अपने काव्य को फ़ारसी-अरबी-निष्ठ बनाना शुरू कर दिया। ऐसा करने से एक तो वे हिन्दी-कवियों और संस्कृत के विद्वानों के कटाक्षों से बचे, दूसरे अपने फ़ारसीदाँ आश्रय-दाताओं और फ़ारसी-अरबी रुचिवाले दरबारियों के भी प्रशंसा-पात्र बन गए। इस प्रकार दरबारी सभ्यता तथा नागरिकता के कारण उर्दू-शाइरी फ़ारसी-शब्द-बाहुल्य-रोग से ग्रस्त हो गई। यह रोग उत्तर-कालीन हिन्दी-कवियों में भी फैल गया। उर्दू-शाइरी की स्पर्द्धा में अपनी कविता को अधिक शिष्ट एवं नागरिक बनाने की धुन तथा राजभाषा फ़ारसी से पूर्ण-परिचित-आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से हिन्दी-कवि भी अपनी कविता में फ़ारसी की भरमार करने लगे। फ़ारसी-अरबी शब्द उर्दू-शाइरी की सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल होने से अन्तर्भुक्त होकर उसकी प्रकृति के अंग बन गए थे, अतः हम उन शब्दों को 'उर्दू शब्द' संज्ञा दे सकते हैं। इसी प्रकार हिन्दी-रीतिकाव्य को संस्कृत, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश से परम्परया प्राप्त शब्दों का 'हिन्दी शब्द' नाम असमीचीन नहीं है।

समीक्ष्य कालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य का अध्ययन करने पर कवियों तथा शाइरों की विविध भाषा-प्रयोग-प्रवृत्ति का पता चलता है। रीतिकाल के प्रारम्भ (सन् १६४३) के लगभग एक शताब्दी पश्चात् आचार्य भिखारीदास ने अपने 'काव्य निर्णय' ग्रंथ (र० का० संवत् १८०३ वि०, तदनुसार सन् १७४६) में तत्कालीन काव्य-भाषा-विषयक जो सिद्धांत निश्चित किया था, उसके अनुसार ब्रजभाषा में जितनी अधिक भाषाओं का मिश्रण किया जाय, काव्य-भाषा उतनी ही उत्कृष्ट मानी जाएगी। उन्होंने तुलसीदास तथा 'गंग' को कवियों का सरदार इसीलिए घोषित किया कि उनके काव्यों में विविध प्रकार की भाषा मिली हुई थी—

तुलसी गंग दोऊ भए, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यनि में मिली, भाषा विविध प्रकार।

इस कथन से पहले उन्होंने उस भाषा के लक्षण भी बताए, जिसके कारण कवि को कवि-शिरोमणित्व प्राप्त हो जाता है—

भाषा बृजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संसकृत पारस्यौ पै अति प्रकट जु होइ।
बृज मागधी मिलै अमर नाग जमन भाषानि।
सहज पारसी हूँ मिलै षटविधि कबित बखानि।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि उस समय तक ब्रजभाषा में अनेक भाषाओं का मिश्रण न केवल उत्तम, अपितु आदर्श समझा जाने लगा था। इसका कारण यह था कि रीतिकाल का कवि दरबार में रहता था और दरबार में होना इस बात की दलील था कि वह एक विशिष्ट व्यक्ति है। विशिष्ट होने का अर्थ था बहुज्ञ होना। यही कारण है कि रीतिकालीन काव्य में कवि अपना ज्ञान-प्रदर्शन अवश्य करता है। इस ज्ञान-प्रदर्शन का एक क्षेत्र बहु-भाषा-प्रयोग भी था। अनेक भाषाएँ न जानना कवि के लिए एक हेठी बात थी। अतएव रीतिकालीन कवियों ने अनेक भाषाओं में छन्द रचकर अपने बहु-भाषाविद् होने का प्रमाण दिया है।

'काव्य-निर्णय'-प्रणयन-तिथि के दस वर्षों के भीतर 'सूदन' कवि (मृत सन् १७५३) ने 'सुजान चरित्र' प्रबन्ध काव्य की रचना की। उसमें कवि ने पंजाबी, मारवाड़ी, राजस्थानी आदि भाषाओं के अतिरिक्त पूर्वी रोहतकी तथा मेवती बोलियों में भी छंद लिखे हैं। पंजाबी का नमूना देखिए—

डोलती डरानी खतरानी बतरानी बेबे
कुडिए न देखी अणी मी गुरून पावाँहाँ।
किथ्थे जला पेउ किथ्थे उज्जले भिड़ाउ असी
तुसी कोलग्रीवाँ असी जिन्दगी बचावाँहाँ।

राजस्थानी-भाषाबद्ध पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

कौठे रह्या ठाकराँ कि ठाकराँ पधार्‌या बीरा
चाकराँ न लारैं म्हें उभारै पग धाँवाँ छाँ।
जाया काट्या जाटराँ जनायौ छै जुलम ऐंठैं
जेठैं टेठैं म्होबीतो सवाई रा कहाँवाँ छाँ।

'बोधा' कवि ने भी 'विरह वारीश' (र० का० सन् १७५२-१७५८) में इस प्रवृत्ति का परिचय दिया है। 'बोधा' द्वारा रेख्ता में रचित छन्द नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

अचानक भया भटभेरा।
उन्होंने चश्म टुक फेरा।
कलेजा छेद कर ज़्यादा।
भया मन मारु में मादा।
इशक दिलदार सों लागा।
हमन दिल दर्द अनुरागा।

'बोधा' ने इसका शीर्षक 'रेखता' दिया है, परन्तु जिस भाषा को रेख़्ता कहा जाता था उसमें 'भया' शब्द का प्रयोग नहीं होता था। रेख़्ता के अन्तर्गत ही ये पंक्तियाँ भी दी गई हैं—

तिहारा दीह हम पावें।
दिलंदर दर्द बिसरावें।
उन्हों का रूप मन माना।
भयो दिल देख दीवाना।
कछू ना चाहना येती।
हमारी चाह उन सेती।

'उन्हों को', 'हमन', 'सेती' आदि प्रयोग दकनी हिन्दी के प्रयोग हैं। यद्यपि 'बोधा' ने रेख़्ता के अन्तर्गत 'भयो' 'भया' आदि का प्रयोग कर दिया है, फिर भी उपर्युक्त उदाहरणों से उनका विविध भाषा-प्रयोग-उत्साह तो प्रकट होता ही है।

हिन्दी-रीतिकाव्य की यह परम्परा आलोच्य काल के अन्त तक निभती रही। 'ग्वाल' कवि (सन् १८०२-१८६७) ने न केवल विभिन्न भाषाओं में, अपितु भिन्न-भिन्न बोलियों तक में रचना की है। निम्नांकित पंक्तियों में गुजराती तथा शुद्ध पूरबी के नमूने प्रस्तुत हैं—

तम तौ कहौ छौ छैया मोटो ऊधमी छै म्हारो
मटकी मठानी ढुरकावनी निदान छै।

× × ×

नंद क बबुआ बगिया मैं बाटैं
अस कहि मोहिं का लयलस बाटी।

यह प्रवृत्ति न केवल हिन्दी-रीतिकवियों तक सीमित थी, वरन् आलोच्यकालीन उर्दू-शाइर भी इसी प्रकार के भाषा-प्रयोग करते थे। मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी 'सौदा' (सन् १७१३-१७८१) के काव्य-संग्रह मे भाषा तथा बोलियों के विविध प्रयोग द्रष्टव्य हैं, यथा पंजाबी का यह उदाहरण—

लाडला अपनी अम्मा दा तू प्यो दा अपनी प्यारा।
नाना तेंदा देख के मुख नूँ चान्दा था बलिहारा।

पूरबी बोली का नमूना लीजिए—

पूछ नहीं कोऊ बात विपत के हम हैं मारे।
कहाँ छीन अब जाय कहौ दुख में दुखियारे।

अब दकनी से एक उदाहरण लें—

काफ़िराँ आले-मुहम्मद प सितम क्या कीता!
हाय तुमना ने उन्हाँ उपर जुलम क्या कीता!

लेकिन जिस प्रकार हिन्दी-रीतिकवियों मे यह प्रयोग-उन्मेष समीक्ष्यकाल के अंत तक दिखाई देता है, वैसा उन्मेष उर्दू-शाइरों मे नहीं मिलता।

विविध भाषा-प्रयोग-स्पर्द्धा-सन्दर्भ में यह नहीं भूलना चाहिए कि ये कवि और शाइर यद्यपि अपनी भाषा-नदीष्णता प्रदर्शित करने के लिए इस प्रकार के प्रयोग करते थे, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी भाषा का कोई स्वरूप नहीं था। आचार्य भिखारीदास ने 'भाषा लक्षण'-सम्बन्धी प्रथम दोहे मे स्पष्ट कहा है कि भाषा ब्रजभाषा है, परन्तु उसे सुमति रुचिर तब कहते है, जब उसमें संस्कृत मिले, फ़ारसी ज़्यादा प्रकट रूप से दृष्टिगोचर हो—

भाषा बृजभाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रकट जु होइ।

यह धारणा अठारहवीं शताब्दी की है। उससे पूर्व सत्रहवीं शताब्दी की काव्य-भाषा का नमूना इस प्रकार का था—

चरन धरै न भूमि बिहरै तहाँई जहाँ
फूले फूले फूलन बिछायो परजंक है।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगन मैं
करत न अंगराग कुंकुम को पंक है।
कहै 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो
आतप मलीन होत बदन मयंक है।
कैसे वह बाल लाल बाहरि बिजन आवै
बिजन बयारि लागे लचकत लंक है।

'मतिराम' का 'ललित ललाम' सन् १६५६ और १६८८ के बीच प्रणीत हुआ। उस समय की भाषा पर आचार्य भिखारीदास का पूर्वोद्धृत सिद्धान्त लागू नहीं होता। यह भाषा फ़ारसी-शब्दावली से मुक्त है। उस काल की उर्दू-शाइरी

पर भी फारसी-शब्दावली का प्रभाव नहीं है। यदि हम तत्कालीन उर्दू-शाइरों की रचनाओं की बानगी लें तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ 'वली', 'फ़ायज़' तथा 'मीर' के काव्य से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

पिरत की जो कंठा पहने उसे घर बार करना क्या।
हुई जोगन जो कुई पी की उसे संसार करना क्या।
जो पीवै नीर नैना का उसे क्या काम पानी सों।
जो भोजन दुख का करते हैं उसे आधार करना क्या ?

कफनी पिन्हा के मुझकों लिबासी किया पिया।
यक जीव एक दिल में दुभासी किया पिया।
इसका फ़िराक़ यार भभूत इश्क़ की चढ़ा।
मट में बिरह के मुझकों सन्यासी किया पिया। —वली

पल पल मटक के देखे डग डग चले लटक के।
वह शोख छल छबीला तन्नाज़ है सरापा। —फ़ायज़

दिल की तह की कहि नहिं जाती नाजुक हैं इसरार बहुत।
अंछर तो हैं प्रेम के दो ही लेकिन है बिस्तार बहुत। —मीर

अर्थात् 'वली' औरंगाबादी (सन् १६६८-१७४४) से मीर तक़ी 'मीर' (सन् १७२५-१८१०) तक उर्दू-शाइरी की भाषा में यद्यपि फ़ारसी शब्दों का मिश्रण उत्तरोत्तर बढ़ा, फिर भी उसमें तत्कालीन ब्रजभाषा मे प्रयुक्त शब्दों का ही प्राधान्य है। निष्कर्ष यह कि उर्दू-कविता प्रारम्भ मे हिन्दी-शब्दावली-प्रयोग में दरियादिल थी। बाद के शाइरों ने उसका वह स्रोत बन्द कर दिया। आलोच्यकाल के उत्तरार्द्ध में केवल 'नज़ीर' अकबराबादी ही ऐसे शाइर हैं, जिन्होंने फिर ब्रज प्रदेश के शब्द ग्रहण कर अपनी कविता को सर्वग्राह्य बनाया, नहीं तो अन्य शाइरों का काव्य एक खास ढर्रे के दीक्षित विद्वानों या एक विशिष्ट रुचि के मुसाहबों की चीज़ बन गया था। 'ग़ालिब'-'मोमिन' तक आते-आते उर्दू-शाइरी फ़ारसी से आक्रान्त हो गई। हिन्दी-कविता मे भी फ़ारसीयत का रंग प्रगाढ़ होता गया—

मचल्यो मजेज गंज गौहर लरेजन कै
बिछल्यो फिरत बेस बदन बहाली मैं। —रंगपाल

इस प्रकार साफा, नाफा इजाफा, जुराफा, बखत बिलंद आदि उर्दू-शब्दों की भरमार हुई, साथ ही उर्दू-प्रकृति को हिन्दी पर लादा जाने लगा। 'ठाकुर' ने एक कबित्त में हवाल, हलाल, गरदन, दरदन, मरदन आदि शब्दों का प्रयोग तो किया ही है, एक पंक्ति में यह भी लिखना जरूरी समझा कि—

थिगरी न लागै ऊधो चित्त के चँदोवा फटे
बिगरी न सुधरै सनेह सरदन को।

यहाँ 'सनेह सरदन' का अर्थ वही समझ सकेगा जो फ़ारसी से परिचित हो। इसी प्रकार "गाँठ में जमा रहै तौ ख़ातिर जमा रहै"[3] मे 'ख़ातिर जमा रहे' का अर्थ भी है।

आशय यह कि उत्तर रीतिकाल की भाषा धीरे-धीरे फ़ारसी-अरबी-बहुल होकर लोकभाषा से किनारा करके दरबार में सिमट गई। प्रारंभिक उर्दू-शाइरों द्वारा प्रयुक्त हिन्दी-शब्दों तथा उत्तर रीतिकालीन हिन्दी-कवियों द्वारा प्रयुक्त उर्दू-शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाएगी।

उत्तर भारत के प्रथम उर्दू-शाइर 'फ़ायज़' (मृत सन् १७३८) की कविता में अखियाँ, लागे, चंचल, मनहरन, नाहीं, माया, मुख, दरपन, जल, नैन, पापी, कपोल, खंजन, बूझियो, कुढाना, जग, न्यारी, दिन-रैन, नगर, पीतम, नित, सुधा बिसरी, निसि, पल, ब्रह्मा, लौ, लुभावै, अभूखन, निपट, धियान, द्वारे, मन, सुख, जग उजारा, नागिनी, प्रीति, चन्दर, चरन, कनक, छिन, परकास, विश्राकुल, हित, सोभा, तपस्या, सकल, नवल, कलस, रोमावली, अरगजा, पिंडा, तपस्वी, मृगछाला तप, सेवा, भवन, मंदिर, कुच, निठुराई, उत्तर, पग, छवि, अनेक, मिरग, कंचन बरन, अनूप, रूप, सरूप, मित्रो, मीत, लाज, संगत, अलक, अधिक, बिरह, पाप, कठिन, बिछुड़ना, अगिन, निहचिन्त, सोच, अधरमी आदि शब्द उपलब्ध होते है। 'वली' तथा अन्य दकनी कवियों मे यद्यपि दकनी प्रयोगों का आधिक्य है, फिर भी हिन्दी-शब्दों की संख्या 'फ़ायज़' से अधिक है। परंतु 'मीर' का काव्य तो हिन्दी-शब्दावली का भंडार ही है। उर्दू-शाइरी के हृदय-प्रसार की झाँकी यदि देखनी हो तो मीर तक़ी 'मीर' के काव्य का पाठ करना चाहिए। 'मीर' की हिन्दी-शब्द-सूची (शिष्ट तथा देशी) निम्नांकित ढंग की है—

टुक, निदान, निरास, काहे को, बिसाहा, रोग, सुनियो, हूजियो, ओर, वास, पतंगा, घेर, फेर, लपका, धूनी, आसन, जोगी, दिया (दीपक), दव, सालना, झाई' बिसरना, बिस्तार, आठों पहर, नाउँ, जोबन, माटी, ठौर, तनिक, खोज, जताया, नगर, दुख, जी, वाउ, दहा; नित, निपट, पल, सदा, कूका, सराहा, झलक, लीजो, बिलोना, अनोखी, चेता, मुआ, भरोसा, दीजै, करियो, घड़ी, बन (जंगल), चुराइयो, लागा (लगा), सुमिरन, मानियो, तान (संगीत की), खल, खोटी, मेह, गोड़े (पैर), फल, नव, लटक, पिराना, काढ़, बूझ, सुथरा, थाँग, दाँग, साँग, डाँग, अँखड़ियाँ, राँग, सह, सौगंद, फाटे, चेतें, ठसक, पवन, माथा, चिन्त, आरसी, समावें, बानियाँ, धारें (धाराएँ); सिधारें, जमधर, मथना, साँझ, माते, रीझना, भसमंत,

मानी (अभिमानी), उकट, विकास, बचन, परखना, सुध, भाएँ, बान (बाण), मगन, पल, बस (वश), चाव, दुख, गड़ुवा, भरत, चितवन, आगूँ, आँचल, धूल, कर, बाट, फुकना, जल-थल, पिंडे, बिचल, अमरत, कुढव, तरंग, रुंध, चौखट, छाजे, झमक, रंग-रूप, बाले (बालक), दुसार, समुन्दर, चित चढ़ी, हौले हौले, वरे (तरफ़), मत (राय), गाहक, सूच, रीत (रीति), मीत, मसीत, भीत, अतीत, पात, भँवर, आरसी, नह, रचाना, चितेरे, ध्यान, अनमने, पराए, ढाका (ढाक), साका, छलावा, निरी, राते (लाल), पोथी, सुध-बुध, गुनिए, परेखा, औसर, भोग। आदि आदि।

इस अवस्था में हिन्दी-कवियों का काव्य भी उर्दू-शब्दों से अछूता नहीं रह सकता था, क्योंकि ये शब्द धीरे-धीरे जन-भाषा में आ रहे थे। 'बिहारी सतसई' में इजाफा, नेजा, रोज, ग़रीब, निवाजिबो, बदराह, ताफता, फौज, मौज, बहस, तेज, रौहाल, चसमा, सैल, चौगान, हरौल, हजारू, हद, जोर, हमाम, खूनी, खुस्याल, सबी, गरूर, अदब, गिरह, यारि, कालबूत, गरजनु, पायंदाज, बलाइ, हौसैं, रद, गौं आदि बहुत से शब्दों का व्यवहार हुआ है। 'बिहारी' के बाद हक, नाहक, जमी, अफसोस, शिकार, दाग, अरज, बदनामी, साद (शाद) खुस, खुसामति, फरजी, लरजी, मरजी, गरजी, ख्याल, गलतान, बकुचा, दरोचि, दौलति, तकसीर, दावन (दायन), करार, तबीज, कतलान, बेदरदी, नाजुक, गुलाम, सलाम, मकबूल, मखतूल, कीमत, तलीम, फरमाइस, आदि पचासों पूर्व-प्रचलित अथवा नए शब्द और दाखिल हुए। इस तरह 'पदमाकर' तक आते-आते हिन्दी-काव्य में लोक-प्रचलित सैकड़ों उर्दू-शब्दों के अतिरिक्त फील, गुलाम, तिलाम, जसूस, हिमाम, बिलंद, करम, गुमान, अमीर, उमराव, किम्मती, फरद, रोजनामा, खिलत, गरद, गुनाह, गाफिल, जलूस, इलाका रखना, जोर, चुगली, ज्यान, अमल, हामी भरना, खासी, जरब, जमाति, करामात, फिराद, जागा, जबरई, जिहाज, बखसै, फतै, अस्फी, रबाव, नकीबान, जोपदार, किलागैं, अहू, हुग्निन, कवाइत, क्वद, गरक्कि, अलगोजा, नेजा, बखतर, तमंचे, दस्तानें, प्यादिन, माहिर, बारकसी, जीन, सिताब, महताबै, असबाब, जरद, कहर, अजब्ब, गजब्ब, जुर्रन, बाज, जहाज, तखत, कोता, समसेर, सान, नूर, तुर्रा, सिलाही, बहाली, सिपर, वजीर, फरद, ताफताई, माफक, खराब, गैर आब, फरस, सफजंगी, अजार, अमेजे, अरज, आसतैं, उमिरि, कंद, कतलबाज, खसखास, खुस्याली, बकस, गजक, गौहर, गोसपेंच, जिलाह, जुराफा, जुलम, तेग, दरियाव, दावादार, दुबाले नजरि, फलंका, फैल (फ़ेल), बाजू, मखतूल, मजाखै, मजेज, मरजै, यार सरसार, हरजै, हौस, आतश, बिहाल, बेगरजी, सपैत, कहर, जाल, गाम, गुरज्जैं, गुलफ, खुसी (खुस्या), चिल्लहे, जलूलत, डिमाक, ताउ, तुपक्क, दराज, रौहल,

संजाबी, संदल, साइत, सान, मसीद, मिहिर, सिकस्त, सिराजी, सुम, हसफान, आफ़ताब, अलीजा, आब, खासी, ताब, वफा, हौद आदि न मालूम कितने शब्द और स्थान पा गए।

इस सारे विवेचन से तीन निष्कर्ष निकलते हैं—(१) आलोच्यकालीन हिन्दी-रीतिकविता तथा उर्दू-शाइरी की भाषा की प्रकृतियाँ अलग-अलग थीं। हिन्दी-कविता की भाषा ब्रज थी, जब कि उर्दू-कविता की भाषा खड़ीबोली थी। यद्यपि रीतिकालीन कवि 'भूषण' (सन् १६१३-१७२५) के अनेक छंद खड़ीबोली मे हैं, परन्तु वह भाषा हिन्दी-रीतिकाव्य की भाषा नहीं है। उसे मनोरंजनार्थ किया गया एक भाषा-प्रयोग मात्र समझना चाहिए। फिर 'भूषण' की भाषा तथा तत्कालीन उर्दू-शाइरों की भाषा एक-सी नहीं है। (२) शब्दों के आदान-प्रदान के हिसाब से समीक्ष्यकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य एक ही ओर चले अर्थात् प्रारंभ में फ़ारसी-मुक्त थे, बाद में फ़ारसी-युक्त होते गए। (३) लेकिन उर्दू-शाइरी और हिन्दी-कविता का यह पारस्परिक परिग्रह हिन्दी की दृष्टि से धन से ऋण की ओर और उर्दू की दृष्टि से ऋण से धन की ओर है। उर्दू-कविता ने अपने शैशव में हिन्दी-शब्दों से ही अपना पोषण किया था, परन्तु शनैः-शनैः उनसे उपराम होती गई। हिन्दी-कवि आलोच्यकाल के पूर्वार्द्ध में जिस रिक्थ से आढ्य थे उत्तरार्द्ध में उसकी उपेक्षाकर भाषा का वही आदर्श पाने के लिए छटपटाने लगे जिसे उर्दू-शाइर अपना मान चुके थे।

अतः इन दोनों काव्यों की भाषाओं का विवेचन एवं विश्लेषण करना तत्कालीन काव्य-भाषा-प्रकृतियों का अन्तर स्पष्ट करने के साथ-साथ उस तथ्य पर प्रकाश डालने में भी सहायक सिद्ध होगा, जिसके कारण शब्द-रूपों अथवा शब्द-प्रयोगो मे तत्तत् परिवर्तन घटित हुए तथा वे भाषाएँ कहीं भिन्न-भिन्न गति से और कही समान गति से विकसित हुई।

भाषिक परिवर्तन की प्रक्रिया

मुसलमान आक्रमणकारी जब विजेता बनकर यहीं बस गए तो उन्हें यहाँ की भाषा सीखने की आवश्यकता हुई और प्रजा को भी उनकी भाषा से परिचय प्राप्त करना अनिवार्य हो गया। अतः एक-दूसरे की भाषा सीखने के उद्देश्य से द्विभाषीय कोश-ग्रन्थों का निर्माण हुआ।

वेदांगराय ने फ़ारसी-अरबी शब्दों के संस्कृत में अर्थ दिए हैं। व्रजभूषण-कृत 'पारसी विनोद' भी इसी समय लिखा गया।

अरबी-फ़ारसी का 'अल्लाखुदाई' नामक कोश (सन् १६८८) किसी अज्ञात-नामा लेखक की रचना है। कोशकार ने संकलन-सम्बन्धी अपने वक्तव्य (दर बयान् सुखन व सबब तालीफ़) में लिखा है 'शाहिद अज़ लुत्फ़ रहमते बारी, रूह, खुसरो नुमा बदम् यारी।' अर्थात् लेखक को खुसरो की आत्मा से प्रेरणा मिली है। इसका यह अर्थ हुआ कि मियाँ खुसरो की 'खालिक बारी' ने अनेक कोश लिखवाए होंगे। खुसरो की विनोदी तथा भाषा-मेल-जोल की प्रकृति को देखते हुए इस प्रकार का कोश लिखना अस्वाभाविक नहीं था। खुसरो ग़यासुद्दीन बलबन के पुत्र के शिक्षक भी थे। ऐसी स्थिति में नितांत संभव है कि उन्होंने अपने शिष्य को भाषा-ज्ञान कराने के लिए यह मनोरंजक कोश तैयार किया हो। 'अल्लाखुदाई' का प्रणयन भी कुछ ऐसी ही परिस्थितियों में हुआ था—

आँ दर अअस्त क़ाबिले खुशगोय।
पिसरे-शेरशाह क़ानूनगोय।
चूँ यके रोज़ कर्दम इज़हारश।
गश्त अज़ जानो दिल खरीदारश।[५]

ऊपर उल्लिखित ढंग पर लिखे गए कोशों मे हिन्दी का एक शब्द और विदेशी भाषाओं का भी एक-एक शब्द दिया गया है। परन्तु इस उद्देश्य से भी अधिक व्यापक और हिन्दी भाषा एवं साहित्य के अध्येता के लिए अपेक्षाकृत अत्यन्त मूल्यवान् कोशों के निर्माण का आभास भी अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते मिलने लगता है। 'तोहफ़तुल्हिन्द' नाम का कोश इसी प्रकार का कोश है। यह कोश आज़मशाह के संरक्षण में लिखा गया था। यह सन् १७०७ से पहले बन चुका था। ग्रन्थ की उपलब्ध पाँच प्रतियों में लेखक का नाम अलग-अलग दिया हुआ है—किसी मे 'मिर्ज़ा' जान' तो किसी मे 'मिर्ज़ा खान'। अतः हम लेखक को यदि 'मिर्ज़ा कहकर पुकारें तो अनुचित नहीं है।

'तोहफ़तुल्हिन्द' शब्द ही ग्रंथकार के दृष्टिकोण को उजागर करता है। यह हिन्द का उपहार है, इसलिए इसमें भारत के प्रति लगाव की दृढ़ता प्रकट होती है। इस कोश का सर्वाधिक महत्व इसलिए है कि इसमें 'भाखा' के सभी तत्व सुरक्षित रखने की चेष्टा है। प्रारंभिक भूमिका में ग्रंथकार ने व्रजभाषा-ध्वनियों को फ़ारसी-लिपि में सूचित करने की प्रणाली पर प्रकाश डाला है। साथ ही व्याकरण-सम्बन्धी विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है।

इस कोश की दूसरी विशेषता अध्याय-विभाजन से प्रकट होती है। कोश में

सात अध्याय छंदः शास्त्र, तुक, रस-अलंकार, शृंगार रस व नायक-नायिका-भेद, संगीत शास्त्र, कामशास्त्र और सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार हैं। परिशिष्ट या 'ख़ातिमा दर इल्मे-लुग़त' है, जिसमें 'कोकशास्त्र' की विवेचना हुई है।

यह कोश अपनी सामग्री एवं विवेचना से कई तथ्यों का उद्‌घाटन करता है— (१) उस समय हिन्दी भाषा अपने विशाल शब्द-भंडार के कारण अतीव लोकप्रिय थी। मिर्ज़ा के इस कोश में प्रायः ३००० मूल हिन्दी-शब्द मिलते हैं। (२) इस समय शृंगार रस और नायक-नायिका-भेद का महत्व बहुत अधिक बढ़ा हुआ था। (३) चूँकि इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय छंदः शास्त्र से शुरू हुआ है, अतः अनुमान होता है कि मिर्ज़ा ने रीतिकालीन हिन्दी-कविता के विदेशी पाठकों को दृष्टि में रखकर यह कोश तैयार किया है। (४) इसमें तुक का विवेचन सर्वप्रथम हुआ है। भिखारीदास (र० का० सन् १७२८-१७५० तक) ने 'काव्य-निर्णय' में तुक पर विचार किया है, लेकिन 'तोहफ़तुल्हिन्द' उससे कई साल पहले लिखा जा चुका था। तुक हिन्दी-कविता की एक ऐसी विशेषता है, जो उसे संस्कृत-काव्य से पृथक् करती है। अतः उसका अनुसंधान आवश्यक था। तुक फ़ारसी-काव्य का भी प्राण है, शायद इसलिए भी लेखक ने उसका निरूपण अनिवार्य समझा। (५) तत्कालीन काव्य में काम-शास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, संगीतशास्त्र की भी काफ़ी मान्यता थी।

'तोहफ़तुल्हिन्द' कोश में एक हिन्दी-शब्द के अनेक विदेशी-पर्याय दिए गए हैं। यह कोश फ़ारसी लिपि में है। लेकिन देवनागरी लिपि में भी अनेक कोश ग्रंथ बने। 'पारसी पारसात नाम माला' (सन् १८००) कोश इस कोटि के कोशों में सर्वोच्च है। इसमें ब्रजभाषा-शब्दों के पर्यायवाची फ़ारसी में या फ़ारसी-शब्दों के पर्याय ब्रजभाषा में दिए गए हैं। कोश ३५३ छंदों में समाप्त हुआ है।

इन कोश ग्रन्थों ने तीन कार्य किए—(१) लिंग-विपर्यय (२) उच्चारण में परिवर्तन (३) पर्यायवाची में गड़बड़।

लिंग-विपर्यय

लिंग-विपर्यय का क्षेत्र संस्कृत या फ़ारसी का शब्द-भंडार है। इस विपर्यय के मूल कारण द्विभाषीय कोश हैं। कृष्णदास कृत 'पारसी प्रकाश' कोश में फ़ारसी-शब्दों के अर्थ संस्कृत में दिए गए हैं। इसमें 'लेखनी' का पर्यायवाची 'क़लम' शब्द स्त्रीलिंग लिखा गया है 'मसीपात्रे भवेत्स्याही, लेखिन्यां कलमो भवेत्'[६]। यही शब्द 'मेदिनीकोश' में पुल्लिंग है 'कलमः पुंसि लेखिन्यां शालौ पाटच्चरेऽपि'। 'क़लम' शब्द फ़ारसी में पुल्लिग है। लेकिन 'मेदिनी' कोशकार ने 'कलम' को पुल्लिग इस कारण नहीं लिखा कि वह फ़ारसी में पुल्लिग है। लेखक की दृष्टि-वहाँ संस्कृत 'कलमः' शब्द पर है। 'कलमः' शब्द 'शालि' का पर्यायवाची है और

पुल्लिंग है। संयोगवश फ़ारसी में भी इसी तरह का एक शब्द 'क़लम' मौजूद है। संस्कृत में नुक़्ते के लिए कोई लिपि-चिह्न न होने से 'क़' को 'क' की ही भाँति लिखते और बोलते थे। इसलिए 'मेदिनी कोश'-प्रणेता ने लिख दिया कि 'कलम' शब्द लेखनी के लिए भी आता है। उसने लिंग-निर्देश वस्तुतः 'कलमः' का दिया है, 'क़लम' का नहीं। 'लेखिन्यां कलमो भवेत्' मे भी 'क़लम' शब्द पुल्लिंग ही है। परन्तु पर्यायवाची होने का फल यह हुआ कि भ्रमवश एक का लिंग दूसरे को मिल गया। हिन्दी-रीतिकवियों ने ही नहीं, समकालीन उर्दू-शाइरों ने भी 'क़लम' को स्त्रीलिंग मान लिया था—

किसू को शौक़ यारब वेश इससे और क्या होगा ?
क़लम हाथ आ गई होगी तो सौ-सौ ख़त लिखा होगा। —मीर

लिंग-परिवर्तन आलोच्चकालीन काव्य की एक विशिष्टता है। हिन्दी-उर्दू कवियों के पारस्परिक सम्पर्क से एक भाषा के शब्द का लिंग दूसरी भाषा में दो कारणों से बदल गया—(१) पर्यायवाची शब्द के भ्रमवश और (२) आसन्न शब्द के प्रभाव के कारण।

पर्यायवाची शब्दों के लिंग सर्वत्र समान ही हों, यह कोई नियम नहीं है। एक भाषा में ही पर्यायवाचियों में लिंग-भेद होता है। संस्कृत में 'स्त्री', 'भार्या' तथा 'दारा' के लिंग अलग-अलग हैं। हिन्दी में भी 'ज्योति' तथा 'प्रकाश' के लिंगों मे अन्तर है। जब एक भाषा की यह बात है तो दूसरी के विषय में एक-से नियम कैसे लागू हो सकते हैं ? विवेच्यकाल के हिन्दी-उर्दू कवियों ने दूसरी भाषा के शब्दों को प्रायः अपनी भाषा के पर्याय की तरह ही प्रयोग किया है—

उनकी कटक सब आई वाँ —नज़ीर
हरि नाम की सुमिरन —नज़ीर
संतोष मिला आनंद हुई —नज़ीर
कुछ ठौर भी थी इसकी —नज़ीर
हरदम ख़याल बाँध के उसकी नयन में जा —वली

'कटक' तथा 'सुमिरन' का पर्याय 'फ़ौज' एवं 'याद' और 'आनन्द' का समानार्थी 'ख़ुशी' है। ये पर्यायवाची शब्द स्त्रीलिंग हैं। यही कारण है कि शाइर ने इन तीनों शब्दों के लिंग बदल दिए हैं। 'ठौर' तथा 'नयन' पर भी यही नियम लगता है।

इन प्रयोगों से भिन्न एक ही भाषा के शब्दों का लिंग-परिवर्तन है। यह परिवर्तन भी पर्यायवाची-जन्य-भ्रम के फलस्वरूप ही है, जैसे—

तेरी तस्बीह में जंगल की हर पात। —फायज़

मेरे दिल को प्यारे से लागी है हित। —फ़ायज़

'पात' तथा 'पत्ती' और 'हित' तथा 'प्रीति' हिन्दी के ही शब्द हैं, परन्तु युग्मों में से एक पुंल्लिग है, तो दूसरा स्त्रीलिंग। शाइरों ने भ्रमवश एक को दूसरे के लिंग मे प्रयोग कर दिया है।

कभी-कभी एक ही शब्द का लिंग दो भाषाओं में अलग-अलग होता है। ऐसी दशा में यदि एक भाषा का कवि उस शब्द का लिंग अपनी भाषा से भिन्न रखता है तो वह निस्सन्देह दूसरी भाषा से प्रभावित है। हिन्दी-रीतिकवियों पर ऐसे प्रभाव भी मिलते हैं—

आवत हैं जो कहौगी कछू सुनि मोती को माल लै आगे धरैंगे —रघुनाथ

कहुँ बिँदुली कहुँ उरबसी कहूँ गिरो बनमाल —रसलीन

संस्कृत में 'माला' स्त्रीलिंग है और हिन्दी में भी उसे स्त्रीलिंग माना जाता है। 'माला पहनाई', 'माला चढ़ाई' आदि पचासों प्रयोग हैं। परन्तु उर्दू में उसे पुंल्लिग कहते हैं—

तेरा माला मोतियों का क़त्ल करता है मुझे —नासिख

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि व्याकरण की दिशा में अव्यवस्था रीतिकालीन कवि की असावधानी के साथ-साथ उसके हृदय-वैशाल्य की परिचायिका भी है। उपर्युक्त प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि समीक्ष्य कविता मे भाषा की संकीर्णता नहीं थी।

इस 'माला' ने ऐसा कमाल दिखाया कि उर्दू में 'तस्बीह' भी पुंल्लिग हो गयी—"तस्बीह तक तो 'मीर' ने रक्खा कलाल के।" यों 'मीर' ने 'तस्बीह' को स्त्रीलिंग भी लिखा है, लेकिन वहाँ प्रयोग की ध्वनि दूसरी है—

गई तस्बीह उसकी नज़ा में कब 'मीर' के दिल से

उसी के नाम की सुमिरन थी जब मनका ढलकता था।

यहाँ 'तस्बीह' से तात्पर्य माला फेरने की क्रिया से है; स्वयं माला से नहीं। पूर्वोद्धृत शेर में यही शब्द माला के लिए आया है। इसी प्रकार 'प्राण' के लिंग ने 'जान' को प्रभावित करके सगोत्रीय बना लिया—

वादा तो किया उससे दमे-सुब्ह का लेकिन

उस दम तईं मुझमें भी अगर जान रहेगा। —मीर

उर्दू-शाइरी के उषःकाल में इस प्रकार के शतशः प्रयोग हुए हैं। लोक-प्रचलित शब्द के प्रभाव से अहिन्दी पर्यायवाची का लिंग प्रायः बदल गया है। उदाहरणार्थ

'मीर' ने 'नींद' और 'सेज' के लिंगानुसार 'ख़्वाब' तथा 'बिस्तर' शब्दों के प्रयोग किए हैं—

खुशबस्ता हैंगी आँखें आवेगी ख़्वाब क्योंकर
× × ×
बिस्तर प उसके ख़्वाब की किनने बिछाए गुल

इसी प्रकार 'फ़िक्र' ने चिन्तन अथवा बिचार के समानार्थी होने से इन्हीं शब्दों के लिंग अपना लिए हैं—"अबस ग़ाफ़िल हुआ हैगा फ़िकर कर पिव के पाने का।"[७]

उर्दू-शाइर संस्कृत से अपरिचित थे, अतः अपने प्रयोगों के लिए उन्होंने बोलचाल की भाषा को ही प्रमाण माना। यह पद्धति अपने में बहुत महत्वपूर्ण तथा लाभदायक थी। लेकिन इससे भाषा में कई भ्रांतियाँ उत्पन्न हुई। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। हिन्दी में 'आरसी' शब्द पुल्लिग है। उर्दू में 'शीशा' भी उसी तरह का है। किन्तु स्त्रियाँ हाथ के अँगूठे में जो आभूषण पहनती हैं उसे 'आरसी' कहते है। आरसी इसलिए कहते है कि उसमें एक गोल शीशा लगा रहता है। यह आरसी शब्द संस्कृत 'आदर्शिका' शब्द से व्युत्पन्न है। कनौजी बोली मे इस आभूषण को आज भी 'अस्सिअइया' कहते हैं। 'अस्सिअइया' स्त्रीलिंग है। शिष्टभाषा में इसे 'आरसी' कहा जाता है। उर्दू-शाइरों ने इस भ्रम के कारण 'आरसी' को सर्वत्र स्त्रीलिंग लिखा है—

सफ़ा कर आरसी दिल की सिकंदर हो जमाने का —वली

कुछ शब्दों के उर्दू-प्रयोग इतने प्रचलित तथा गृहीत हो गए कि उनके असली लिंग-वचन का पता ही नहीं चलता। उर्दू में 'तन' (शरीर) पुल्लिग, जब कि संस्कृत में 'तनु' स्त्रीलिंग है। रीतिकालीन कवियों में महाकवि 'देव' ने अवश्य 'तनु' का स्त्रीलिंग में प्रयोग किया 'तनु हाथ रही' अन्यथा 'तन' का प्रयोग सर्वत्र पुल्लिग में हुआ है।

अरबी-फ़ारसी का प्रभाव इतना अधिक था कि हिन्दी-कवि कभी-कभी जान-बूझकर हिन्दी-व्याकरण की अवहेलना कर देते थे। हिन्दी में 'भाग्य' शब्द सदैव पुल्लिग माना गया है, परन्तु 'द्विजदेव' ने उसे क़िस्मत के ढंग पर स्त्रीलिंग में इस्तैमाल किया है—"आज भई चाहैं भागि उदित गोविन्द की।"

अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग हिन्दी-कविता में कभी हिन्दी-पर्यायवाची के लिंगानुसार हुआ और कभी हिन्दी-शब्द का प्रयोग अरबी-फ़ारसी-पर्यायवाची के लिंग की भाँति किया गया। उदाहरणार्थ—

बाल-बेलि सूखी सुखद इहिं रूखी रुख घाम —बिहारी
गातहिँ छुवौ तौ तुम्हैं ताप चढ़ि आवैगी —पदमाकर

'रुख' का अर्थ मुख है, परन्तु व्यंजना से वह मुखमुद्रा की ध्वनि देता है। फलस्वरूप हिन्दी-रीतिकवियों ने उसे मुखमुद्रा मानकर ही प्रयोग किया। रीतिकाल को भी यह प्रयोग परम्परा से मिला। 'ताप' शब्द इसलिए स्त्रीलिंग बन गया कि फ़ारसी में 'गर्मी' स्त्रीलिंग है। इन उर्दू-प्रभावों के कारण 'तोष' कवि ने हाल तथा डर को स्त्रीलिंग लिखा—

भई सजनी यह हाल हमारी
× × ×
डेरात नहीं कुल की डर सों

'हाल' का अर्थ यहाँ समाचार नहीं है। कवि का तात्पर्य 'हालत' से है और डर के समानार्थी 'दहशत' की वजह से 'डर' मे स्त्रीत्व स्थापित हो गया है। यह प्रभाव उर्दू-शब्दों के कारण हिन्दी-शब्दों पर आया। उर्दू-शब्दों के लिंग भी हिन्दी-शब्दों ने परिवर्तित किए। जैसे—

यह लाज की कोऊ इलाज करौ —'शृं० मं०'

चिकित्सा का समानार्थी होने से 'इलाज' को भी समलिंगी मान लिया गया है। इसी प्रकार 'पदमाकर' ने 'जलूस' शब्द को स्त्रीलिंग लिखा है, जिस पर हिन्दी के 'भीड़' शब्द ने प्रभाव डाला है—

भगीरथ भूपति के जस की जलूस कैधौं
प्रकटी तपस्या पूरी कैधौं जह्नु जन की।

एक सूक्ष्म अन्तर की ओर ध्यान दिलाना भी उपयुक्त होगा। हिन्दी-कवि ने कहीं-कहीं लिंग-परिवर्तन करते समय मूल शब्द की ध्वनि को भी थोड़ा बदल दिया है। इससे लिंग-विषयक अस्वाभाविकता का किसी सीमा तक परिहार हो गया। 'वेदना' हिन्दी मे स्त्रीलिंग और उसका समानार्थी 'दर्द' उर्दू में पुल्लिग है, लेकिन हिन्दी-रीतिकवि ने वेदना को दर्द की भाँति अनुशासित किया—

वेदन ऐसो बढ़ो तन मैं —'भु० भू०'

यहाँ वेदना को 'वेदन' बनाकर कवि ने उसे पुल्लिग-जैसा रूप प्रदान कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रयोग के पीछे प्रेरणा 'दर्द' की है। यद्यपि संस्कृत का 'संवेदन' शब्द भी पुल्लिग है, परन्तु 'वेदन' उस अर्थ में नहीं है। यहाँ 'वेदन' का अर्थ पीड़ा अथवा दर्द ही है।

जिस प्रकार उर्दू-शाइरों ने हिन्दी के दो पर्यायवाची शब्दों के लिंग में व्यत्यय कर दिया, उसी तरह हिन्दी-कवियों ने भी किया, जैसे 'कर' का अर्थ 'हाथ' भी है और 'किरण' भी, इसलिए उसका लिंग-परिवर्तन हो गया—

कनकाचल शृंग प्रकासन को रवि की कर दौरि परीं निसि में —आलम

हिन्दी-कवि कभी-कभी किसी शब्द का लिंग प्रान्तीय बोली के प्रयोग के आधार पर निर्धारित कर लेते है। उदाहरणार्थ 'लालच' शब्द पुल्लिग है, परन्तु पूर्वी हिन्दी में वह प्रायः स्त्रीलिंग बोला जाता है। हिन्दी-रीतिकविता में 'लालच' शब्द स्त्रीलिंग में भी आया है—

लाल उर लागिबे को लालच लगी रहति —देव

परन्तु एक बात ध्यान देने की है कि ऐसे स्थान पर 'लालच' शब्द अपने वास्तविक अर्थ को छोड़कर 'लालसा' का अर्थ व्यंजित करता है।

लिंग-विपर्यय में द्विभाषीय कोशों का हाथ है अवश्य, लेकिन जैसा कि उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है इस विपर्यय में अनेक तत्व कार्य कर रहे थे। आलोच्य काल उर्दू-काव्य के विकास तथा ब्रजभाषा-काव्य के उत्कर्ष का काल है। उर्दू-शाइरों ने न केवल हिन्दी, अपितु उर्दू-शब्दों को भी भिन्न-भिन्न लिंगों में रक्खा है। 'ज़ियाँ' शब्द उर्दू में पुल्लिग माना जाता है। 'ग़ालिब' के शेर मे वह इसी तरह आया है—

दोस्ती नादाँ की है जी का ज़ियाँ हो जाएगा

हिन्दी-रीतिकवि 'पदमाकर' ने भी इसे पुल्लिग ही लिखा, यह अवश्य है कि उन्होंने उसे ब्रजभाषा के अनुरूप 'ज़ियान' की जगह 'ज्यान' बना लिया है "मान भयो वहै ज्यान है जी को।" परन्तु उर्दू-शाइर 'मीर ने उसे स्त्रीलिंग में लिखा है—"अपनी नज़र नहीं है फिर जान की ज़ियाँ पर।"

हिन्दी-शब्दों के प्रयोग भी उर्दू-शाइरों ने दोनों लिंगों में किए हैं। 'वली' 'सुमिरन' को पुल्लिग कहते हैं—"जिसका मुझको रात दिन सुमिरन हुआ" और 'मीर' उसे स्त्रीलिंग मानते हैं—"उसी के नाम की सुमिरन थी।"

इस लिंग-भेद का कारण यह बताया जा सकता है कि कुछ कवि भाषानुवाद के अनुसार लिंग स्थिर करते थे, कुछ उसका मूल लिंग स्वीकार कर लेते थे, परन्तु इन उदाहरणों के अतिरिक्त ऐसे भी निदर्शन हैं, जिनमें उसी कवि ने एक ही शब्द के दो भिन्न-भिन्न लिंग स्वीकार किए हैं।

यह लिंग-विपर्यय कभी-कभी तो अलंकार के कारण होता है, उदाहरणार्थ 'मीर' ने साधारण व्यवहार में 'क़लम' का स्त्रीलिंग रूप रक्खा, मगर जब उन्होंने 'क़लम' शब्द का प्रयोग श्लेषवत् किया तो वही शब्द पुल्लिग बनकर आया—

न गया उस तरफ़ का ख़त लिखना
हाथ जब तक मेरा क़लम न हुआ।

हिन्दी-रीतिकवि बिहारीलाल ने भी अलंकार के वश में होकर 'वायु' को दोनों लिंग प्रदान कर दिए हैं। वायु पर जब नवोढ़ा का आरोप है, तब वह स्त्रीलिंग है—

लपटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरंद।
आवति नारि नवोढ़ लौ सुखद वायु गति मंद।

और जब उसे पथिक बनाया गया तो वह पुल्लिग है—

चुवत स्वेद मकरंद कन तरु तरु तर बिरमाइ।
आवत दच्छिन देस तें थक्यो बटौही बाइ।

कभी-कभी उसी शब्द के भिन्न-भिन्न लिंग-प्रयोग का कारण उसका भिन्न-भिन्न अर्थ भी होता है। मिर्ज़ा 'सौदा' ने हुलास शब्द का अर्थ लिया 'चाह' या 'हवस'। इसलिए उसे स्त्रीलिंग में प्रयोग किया—

बुलबुल को है तेरे सरे दीवार की हुलास

परन्तु दूसरे स्थल पर उन्होंने 'हुलास' का अर्थ अरमान लिया। अतएव वह पुल्लिग बनकर आया—

ता दिल में रह न जाए तेरे प्यार का हुलास

लेकिन ऐसे भी उदाहरण हैं, जिनमें इस प्रकार की कोई विवशता नहीं है। 'नज़ीर' अकबराबादी 'आनंद' शब्द स्त्रीलिंग ही नहीं, पुल्लिग भी लिखते हैं—"सब चैन हुए आनन्द हुए।"

कवि 'सुन्दर' साँस का प्रयोग पुल्लिग में करते हैं, यथा—"भरि सासु लयो अँखियाँ भरि लीनी।" लेकिन कविवर 'बिहारी' ने 'उसास' शब्द दोनों लिंगों में रक्खा है—

फिर सुधि दै सुधि द्याइ प्यौ इहिं निरदई निरास।
नई नई बहुर्‌यौ दई! दई उसासि उसास।

करतु मलिन आछी छबिहिं हरतु जु सहज विकासु।
अंगरागु अंगन लगै ज्यों आरसी उसासु।

इस समस्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कवि लोक भाषा तथा द्विभाषीय कोशों की कशमकश के यद्यपि शिकार थे, फिर भी शब्दों के लिंग-निर्धारण मे उन्होंने अनेक जगह अपनी स्वतन्त्र रुचि से काम लिया है।

वचन

लिंगानुशासन की तरह का आदान-प्रदान 'वचन' मे नहीं मिलता, लेकिन

वचन-निर्माण-नियम भाषा विशेष के शब्दों तक सीमित नहीं है। अरबी-फ़ारसी में बहुवचन के लिए 'आँ' प्रत्यय जुड़ता है। प्रारम्भिक उर्दू-शाइरी में 'आँ' 'जोड़कर ही बहुवचन बनाए जाते थे। मीर तक़ी 'मीर' के यहाँ हिन्दी-शब्दावली का आधिक्य है, लेकिन बहुवचन के लिए 'आँ' का प्रयोग अरबी-फ़ारसी शब्दों तक ही सीमित है। परन्तु 'मीर' से पहले उर्दू-शाइरों के काव्य मे ऐसा कोई नियम नहीं है। 'फायज़' ने किरन, प्रान तथा कोयल आदि हिन्दी-शब्दों को फ़ारसी-शब्दानुशासन के अन्तर्गत रखकर प्रयोग किया है—

किरनाँ का बना है नूर रुख़ सों

× × ×

पिराँ की रहज़न है

× × ×

कोयलाँ के नाले अमराई के बीच

क़ुली क़ुतुब शाह और 'वली' औरंगाबादी के काव्य-संग्रहों में ऐसे शब्द राशि-राशि मिल जाएँगे। उर्दू-शाइरों के समानान्तर हिन्दी-कवियों ने भी अरबी-फ़ारसी के शब्दों के रूप हिन्दी-ढंग पर बना लिए हैं, जैसे 'रफ़ीक़' से 'रफीकन', जिला से 'जिल्लनि', 'ग़रज़' से गरजनु—

जिल्लनि तैं जगत उजेरो है —पदमाकर

अपनी गरजनु बोलियत —बिहारी

लेकिन कभी-कभी कवियों ने अरबी-फ़ारसी बहुवचन को ज्यों-का-त्यों अपना लिया। उदाहरणार्थ—"महारण शूर फ़तूह को लेवा।"[८]

जिस प्रकार पर्यायवाची शब्द का प्रयोग कभी-कभी लिंग-विपर्यय का कारण बन जाता है, उसी प्रकार वह वचन में भी अव्यवस्था पैदा करता है। हिन्दी में 'प्राण' शब्द बहुवचन है, जैसे प्राण निकल गए, क्योंकि प्राण पाँच माने गए हैं। उर्दू में 'जान' एकवचन है। 'प्राण' बहुवचन में प्रयोग किया जाता है, परन्तु 'जीव' एकवचन माना गया है। यह ठीक है कि सर्वसाधारण के लिए प्राण और जीव परस्पर पर्याय हैं, परन्तु उनके प्रयोग भिन्न-भिन्न हैं। उर्दू-शाइर ने 'जीव' को 'प्राण' का पर्यायवाची होने के कारण बहुवचन बना दिया है—"क्या ज़ुल्म किया बेजा मारा जियों से उनने।"[९] यही नहीं, 'जान' शब्द तक इसके प्रभाव से बच नहीं सका और उसे भी बहुवचन रूप स्वीकार करना पड़ा—"जिनके लिए अपने तो यों जान निकलते है।"[१०]

शब्द-निर्माण विधियाँ

मिश्रण

हिन्दी-उर्दू-कवियों के पारस्परिक मेल-जोल से शब्द-भंडार का जो आदान-प्रदान हुआ, उससे न केवल शब्द गृहीत हुए, अपितु एक शब्द उर्दू का और एक शब्द हिन्दी का मिलाकर शब्द बनाए भी गए। यह रचना दो प्रकार से की गई है—(१) प्रचलित यौगिक के एक शब्द का पर्यायवाची बदलकर, (२) उपसर्ग या प्रत्यय दूसरी भाषा का लगाकर। प्रथम प्रकार का उदाहरण अधोलिखित है—

क्या जानिए कि जी में ये कैसी गुलभड़ी है —मीर

वस्तुतः 'फुलभड़ी' प्रचलित शब्द था। परन्तु उसका अर्थ रूढ़ हो चुका था। 'फुलभड़ी' शब्द का फूल से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था, इसलिए शाइर ने यहाँ फूल के स्थान पर उसका पर्याय 'गुल' रखकर फुलभड़ी में लुप्त फूल के अर्थ का पुनरुद्धार किया है। एक मार्के की बात यह है कि बहार के मुक़ाबले में गुलभड़ को रखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह पतभड़ के वज़न का बना हुआ एक नया शब्द भी है। हिंदी-काव्य में 'गजगौहर'[११] शब्द इसी प्रकार का है।

दो शब्दों के इससे बढ़कर विचित्र प्रयोग वे हैं, जिनमें प्रायः संधि हो जाती है। हिन्दी-रीतिकविता में प्रयुक्त अनेक शब्दों में ऐसी संधियाँ मिलती हैं—

'रंगपाल' लोचन अदा मैं फिदा ह्वै कै वस्यो
कैधों धँस्यो भौंहन मरोर परमाली मैं।

परम + आली = अत्यन्त सुंदर (श्रेष्ठ)। 'रंगपाल' ने इसी प्रकार ज़ेब तथा रूरो के संयोग से एक शब्द 'ज़ेबरूरो' बनाया है "जगमगो जोबन जलूस जेबरूरो है।" कह नहीं सकते कि यह 'रूरो' शब्द ब्रजभाषा का है या 'मग़रूर' के अनुकरण में 'रूर' प्रत्यय लगाया गया है।

संज्ञा तथा विशेषण

रीतिकालीन कविता में संज्ञा का प्रयोग विशेषण की भाँति और विशेषण का प्रयोग संज्ञा के स्थान पर भी हुआ है। उर्दू-शाइर इस क्षेत्र में बहुत आगे हैं। 'नज़ीर' अकबराबादी के दो प्रयोग दृष्टव्य हैं—

जो भगती हैं सो उनको तो नित हरि का नाउँ सुहाता है
× × ×
सब भग्त बातें साथ लीं जो इस्ट में दरकार हैं

'भगती' का अर्थ है भक्त और 'भग्त' का अर्थ है भक्ति। 'नज़ीर' ने एक अन्य स्थान पर दोनों शब्द साथ-साथ रक्खे हैं—

पति लाज रखैया दुख भंजन
हर भगती भगता धारे की।

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में 'भग्त' को 'भग्ति' भी पढ़ा जा सकता था, परन्तु इस उदाहरण में 'भगता' शब्द निस्सन्देह 'भक्त' है और इस 'भक्त' का अर्थ है 'भक्ति'। उर्दू के दूसरे शाइरों ने भी ऐसे प्रयोग किए हैं। 'ज़ौक़' ने 'वन' शब्द को विशेषण के स्थान पर रक्खा—

है जोश पारा पारा-ए-दिल हर मिज़ह प यूँ
लाए निकाल कोंपलें जिस तरह घन की शाख़।

घन अर्थात् सघन छायादार वृक्ष। 'सौदा' भी एक स्थान पर 'गड़न्त' शब्द भूतकालिक कृदन्त की भाँति कीली (गड़ी हुई चीज़) के अर्थ में लाए हैं—

तेरी हैबत से न ज़मीं के तले
काँपती है ज़मीं के बीच गडन्त।

'नासिख़' ने 'सुमिरन' को भी इस ढंग पर शेरबद्ध किया है—"मोतियों की हो जो सुमरन इस्तिख़ारा कीजिए।" सुमिरन का तात्पर्य है वह वस्तु, जिससे सुमिरन किया जाता है, सुमिरनी, माला।

हिन्दी-रीतिकविता में 'घोर' शब्द को विशेषण के बदले संज्ञा की तरह प्रयोग किया गया है—"ऐसे घोर सुनि घूम रे।" 'नज़ीर' अकबराबादी ने भी 'घोर' को संज्ञा की भाँति ही रक्खा, परन्तु उसका अर्थ कुछ भिन्न है—"बाग़ में शब को वाह-वाह क्या ही मज़ों के घोर थे"।

प्रत्यय

संज्ञा से विशेषण बनाने में हिन्दी-रीतिकवि प्रायः दो प्रत्यय—'इला' (ईला) तथा 'औहें' बहुत लगाते हैं। परसौहैं, तरसौहैं, सरसौहै बरसौहैं तथा यशीले, बसीले, लसीले, जसीले, हँसीले आदि शब्दों का बार-बार प्रयोग हुआ है। 'इला' प्रत्यय तो इन कवियों को इतना प्रिय है कि अपनी इच्छा से वे कहीं भी लगा सकते हैं—

मंद मंद मेघ बाँसुरीलो स्वर गायो है 'षट्० का०'
सिर पटकीली भई सौतिनि की छति है —बेनी प्रवीन

इसी प्रकार का एक प्रत्यय 'आयल' भी है। इस प्रत्यय-प्रयोग की प्रेरणा वस्तुतः उर्दू से मिली है। उर्दू के मायल, सायल, हायल आदि शब्दों की तक

खोजने में हिन्दी-कवियों ने पायल, घायल के अतिरिक्त करसायल, उतरायल, छरकायल आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया—

घायल ह्वै करसायल ज्यों मृग त्यों उत ही उतरायल घूमैं —देव

छूटत ही घायल करैं छरकायल से बार —राम सहाय दास

प्रत्ययों के क्षेत्र मे आदान-प्रदान के बड़े उत्तम उदाहरण आलोच्यकाल की कविता में उपलब्ध हैं। उर्दू तथा हिन्दी के कवियों ने शब्द एक भाषा का लिया और प्रत्यय दूसरी भाषा का लगाया—

उयौ सरद-राका-ससी करति क्यों न चित चेतु।
मनौ मदन छितिपाल कौ छाँहगीर छबि देतु। —बिहारी

फ़ारसी 'गीर' प्रत्यय को 'छाँह' शब्द में लगाकर सायागीर के समान छाँहगीर शब्द निर्मित हुआ। 'ग्वाल' कवि ने 'दार' प्रत्यय जोड़कर 'सोकदार' शब्द बना लिया—"मृग मीनन के सोकदार"। 'बार' प्रत्यय लगाकर 'वियोगवार' शब्द बना तथा 'बाज़' जोड़कर उर्दू-प्रकृति से भिन्न शब्द निर्मित हुए—"कहै कवि 'तोष' जो वियोगवार वनिता को।" वियोगवार उस ढंग पर है, जिस ढंग पर 'सज़ावार' आदि शब्द बनते हैं। 'बाज़' प्रत्यय के उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

कहै 'पदमाकर' घरीक ही में घनस्याम
काम तौ कतलबाज कुज ह्वै है काँती-सी।

क़ातिल के लिए 'क़तलबाज़' का प्रयोग किया गया है। हिन्दी-रीतिकवि उर्दू-प्रत्ययों के विषय में स्वच्छंद है—"ए रे दगादार मेरे पातक अपार"[१२]। यहाँ 'दार' प्रत्यय का प्रयोग अनुपयुक्त है। इसके स्थान पर 'बाज़' होना चाहिए। 'दार' से वस्तु का तद्गुणत्व सिद्ध होता है, 'बाज़' से प्रेरकत्व अथवा कर्तृत्व, जैसे—यह कपड़ा दाग़दार है, वह आदमी मालदार है। इसका मतलब यह कि उस वस्त्र में दाग़ है, उस व्यक्ति के पास धन (माल) है। लेकिन 'वह आदमी तीतरबाज़ है, पतंगबाज़ है' का यह अर्थ नहीं कि उसके पास तीतर या पतंग है। इसका भाव यह है कि वह आदमी तीतर अथवा पतंग लड़ाता है अथवा उन्हें क्रियार्थ प्रेरित करता है। दग़ाबाज़ का अर्थ है जो दूसरे को दग़ा देता हो, दग़ादार का तात्पर्य है कि वह स्वयं दग़ायुक्त है।

ऊपर 'गीर', 'दार' तथा 'वार' प्रत्ययों के नमूने दिए गए। ये प्रत्यय उर्दू के हैं और हिन्दी-शब्दों मे लगे हैं। इसके विपरीत ऐसे उदाहरण भी समीक्ष्य काल की कविता में मिलते है, जिनमे प्रथम शब्द उर्दू का है और उसमें प्रत्यय हिन्दी का लगाया गया है, जैसे 'पदमाकर' के निम्नांकित प्रयोग—

सील के जहाज बली विक्रम तखतराज
× × ×
मानिनी मनोहरन महत मजेजवंत
× × ×
बड़े तेगवाही सदा के सिपाही

उर्दू-शाइरों ने 'ई' प्रत्यय लगाकर कर्ताकारक का भाव प्रकट किया, जैसे— "इक खल्क़ तलाशी है तुम हाथ नहीं लगते।"[१३] यों 'तलाशी' का अर्थ तलाश करने की क्रिया होता है, परन्तु शाइर ने यहाँ उसका अर्थ तलाश करने वाला ही किया है। हिन्दी-रीतिकाव्य ने इस शैली पर शब्दों का निर्माण किया—

यौवन जवाहिर के राखिबे को लोने कैधौं
संपुट बनाये काम सोनी गोल सोने के। —रघुनाथ

'सोनी' यानी सोने का काम करने वाला स्वर्णकार। 'नज़ीर' अकबराबादी ने 'सँवार' संज्ञा से इसी प्रकार 'सँवारी' शब्द बना लिया है—"ब्रजराज रूप मुकट सँवारी ने देर की।"

हिन्दी-रीतिकवियों की रचनाओं में इस प्रकार के अनेक प्रयोग हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

उमड़ि घुमड़ि घन घेरि के घमंड कीन्हों
चपला समेत चहुँ ओरन ते झूम रे।
निशि दिन जापी तापी बोलत पपीहा पापी
कूर है कलापी ऐसे घोर सुनि घूम रे।
—'पा० क० र०'

साधारण अर्थ को छोड़कर यदि 'निशि-दिन जापी तापी' में निशि तथा जापी और दिन तथा तापी को सम्बद्ध समझा जाय तो अर्थ होगा निशा जप कराती है और दिन संतप्त करता है। यदि ऐसा न माने तो भाव यह होगा कि मैं रात-दिन जाप करने वाली एवं ताप सहने वाली बनी रहती हूँ। यह 'ई' प्रत्यय उर्दू-शब्दों में भी लगा जैसे गुनाह शब्द में कवि ने 'ई' जोड़कर 'गुनहगार' की जगह 'गुनही' शब्द बना लिया। "चंद गुनहीं को लै गिलत उगिलत है।"[१४]

उपसर्ग

प्रत्यय की भाँति ही उपसर्गों के क्षेत्र में भी कवियों ने प्रयोग किए। उन्होंने शब्द एक भाषा का लिया और उपसर्ग दूसरी भाषा का लगाया। 'मीर' ने संस्कृत-शब्दों में फ़ारसी-उपसर्ग संयुक्त किए—

हम कश्क़ में क्या-क्या हुए अब आखिर आखिर हो चुके
बेमत हुए बेसत हुए बेखुद हुए मय्यत हुए ।

'बे' उपसर्ग 'मत' तथा 'सत' में लगा हुआ है। उर्दू-शाइरों ने संस्कृत-शब्दों में फ़ारसी उपसर्ग लगाए, तो हिन्दी-कवियों ने अरबी-फ़ारसी शब्दों में संस्कृत-उपसर्ग जोड़कर शब्द-निर्माण किया—"भूषण भनत नाद बिहद नगारन के।"

पूर्वमध्यकालीन कवि 'बेहद्द' या 'बेहद' शब्द ही लिखते थे "बेहद्दी मैदान में रहा कबीरा सोय"। लेकिन 'भूषण' ने 'बिहद' लिखा। यहाँ 'हद' के पूर्व 'बि' उपसर्ग लगा है। यदि कोई कहने लगे कि यहाँ तो संस्कृत 'हत' शब्द में 'वि' उपसर्ग संयुक्त है, तो फिर 'रघुनाथ' कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए—

फिरत कमद्ध मध्य बीरन के लुत्थ युत्थ
यों लसे बिहद फैले शोणित के थल में।
लपटे समेत लहलह लह लहकत
मानो परे दहकत काठ दावानल मे।

अतः 'भूषण' द्वारा प्रयुक्त शब्द बि + हद से ही बना है। 'भूषण' ने इसी शब्द के अर्थ में ठेठ हिन्दी-उपसर्ग का प्रयोग भी किया है यथा "चढत बिनमान है।"

हिन्दी में किसी शब्द के पूर्व यदि 'अ' जुड़ जाय तो उसका अर्थ निषेधात्मक हो जाता है, जैसे अ + परिचित = अपरिचित। परन्तु उर्दू-शाइरों ने 'अ'-संयुक्त अनेक शब्दों का प्रयोग इसके विपरीत अर्थ में किया है। इनमें से कुछ शब्द तो ऐसे है, जो भाषा विज्ञान के स्वरागम-नियम के अन्तर्गत हैं, जैसे अस्नान, अस्थान आदि। ऐसे शब्द न केवल उर्दू-शाइरों ने, प्रत्युत हिन्दी-कवियों ने भी अपनी कविता में बिना किसी संकोच के रक्खे हैं। परन्तु उर्दू-शाइरी में कुछ शब्दों के विशिष्ट प्रयोग भी हुए है, जैसे—

सवार गिर पड़ें सोते में चारपाई से
करे जो ख्वाब में घोड़ा किसी के नीचे अलोल —सौदा
न हों अब्रे-सियह में इस तरह बिजली की अचपलियाँ —मीर

'अचपलियाँ' से शाइर का तात्पर्य चपलताओं से है। उर्दू-शाइरी विपरीतार्थक अचपलियाँ शब्द ही जानती हो, 'चपल' नहीं, यह समझना ग़लत है। उर्दू-शाइर 'चपल' शब्द से परिचित है—"जहाँ मानिन्द बिजली के मेरा चंचल चपल आवे।"[१५]

इससे स्पष्ट है कि उर्दू मे 'अचपल' का प्रयोग सुचिंतित प्रयोग है। हिन्दी-रीतिकविता में भी इस प्रकार के प्रयोग देशी तथा विदेशी शब्दों के साथ किए गए हैं—

तजतु अठान न, हठ पर्‌यो सठमति आठौ जाम —बिहारी

प्रान पियारी बिहाय के हाय अनाहक आइ फँसे परदेस में —बेनी प्रबीन

'अ' को इसी शैली पर जोड़कर बिहारीलाल ने भी एक शब्द बनाया है। इसे न समझकर विद्वानों ने अटकल से अर्थ लगाया, परन्तु इस व्युत्पत्ति-लभ्य-अर्थ से समाधान संभव नहीं हो सका। उदाहरणार्थ—

मोर मुकट की चंद्रिकन यों राजत नंदनन्द।
मनु ससिसेखर की अकस किय शेखर सत चंद।

'रत्नाकर' ने 'बिहारी सतसई' की टीका में 'अकस' का अर्थ तो बैर लिखा है, मगर व्युत्पत्ति अरबी शब्द 'अदस' से सिद्ध की है। लेकिन 'अकस' का सम्बन्ध अक्स से जोड़ने पर बैर का अर्थ निकल ही नहीं सकता। अक्स तो वस्तु का ही तद्‌रूप होता है। वास्तव में यह शब्द 'कस' है, जिसका अर्थ होता है 'कीना'। यह देशी शब्द है। व्यवहार में बोलते है कि 'उनके मन में कुछ कस है।' बस इसी कस मे 'अ' जुड़कर 'अकस' बना है।

आलोच्यकाल में कुछ उपसर्ग तो इतने सामान्य हैं कि कविगण उन्हें किसी भी शब्द मे लगाकर नया पद निर्माण कर लेते थे। हिन्दी-उपसर्ग 'अ' जोड़कर जैसे अमोही, अछूत, अदेखिल आदि शब्द बने, उसी प्रकार 'नि' संयुक्त करके भी शब्द बना लिए जाते थे—

सब काम अपस के सौंप के हक़ को निचिन्त हो —वली
मरने से तुम हमारे खातिर निचिन्त रखियो। —मीर

'नि' उपसर्ग संयुक्त करके बिहारीलाल ने अपनी 'सतसई' में 'निघरघट' शब्द का प्रयोग किया है—

दुरैं न निघरघट्यौ दियैं ए रावरी कुचाल।
विषु सी लागति है बुरी हँसी खिसी की, लाल।

'वली' औरंगाबादी की एक ग़ज़ल में भी यह शब्द उपलब्ध है। 'वली' के शेर का मिसरा इस तरह है—"मुझ घट में ऐ निघरघट है शौक़ तुझ घुँघट का।"

'रत्नाकर' ने अपनी टीका में निघरघट का अर्थ "जो पानी अथवा खाद्य पदार्थ को बिना घूँटे एक बार ही निगल जाय" किया है। हमारी समझ में यह अर्थ एक क्लिष्ट कल्पना मात्र है।

बिहारी सतसई के टीकाकार हरि प्रकाश जी का कथन पं० पद्मसिंह शर्मा ने उद्‌धृत किया है "निघरघट—'दुलखिबो' पूरब में 'घघौट' कहै हैं, तुम यह काम किए हो, हम क्या ऐसो काम करेंगे! या तरह (मुकरना)।" यह अर्थ भी यहाँ व्यर्थ है।

'वली' के शेर में जो शब्द है, वही शब्द 'बिहारी' के दोहे में है और इसका अर्थ निहायत साफ़ है—हे लाल तुम लाख निघरघटपन (नि + घर + घाट + पन) दो अर्थात् बिना घर घाट-के व्यक्ति की तरह घूमो, तुम्हारी कुचाल छिप नहीं सकती। व्यंजना यह है कि नायक हर जगह आता-जाता है और इस बहाने अपनी प्रेयसी से मिल लेता है। वास्तव मे उसका यह हरजाईपन (जो वस्तुतः समदर्शी बनने का पाखंड है) उसकी कुचाल छिपाने के लिए है।

नव शब्द-निर्माण

एक शब्द के अनुकरण पर शब्द-निर्माण करने में आलोच्यकाल के उर्दू-शाइर बहुत कुशल है। हिन्दी में 'ड़ा' लगाकर मुखड़ा, दुखड़ा, सँदेसड़ा आदि शब्द बनते हैं। इन शब्दों में एक भोलापन है जो 'डा' की देन है। उर्दू-शाइरों ने अँखड़ियाँ, मनड़ा, पजोड़े जैसे अनेक नए शब्द बनाए—

जिस दिन ते तुमन सात लग्या मनड़ा हमारा

—अली आदिलशाह द्वितीय

थे पजोड़े सब मुह्य्या-ए-बिगाड़ —फ़ायज़

'फ़ायज़' ने रँगमगीं के अनुकरण पर 'सकमकीं' शब्द बनाया—

रँगमकीं आँख उसकी है शुहल्ला।
सकमकीं अलकन उसकी है ज़ेबा।

दीवान्-ए-'फ़ायज़' के सम्पादक श्री मसऊद हसन रिज़वी 'अदीब' ने इस दोनों शब्दों के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। वास्तव मे यह शब्द रँगमगी है, जिसका अर्थ है रंगीन। 'सगमगी' उसी वज़न पर निर्मित शब्द है, जिसके मानी यहाँ 'सुगबुगाती हुई' है।

'पखेरू' शब्द पुल्लिग है। स्त्रीलिंग के लिए 'चिड़िया' शब्द आता है। हिन्दी-रीतिकवि ने उसमें 'ई' प्रत्यय लगाकर 'पखेरी' शब्द बना लिया—

ह्वै है कहा सजनी अब धौं बचिहै केहि भाँति सों प्राण पखेरी[१६]

इसी प्रकार 'शरीक' मे 'इनी' स्त्री प्रत्यय लगाकर 'शरीकिनि' शब्द बना, परन्तु उसका अर्थ हुआ (नायक-नायिका की प्रणय-लीला मे शरीक होने वाली) अन्तरंग सखी। हिन्दी-रीतिकविता मे शरीकन या शरीकिन शब्द का प्रयोग प्रायः मिलता है—

कोरे कोरे करन बिथोरे थोरे थोरे चितैं
'देव' चित चोरे मुख मोरे है शरीकनें।

विशिष्ट शब्द

हिन्दी-रीतिकविता को भाषा की जो सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिली थी, वह सुसंस्कृत, प्रांजल तथा एक विशिष्ट स्तर की थी। उसमें नागरिकता थी। नागरिकता के कारण न तो उसमें 'मीर' के 'लहू मूतना', जैसे मुहावरे मिलते हैं और न 'नज़ीर' या 'ज़ौक़' द्वारा प्रयुक्त डाँडा, माड़ा, निहुड़ना जैसे शब्द प्राप्त होते हैं। यही नहीं, ऐसे शब्द भी [illegible] ने नहीं लिए जो ध्वन्यर्थ व्यंजना भरे हैं, जैसे—"ये चरत-फरत का नक़शा है।"[१७]

इस नागरिकता ने लोक-शब्दों का ऐसा बहिष्कार किया कि हिन्दी में 'टप से', 'फफ्फट', 'पकपन', 'मंगरे', 'झोंझरा', 'उटकना', 'खटपच्चर' आदि तो आए ही नहीं, कुछ प्राचीन शब्द (जो पूर्व मध्यकालीन कवियों ने प्रयोग किए थे) भी छोड़ दिए गए। लेकिन उर्दू में उनके प्रयोग मिलते है जैसे—"बड़ी कलवल टली है जाँ पर से।"[१८]

फ़ारसी में 'कलवल' का अर्थ है शोर, किन्तु यहाँ 'कलवल' परेशानी का भाव देता है। इसकी तुलना यदि तुलसीदास जी की पंक्ति "ईस अनेक करवरैं टारीं" से करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि 'र' ध्वनि 'ल' में बदल गई है। कलवल का 'कलोल' हो जाना भी सहज है। 'घनानंद' ने 'कलोल' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु 'कलवल' शब्द हिन्दी-रीतिकविता में नहीं मिलता—

> आह की न थाह दैया कठिन भयौ निबाह
> चाह के प्रवाह घेर्‌यौ दारुन कलोल है। —घनानंद

इसी प्रकार 'भाएँ' शब्द है। तुलसीदास जी ने "जोतिस झूठ हमारे भाएँ" में इसका प्रयोग किया है। बाद में नागरिकता ने इसे काव्य-क्षेत्र से बाहर कर दिया। परन्तु उर्दू-कवि 'मीर' ने इसे भी अपनी कविता में जगह दी—"बाग़ को तुझ बिन अपने भाएँ आतश दी है बहाराँ ने।"

रीतिकाल से पूर्व सूरदास जी ने अपने एक पद मे 'लढाना' क्रिया का प्रयोग किया है "यह सुनि कै हरि पीवन लागे ज्यों त्यों लयौ लढ़ै।" यह शब्द उर्दू-शाइरों के काव्य मे आया है—

> बारहा बैठ के काबे मे लँढाई है शराब
> मुहतसिब क्या है खुदा का भी हमें पास नहीं। —नासिख़

सूरदास जी का एक प्रसिद्ध पद है—"आए जोग सिखावन पाँडे"। उस पद की एक पंक्ति है—"काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध-घृत माँडे।" इस 'माँडे' का अर्थ करने में मुंड मारकर विथकित लोगों ने इसे प्रक्षिप्त ही कह दिया है। कुछ विद्वान् भात से माँड़ निकाल लाए। हिन्दी-रीतिकाव्य में यह शब्द-प्रयोग

छूट गया, परन्तु आलोच्यकालीन उर्दू-शाइरों में 'नज़ीर' अकबराबादी ने इस शब्द को अपनी कविता मे स्थान दिया है—"फिर हाँडा है, ना भाँडा है, ना हल्वा है ना माँडा है।" हल्वा के साथ रक्खे 'माँडा' शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'माँडा' का माँड़ अर्थ करने वाले लोग कैसा अनर्थ कर रहे हैं ?

इन शब्दों के अतिरिक्त कुछ शब्द इस प्रकार के है, जिनके प्रचलन के प्रमाण मिलते हैं, परन्तु वे हिन्दी-कविता मे उपलब्ध नहीं होते। उदाहरण के लिए 'अतीत' शब्द लिया जा सकता है। यह शब्द अठारहवीं शताब्दी के साहित्य में प्रचलित था। 'चकत्ता वंश परम्परा' नामक एक पुस्तक सन् १७६८ के आसपास लिखी गई थी, जिसके लेखक का नाम अज्ञात है। इस पुस्तक में वर्णन है कि "एक सिद्ध मुख में गोली ले आकास जाते हुए। सो खानखाना के बाग में उतरि सोय गया। सो गोली मुख में से गिर परी। तब खानखाना उठाय लाई। अतीत जागि हेरन लागा।"[१९]

तत्कालीन हिन्दी-गद्य में उपलब्ध इस शब्द का प्रयोग हिन्दी-काव्य में नहीं मिलता, लेकिन उर्दू-शाइरों ने अपनी रचनाओं मे इसका प्रयोग किया है। 'फ़ायज़' तथा 'मीर' के निम्नांकित शेर उद्धृत है—

> झूठ बाचन न कर अतीताँ सों।
> तुझको इस खाके-कर्बला की क़सम।
>
> मिले थे 'मीर' हम कल कनारे दरया पर।
> फ़तीला-मू-ओ जिगर-सोख्ता है जैसे अतीत।

'फ़ायज़' के शेर का भावार्थ यह है कि ऐ माशूक़ तुझे कर्बला की धूल की शपथ है, तू अतीतों से झूठ बात न बोल। और 'मीर' की पंक्तियों का आशय इस प्रकार है—हम कल 'मीर' से नदी-तट पर मिले थे। उसको देखा था। उसके सिर के बाल पलीते-से प्रज्ज्वलित हैं, उसका जिगर दग्ध हो चुका है। सिर के बाल एवं जिगर की अवस्था से विशिष्ट 'मीर' ऐसा है, जैसे कोई अतीत हो।

'रहीम रत्नावली' के सम्पादक मायाशंकर याज्ञिक ने 'अतीत' का अर्थ 'अतिथि यात्री' किया है। 'फ़ायज़' तथा 'मीर' के शेरों में अतीत का यह अर्थ किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं होता। 'फ़ायज़' ने माशूक़ को खाके-कर्बला की क़सम खिलाई है। कर्बला की भूमि पर हज़रत इमाम हुसैन तथा उनके परिजन धर्म-रक्षार्थ शहीद हुए थे। अतः ध्वनि निकलती है कि अतीत का अर्थ पवित्र एवं धार्मिक जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति होना चाहिए। 'मीर' के शेर में अतीत का अर्थ वियोग में संतप्त या अस्तव्यस्त दशा में रहने वाला व्यक्ति है। दोनों के मिलाने से

'अतीत' का अर्थ होगा एक निस्पृह पवित्र आत्मा। 'चकत्तावंश परम्परा' के उपर्युक्त उद्धरण में 'अतीत' शब्द 'सिद्ध' के लिए आया है। 'सिद्ध' शब्द विशेषण है। इसी प्रकार 'अतीत' भी विशेषण है। इस 'अतीत' की खोज के लिए हम श्रीमद्भगवद्गीता की ओर देखें—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः सः उच्यते।

'अतीत' शब्द यही द्वन्द्वातीत या गुणातीत है। साधारण अर्थ में उसे योगी, विरागी, साधु आदि कुछ भी कह सकते हैं। 'फ़ायज़' तथा 'मीर' के शेरों से इसका अर्थ विरागी, फ़क़ीर आदि प्रतीत होता है। 'चकत्तावंश-परम्परा' का तो प्रसंग ही 'सिद्ध' का है, अतः उससे इस अर्थ की पुष्टि हो जाती है। आश्चर्य है कि दर्शन-सम्बन्धी इस महत्वपूर्ण शब्द का हिन्दी-रीतिकविता में प्रयोग नहीं हुआ।

इस सन्दर्भ में एक शब्द का ज़िक्र कर देना मौज़ूँ होगा। उर्दू-शाइरी में 'अँझुवा' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है—

बह्रे बे-पायाँ ने मुझ अँझुवाँ सतीं पाया है फ़ैज़
अब्रे-नियसाँ अब्द है तुझ चश्मे गौहरबार का। —वली

उर्दू-शाइरी में 'अँझुवा, 'अंझू', 'आँछू'—ये तीन रूप मिलते हैं। हिन्दी-कविता में ये शब्द नहीं प्राप्त होते। 'आँछू' और 'अंझू' वस्तुतः 'अश्रु' से आँसू तक के विकास का इतिहास बताते है। जिस प्रकार 'श्मश्रु' से मूँछ बना उसी प्रकार अश्रु की भी एक अवस्था 'अच्छु' और फिर 'आँछू' रही होगी। लेकिन पता नहीं क्यों यह शब्द रीतिकालीन हिन्दी-कविता में ग्रहण नहीं किया गया ?

इस उदाहरण के विपरीत भी एक स्थिति है। कभी-कभी कोई शब्द ध्वनि-परिवर्तन के कारण मूलरूप से इतनी दूर पहुँच जाता है कि उसको पहचानना संभव नहीं। 'पदमाकर' की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

मोहिं लखि सोवत बिथोरि गो सुबेनी बनी
तोरि गो हिये को हार, छोरि गो सुगैया कों।
कहै 'पदमाकर' त्यों घोरि गो घनेरो दुख
बोरिगो बिसासी आज लाज ही की नैया कों।

'सुगैया' शब्द विचारणीय है। इसमें 'सु' तो उपसर्ग है। अब बचा 'गैया'। इस 'गैया' के अर्थ को पकड़ने की लाख कोशिश कीजिए, परन्तु वह भागता ही रहेगा। इसका सूत्र 'मीर' के इस शेर में ढूँढिए—

गात उस औबाश की लें क्योंकि बर में 'मीर' हम
एक झुरमुट शाल का इक शाल की गाती है क्या।

यही 'गाती' शब्द 'गाई' के बाद 'गइया' (गैया) हो गया है। हिन्दी-रीति-कविता में जिस प्रकार अश्रु और अँसुवा के बीच का 'अँझुवा' उपलब्ध नहीं होता उसी प्रकार इस 'गाई' का प्रयोग भी नहीं मिलता।

कहने का तात्पर्य यह कि व्युत्पत्ति एक होने पर भी तद्भव शब्दों के विकास-क्रम का एक शब्द एक भाषा में, तथा दूसरा, दूसरी भाषा मे गृहीत किया जा सकता है। 'वली' औरंगाबादी की शाइरी में 'देस' शब्द इसी तरह का आया है—

उस बेवफ़ा की तर्ज़ सों शिकवा नहीं 'वली'
है जंग रात देस मुझे मुझ नसीब सों।

उर्दूवाले इस 'देस' का उच्चारण 'दीस' करते हैं। पढ़ा तो दैस, दोस भी जा सकता है, परन्तु ठीक 'देस' ही है। 'दिवस' से हिन्दी में 'द्यौस' आया और उर्दू में 'देस'। लिपि के कारण भी कभी-कभी शब्द का रूप बदल जाता है। उर्दू में महाप्राण ध्वनियाँ नहीं है। महाप्राण बनाने के लिए अल्पप्राण-ध्वनि में 'दुचश्मी हे' जोड़ देते हैं। इसलिए 'ख' को उर्दू में 'कह' भी पढ़ा जा सकता है। निम्न-लिखित शेर में इसी लेखन-शैली के कारण संयोगवश एक नए शब्द का जन्म हो गया, जिससे अर्थ में और अधिक शोखी आ गई—

तुझको ग़रूर ज़्यादा सजन इस सबब से है
जो दिलबराँ में तुझसा कोई मूकहर नहीं। —फ़ायज़

'मुखर' शब्द वर्तनी-प्रभाव से 'मूकहर' बन गया। 'मूकहर' शब्द से मतलब में एक बाँकपन भी आ गया जो मुखर शब्द में नहीं था। लेकिन कहीं-कहीं उससे भ्रम भी उत्पन्न हुआ, जैसे 'ढहना' के स्थान पर 'डहना' प्रयोग करने से—"अब ज़ौक़ से डहता है।"[२०] वर्तनी-भ्रम का एक उदाहरण शब्द-रूप-परिवर्तन की भाँति अर्थ-परिवर्तन में भी मिलता है—

कीजै चित सोई, तरे जिहिँ पतितनु के साथ।
मेरे गुन - औगुन - गननु गनो न गोपीनाथ। —बिहारी

उर्दू-शाइर महाप्राण-ध्वनि को प्रायः अल्पप्राण लिखते हैं, यथा तुजको, धोका, सुक-दुक आदि। इसी प्रकार 'संघ' को 'संग' लिखा जाएगा। इस उच्चारण ने 'संघ' को 'संग' कर दिया, अतः 'संग' के अर्थ 'साथ' तथा 'संघ' (समूह) दोनों हो गए। कवि ने 'साथ' शब्द का प्रयोग किया। 'साथ' का पर्यायवाची 'संग' है और 'संग' को 'संघ' के अर्थ में ले लिया गया।

इस प्रकार भाषान्तर्गत क्रियमाण अनेक भावों-प्रभावों से शब्दों के अर्थों में बहुत अन्तर आ गए हैं। यदि इस प्रकार के परिवर्तनों का अध्ययन किया जाय तो उससे उर्दू तथा हिन्दी-कविता के अध्येताओं को कितने ही शब्दों के अर्थ समझने में परम सहायता मिलेगी, उदाहरणार्थ 'बिहारी' के एक दोहे में 'सरपना' शब्द आया है। इस 'सपरना' को लेकर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में खूब धूम मची थी। टीकाकारों ने 'पर सहित' से लेकर 'सफ़र' तक की यात्रा की, लेकिन अर्थ न खुला। 'बिहारी' का दोहा यों है—

पटु पाँखैं भखु काँकरै सपर परेई संग।
सुखी परेवा पुहुमि मैं एकै तुँही विहंग।

'सपरना' शब्द उर्दू-शाइरी में भी मिलता है। उर्दू के प्रथम शाइर क़ुली क़ुतुबशाह का एक शेर इस प्रकार है—

अँकुस उस सीस पर क़ुदरत नवा चंद
कि सुँड फाँसे में दुश्मन नित सँपड़ता।

यहाँ 'सँपड़ता' गिरफ़्तार होता के अर्थ में है। 'सपरना' का अर्थ हुआ गिरफ़्त या पकड़। 'सपर परेई संग' अर्थात् अपनी परेई का संग पकड़ या उसका प्रेम-परतंत्र बनकर विचर। 'पटु' तथा 'भखु' को सभी टीकाकार संज्ञा मानते रहे हैं, परन्तु इन्हें विधिलिङ् में लेना चाहिए।

जिस तरह 'बिहारी' की कविता में 'सपरना' शब्द आया, उसी प्रकार 'ग़ालिब' की एक ग़ज़ल मे 'काल्बुद' शब्द ने समस्या पैदा की है—

जिस बज़्म में तू नाज़ से गुफ़्तार में आवे।
जाँ काल्बुदे - सूरते - दीवार में आवे।

इस 'काल्बुद' ने सूरते-दीवार के साथ आकर अर्थ को बहुत उलझा दिया है। जनाब तबातबाई "माशूक़ के लबो-दहन में जाँ-बख़्शी का वस्फ़" बताते हुए लिखते हैं कि "इसी सबब से सूरते-दीवार में उसके दहन की बात से जान पड़ जाय।" तबातबाई साहब ने 'काल्बुद' शब्द को छोड़कर व्याख्या कर दी है। अतः 'मुश्किलाते ग़ालिब' में 'नियाज़' फ़तहपुरी ने समाधान करने की चेष्टा की। "काल्बुद या क़ालिब के मफ़हूम में जिस्मियत का तसव्वुर ज़रूरी है और नक़्श या तस्वीर में कोई जिस्म नहीं होता। हाँ, अगर सूरते-दीवार से मुराद खुद दीवार हो तो मफ़हूम यह होगा कि खुद दीवार में जान आ जाती है और इस मफ़हूम की रकाकत ज़ाहिर है। लेकिन अगर सूरते-दीवार के उभरे हुए नक़ूश मुराद हों तो अलबत्ता काल्बुद का इस्तैमाल सहीह हो सकता है। लेकिन इस तरह सूरत का इस्तैमाल वाहिद में ग़लत ठहरेगा।"

अर्थ सम्बन्धी इन परेशानियों का कारण यह है कि 'दीवान्-ए-ग़ालिब' के ये व्याख्याता 'काल्बुद' का कोशगत अर्थ लेते है। काल्बुद का अर्थ होता है शरीर, जिस्म, ढाँचा, अस्थिपंजर। लेकिन काल-प्रवाह में संचरित इस शब्द का अर्थ अठारहवीं शताब्दी में कुछ बदल गया था। हिन्दी-कवि जोधराज के 'हम्मीररासो' में भी 'काल्बुद' शब्द आया है—

कालबूत का सेख एक हजरत बनबावो।
ताहि मारि तजि रोष कहा जिय क्रोध बढ़ावो।

इस पद्य में 'कालबूत' का अर्थ है पुतला। लेकिन अर्थ को पूर्णतया स्फुट करने के लिए 'बिहारी' (सन् १५९५-१६६३) के दोहे में 'काल्बुद' का प्रयोग ध्यातव्य है—

कालबूत दूती बिना, जुरै न और उपाइ।
फिरि ताकैं टारैं बनै, पाकैं प्रेम-लदाइ।

अब 'काल्बुद' शब्द के इन अर्थों के आधार पर 'ग़ालिब' का उपर्युक्त शेर समझें तो मतलब एकदम समझ में आ जाता है।

'झाँझ' शब्द भी ऐसा ही है। हिन्दी-रीतिकविता में उसके तीन अर्थ है—एक तो पैर में पहनने का गहना, दूसरा मँजीरे की तरह का बड़ा बाजा और तीसरा झगड़ा। यह शब्द 'बिहारी सतसई' में प्रयुक्त है, जिसके अर्थ विद्वानों ने भिन्न-भिन्न किए हैं—

रुक्यो साँकरे कुंज मग करत झाँझ झुकरात।
मंद मंद मारुत तुरंग खूँदिन आवत जात।

लाला भगवानदीन ने झाँझ का अर्थ 'शरारत' और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'अड़ियलपन' किया है। ये दोनों ही अर्थ उपर्युक्त तीसरे अर्थ के अन्तर्गत हैं। यह शब्द आलोच्यकालीन उर्दू-शाइरी में भी मिलता है—

भूख की झाँझ गर रहे इक पहर।
आवे फिर मंडियों के सर पर क़हर।

यहाँ 'झाँझ' का अर्थ 'तेज़ी या वेग' लगता है और व्युत्पत्ति से यह शब्द 'झंझा' का तद्भव प्रतीत होता है। बहुत संभव है 'बिहारी' ने शब्द-संगति के कारण 'मारुत' के साथ 'झाँझ' रख दिया हो। ऊपर उद्धृत 'बिहारी' के इस दोहे में झाँझ का अर्थ तेज़ी या वेग बड़ी सरलता से लग जाता है। इस सिलसिले में उर्दू-शाइरी के भीतर आए 'सखी' शब्द को भी ले लिया जाय। मीर तक़ी 'मीर' ने अपने एक शेर मे लिखा है—

चार सखियाँ कह के शाइर हो गया।
इस फ़न्ने-कामिल में माहिर हो गया।

'कुल्लियाते-मीर' की फ़रहंग में 'सखियाँ' को 'सखी' की जमा बताया गया है। लेकिन हिन्दी के पाठक को यह जानने में थोड़ी देर न लगेगी कि 'सखियाँ' वास्तव में 'साखियाँ' शब्द का ही विकृत रूप है। कबीरदास की साखियाँ रीतिकालीन समाज में ख़ूब प्रचलित थीं। इनमें उलटबासियाँ भी हैं। इसी आधार पर साखी कहने को 'फ़न्ने-कामिल' कहा गया है। कबीरदास की उल्टी बानी उर्दू-शाइरों ने भी सुनी थी। 'आतश' साहब फ़रमाते हैं—"सीधी है समझे तू अगर उलटी कबीर की।"

अतएव यह 'सखियाँ' शब्द वस्तुतः 'साखी' का बहुवचन है और साखी का अर्थ शाइर ने उलटबाँसी ही लिया है। ऐसा ही एक शब्द 'बाज' है। यह 'बाज' शब्द उर्दू-काव्य में बहुत बार आया है, लेकिन उर्दू-कविता के व्याख्याकारों ने इसके बड़े अजीब अर्थ किए हैं। यथा—

बदमस्त दो पिस्ताँ तेरे सीने प हैं क़ायम।
उन बाज भी उस सद्र प चढ़ कौन सकेगा। —वली

'कुल्लियाते-वली' की फ़रहंग में इस 'बाज' का अर्थ 'ख़िराज या चौथ' दिया गया है। मगर 'चौथ या ख़िराज' अर्थ इस शेर मे कैसे फ़िट होगा इसे व्याख्याता महोदय ही जानें। वास्तव में यह हिन्दी-कविता का शब्द है, जिसका प्रयोग 'कबीर' और 'जायसी' ने बहुत किया है, जैसे "तिस बाझ न जीया जाई।" और यही 'बाझ' 'वली' का 'बाज' है जो संस्कृत 'वर्जित' से व्युत्पन्न है। प्रमाण के लिए 'वली' का एक और मिसरा लीजिए—"तिस बाज मेरे सीने प हर माह है इक साल।"

लेकिन हिन्दी-उर्दू काव्य में ऐसे पचासों शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका एक भाषा में एक अर्थ है तो दूसरी भाषा में दूसरा। उदाहरणार्थ हिन्दी-रीतिकाव्य में होली-वर्णन या फाग-वर्णन के अन्तर्गत 'धमार' या 'धम्मार' शब्द एक राग-विशेष के अर्थ मे आया है, परन्तु उर्दू-शाइरी में 'धमार' का प्रयोग इस अर्थ में नहीं होता। रीतिकाल के उर्दू-कवि 'मीर' ने धम्माल' शब्द का प्रयोग 'आग में कूद-फाँद' के अर्थ में किया है—

जिगर जलकर हुआ है कोयला बेताब तो भी हूँ
तपिश से दिल की मेरे सर प है धम्माल मत पूछो।

शब्द एक है, मगर उसकी व्युत्पत्तियाँ दो हैं। उर्दूवालों ने इसे 'दहमाल' अर्थात् प्रज्ज्वलित अग्निमाल के अर्थ में लिया और हिन्दी-कवियों ने 'दहमार' या 'धम-

मार' अर्थात् खूब पीटना (ढोल आदि) के भाव में प्रयोग किया। इसी प्रकार 'असीस' शब्द, जिसको हिन्दी में आशीर्वाद के अर्थ में प्रयोग करते हैं, 'नज़ीर' अकबराबादी के काव्य में प्रार्थना का अर्थ देता है—"चरनों प सीस रखके बहुत सी असीस की।"

बात यह है कि 'असीस' की व्युत्पत्ति 'आशीष' से भी है और 'आशीर्वाद' से भी। 'नज़ीर' की रचना का 'असीस' आशीष से सम्बद्ध है, जब कि हिन्दी मे वह प्रायः आशीर्वाद से ही सम्बन्धित होता है। 'नज़ीर' ने ऐसे ही 'समाचार' को कथा के भाव में प्रयुक्त किया है—"कहता है कोई दैर में पोथी की समाचार।" इसी भाँति अली आदिलशाह द्वितीय ने 'दूती' शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं सपत्नी के भाव मे किया है।

'सेली' हिन्दी मे उस पट्टी को कहते हैं जो गले में बाँधी जाती है। यह डोरी भी हो सकती है। दोनों अर्थों में इसका प्रयोग होता है—"ओझरी की झोरी काँधे आँतनि की सेल्ही बाँधे।"[२१] हिन्दी-रीतिकाव्य में भी 'सेली' का प्रयोग इसी अर्थ में है—

संजुत सुमन सुबेलि सी सेली सी गुन ग्राम।
लसत हवेली सी सुघर निरखि नवेली वाम। —पदमाकर

लेकिन उर्दू-शाइर सेली का अर्थ 'रोमराजि' से लेते हैं। गले की पट्टी या डोरी के अर्थ में उन्होंने सेली का प्रयोग नहीं किया—

नाफ़ उस सबीह की है कोई नस्तरन का फूल।
ता नाफ़ सेली सीना प है नस्तरन की शाख़। —ज़ौक़

समीक्ष्यकाल की हिन्दी-कविता में 'लाग' शब्द 'लगाव' के अर्थ में आया है। जब बैर या द्वेष का अर्थ प्रकट करने के लिए उसका प्रयोग होगा तो उसके साथ 'डाँट' शब्द भी रहेगा, जैसे 'लाग-डाँट'। लेकिन जब उसका प्रयोग पृथक् होगा तो वह सदैव लगाव का अर्थ देगा, यथा—

जाइ बरसाने की गली में सुनो ए हो ऊधौ
लागवारी गोपिन सों कब फागु खेलिहैं। —रघुनाथ

परन्तु रीतिकालीन उर्दू-शाइर इस शब्द को लड़ाई-झगड़ा या बैर के अर्थ में ही लेते हैं—"लाग हो तो उसको हम समझें लगाव।"

कहने का आशय यह है कि एक शब्द का एक अर्थ यदि उर्दू-कविता में गृहीत है और दूसरा हिन्दी-कविता में, तो उनका परिवर्तित प्रयोग प्राप्त होने पर एक का दूसरे पर प्रभाव माना जाएगा। उदाहरणार्थ हिन्दी में 'पालक' का अर्थ होता है पालनेवाला, लेकिन उर्दू में 'पालक' शब्द पालित का भाव देता है—

रायज इतनी है मुरव्वत कि ग़ज़ालों को पलंग
इस तरह समझे है फ़र्जन्द गोया ले पालक। —सौदा

हिन्दी-रीतिकाव्य में इस 'पालक' का इक्का-दुक्का प्रयोग मिल जाता है—

नन्द को पालक हो पहले फिरि कंस की चेरी को चेरो भयो —ग्वाल

रीतिकवियों ने इस ढंग के और शब्द भी बनाए, जैसे घायल से घायलक, जिसका अर्थ है घायल किया हुआ—

घूँघट न खोल तेरे नैन हैं निपट बाँके।
घरिक में घेरि काहू घायलक डारि है। —'शृं० सु०'

यहाँ 'घायलक' का अर्थ हिन्दी-अर्थ-परम्परा से अलग है। इसलिए हिन्दी-शब्द होने पर भी उसकी अर्थ-भिन्नता के कारण इस प्रकार के प्रयोग को हम उर्दू-शाइरी से प्रभावित प्रयोग कहेंगे।

उपर्युक्त शब्दों के अर्थ-वैभिन्य के कारणों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया, परन्तु इन कवियों तथा शाइरों ने ऐसे शब्द भी अपनी कविता में रक्खे जिनको उन्होंने प्रचलित अर्थ से पृथक् अपना मनमाना अर्थ प्रदान किया है। ये अर्थ त्रुटिपूर्ण शब्द-ज्ञान या साम्य-भ्रमवश भी किए जा सकते हैं और जान-बूझकर भी रक्खे जा सकते हैं। मिर्ज़ा 'सौदा' ने 'महन्त' शब्द का प्रयोग बिल्कुल भिन्न अर्थ में किया है—

तेरे साये तले तो है वो महन्त।
पश्शा कर जाए देव दो से भिड़न्त।

'महन्त' यहाँ महत्व के भ्रमवश प्रयुक्त हो गया है। यह प्रयोग शब्द-ज्ञान न होने के कारण हुआ है। लेकिन कविवर 'भूषण' ने कुछ शब्दों को स्वेच्छया रक्खा है। फ़ारसी शब्द 'आमद' से 'आमदनी' शब्द बनता है। 'आमद' का अर्थ है 'आगमन', परन्तु 'आमदनी' का अर्थ है आय। 'भूषण' ने 'आमदनी' शब्द आगमन के भाव में प्रयोग किया, जैसे "संकर की आमदनी"। इसी तरह 'दावेदार' शब्द को उन्होंने 'दबंग' का भाव प्रदान किया—"लखि दाबेदार कों रिसानों।"

छंदानुबंध या तुकानुबंध के कारण कभी शब्दों को तोड़ना पड़ता है, कभी उनमें अवप्रसार कर देते हैं। हिन्दी-रीतिकाव्य में ये दोनों प्रकार के दोष प्राप्त हैं। जहाँ तक तोड़ने-मरोड़ने का प्रश्न है, हिन्दी-रीतिकवि इस विषय में बहुत निरंकुश हैं। 'भूषण' का एक प्रयोग देखिए जो अवप्रसार का नमूना है—"सिवाजी को भेजत रसाल है।"

तुकाग्रह तथा छन्द-गति के कारण ('इरसाल' की जगह) 'रसाल' का प्रयोग

किया गया, जिसका प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'पदमाकर' ने तुकबंध-निर्वाहार्थ शब्द को ऐसा तोडा-मरोड़ा है कि प्रकृत शब्द पहचान में ही नहीं आता—"फैलत अनुफूलत भरैं जलूलत।"[२२] पाठक 'जलूलत' का सम्बन्ध 'ज़रूरत' से जोड़ते-जोड़ते थक जाय, लेकिन अर्थ कभी नहीं खुलेगा, क्योंकि कवि ने यह 'जलूलत' शब्द 'जलालत' को मरोड़कर बनाया है।

विकृति वहीं तक उचित है, जहाँ तक वह मूल शब्द पकड़ने में बाधक सिद्ध न हो और अवप्रसार वहाँ तक ठीक है, जहाँ तक उसके अवगत होने में भ्रम न हो जैसे 'मीर' ने छल-छंद से 'छछंद' और 'सौदा' ने कब आता को 'कभाता' बना लिया। हिन्दी-रीतिकवियों ने ऐसे अवगम्य अवप्रसार भी पर्याप्त किए हैं, जैसे—

विरच्यो विरचि तौब जात्यौ न यदा कदा —तोष

फतेअली गुनापने —'भ० सं०'

यहाँ 'तौब' 'तौ' तथा 'अब' का अवप्रसरित रूप है, यह एकदम स्पष्ट है और 'गुनापने' पढ़कर मूल शब्दों (गुन + आपने) का पता चल जाता है। लेकिन हिन्दी कवि प्रायः अवप्रसार एवं शब्द-रूप-परिवर्तन करते समय पाठक या श्रोता की कठिनाई ध्यान में नहीं रखते। उर्दू-कविता में भी ऐसे उदाहरण प्राप्त हैं—

य जोगन जो बैठी बरोगन हुई —मीर हसन

जो दिल की लेखन से लिखा उससे नहीं आगाह है —नज़ीर

बरोगन को बैरागिन का विकृत रूप नहीं मानना चाहिए। उर्दू-शाइरी में इस शब्द का अर्थ वियोगिनि प्रतीत होता है।

'य' का 'र' में बदल जाना भाषाविज्ञानियों के लिए खोज का अच्छा मसाला है। 'जोगन' की तुक ने 'बियोगिन' को उसी तरह 'बरोगन' बना डाला जिस तरह उपर्युक्त उद्धरण मे 'अनुफूलत' ने 'जलालत' को 'जलूलत' कर दिया था; और जिस प्रकार 'इरसाल' की 'इ' पृथक् करके 'भूषण' ने रसाल बनाया उसी प्रकार 'नज़ीर' ने 'लेखनी' की 'ई' उड़ाकर उसे 'लेखन' कर दिया।

यह लघ्वीकरण कभी-कभी ऐसे-ऐसे शब्दों की रचना करता है, जो विचित्र-से प्रतीत होते हैं। हिन्दी-रीतिकविता में ऐसे शब्दों को देखकर आलोचक अभी तक चकरा रहे हैं और इन प्रयोगों को बेहूदा प्रयोग कहकर छुट्टी पा लेते हैं। इस प्रकार के शब्द समाज में प्रचलित होते हैं या नहीं इसे तो बताना कठिन है, लेकिन इन तर्काश्रित शब्दों का कवि-जगत् में व्यवहार ज़रूर होता रहता है। उदाहरणार्थ हिन्दी-उर्दू भाषा की पूर्वकालिक क्रिया में जुड़नेवाले 'कर' को

'के' में बदल लेते हैं, जैसे चलकर, हँसकर की जगह 'चलके', 'हँसके' आदि भी लिखा जाता है। ब्रजभाषा में इस 'कर' के रूप 'के' या 'कै' होते हैं। उर्दू में यद्यपि 'के', 'कै' दोनों पढ़े जा सकते हैं, लेकिन उच्चारण मे 'कै' नहीं, 'के' ही प्रचलित है। क्रिया के सम्बन्ध में 'के' का प्रयोग करने में हिन्दी तथा उर्दू समान हैं, परन्तु उर्दू में इस 'के' को 'क्यों' के साथ भी जोड़ देते है, जैसे 'क्यों के'—

उस पर्दगी से क्योंके वो आँखें लड़ा सके।
जो पर्दए-मजाज़ से बाहर न आ सके। —मुसहफ़ी

हिन्दी में इस तरह का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है। मगर इस 'के' का एक दूसरे प्रकार का नमूना प्राप्त है। 'कर' का लघु रूप अथवा उसका बदल 'के' है। इसलिए 'कर कर' को 'करके' कहा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उस स्थान पर 'के के' भी रक्खा जा सकता है, जिसका ब्रजभाषा-रूप 'कै कै' होगा। 'बिहारी' ने इस 'कै कै' को और भी छोटा रूप देकर 'ककै' बना दिया है—

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेहबस सखी सबै ढिग जाति।

'घनानंद' के एक सवैए में भी यह शब्द इसी रूप मे उपलब्ध है—"दृग देखि छकै उछकै कबहूँ न छबीली कृपा-मधुपान ककै।"

यह प्रवृत्ति उर्दू में भी द्रष्टव्य है। वहाँ 'वलेकिन' के न सिर्फ़ 'लेकिन' अपितु 'वले' आदि रूप भी धड़ाधड़ प्रयोग किए जाते हैं। 'बिहारी' ने जैसे 'कै कै' के लिए 'ककै' रक्खा वैसे ही उन्होंने ज्यौं-ज्यौं के अर्थ में 'जज्यों' और त्यौं-त्यौं के अर्थ में 'तत्यों' रूपों का प्रयोग किया है—

जज्यौं उभकि झाँपति बदनु झुकति बिहँसि सतराइ।
तत्यौं गुलाल-मुठी झुठी झभकावत प्यौ जाइ।

'बिहारी' के समकालीन उर्दू-कवि 'वली' औरंगाबादी की कविता मे 'त्योंज' शब्द का प्रयोग मिलता है—

मुए को जीव बख्शे आबे-हैवाँ बेगुमाँ है ज्यों
नयन में त्योंज पानी है सोते दिल को जगाने का। —वली

'त्योंज' का अर्थ है उसी प्रकार। 'त्योंज' शब्द से अनुमान होता है कि 'ज्योंज' का प्रयोग भी प्रचलित रहा होगा। 'वली' के काव्य में इन शब्दों की झलक मिलने से प्रमाणित होता है कि 'बिहारी' के 'जज्यों' एवं 'तत्यों' जैसे प्रयोग भी मनमाने न होकर काव्य-प्रचलित प्रयोग थे और 'बिहारी' ने उन्हें परम्परा से ग्रहण किया होगा।

विभक्ति

ब्रजभाषा में 'ने' कारक-चिह्न का प्रयोग नहीं होता, जैसे राम कह्यो अर्थात् राम ने कहा। उर्दू-शाइरों पर इसका प्रभाव है। 'करना' क्रिया का प्रयोग ब्रजभाषा के कवि एक भिन्न ढंग मे करते हैं, जैसे 'वो देन करे'—वह देने को करता है, अर्थात् वह देता है या देना चाहता है। उर्दू मे ऐसे भी प्रयोग हुए हैं—

दूध मँगवाया किए बाज़ार से।
फोहों से देना किया अनफ़ार से। —मीर

देना किया अर्थात् दिया, दिलवाया। 'ने' का लोप द्रष्टव्य है। ब्रजभाषा में 'किया' का रूप तो 'कियो' या 'कियौ' होता है, परन्तु 'की' के स्थान पर 'करी' ही मिलता है। 'करी' क्रिया उर्दू-शाइरी में प्रयुक्त मिलती है—"क्या फेर फेर गर्दन बातें करी हैं सब में।"[२३]

हिन्दी की उपर्युक्त विशेषताओं की तरह उर्दू की भी अपनी विशेषताएँ है। उर्दू में 'कने' कारक-चिह्न का प्रयोग एक विशिष्ट प्रयोग है। इसका अर्थ होता है 'के पास' या 'पास'। "सर खींचने का हम कने सामान ही नहीं"।[२४]

हिन्दी-रीतिकविता मे भी इस 'कने' विभक्ति को बिना संकोच अपना लिया गया है—"छहरात छिति ही कने"[२५]। किसी-किसी कवि ने उसे ब्रजभाषा-प्रकृति पर 'कनै' रूप दे दिया है—

जैसी समसेर सेर भरत तिहारे हाथ
तैसी समसेर सेर काहू के कनै नहीं। —पदमाकर

'कने' के समान ही उर्दू में 'हैगा' क्रिया-रूप भी एक विशिष्ट स्थान रखता है। यह 'हैगा' वर्तमान काल का सूचक है, जैसे 'वह जाता है' के लिए कहेंगे 'वह जाता हैगा'। अर्थात् 'हैगा' का भाव वही है जो 'है' क्रिया का है। इसमें 'गा' का प्रयोग अतिरिक्त प्रयोग है—

अजब हैगा दिला गोर में फ़िशार नहीं —नासिख
की ग़ौर तो हैगा तुम्हें इनकार तमाशा —नज़ीर

हिन्दी-कविता में क्रिया के ऐसे प्रयोग भी हुए है। हाँ कवि ने उस 'हैगा' का रूप 'हैगो' बना लिया है—

धूम को घूमट घूमि रह्यौ तन को घन को यह धूम न हैगो —तोष

उर्दू मे किसी-किसी क्रिया में थोड़ा ध्वनि-परिवर्तन कर देते हैं, जैसे 'डुबाना' क्रिया का हिन्दी मे भूतकालिक रूप 'डुबाया' या 'डुबायो' (ब्रज०) होगा। उर्दू में

उसे 'डुबोया' कहेंगे। हिन्दी-रीतिकविता में क्रिया के रूप इस शैली पर भी रक्खे गए हैं—"'देव' सकेत मिलै न इतै पर चित्त है शोच सकोच समोयो।"

'समोयो' प्रयोग 'समायो' क्रिया की जगह हुआ है। लेकिन हिन्दी में एक शब्द है 'मोयन' और इससे भी क्रिया का (ब्रज०) रूप 'समोयो' बन सकता है, अतएव एक दूसरा उदाहरण उचित होगा—"भुवनेश न मानति हैं तनिको डर बात में बात मिलोने लगी"।

उर्दू-शाइर कर्ता के वचनानुसार क्रिया का वचन भी रखते हैं। यद्यपि अब ऐसे प्रयोग परित्यक्त हो चुके है, परन्तु रीतिकालीन उर्दू-शाइरी मे 'लड़कियाँ आतियाँ जातियाँ हैं' जैसे प्रयोग खूब होते थे—

बोसा लेने का किया जिस दम सवाल
उनने बातें ही हमें बतलाइयाँ। —मीर

हिन्दी-रीतिकविता मे अधिक तो नहीं, लेकिन इस तरह के क्रिया-रूप यत्र-तत्र अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं—

'भूषन' भनत और मुलुक तिहारी धाक
दिल्ली औ बिलाइत सकल बिललानियाँ।

इन पारस्परिक प्रभावजन्य-प्रयोगों के अलावा क्रिया के अनेक प्रयोग दोनों काव्यों में समानरूप से प्राप्त हैं। क्रिया के प्रयोग संज्ञा की तरह करना रीतिकालीन काव्य की सामान्य बात है, परन्तु उर्दू-शाइरी मे कुछ प्रयोग प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थों में भी हुए हैं, जैसे—

तेरा बीमार न सँभला जो सँभाला लेकर —ज़ौक़

मरना जीना एक झाँका है निगाहों का तेरी
जिस नज़र से आँख भरकर तूने देखा हो गया। —ज़ौक़

'झाँका' से शाइर का तात्पर्य चमत्कार से है। शायद 'झाँकी' शब्द से उसका कोई सम्बन्ध हो?

इसी भाँति क्रिया कभी-कभी कृदंत के रूप में विशेष्य की व्यंजना भी करती है। 'मीर' की एक पंक्ति में इसका उदाहरण प्राप्त होता है—"कोई शरीक़ नहीं है किसू की आई का।" 'आई' अर्थात् जो आ गई है उस (आफ़त) का। 'मीर' से पहले 'बिहारी' ने अपने एक दोहे में ऐसा ही प्रयोग किया है—

विकसित नवमल्ली-कुसुम-विकसित परिमल पाइ।
परसि पजारति बिरहि-हिय बरसि रहे की बाइ।

बरसि रहे अर्थात् बरसते हुए (समय) की।

क्रिया से संज्ञा या विशेषण का भाव प्रकट करने की भाँति ही संज्ञा से क्रिया बनाने की शैली को भी रीतिकाल में पर्याप्त महत्व दिया गया। इससे भाषा की व्यंजना में वृद्धि हुई। 'वली' ने हिन्दी-शब्द 'चित्र' से क्रिया बनाई और 'मीर' ने देशी शब्द 'डौल' का भी क्रिया-रूप में प्रयोग किया—

'ऐ 'वली' उसके नक़्शे-आली कों
ग़ैर मानी दूजा चितरता नहीं।

मैं इसी मिसरे को सारी उम्र डौलाता रहा —मीर

'भूषण' ने 'अर्ज़' से 'अरजना' क्रिया बनाई 'भूषण यों अरजा'। उर्दू-शाइर 'अनीस' ने 'ओप' संज्ञा से बनी 'उपना' को इस प्रकार रक्खा है—''तेगें भी हैं उपी हुईं खंजर भी तेज़ हैं।''

'उपी' अर्थात् शाण रक्खी हुई। 'बिहारी' के एक दोहे मे 'उपना' शब्द लुप्त होने का अर्थ देता है—''देखत बुरै कपूर ज्यों उपै जाइ जिन लाल।'' 'बिहारी' का 'उपना' शब्द खुद क्रिया है, लेकिन 'अनीस' का 'उपना' 'ओप' से निर्मित क्रिया-रूप है। हिन्दी-कवियों ने उर्दू-शब्दों को क्रिया-रूप में ढालकर कहीं-कहीं ऐसा बना दिया है कि वे सहसा पहचान में नहीं आते। उदाहरणार्थ 'फ़र्मा-रवा' का निम्नलिखित प्रयोग देखिए—

धीर धुनि बोलैं डोलैं दिगित दिगन्तनि मैं
औज भरे अमित मनोज फरमारए। —द्विजदेव

यही नहीं, क्रिया का रूप भी बदल कर प्रयोग किया गया। 'फ़रमाना' क्रिया का भूतकालिक रूप 'फ़रमाया' या 'फ़रमायो' और विधिलिङ् में 'फ़रमा' या 'फ़रमाइए' होता है, परन्तु हिन्दी-कवि ने उसका रूप 'फरमे' बनाया—''मरमै सब जानति हौं सजनी जनि चातुरता हम सों फरमै''।[२६]

समास

उर्दू-शाइरों ने हिन्दी-शब्दों से फ़ारसी-शैली पर अनेक समास बनाए है। इनमे प्रथम पद उर्दू है, दूसरा हिन्दी—''शुक्र उसका है मुद्दआ-ए-सकल''।[२७] लेकिन 'फ़ायज़' ने इस प्रकार का समास बनाया जो फ़ारसी का होकर भी हिन्दी-प्रकृति के विपरीत नहीं है—

सबी दीवाने हैं उस महलक़ा के
मगर वो दिलरुबा जादू-नयन है।

अब वे उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जिनमें प्रथम पद हिन्दी है, दूसरा उर्दू, यथा—

मन में बिन तेरे याद कुछ नहीं
पीतमे-शोख़ पुर-जफ़ा की क़सम। —फ़ायज़

तीसरे प्रकार के समास वे हैं, जिनमें दोनों पद हिन्दी के हैं, किन्तु समास-निर्माण का ढंग फ़ारसी है, यानी उन शब्दों में इज़ाफ़त लगाई गई है—

धूप सा यो कपोले-नारी है।
किर्ने-सूरज की वो किनारी है। —फ़ायज़

हिन्दी-रीतिकवि बिहारीलाल ने भी फ़ारसी ढंग के समास का प्रयोग हिन्दी-पदों में किया है। उदाहरणार्थ—

तो तन अवधि-अनूप रूप लग्यौ सब जगत कौ।
मो दृग लागे रूप दृगनु लगी अति चटपटी। —बिहारी

'अवधि अनूप' के दो अर्थ हो सकते हैं—अनूप अवधि और अनूपता की अवधि। 'अनूपता की अवधि' अर्थ मानने पर समास फ़ारसी-व्याकरणानुसार निर्णीत होगा।

संस्कृत तथा फ़ारसी दोनों आर्य भाषाएँ हैं और उनका व्याकरणिक संगठन बहुत अधिक समान है। परिणामतः संस्कृत एवं फ़ारसी की समास-रचना एक-सी है। हिन्दी अथवा उर्दू वियोगात्मक भाषा होने से उस प्रकार के समास-निर्माण नहीं कर सकतीं। फिर भी रीतिकाल के समर्थ कवियों और शाइरों ने उस पद्धति पर समास-प्रयोग किए हैं। 'बिहारी' के काव्य से एक उदाहरण ध्यातव्य है—

औरै ओप कनीनिकनु गनी धनी सिरताज।
मनी धनी के नेह की बनीं छनीं पट लाज।

हिन्दी ढंग पर इसका अर्थ होगा कि तेरी कनीनिकाओं में और ही ओप है और तू सपत्नियों की सिरताज है। 'रत्नाकर' ने अपनी 'बिहारी रत्नाकर' नामक पुस्तक में 'औरै ओप-कनीनिकनु' में ही समास माना है। परन्तु यहाँ समास-रचना संस्कृत-व्याकरणानुसार है। इसलिए इस चरण का अर्थ इस प्रकार करना पड़ेगा 'और ही ओपवाली कनीनिकाओं के कारण सपत्नियों में सिरताज गिनी गई हे नायिके!' अर्थात् यह पूरा-का-पूरा चरण समासयुक्त है और सम्बोधनरूप है। उर्दू-

शाइरों में 'ग़ालिब' की कविता में फ़ारसी-शैली पर ऐसी ही दीर्घ समास-योजना मिलती है—

शुमारे-सबह मरग़ूबे-बुते-मुश्किल-पसंद आया।
तमाशाए-बयक-कफ़-बुर्दने-सद दिल पसंद आया।

उर्दू-व्याकरण से 'शुमारे-सबह' के साथ 'मरग़ूबे बुते मुश्किल पसंद आया' जोड़ना कठिन है और दूसरा मिसरा तो पूरा समस्त है बस 'पसंद आया' क्रिया ही उर्दू की है। ऐसी समस्त पदावली में भाषा की समाहार शक्ति के दर्शन होते हैं। भाषा की यह शक्ति 'बिहारी' और 'ग़ालिब' के काव्यों में भरपूर मात्रा में मिलती है।

उच्चारण

हिन्दी मे 'वौ' एवं 'वह' प्रयोग तो होते है 'वो' का प्रयोग नहीं होता। उर्दू में लिखते तो 'वह' ही है, परन्तु इसका उच्चारण 'वो' किया जाता है। हिन्दी-रीतिकवि 'वह' के स्थान पर 'वो' भी लिखते है, जैसा कि 'पदमाकर' के निम्नांकित चरण से ज़ाहिर है—

बोलनि बानि विलोकनि प्रीति की वो मन वे न रही अब आँखें

यहाँ यह बात विशेषतया ध्यान देने की है कि उर्दू में 'वो' एकवचन और बहुवचन दोनों में आता है, परन्तु हिन्दी मे 'वो' का प्रयोग एकवचन में ही हुआ है। यह आदान है, अब प्रदान को लीजिए।

हिन्दी-कविता ने एकवचन रूप उर्दू मे ग्रहण किया, लेकिन हिन्दी ने अपना बहुवचन रूप 'वे' उर्दू-काव्य को दिया। उर्दू-शाइरों ने 'वे' को अपनी कविता में खूब स्थान दिया है—"इस राह में वे जैसे अनजान निकलते है।"[२८] जिस तरह 'वह' के लिए 'वो', वैसे ही 'यह' के स्थान पर 'य' का प्रयोग भी हुआ— "गरज्जे गयन्दौ य जंजीर झारैं।"[२९]

'वो' के सम्बन्ध मे यह विचारणीय है कि उर्दू के इस उच्चारण पर हिन्दी का प्रभाव है या यह स्वतंत्र प्रयोग है। ब्रजभाषा मे 'वा' का तिर्यक् रूप 'बौ' होता है और कनौजी में अविकारी रूप मे भी 'वौ' आता है, जैसे 'वौ का कत्तु है' अर्थात् वह क्या करता है? ब्रज के 'या' का तिर्यक रूप 'यौ' है जो कनौजी में 'जौ' हो जाता है। उर्दू का 'वो' इसी 'वौ' रूप का परिणाम है। इसका प्रमाण यह है कि उर्दू-काव्य के प्रारंभ में 'यौ' का प्रयोग भी हुआ है, परन्तु बाद मे यह रूप लुप्त हो गया। 'फ़ायज' लिखते हैं—"धूप सा यो कपोले-नारी है।" उर्दू-वर्तनी में इसे 'यो', 'यौ', 'यू' कुछ भी पढा जा सकता है, किन्तु यहाँ 'वो' के कारण इसका उच्चारण 'यो' ही होगा। वाद में 'यो' की जगह 'यह' ही प्रयुक्त

होने लगा, जिसका उच्चारण 'य' मात्र रह गया। यह 'य' उच्चारण उर्दू-कविता में अपना विशिष्ट स्थान रखता है, इसलिए 'य' को उर्दू का ही शब्द माना जाएगा। कहने का मतलब यह कि रीतिकालीन हिन्दी-कविता पर भी क्वचित्कदाचित् उर्दू-उच्चारण का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

हिन्दी-शब्दों के उर्दू-उच्चारण में स्वर-भक्ति घटित हो जाना एक सामान्य घटना है। इसका मुख्य कारण उर्दू की लिपि का सदोष होना है। उस लिपि में प्रेम का 'परेम' प्रसाद का 'परसाद' आदि पढ़ा जाता है और संयुक्त अक्षरों को मुसलमान इसी प्रकार बोलते भी हैं। इसका प्रभाव हिन्दी-कवियों पर भी पड़ा। हिन्दी-रीतिकाव्य में स्वर-भक्ति के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं—

निहारिये नेक तिहारिये चारु चहूँ दिशि लागी तराहि तराहि —देव

'ब्राह्मण' शब्द हिन्दी में तद्भव रूप ग्रहण करके 'बाम्हन' या 'बाभन' हो गया, परन्तु उर्दू में वह 'बरहमन' बनकर आया। 'बरहमन' वस्तुतः तद्भव नहीं है, वह फ़ारसी का रूप है। उर्दू-शाइरी में 'बरहमन' ही मिलता है। लेकिन दो-एक शाइरों ने तद्भव शब्द का प्रयोग भी किया है। 'इंशा' के एक शेर में 'बाभन' शब्द प्रयुक्त हुआ है और 'नज़ीर' अकबराबादी ने 'बाम्हन' तथा 'बामन' और 'फ़ायज़' ने 'बाम्हन' शब्दों को भी अपनी कविता में स्थान दिया है—

बाम्हन भी सर पटकते हैं सब मंदिरों के बीच —नज़ीर
बामन जो हरि की ड्योढ़ी प आ पहुँचा राह से —नज़ीर
भूले बाम्हन गाय खाई —फ़ायज़

ये सारे उच्चारण हिन्दी से प्रभावित हैं। लेकिन प्रारम्भ के ये प्रयोग बाद के उर्दू-शाइरों ने छोड़ दिये और 'नज़ीर' के अलावा सभी शाइरों ने 'बरहमन' शब्द का ही सर्वत्र प्रयोग किया।

मुहावरे

हिन्दी-रीतिकविता मुहावरे की कविता है। उसका कथन मुहावरों में ही पूरा होता है। मुहावरों के कारण वह सूक्ष्माभिव्यक्ति-समर्थ है अथवा यों कहिए कि सूक्ष्माभिव्यक्ति के लिए उसे लाक्षणिक प्रयोगाढ्य बनना पड़ा, जिससे वह मुहावरों की कविता बन गई। मुहावरे कथन का अंग नहीं, प्रत्युत मुहावरा ही कथन है, कथन ही नहीं, कथ्य है—

बातैं बनाइ बनाइ कहौ कहिबे 'रघुनाथ' की सौंह लरैंगी।
और न कोई बची व्रज में यक तू ही है नेम निवाह करैगी।

आये भये दिन चारि इतै अब हीं सब ही को कुनाँव धरैगी।
तान भटू मनमोहन की वह कान परैगी तौ जान परैगी।

रीतिकालीन उर्दू-कविता मुहावरा-प्रधान कविता है अर्थात् उसमें मुहावरेदानी है। मुहावरा-प्रयोग के लिए मसनवी 'गुलज़ारे नसीम' आदर्श है। पूरी की पूरी मसनवी मुहावरों में ही लिखी गई है। कोई शेर मुहावरे से ख़ाली न मिलेगा। उदाहरणार्थ—

देखा तो वो गुल हवा हुआ है।
कुछ और ही गुल खिला हुआ है।
घबराई कि हैं किधर गया गुल।
झुँझलाई कि कौन दे गया जुल।

मुहावरा-प्राधान्य का एक कारण उर्दू-कविता में रदीफ़ का प्रचलन भी है। हिन्दी मे अन्त्य शब्द की आवृत्ति दोष समझी जाती है, लेकिन उर्दू में क़ाफ़िया बदलकर रदीफ़ लाना ही पड़ता है। फलस्वरूप उर्दू-शाइर को ऐसे शब्द लाने होते हैं, जो रदीफ़ से मिलकर पुनरावृत्ति को अपुनरावृत्ति-सा अनुभव कराएँ। उदाहरणार्थ यदि रदीफ़ 'बात' है तो शाइर आई बात, बनाई बात, चलाई बात, पाई बात, रटाई बात, बताई बात उठाई बात, बढ़ाई बात से क़ाफ़िया-पैमाई करके नवीनता उत्पन्न करेगा। चूंकि दरबारों में कड़े से कड़े रदीफ़ दिए जाते थे, इसलिए स्पर्द्धा ने इस कला की ख़ूब उन्नति की। क़ाफ़िया बार-बार बदलने, किन्तु रदीफ़ वही रहने से मुहावरों का प्रचुर प्रयोग हुआ। इस तरह उर्दू-शाइरी मुहावरा-प्रधान हो गई। हिन्दी में इस प्रकार का बंधन न होने से जो बात कही गई उसके लिए भाषा निसर्गतः आई। अतएव कथन में आए हुए मुहावरे कथ्य से पृथक् नहीं हुए।

हिन्दी-रीतिकाव्य की भाषा ब्रजबोली का शिष्ट रूप है। फलतः लोक भाषा की लाक्षणिकता, व्यंजकता तथा अभिधात्मक चमत्कार उसमें समवाय रूप से विद्यमान हैं। इसके विपरीत उर्दू-शाइरी ने मुहावरों का फ़ारसी से अनुवाद किया। फलतः लोक मानस से दूर होने से वे मुहावरे कथ्य के साथ एकीभूत न हो सके। परिणामस्वरूप उर्दू-काव्य के मुहावरे कथ्य से पृथक् दिखाई पड़ते हैं और इसी कारण उर्दू-शाइरी मुहावरा-प्रधान शाइरी प्रतीत होती है।

जो मुहावरे अनूदित हैं, उनके दो वर्ग किए जा सकते हैं—(१) पूरे-के-पूरे अनूदित, (२) एक-दो शब्द बदलकर अनूदित।

उर्दू-काव्य मे पूरे-के-पूरे मुहावरे फ़ारसी से बहुत आए हैं, उदाहरणार्थ 'ख़त खींचना', 'सितम खींचना', 'तू कहे' आदि। इनमें से कुछ मुहावरे फ़ारसी का

हिन्दी-अनुवाद है, तो कोई-कोई फ़ारसी का शब्दानुवाद मात्र हैं। 'मीर' ने 'बूकर्दन' को अनूदित करके लिखा—

गुल को महबूब हम क़यास किया।
फ़र्क़ निकला बहुत जो बास किया।

हिन्दी-कवियों ने भी यह किया, परन्तु कहीं-कहीं उन्होंने उसे थोड़ा मोड़कर दूसरा रूप दे दिया। उदाहरणार्थ 'तमाशा कर्दन' का अनुवाद हुआ 'तमाशा करना'। यदि कहा जाय कि 'मैं तमाशे को जा रहा हूँ' तब भी वही मुहावरा अर्थ को गति दे रहा है। 'रघुनाथ' कवि के निम्नांकित हिन्दी-सवैये में इस मुहावरे का श्लिष्ट प्रयोग कितना सुन्दर है—

पन्नग मीन कपोत चका चकी बाल मराल के केते गहे हैं।
विद्रुम औ मुकुता पुखराज बिसाहिबे के अति नेह नहे हैं।
देख्यो तुम्हैं जब सों तब सों उनके ढंग ये 'रघुनाथ' लहे हैं।
रोज तमाशे को जात तितै जितै ओस सों फूलि सरोज रहे हैं।

'तमाशे को जात' में सामान्य अर्थ तथा मुहावरागत-अर्थ दोनों ही हैं। इस मुहावरे के लोक-प्रचलित रूप का प्रयोग 'बिहारी' ने भी एक दोहे में किया है—

चलत देत आभारु सुनि, उहीं परोसिहिं नाह।
लसी तमासे की दृगनु हासी आँसुनु माँह।

विदेश जाते हुए पति उसी पड़ोसी (जिसमें नायिका अनुरक्त है) को घर का भार सौंप रहे हैं, यह सुनकर आँसुओं (जो उसने पति-गमन के कारण आँखों में भर रक्खे हैं) में द्रष्टव्य (विलक्षण) हँसी लसी। यहाँ 'तमाशा' शब्द 'देखने' के अर्थ में है। 'तमाशे की हँसी' अर्थात् देखने योग्य (देखने की) हँसी यानी विचित्र हँसी।

हिन्दी में 'टीका लगाना' मुहावरा है। 'मीर' ने 'क़श्का लगाना' को अपने एक शेर में इस तरह रक्खा है—"मस्जिद के आगे आख़िर क़श्क़ा लगा के बैठे।"[३०] परन्तु उर्दू में ज़्यादातर प्रयोग 'क़श्क़ा खींचना' का ही हुआ है। क़श्क़ा शब्द की जगह भले ही 'टीका' आ जाय, लेकिन 'खींचना' अपनी जगह पर ही रहेगा— "माथे प खींच टीका या हाथ लेके माला।"[३१]

हिन्दी-रीतिकवि 'देव' ने इस ढंग का प्रयोग किया है—"नीको चुनी को जराइ को टीको सु-खैंचि लिलार खरे गुण बोलै।" इस प्रयोग पर उर्दू का स्पष्ट प्रभाव है। चुन्नियाँ चिपकाई जाती हैं, इसलिए उसका टीका लगाया जाएगा, खींचा नहीं।

उर्दू-शाइरों ने न केवल फ़ारसी से, अपितु बोलचाल के हिन्दी-मुहावरों का अनुवाद भी किया है, जैसे—

बला जुल्फ़े-सियाह उसकी है पुर-पेच
वतन दिल में किया है किस बला ने। —मीर

'घर करना' मुहावरा 'वतन करना' में बदल गया है। इसी मुहावरे को रीतिकालीन हिन्दी-कवि ने 'धाम करना' के रूप में प्रयोग किया है—''दादुर की हूकैं धाम करत अचूकैं उर।''[३२]

दूसरे प्रकार के मुहावरे बहुत अधिक तो नहीं है, फिर भी उनकी कमी नहीं है। 'कल्पवृक्ष छोड़कर एरंड या आक लेना' मुहावरा हिन्दी-कविता में खूब प्रचलित है। 'नज़ीर' ने आक के स्थान पर ढाक कर दिया—

तो उस मुर्तिद की यारो ये मसल है
कि जैसे लेवे तूवा बेचकर ढाक।

मिश्रित मुहावरे

कोई-कोई मुहावरे हिन्दी-उर्दू मुहावरों के विपर्यय से उद्भूत हो गए हैं, उदाहरणार्थ—

छाए छवि हदके सुमेटन दरद के
ये रदछद सद के गई मैं लाल सदके। —रंगपाल

उर्दू मुहावरा है 'सदक़े करना', हिन्दी है 'बलिहारी जाना'। यहाँ दोनों के विपर्यय से 'सदक़े गई' प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग साधारण है। परन्तु कहीं-कहीं जो मुहावरे हिन्दी-उर्दू-मुहावरों के मेल से बने हैं, उनकी प्रभविष्णुता का जवाब नहीं है। ये मुहावरे दो का रासायनिक घोल प्रस्तुत करके सर्वथा नई चीज़ निर्माण करते हैं—

चलत लई जु नेक झाँकि झाँकरी सों वह
जुलुफ मरोरबारी लोटति करेजे में। —रंगपाल

'कलेजे में लोटना' एकदम नया मुहावरा है, परन्तु इस मुहावरे के निर्माण में 'कलेजे में चुभना' तथा 'छाती पर लोटना' दो मुहावरों का योग है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह मुहावरा उपर्युक्त दोनों मुहावरों से कहीं अधिक समर्थ, चित्रात्मक तथा संवेद्य है। 'मीर' ने भी इस मुहावरे को थोड़ा बदलकर प्रयोग किया है—

याद जब आती है वो ज़ुल्फ़े-सियाह्।
साँप-सा छाती प फिर जाता है आह। —मीर

'छाती पर साँप-सा फिर जाना' 'छाती पर साँप लोटना' से भिन्न है। 'फिरने' में जुल्फ़ का पूरी छाती पर रगड़ते हुए जाना अभिप्रेत है। 'कूँची-सी फिर गई' मुहावरे को ध्यान में रखने से इसका अर्थ शीघ्र स्पष्ट हो जाएगा। 'फिरने' का एक अर्थ घूमना भी है। मुहावरे में 'घूमना-फिरना' एक साथ आता है। अब इस मुहावरे के प्रकाश में उक्त मुहावरे की चमक दूसरी ही हो जाती है। 'नज़ीर' अकबराबादी ने लिखा है—"पूजा, कथा, बखानी, क्या-क्या शबद निकला।" पूजा की जाती है, कथा बाँची जाती है और अर्थ निकाला जाता है। इन सभी का मिश्रण करके शाइर ने पूजा-कथा बखानना और शब्द निकालना मुहावरे बना लिए।

भिन्न-भिन्न अर्थ

एक ही शब्द को मुहावरे के रूप में हिन्दी-उर्दू कवियों ने अलग-अलग अर्थों में लिया है। 'लगना' शब्द का कई तरह से प्रयोग हुआ है। 'बिहारी' ने इसको भिन्न-भिन्न अर्थों में नियोजित किया—

तो तन अवधि अनूप रूप लग्यो सब जगत को।
मो दृग लागे रूप दृगनु लगी अति चटपटी।

कब की ध्यान लगी लखौं यह घर लगिहै काहि।

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण मे 'लग्यो' प्रयोग उपादान के अर्थ में है, 'लागे' निरत होना, जुड़ना की व्यंजना करता है और 'लगी' उत्पन्न होने का अर्थ देता है। लेकिन दूसरे उदाहरण का 'लगिहैं' इन दोनों के विपरीत-अर्थ का द्योतक है। इसकी ध्वनि लगभग वैसी है, जैसी "लागै अति पहार कर पानी, विपिन विपति नहिं जाय बखानी" अर्द्धाली से प्रकट होती है। 'ज़ौक़' ने एक शेर में 'लगना' को इसी अर्थ मे रक्खा है—

आबे-खंजर है जो ज़हराब वफ़ादारों को
मुल्के-सरहद है वफ़ा पानी ज़रा लगता है।

'लगना' का एक बोलचाल में सुप्रचलित प्रयोग है, जैसे 'भला लगना।' यहाँ 'लगना' का अर्थ होता है 'प्रतीत होना'। मिर्ज़ा 'सौदा' ने अपने एक मिसरे में इस मुहावरे का प्रयोग किया. लेकिन दूसरे मिसरे में ऐसे भाव रख दिए, जिनके संदर्भ मे प्रयोग का अर्थ कुछ बढ़ गया है—

गो बहार आई किसे 'सौदा' भला लगता है बाग़।
यूँ चमन में गुल नज़र आते है जूँ गुलख़न में आग।

एक ही शब्द से निर्मित मुहावरा भिन्न-भिन्न संस्कृति-प्रभाव के कारण उर्दू और हिन्दी में अलग-अलग अर्थ सूचित करता है। 'चौकी' शब्द को लेकर दो मुहावरे बने। इंशा अल्ला ख़ाँ ने लिखा—

क्योंकर क़दम रसूलों जाकर भरूँ न चौकी
रखिए जो आसरा तो ऐसे महाबली का।

'चौकी भरना' वलियों या शहीदों के मज़ार पर जाकर मन्नत मानने और नियाज़ दिलवाने के भाव में आता है। कवि 'सोमनाथ' इस शब्द से निम्नोद्धृत मुहावरा बनाते हैं—

सुबरन रंग सुकुमार सबै भावनि के
अंगन उछाह की लहरि लहरी रहति।
भूसन बसन चारु दसनि हँसनि और
नैनन में प्रेमरस प्यास गहरी रहति।
'सोमनाथ' प्यारे अलि भावरी भरत रहै
चहुधा चकोरनि की चौकी ठहरी रहति।
सरद को चंद कैसे कहौं मुख चंद सम
छहूँ रितु जाकी छबि छटा छहरी रहति।

'चौकी भरने' में मज़ार पर जाकर उस चौकी (मज़ार) पर कुछ चढ़ाकर उसे भरने का भाव प्रकट होता है और 'चौकी ठहरने' में रामलीला आदि पर्व-उत्सवों में निकलनेवाली चौकियों का आशय निहित है।

कुछ मुहावरे प्रचलित मुहावरों के सादृश्य पर बनाए गए हैं। ये मुहावरे उन्हीं के समान प्रभावी है। 'मीर' ने 'मन मैला होना' के ढंग पर 'आँख मैली होना' निर्माण कर लिया—

आँख न टुक मैली हुई अपनी मुतलक़ दिल बेजा न हुआ
दिल की मुसीबत कैसी-कैसी क्या-क्या रंज उठाए हैं!

उर्दू में फ़ारसी से अनूदित एक मुहावरा है 'गर्दन पर खून साबित होना।' मिर्ज़ा 'ग़ालिब' ने इस मुहावरे का प्रयोग इस प्रकार किया है—

साबित हुआ है गर्दने-मीना प ख़ूने खल्क़
लरज़े है मौजे-मय तेरी रफ़्तार देखकर।

'मीर' ने इस मुहावरे की गर्दन थोड़ी घुमाकर यह रूप दे दिया—

तू तो कहता है कि मैंने इस तरफ़ देखा नहीं
ख़ून नाहक़ 'मीर' का ये किसकी फिर चितवन प है।

हिन्दी-कवि 'बिहारी' ने इसके सादृश्य पर एक नया मुहावरा बनाकर अपना काव्य-कौशल प्रदर्शित किया—

नटि न सीस साबित भई लुटी सुखनु की मोट ।
चुप करि ए चारी करति सारी परी सलोट ।

बिहारीलाल की इस उक्ति 'तेरे सिर मेरे लुटे सुखों की मोट साबित हो गई है' में व्यंजना तो अपराध की ही है, परन्तु प्रयोग एकदम अलग मालूम पड़ता है और ताज़गी इस बात में है कि फ़ारसी-मुहावरे की दुःखान्तिकी दशा इस मुहावरे में सुखान्तिकी का आभास-सा देने लगी है ।

कुछ मुहावरों का प्रयोग इतना विरल है कि पाठक उनकी अर्थोपपत्ति नहीं कर पाता, क्योंकि एक स्थल के अतिरिक्त दूसरे किसी स्थल पर उनका प्रयोग उस भाषा के काव्य में नहीं प्राप्त होता । 'भूषण' ने अपने एक कवित्त में एक ऐसे ही मुहावरे को स्थान दिया है—

नाँघत नाँघत घोर घने बन
हारि परे यों कटे जनु कूँचे ।

इसका अर्थ पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इन शब्दों में किया है—"वैशाख मे जब महुवे फूले रहते हैं उस समय संयोग से बादल गरज जाय तो सब गुच्छे गिर जाते हैं, उसे कूँचे कटना कहते हैं ।"

उपर्युक्त अर्थ तो हम नहीं जानते, परन्तु यह मुहावरा कनौजी भाषा में आज भी प्रचलित है । 'भूषण' कनौजी क्षेत्र के थे, इसलिए वह इस मुहावरे को बहुत अच्छी तरह जानते होगे । 'कूँचे' का अर्थ होता है 'पिंडली ।' टख़ने तथा घुटने के बीच का 'मांसल अंग' कूँचे कहलाता है । थक जाने पर कहा जाता है "नेक हमारी कूँचैं मसल देउ ।" कूँचें कट जाने से व्यक्ति चल नहीं सकता, क्योंकि जो नस-नाड़ियाँ पैर तक जाती है, उनके कट जाने से उसका खड़ा रहना ही संभव नहीं होगा । कनौजी में कहते है "धीरे-धीरे काहे कौ चलत हौ का कूँचैं कटि गई ?" "जादा ऊधम जोतै तौ सारे की कूँचैं काटि देउ ।" उपर्युक्त चरण का मुहावरा इसी अर्थ में है । सघन वन नाँघते-नाँघते थककर ऐसे गिर पड़े मानो उनकी कूँचे कट गई हों । 'भूषण' के मुहावरे में 'कूँचैं' पुल्लिग है और 'भूषण' के परवर्ती उर्दू-शाइर भी उसे पुल्लिग ही लिखते हैं—

तूने जिस रोज़ से क़ातिल मेरे कूँचे काटे
बुल्हवस ने तेरे कूचे का गुज़र छोड़ दिया । —नासिख़

'नासिख़' के इस शेर में 'कूँचे' का प्रयोग निपट अभिधात्मक है और उससे उपर्युक्त अर्थ की भली भाँति पुष्टि हो जाती है।

'भूषण' का यह मुहावरा विरल प्रयुक्त है, परन्तु उसका भाव गूढ़ नहीं है। लेकिन हिन्दी-रीतिकाव्य मे ऐसे बहुत से मुहावरे हैं, जिन्हे अलभ्य कहना चाहिए। इन मुहावरों का अर्थ एकदम अस्पष्ट है। ये मुहावरे लोक-प्रचलित अवश्य थे। यदि बहुव्यवहृत न रहे होते तो कवि उनका प्रयोग कदापि न करता, क्योंकि ऐसा करने से उसका कथन असंवेद्य रह जाता। परन्तु पूर्वप्रचलित रूढ़ अर्थ का ज्ञान न होने से ये मुहावरे अब समझ में नहीं आते। उर्दू-शाइरी से एक उदाहरण लीजिए—

खैंचे बाबरचियों ने क्या-क्या नाज़।
कतरी गई उसके चू.... पर प्याज़। —मीर

'चू.... पर प्याज़ कतरी जाना' का कुल्लियाते—'मीर' की फ़रहंग मे जनाब अब्दुलबारी 'आसी' ने यह अर्थ दिया है—'मिजाज़न धोखा खाना, चूना लगना।' इसका अर्थ रूढ्याश्रित है, शब्दों से अर्थ प्रकाशित नहीं होता। इसी शैली का मुहावरा 'सपने का ऊँट' 'तोष' ने अपने सवैये में प्रयोग किया है—

मारिऔ गारिऔ दै हिय हारि रही उपचार न लागत एको।
आवत भीतर पैठि अभीत मनो बच काय करै गहिबे को।
'तोष' कहा कहिए सजनी वृज में न बनै बसिबो अब नेको।
सोतुष ही सखि मोहि भयो जु कहाउत ऊँट सुन्यौ सपने को।

अभिधात्मक प्रयोग

मुहावरे लक्षणाश्रित होते हैं, लेकिन रीतिकालीन उर्दू-हिन्दी-काव्य में उन्हें अभिधात्मक अर्थ में घटाने के प्रयत्न भी मिलते हैं। अर्थात् जिन वस्तुओं का आधार लेकर मुहावरा प्रचलित हुआ है, उनको कवि सामने रखकर ऐसा व्यापार उपस्थित करता है कि मुहावरा अभिधात्मक बन जाता है—

लटक आई जो बाज़ू पर कोई लट ज़ुल्फ़े-पेचाँ की
किया सोना सुगंद उसने तेरे सोने के जौशन को। —नासिख

माशूक़ की सुगंधित लट ने स्वर्ण कवच को छूकर सोना सुगंध कर दिया। यहाँ सोने तथा गंध का वास्तविक संयोग होने से मुहावरा सत्य प्रमाणित हो गया। लखनऊ-परम्परा के शाइरों में इस तरह के मुहावरा-प्रयोगों का प्राचुर्य है। किन्तु हिन्दी-रीतिकवियों ने मुहावरे की लाक्षणिकता पर आँच नहीं आने दी। उन्होंने अभिधाप्रधान रूप का पूरा वातावरण उपस्थित करके भी उसमें लाक्षणिकता भरी है—

दामिनि द्यौ सम है दसहू दिसि दादुर दुंद मचावन लागे।
घोर घने गरजैं घन ये 'ससिनाथ' हियैं विरचावन लागे।
सीत समीर सुगंध चढ़ै झर अति आँच तचावन लागे।
सावन में बिन भावन री मुरवा अब नाच नचावन लागे।

वर्षा का उद्दीपनरूप वर्णन है। वर्षा मे मोरों का नाचना एक सामान्य व्यापार है, लेकिन कवि ने 'नाचना' क्रिया को प्रेरणार्थक बनाकर कैसा चमत्कार उत्पन्न कर दिया? 'मुरवा अब नाच नचावन लागे' एक ओर 'मोर नाचने लगे' व्यापार से सम्बद्ध है, तो दूसरी ओर नायिका से भी जुड़ा है—जिसे नाच नचाए गए। मोर स्वयं नाचते हैं तो दूसरे को भी नचाना उनके लिए अस्वाभाविक नहीं लगता। यद्यपि 'मोरों का नाचना' नायिका के नाचने को प्रमाणित करता है, फिर भी यह 'नाच नाचना' अभिधाधारित नहीं है।

इस प्रकार हिन्दी-रीतिकवियों ने मुहावरे को मुहावरा ही रक्खा, उसे गणित का सत्य बनाने की कोशिश नहीं की, परन्तु एक-दो शब्द छंद में ऐसे भी डाल दिए जो अपने पारस-प्रभाव से अर्थ में अपूर्व दीप्ति भर देते हैं—

हँसे हँसि देइ, बोले बोलै औ न खोलै पेम
यातें पहिचानी कछु पीरी पीरी है भई।
'आलम' कहै यों वाके हिय की पोढाई देखो
कैसे कै दुराई माई प्रीति कान्ह सों नई।
अबै अनमनी हुती, अँसुवा ढरति ठाढी
औचक ही धाइ धाइ भुज भरि है लई।
पूछे तिहि अँसुवा कहे हो? कहै कैसे आँसू
पलकैं पसार दईं पूतरीन पी गईं।

नायिका की प्रेम-गोपन-चातुरी का उल्लेख है। नायिका अनमनी थी और खड़ी-खड़ी आँखों में आँसू भर रही थी, परन्तु जब उससे पूछा गया कि "अरे ये आँसू किसलिए?" तो बोली "आँसू? कैसे आँसू?" और उसने अपनी पलकें पसार दीं तथा उन आँसुओं को पुतलियों से पी लिया। यहाँ नायिका ने पलकें पसार कर अपनी जो सफ़ाई दी, उसका काव्यात्मक सौन्दर्य अलग है, लेकिन 'पूतरीन पी गईं' मुहावरा भी अद्वितीय है। 'पूतरीन पी गईं' का अर्थ 'पुतलियों में पी गईं' करें या 'पुतलियों से पी गई?'

इस छन्द में 'धाइ' शब्द का संजीवन-प्रयोग ध्यातव्य है। नायिका पहले तो अचानक दौड़ी फिर उसने धाय को भुजाओं में भर लिया। ये चेष्टाएँ बचपने की

याद दिलाती हैं। 'धाय' शब्द दूध पीने की व्यंजना भी करता है। अब 'धाय' के सन्दर्भ में 'पूतरीन पी गई' को रखकर देखिए। दूध पीने की अभ्यस्ता यदि आँसू पी गई तो ठीक ही है, मगर कैसे पी गई ? पलकें पसारकर। जैसे दूध को सीपी में भरकर बालक के मुँह में लगाकर पिलाते हैं, वैसे ही उसने अपनी शुक्त्याकार शुभ्र पलकों में भरे आँसुओं को पुतलियों से पी लिया।

उर्दू-उदाहरण में अन्य शब्द-संयोग ने जहाँ मुहावरे की लाक्षणिकता समाप्त कर उसे विच्छाय कर दिया, वहाँ हिन्दी में उसका लाक्षणिक अर्थ अक्षत रहा, साथ ही अभिधात्मक अर्थ की भी पूरी-पूरी व्यंजना हो गई।

हिन्दी-उर्दू के मुहावरों की प्रकृति पर प्रकाश डालने के लिए हम एक ऐसा उपादान लेते है, जिससे दो मुहावरे बने हैं। मुहावरों का शब्द-विन्यास एक-सा है, लेकिन उनके प्रभाव भिन्न-भिन्न है। 'चोर' को लेकर मिर्ज़ा 'सौदा' ने 'मच्छर की भूल का चोर' मुहावरा निम्नलिखित शेर मे रक्खा—

हो य कुतवाल तो वो माने ज़ोर।
ये तो मच्छर की भूल का है चोर।

'चोर' पर ही आधारित 'भरे घर का चोर' मुहावरे का प्रयोग 'पदमाकर' ने भी अपने इस कबित्त में किया है—

हेरि हेरि हँसत न चाहत हरषि चढ्यो
बैल हू विलोकि मन वाकी ओर ढरको।
कहै 'पदमाकर' सु देखि हू गरुड हू कों
लेखि निज भाग अनुराग कै न सरको।
कापै चढ़ौं कौन तजौं चाहत सबन यह
सोचत पतित पर्यौ गंगा तीर पर को।
जौ लौं घरी ढ्वैक रूप हर को न पायो तौ लौं
पातकी बिचारौ भयो चोर भरे घर को।

जिस तरह सम्पन्न घर मे खड़े चोर की समझ मे यह नहीं आता कि किसे लूँ और किसे छोड़ूँ, उसी प्रकार गंगा-तट पर पड़े पातकी को भी चुनाव करना कठिन हो रहा है कि वह वृषभ पर चढ़कर शिवलोक जाय या गरुड़ पर चढ़कर विष्णुलोक। 'सौदा' का मुहावरा अर्थग्रहण कराता है, परन्तु 'पदमाकर' का मुहावरा मानसिक दशा को प्रत्यक्ष करता है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि समीक्ष्यकालीन उर्दू और हिन्दी-काव्य के मुहावरे समान लक्ष्यसाधक नहीं हैं। उर्दू-कविता के मुहावरे कथन को चटपटा बनाते हैं, परन्तु हिन्दी-कविता के मुहावरों से कथन में गंभीरता तथा भाव

में स्पष्टता आती है। उद्देश्य-भिन्नता के फलस्वरूप हिन्दी में उर्दू की तरह मुहावरों की भरमार नहीं है।

लोकोक्तियाँ

लोकोक्ति या कहावत अभिव्यक्ति का बहुत पैना हथियार है। परन्तु यह हथियार यथावत् रहकर ही कारगर होता है। लोकोक्ति का प्रयोग तभी सफल होगा, जब लोकोक्ति की भाषा एक ही रहे। मुहावरा दो-तीन पदों का समूह होने से थोड़ी भिन्न भाषा में भी खप जाता है, परन्तु लोकोक्ति के साथ यह सम्भव नहीं हो सकता। ब्रज की लोक-प्रचलित कहावतें हिन्दो-रीतिकविता मे स्वभावतः अन्तर्भुक्त हो गई थीं, लेकिन फ़ारसी-अनुकरण में तत्पर उर्दू-कविता यह न कर सकी। किसी भाषा से शब्द ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं पड़तों, लेकिन जब तक उस भाषा पर पूर्ण अधिकार न हो, तब तक लोकोक्तियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। रीतिकालीन उर्दू-शाइर फ़ारसी-अरबी के विद्वान् थे, उन्हीं भाषाओं पर उनका अधिकार था, इसलिए लोकभाषा से शब्द तो उन्होंने ग्रहण कर लिए, परन्तु लोकभाषा की उक्तियाँ वे न अपना सके। उर्दू-काव्य में लोकोक्तियाँ बहुत कम हैं और प्रायः गड़बड़ हैं—

मसल है भूले बाम्हन गाय खाई।
जो अब फिर आऊँ तो लछमन दुहाई। —फ़ायज़

'राम दुहाई' की जगह 'लछमन दुहाई' परिवर्तन उपयुक्त नहीं है। एक उदाहरण और द्रष्टव्य है—

बैठ रह करके क़नाअत कि ब शक्ले-महे नौ
छोड़े आधी तो नहीं सारी को जाना अच्छा। —जौक़

'आधी छोड़ सारी की धावै, आधी रहै न सारी पावै' के 'धावै' शब्द में जो आतुरता है, वह 'जावै' में नहीं आ सकी।

प्रचलित लोकोक्ति का ही प्रयोग कठिन है, फिर उसमें नया प्रयोग करना तो और भी कठिन है। लेकिन रीतिकाल के कुछ कवि तथा शाइरों ने इसमें भी नया प्रयोग किया है। दो लोकोक्तियों के भाव को दोनों के कुछ शब्द मिलाकर प्रकट करने से कभी-कभी एक ऐसा वाक्य बन जाता है, जो सरलता एवं मार्मिकता में बिल्कुल लोकोक्ति-सा मालूम पड़ता है। संत 'मलूकदास' का एक दोहा सुप्रसिद्ध है—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम।

इस दोहे के प्रथम चरण का कथन यद्यपि दूसरे चरण के पुष्ट्यर्थ उदाहरणस्वरूप है, फिर भी इन्हें दो लोकोक्तियाँ मान लेने मे कोई बात अनुचित नहीं प्रतीत होती। अब इन दो के भाव को 'नज़ीर' ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

आगे तो घर-बघर थे अक्सर तमाम दाता।
सीमुर्ग़ पालते थे करने को नाम दाता।
अपने तो कोई हर्गिज आया न काम दाता।
सच है 'नज़ीर' आख़िर अजगर के राम दाता।

'अजगर के राम दाता' वस्तुतः एक नई लोकोक्ति मालूम पड़ती है। हिन्दी कवि 'बोधा' ने 'दूल्हा-दुलहिन मिलि गए फीकी परी बरात' के आधार पर निम्न-लिखित लोकोक्ति प्रयोग की—

कहनावत साँची भई पुराचीन यह ईठ।
सजना-सजनी ठुर मिले झूठे परे बसीठ।

हिन्दी-रीतिकाव्य जिस प्रकार मुहावरा-सुसम्पन्न है, उसी प्रकार लोकोक्तियों के प्रयोग से भी भरा-पुरा है। यह बात ज़रूर है कि लोकोक्तियों का उसी मात्रा में प्राचुर्य नहीं है, जिस मात्रा में मुहावरों का है, और ऐसा हो भी नहीं सकता, क्योंकि लोकोक्ति एक समूचा कथन है और पूरे कथानात्मक वाक्य को विन्यस्त कर देना सरल काम नहीं है, फिर भी हिन्दी-रीति-कविता में लोकोक्तियों के काफ़ी प्रयोग हुए हैं। लोकोक्तियों के लिए 'ठाकुर' का काव्य आदर्श है—

हौं बरजी बर बीसक लौं दुलही यहि मारग स्यामरंग आवै।
ढीठ भई चितवै चहुँ ओर अमंद हँसै हँसि हार हलावै।
हौं तौ कही न विलोकु गुपालहि यौं उरझी अब को सुरझावै।
जो विष खाय सो प्रान तजै गुर खाय सो काहै न कान छेदावै।

ऐसे सुन्दर तथा विविध प्रयोग रीतिकाल की कविता में अन्यत्र नहीं मिलते।

इस समस्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी तथा उर्दू के कवि भाषा की दिशा मे सतत् जागरूक एवं प्रयत्नशील रहे है। उन्होंने दोनों भाषाओं के शब्दों का परस्पर आदान-प्रदान तो किया ही, प्रत्यय, उपसर्ग, संज्ञा, सर्वनाम तथा कारक आदि के क्षेत्र में नवीन प्रयोग करके भी अपनी भाषा को आढ्य बनाया। रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य भाषा की दृष्टि से बहुत प्रौढ़, प्रांजल और मुहावरों के प्रयोग में कुशल तथा सम्पन्न काव्य है।

अध्याय | ४

शैली तथा छन्द

शैली

किसी शब्द, मुहावरे या कहावत को परिवेश-प्रभाव के कारण भिन्न रूप या भिन्न अर्थ में ग्रहण करना 'भाषिक परिवर्तन-प्रक्रिया' के अन्तर्गत है, परन्तु उसका नियतार्थ से इतरथा-प्रयोग अथवा उसे किसी विशेष अभिव्यक्त्यर्थ नियुक्त करना शैली कहलाता है। यह क्रिया एक रचनाकार को अन्य रचनाकारों से पृथक् करती है अर्थात् वह रचनाकार का अपना व्यक्तित्व है। यह वह तत्व है, जिसके द्वारा एक ही विषय पर लिखी गई एक कवि की कविता दूसरे कवि की कविता से भिन्न हो जाती है।

जिस प्रकार शैली का एक व्यष्टि रूप है, उसी प्रकार किसी काल विशेष की कविता की शैली का एक समष्टि रूप भी है। हिन्दी-रीतिकविता तथा समकालीन उर्दू-शाइरी की शैलियों का अपना-अपना स्वरूप है। विवेच्य काल के हिन्दी-कवियों और उर्दू-शाइरों ने अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अपनी-अपनी भगिति-भंगिमाएँ प्रतिष्ठित की हैं। उनके मार्गण-वैभिन्य द्रष्टव्य हैं। उदाहरणार्थ 'वली' औरंगाबादी ने अपने एक शेर में 'तिल' शब्द का प्रयोग निम्नांकित ढंग से किया है—

इक तिल नहीं आराम मेरे दिल को तेरे बाज
ओ नूरे-नजर दूर न हो मेरी नज़र सों।

'तिल' अर्थात् थोड़ा। तुलसीदास जी ने 'तिल भर भूमि न सके छुड़ाई' में 'तिल' का प्रयोग परिमाणवाची की तरह ही किया है। 'वली' का प्रयोग इसी परम्परा का है, लेकिन स्थानवाची का परिमाणवाची की भाँति प्रयोग उर्दू-काव्य में विशेष रूप से हुआ है—

लड़के जहानाबाद के इक शह्र करते नाज़ —मीर

'इक शह्‌र करते नाज़' का अर्थ है उतना नाज़ करते हैं जितना एक शहर करेगा। ये उपादान लक्षणा के प्रयोग हैं जिनमें स्थानवाची परिमाणवाची बन गया है, लेकिन शब्द का अर्थ सजातीय ही है। परन्तु हिन्दी-कविता मे शब्द के अर्थ विजातीय हो गए हैं। हिन्दी-रीतिकवियों ने इस क्षेत्र मे जिस प्रयोग-पाटव का प्रमाण दिया है, वह द्रष्टव्य है। 'बिहारी' के एक दोहे मे 'तिल' शब्द का प्रयोग इस प्रकार है—

> नावक सर से लाइकै, तिलकु तरुनि इत ताँकि।
> पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि।

'तिलकु' का अर्थ है, क्षणमात्र। अर्थात् यहाँ 'तिल' शब्द स्थान या परिमाण का सूचक न होकर कालवाची बन गया है। 'मीर' का प्रयोग सजातीय था, 'बिहारी' का विजातीय है। अतः 'मीर' ने परम्परित प्रयोग किया, परन्तु 'बिहारी' का प्रयोग नया है। इसी प्रकार का एक प्रयोग और देखिए, जिसमें संख्यावाची को परिमाणार्थक बनाकर प्रस्तुत किया गया है—"म्लेच्छ गिरे मार बीच बेसुमार तन के।"[1] 'बेशुमार तन' का यहाँ अर्थ है, बहुत भारी, बहुत बड़े शरीर के। अर्थात् यह संख्या का अर्थ न देकर तौल अथवा माप का अर्थ देता है।

विजातीय प्रयोगों के अतिरिक्त सजातीय प्रयोग की कलात्मकता भी देखने योग्य है। निम्नांकित कबित्त में परिमाणवाची विशेषणों से ही छंदगत सारा भाव अभिव्यक्त किया गया है—

> हौरै-हौरै डोलती सुगंध सनी डारने ते
> औरै-औरै फूलन पै दुगुनी फबी है फाव।
> चोंथते चकोरन सों भूले भये भौंरन सों
> चारों ओर चंपन पै चौगुनी चढ़ी है आब।
> 'द्विजदेव' की सों द्युति देखत भुलानो चित्त
> दश गुनी दीपति सों गहब गुछे गुलाब।
> सौगुने समीर ह्वै सहस गुने तीर भये
> लाख गुनी चाँदनी करोर गुनो माहताब।

कवि ने दो गुना, चौगुना, दश गुना, सौगुना, सहस्रगुना, लाखगुना तथा करोड़ गुना आदि परिमाणवाची विशेषणों द्वारा ही छंद पूरा कर दिया है।

विवेच्य उर्दू-कविता में 'कि' शब्द समुच्चयवाची के स्थान पर कालवाची अव्यय की तरह भी प्रयोग किया जाता है, जैसे "कि मजनूँ लाम अलिफ़ लिखता

था दीवारे-दबिस्ताँ पर।"[२] यहाँ 'कि' का अर्थ है 'जब', 'जिस समय'। मिर्ज़ा 'सौदा' ने 'कि' को उपमावाचक 'जैसे कि' के अर्थ में नियुक्त किया है—

बैठा न कोई छाँव न पाया किसी ने फल
थे बर्गोबर नहीं कोई ऐसा शजर कि हम।

इसी प्रकार का एक प्रयोग 'सी' का है। हिन्दी-कविता में 'सी' का प्रयोग समता या संभावना के लिए होता है—

सटपटाति सैं ससिमुखी मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झरसी झमकि कै गई झरोखा झाँकि। —बिहारी

लेकिन उर्दू-शाइरी मे 'सी' तथा 'सा' के प्रयोग अनेकविध है। 'सी' शब्द कहीं-कहीं वैषम्य-व्यंजना भी करता है—

कोई वीरानी-सी वीरानी है
दश्त को देखके घर याद आया। —ग़ालिब

यहाँ 'सी' का प्रयोग विपरीत लक्षणाधारित है। अरे यह भी कोई वीरानी है ? उर्दू-काव्य मे 'सा' के अन्य प्रयोग भी 'मीर', 'ग़ालिब' और 'नासिख' के काव्य में उपलब्ध है।

विपर्यय

हिन्दी-रीतिकवियों ने काव्य-रचना मे बहुत कारीगरी दिखाई है। वे शब्दों को इस ढंग से रखते हैं कि उलटा-सीधा एक-सा बन जाता है, जैसे—

सखा दरद को री हरी हरी को दरद खास।
सदा अकिलवाने गनै, गनै बाल किम्र दास। —भिखारी दास

उर्दू-शाइरी में एक-दो शब्दों में चाहे इस प्रकार का प्रयोग शाइर दिखा दे, लेकिन उससे अधिक कौशल के दर्शन नहीं होते। शब्द के अक्षर-विपर्यय का नमूना 'मेमिन' के अधोलिखित शेर में है—

बोसे दमे-ग़ज़ब लिए उलटी तो देख ये
बल जो पड़ा जबी प तमन्ना को लब हुआ।

'बल' को उलटने से 'लब' बनता है। उर्दू-शाइरी में इस तरह के प्रयोगों के अतिरिक्त अन्य कोई चमत्कार नहीं मिलता। हिन्दी-कवियों ने पूरे-के-पूरे छंदों को ऐसा लिखा है कि चाहे दाईं ओर से पढ़िए चाहे बाईं ओर से, छंद का वाक्य-विन्यास एक-सा रहेगा। यही नहीं, हिन्दी-रीतिकवि ने ऐसे छंदों की रचना भी की है, जिनका चरण सीधा पढ़ने पर एक तरह का, और उलटा पढ़ने पर दूसरी तरह का कथन बन जाता है। उदाहरणार्थ—

सी बनमालिहि हीन जलै महि मोहि दगो अति है तरलो ।
सीकर जी जरि हानि ठऔ सु लयो कबि 'दास' न चैत पलो ।
सील न जानति भाँतउ-सार दयाहि निरीखन है न भलो ।
सीस जलायो मलैजहु तें यहि भीखमु जोन्ह न जान चलो ।

अक्षरों को लेकर चमत्कारोत्पादन करना हिंदी-काव्य की चित्रबंध-शैली का प्रमुख गुण है । उर्दू-शाइरी में इस शैली की कल्पना तक नहीं हुई है । रीतिकालीन हिन्दी-कविता में खंग-बंध, कमल-बंध, कंकण-बंध, डमरू-बंध, चन्द्र-बंध, चक्र-बंध, धनु-बंध, हार-बंध, मुरज-बंध, छत्र-बंध, पर्वत-बंध, वृक्ष-बंध तथा कपाट-बंध प्रचलित थे । कवि इन बंधों मे ऐसी अक्षर-योजना करके छंद लिखते थे कि उसी बंध की आकृति बन जाती थी । निम्नांकित उदाहरण कपाट-बंध का है । अक्षर लिखने से जो बंधान बँधता है वह कपाटाकार है—

भवपति भुवपति भक्तपति सीतापति रघुनाथ ।
जसपति रसपति रासपति राधापति जदुनाथ । —भिखारी दास

भवप	ति	पभज
भुवप	ति	पसर
भक्तप	ति	पसरा
सीताप	ति	पधारा
रघुना	थ	नादुज

जिस भाग में 'ति ति ति ति' लिखा है यह किवाड़ का वह भाग है, जिसे बेनी कहते हैं । दोनों पट इसी के कारण आपस में मिले रहते हैं । यहाँ 'ति' के दोनों ओर 'प, प' होने से किवाड़ ठीक-ठीक सट गए है । सबसे नीचे 'थ' बेनी का सिरा है जो रीतिकाल में प्रायः गोल होता था । इसके दाएँ-बाएँ 'ना' अक्षर होने से वहाँ भी पट एक समान जुटे हुए है । इस प्रकार उद्धृत दोहे से कपाट का

चित्र बन जाता है। हिन्दी में चित्रबंध योजनाएँ करने में कवियों ने काफ़ी परिश्रम किया है। बुद्धि के ऐसे प्रयोग का एक भी उदाहरण उर्दू-शाइरी में नहीं मिलता।

वर्ण-चयन

हिन्दी-रीतिकाव्य में निरोष्ठ अजिह्व आदि वर्णों को लेकर रचनाएँ की गई हैं। निरोष्ठ छंद में वे ही अक्षर आए हैं, जिनके उच्चारण में ओठ नहीं लगते, उदाहरणार्थ—

कन है सिगार रस के करन जस ये
सघन घन आनंद की झर जे सँचारते।
'दास' सरि देत जिन्हें सारस के रस रसे
अलिन के गन खनखन तन झारते।
राधादिक नारिन के हिय की हकीकति
लखें तें अचरज रीति इनकी निहारते।
कारे कान्ह कारे कारे तारे ये तिहारे जित
जाते तित राते राते रंग करि डारते।

अजिह्व का उदाहरण निम्नोद्धृत सवैए मे है। पूरे-का-पूरा सवैया पढ़ जाइए, लेकिन किसी भी अक्षर के उच्चारण में जिह्वा कहीं स्पर्श करती नहीं प्रतीत होती—

खाइहै घीअ अघाइहै हीअ गहागहे गीअ अहै कहा खंगा।
है है कहाँ की कहाँ की है खै खै ए गेह के गाहक खेह है अंगा।
काहे कों धाइ गहै अघओघ कौं काक की कीक कहा किए कंगा।
गाइए गंगा कहाइए गंगा कै ही गहे गंगा अहे कहै गंगा।

—भिखारी दास

स्वरों में यह नियम रक्खा कि इ, उ, ऐ, औ आदि न आवें, सिर्फ़ 'अ' ही रहे, यथा—

कमलनयन पदकमल कमलकर अमल कमलधर।
सहत सरद-ससधरन-हरनमद लसत बदन बर। —भिखारी दास

उपर्युक्त उदाहरण आचार्य भिखारी दास के 'काव्य निर्णय' (संवत् १८०३ अर्थात् सन् १७४६ में रचित) से हैं, लेकिन इस शैली में कविता लिखने का क्रम सन् १७४६ के पहले से चला आ रहा था। आचार्य केशवदास की 'कविप्रिया' ऐसी चमत्कारी रचनाओं के प्रभूत उदाहरण प्रस्तुत करती है। उर्दू में इस प्रकार लिखने की कोई परम्परा नहीं थी। उर्दू-शाइरों में इंशा अल्ला खाँ ने कुछ प्रयोग

अवश्य किए हैं। उनके 'दीवान्-ए-बेनुक़्त' के शेरों की भाषा में नुक़्तों का प्रयोग नहीं हुआ है, यथा—

हमको आराम हो दिला किस तरह।
और वो काम हो दिला किस तरह।

नुक़्ता न होने से प, फ, ब, भ नहीं आते, इसलिए इन प्रयोगों में निरोष्ठ वर्णों का आ जाना स्वाभाविक है। परन्तु एक तो 'इंशा' (मृत्यु सन् १८१७) भिखारी दास के भी बहुत बाद हुए, दूसरे 'इंशा' हिन्दी के लेखक थे। उर्दू-वर्णमाला ध्वन्यात्मक वर्गीकरण के अनुसार नहीं है। हिन्दी-वर्णमाला के कंठ्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य आदि वर्ग बने हुए हैं, जिससे उपर्युक्त शैली के सम्बन्ध में नियम बनाए जा सकते हैं, यथा—

छाँड़ि प वर्ग उ ओ बरन और बरन सब लेहु।
याको नाम निरोष्ठ है हिये धरौ निसँदेहु। —भिखारी दास

उर्दू मे न ऐसा नियम बन सकता है और न ऐसी शैली सुसाध्य हो सकती है। 'इंशा' हिन्दी से परिचित थे, अतः वह ऐसी रचना कर सके। उन पर हिन्दी-रीतिकवता की इस शैली का प्रभाव है। लेकिन उनका प्रयोग भी निरोष्ठ तक ही है, अजिह्व का उदाहरण उनके काव्य में नहीं मिलता।

पुनरावृत्ति

पुनरावृत्ति अनेक प्रकार की होती है। एक प्रकार की पुनरावृत्ति वह है, जो किसी बात पर जोर देने के उद्देश्य से की जाती है, जैसे—

वो हुस्नो-ज्वानी और उस प ये ग़म।
सितम है सितम है सितम है सितम। —मीर हसन

दूसरे प्रकार की वह है जिसमें क्रिया तो वही रहती है, किंतु क्रिया से सम्बद्ध शब्द बदल जाते हैं—

उसकी निगह के आने का मैं क्या करूँ बयाँ।
बिजली थी या कि तीर थी गोली थी या सिनाँ।
मेरी तरफ़ को दौड़कर आते ही नागहाँ।
मेरी नज़र भी दौड़ के उसकी नज़र से वाँ।
ऐसी लड़ी कि ख़ूब लड़ी ख़ूब ही लड़ी। —नज़ीर

प्रथम उदाहरण में संज्ञा की और दूसरे में क्रिया की पुनरावृत्ति है। ये प्रयोग सामान्य प्रयोग हैं। पुनरावृत्ति का एक विशिष्ट प्रकार वह है, जिसमें क्रिया की आवृत्ति है, परन्तु उसका उद्देश्य केवल कथन पर ज़ोर देना नहीं है, उदाहरणार्थ—

मदमई कोयल मगन ह्वै करत कूकैं
जलमई मही पग परते न मग मैं।
बिज्जु नाचै घन मैं विरह हिय बीच नाचै
मीचु नाचै व्रज मै मयूर नाचै नग मैं।
'श्रीपति' सुकवि कहै सावन सुहावन में
आवन पथिक लागे आनँद मो अँग मैं।
देह छायो मदन अछेह तम क्षिति छायो
मेह छायो गगन सनेह छायो जग मैं।

कबित्त में क्रियाओं की आवृत्ति है किन्तु यहाँ भिन्न-भिन्न विषयों को एक क्रिया से पुनः पुनः जोड़कर कवि क्रिया को परिपुष्ट करने के साथ ही उसकी व्यापकता भी प्रगाढ़रूपेण व्यंजित करता चलता है। 'नाचना' क्रिया तो एक है, लेकिन विजली का नाचना, विरह का नाचना, मृत्यु का नाचना और मयूर का नाचना ये दृश्य पृथक्-पृथक् हैं। फिर बिजली का वन में नाचना, विरह का हृदय में नाचना, मृत्यु का व्रज में नाचना और मोर का पर्वत के बीच नाचना अलग-अलग देशों से सम्बद्ध है। इस प्रकार यहाँ नाचना क्रिया के विविध रूप तथा विविध देश प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यही बात 'छायो' क्रिया के सम्बन्ध में भी है। इस तरह के प्रयोग सिद्ध करते है कि हिन्दी-रीतिकवि की प्रति शब्दावृत्ति ब्रश की भिन्नवर्णी रेखा है, जो चित्र को पूरा करके आकर्षक रूप देने के उद्देश्य से खींची जाती है, जब कि उर्दू-शाइर एक रेखा को अधिक गहरा करने के लिए शब्दावृत्ति-योजना करता है।

आवृत्ति का एक उदाहरण वहाँ मिलता है जहाँ कवि एक-दो शब्दों को लेकर केवल आवृत्ति के लिए आवृत्ति करता है, जैसे—

साँझ को सो चंद भोर को सो करि राख्यौ मुख
भोर की सी कान्ति भाँति साँझ की सी भई आन।
साँझ भोर को सो नभ देखिये मलीन मन
साँझ भोर चकवा चकोर की सी हित हानि।— देव

यहाँ 'साँझ' और 'भोर' दो शब्दों की कवि ने तीन बार आवृत्ति के लिए आवृत्ति की है, बस। परन्तु सबसे अधिक कौशल का परिचय उस छंद में मिलता है, जिसमें कवि कुछ शब्दों की आवृत्तियों द्वारा ही छंद पूरा कर देता है, लेकिन भाव प्रति आवृत्ति के साथ उत्तरोत्तर परिपुष्ट होता जाता है—

मैं मुरलीधर की मुरली लई मेरी लई मुरलीधर माला।
मैं मुरली अधरान ठई उन कंठ ठई मुरलीधर माला।

मैं मुरलीधर की मुरली दई मेरी दई मुरलीधर माला।
मैं मुरलीधर की मुरली भई मेरी भए मुरलीधर माला।
—'हि० सा० अ०'

इस सवैए में 'मुरली' और 'माला' शब्द प्रमुख हैं। उन शब्दों की तो वारम्वार आवृत्ति है ही, उनके अतिरिक्त 'लई, ठई, भई' आदि शब्दों की भी आवृत्ति है। पूरे-का-पूरा कथन आवृत्तियों द्वारा ही पूर्ण कर दिया गया है और विशेषता यह है कि केवल प्रयोग के लिए यह प्रयोग नही है, अपितु उत्कृष्ट भाव की ऐसी अभिव्यक्ति हुई है कि चित्त रसमग्न हो जाता है। उर्दू-शाइरी में ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा।

इस आवृत्ति से ही सम्बद्ध शाब्दिक उलट-फेर है। रीतिकाल के उर्दू-शाइर इस शैली में बड़े प्रवीण प्रतीत होते हैं। शाब्दिक उलट-फेर कहीं-कहीं केवल चमत्कार के लिए होता है, यथा—

माहे-नौ है मिस्ले-अब्रू लेक उसका रू नहीं।
माहे-कामिल सूरते-रू है मगर अब्रू नहीं। —नासिख़

लेकिन कहीं-कहीं भावगर्भित, जैसे—

ग़म रहा जब तक कि दम में दम रहा।
दम के जाने का निहायत ग़म रहा। —मीर

हिन्दी-रीतिकविता में शाब्दिक उलट-फेर चमत्कार उत्पन्न करने के लिए भी प्रयुक्त है और रस-निष्पत्ति के लिए भी, लेकिन अधिकतर प्रयोग रस-निष्पादक ही हैं, उदाहरणार्थ—

निधरक भई अनुभवत है नंदघर
और ठौर कहूँ टोहे हू न अहटाति है।
पौरी पाखे पिछवारे कौरे कौरे लागी रहै
आँगन देहली याही बीच मँडराति है।
हरि रस राती 'सेख' नेक हू न होइ हाती
प्रेम मदमाती न गनति दिन राति है।
जब जब आवति है तब कछू भूलि जाति
भूल्यो लेन आवति है और भूलि जाति है।

शब्द-सम्बद्धता

शब्दों का प्रयोग कभी-कभी ऐसा किया जाता है कि कथन परस्पर सम्बद्ध होते जाते हैं। इस शैली को कथा-शैली कह सकते हैं। इसमें, स्मरण-सुकर बनाने के उद्देश्य से, पहले आए शब्दों को फिर आवृत्त कर दिया जाता है—

वो सुब्ह को आए तो करूँ बातों में दुपहर
और चाहूँ कि दिन थोड़ा सा ढल जाय तो अच्छा।
ढल जाए जो दिन भी तो इसी तरह करूँ शाम
और फिर कहूँ गर आज से कल जाय तो अच्छा। —ज़ौक़

कथन-सम्बद्धता की यह शैली हिन्दी-रीतिकाव्य की एक सामान्य शैली है। उर्दू-शाइरों में इस तरह की आवृत्तियाँ तो मिलती हैं, लेकिन हिन्दी-कविता की सिंहावलोकन शैली नहीं मिलती, यथा—

दनके दशों दिश दुनाली ड्योढ़ दामिन के
घन के नगारे मारे उर उलझन के।
झनके झनाक झुंड झींगुर बिगुर बाजैं
सनके समीर तीर शक्र सरासन के।
सनके समर मद मेचक झिलमवारे
ठनके नकीब दर्प दादुर दमन के।
मन के नदन बिन कामिनी कदन के
ये आए बीर बादर बहादर मदन के।
—'हफ़ी० ह०'

इस कवित्त के प्रथम चरण का अन्त जिस शब्द से हुआ, दूसरे चरण के प्रारम्भ में वही शब्द आया। यही शैली बाद के चरणों में भी प्रयुक्त है। उर्दू में इस शैली के नियमित प्रयोगों का अभाव है।

शब्द-सम्बद्धता दूसरे प्रकार की भी होती है। इसमें शब्द फ़ौरन तो आवृत्त नहीं होते, आवृत्ति कुछ अन्तर से रहती है, परन्तु इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि एक वस्तु से दूसरी वस्तु सम्बद्ध हो जाय, जैसे—

अलकैं बिसाल ह्वै कै बंक लहरान लागीं
लंक ते परान लागी दुतियन बाल की।
लाली महरेटी के अधर सरसान लागी
अधरन बान लागी बतिया रसाल की।
'रघुनाथ' छाती कुच रुचि दरसान लागी
छाती छहरान लागी छबि बनमाल की।
रीझि आँखियान लागी आँखैं बढ़ि कान लागीं
कानन सोहान लागी चरचा गोपाल की।

यहाँ अधर, छाती, आँख तथा कान शब्दों की आवृत्ति करके कवि एक चीज़ से दूसरी चीज़ जोड़ता चला जा रहा है। मानो आकर्षण पर आकर्षण की पर्तें

पड़ती जाती हैं। प्रभाव-विवर्धन की यह शैली समग्र सौन्दर्यावलोकन कराने के अतिरिक्त विश्लेषणात्मक ढंग पर मूल्यांकन का अवसर भी देती है।

प्रश्नोत्तर

विमर्श्यकालीन हिन्दी-कविता में प्रश्नोत्तर शैली का अच्छा प्रचार हुआ। प्रश्नोत्तर कई प्रकार से किये जाते हैं। सबसे सीधा ढंग यह है कि एक पद में प्रश्न किया जाता है, फिर दूसरे में उसका उत्तर दिया जाता है, यथा—

कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन ? —आलम
कटि को कंचन काटि कै कुचन-मध्य धरि दीन। —सेख

'बिहारी सतसई' का निम्नलिखित दोहा जो अपनी चमत्कारी चित्र-योजना के कारण बहुत प्रसिद्ध है, वस्तुतः प्रश्नोत्तर शैली का सुन्दर नमूना प्रस्तुत करता है—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ।

'कहलाने' का अर्थ विद्वानों ने कातर एवं व्याकुल किया है। परन्तु 'लाने' का बुंदेलखंडी बोली में 'लिए' अर्थ होता है। अतएव कहलाने का मतलब हुआ 'किसलिए'। अर्थात् दोहे के प्रथम चरण में प्रश्न है कि अहि, मयूर, मृग और बाघ किसलिए एकत्र बैठे हुए हैं ? दूसरा चरण उसका उत्तर है कि 'जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ।'

आलोच्यकाल की उर्दू-शाइरी में भी प्रश्नोत्तर प्राप्त है। उदाहरणार्थ 'ग़ालिब' का अधोलिखित शेर द्रष्टव्य है—

क्यों अँधेरी है शबे-ग़म है बलाओं का नुज़ूल
आज उधर को ही रहेगा दीदए-अख़्तर खुला।

इस शेर के पहले मिसरे में प्रश्न है कि शबे-ग़म अँधेरी क्यों है ? और उसी में उत्तर है कि बलाओं का नुज़ूल है इसलिए। लेकिन ये प्रश्नोत्तर हिन्दी-कविता के ढंग पर नहीं हैं।

प्रश्नोत्तर शैली के अनेक रूप हैं। प्रश्नोत्तर-त्वरा कथन को संभाषण का रूप देकर एक ऐसा लालित्य उत्पन्न करती है कि स्वाभाविक बातचीत का आनंद आ जाता है। नीचे उद्धृत कबित्त में मध्या अधीरा तथा नायक के बीच हुए प्रश्नोत्तर ध्यातव्य हैं—

भूले से भ्रमे से काहि सोचत स्रमे से
अकुलाने से बिकाने से ठगे से ठीक ठाए हौ।

कहै 'पदमाकर' सु गोरे रंग बोरे अंग
थोरे थोरे अजब कुसुंभी करि ल्याए हौ।
आगे कौं धरत पर पीछे कौं परत पग
भोर ही तें आज कछु औरै छबि छाए हौ।
कहाँ आए तेरे धाम, कौन काम, घर जानि,
तहाँ जावौ, कहाँ, जहाँ मन धरि आए हौ।

अंतिम दो चरणों में कथोपकथन-कला का निदर्शन है। नायिका ने प्रश्न किया "कहाँ आए ?" नायक का उत्तर था "तुम्हारे घर"। इसी प्रकार "क्यों आए" ? "अपना घर समझकर"। "वहाँ जाइए"। "कहाँ" ? "जहाँ मन रख आए हो"। ऐसी प्रश्नोत्तरी उर्दू-काव्य में शैली बनकर प्रयुक्त नहीं हुई। हिन्दी-रीतिकाव्य में शाब्दिक हास्य का रूप प्रायः इसी शैली पर आधारित है।

प्रश्नोत्तर शैली का एक प्रकार 'अन्तर्लापिका' है। अन्तर्लापिका के दो रूप हैं—पहला रूप वह है, जिसमें प्रश्न का उत्तर रहता है, पर बताया नहीं जाता, जैसे—

बारे पर वह सब को भाया।
बड़ा हुआ कुछ काम न आया।
'खुसरो' कह दिया उसका नाम।
अर्थ करो नहीं छोड़ो ग्राम।

इस छंद में 'दिया' शब्द ही पहेली का उत्तर है। प्रथम दो पंक्तियों में विवरण है, प्रश्न नहीं। इस प्रकार की पहेलियाँ अन्तर्लापिकाएँ कहलाती हैं, परन्तु इनमें प्रश्नोत्तर नहीं रहते। दूसरे प्रकार की अन्तर्लापिकाओं में पहले प्रश्न-माला होती है और अंत में उसका उत्तर दिया जाता है, उदाहरणार्थ—

कौन करै बस बसुहि कौन यहि लोक बड़ो अति ?
को साहस को सिन्धु कौन रज-लाज धरे मति ?
को चकवा को सुखद बसै को सकल सुमन महि ?
अट्ठ सिद्धि नव निद्धि देत माँगें को सो कहि ?
जन बूझत उत्तर देत इमि कवि 'भूषण' कवि-कुल-सचिव।
दच्छिन नरेश सरजा सुभट साहिनंद मकरंद सिव।

इस छप्पय के प्रथम चार चरणों में प्रश्न हैं और अंतिम चरण में उनका उत्तर है। उपर्युक्त चारों चरणों के उत्तर मिलाकर 'दच्छिन नरेश सरजा सुभट साहिनंद मकरंद सिव' उत्तर बनता है। प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार हैं। धन को कौन वश में करता है ? चतुर अर्थात् दक्षिण। इस लोक में बड़ा कौन है ? नरेश।

साहस का सिन्धु कौन है ? सरजा। रजपूती की लाज कौन बचाता है ? सुभट। चक्रवर्त्ती को कौन सुख देता है ? राजपुत्र यानी साहिनंद। सब फूलों में कौन बसता है ? मकरंद। अष्ट सिद्धि नव निधि दाता 'कौन है ? शिव। इस व्यस्त-समस्तोत्तर ढंग पर रीतिकवियों ने अन्तर्लापिकाएँ लिखी हैं। उर्दू-शाइरों ने पहेलियाँ तो बहुत-सी लिखीं, परन्तु ऐसी अन्तर्लापिकाएँ उर्दू-शाइरी में प्राप्त नहीं होतीं।

कूट शैली

आलोच्यकालीन काव्य में ग्रंथियाँ लगाकर कथन को दुरूह बनाना कला का एक अंग माना जाता था। फलतः कविता में कवि तथा शाइर कूटशैली का प्रयोग करते थे। उर्दू-शाइर अक्षर-कूटशैली तक ही सीमित रह गए, परन्तु हिन्दी-कवियों ने कूटकाव्य-क्षेत्र में पर्याप्त अनुसंधान किया है। उर्दू-शाइरी में किसी शब्द के अक्षर अलग-अलग कहने की शैली प्रचलित थी, जैसे—

दे ऐन शीन क़ाफ़ तू मुझ दाल लाम में
मुझ कों अपस के घर में अकासी किया पिया। —वली

इस शेर में 'इश्क़' एवं 'दिल' शब्दों के अक्षरों को अलग-अलग कह दिया गया है। केवल संकेत-रूप अक्षर का उल्लेख भी कहीं-कहीं मिलता है, यथा—

अर्ज़ी प हुआ मीम सियाहे प हुआ जीम
परवाना मैं तुम पर हूँ तसद्दुक़ मेरी जाँ है। —सौदा

'मीम' का यहाँ अर्थ 'मंज़ूर' और 'जीम' का मतलब 'जमा' है। उर्दू-शाइरी में कूटशैली इससे आगे नहीं बढ़ी।

हिन्दी-काव्य में कूटपद लिखने की एक परम्परा पूर्वमध्यकाल से चली आ रही थी, इसलिए आलोच्यकाल में कवियों ने उसे भी अपनाकर रचनाएँ कीं। कूटकाव्य रीतिकविता के अन्तर्गत और भी आवश्यक हो गया था, क्योंकि प्रेम-संदेश के लिए यह शैली अत्यन्त उपयोगी है। हिन्दी-रीतिकवियों ने इस शैली में अनेक प्रेम-संदेश भिजवाए हैं। उदाहरणार्थ निम्नांकित कवित्त प्रस्तुत है—

सासु मेरी राधिका की सौति सो न जानै कछू
पाँचै ज्ञान इंद्रिन सों ज्ञान न बताई है।
'देवकीनंदन' कहैं सुनौ हो बिहारीलाल
पथिक तिहारे भाग ही ते रैनि आई है।
तीनि मेरे दूती ते प्रबीनी परमेश्वर ते
रची विधि एकै सरि हमैं अठिनाई है।

कहै 'पदमाकर' सु गोरे रंग बोरे अंग
थोरे थोरे अजब कुसुंभी करि ल्याए हौ ।
आगे कौं धरत पर पीछे कौं परत पग
भोर ही तें आज कछु औरै छबि छाए हौ ।
कहाँ आए तेरे धाम, कौन काम, घर जानि,
तहाँ जावौ, कहाँ, जहाँ मन धरि आए हौ ।

अंतिम दो चरणों में कथोपकथन-कला का निदर्शन है । नायिका ने प्रश्न किया "कहाँ आए ?" नायक का उत्तर था "तुम्हारे घर" । इसी प्रकार "क्यों आए" ? "अपना घर समझकर" । "वहाँ जाइए" । "कहाँ" ? "जहाँ मन रख आए हो" । ऐसी प्रश्नोत्तरी उर्दू-काव्य में शैली बनकर प्रयुक्त नहीं हुई । हिन्दी-रीतिकाव्य में शाब्दिक हास्य का रूप प्रायः इसी शैली पर आधारित है ।

प्रश्नोत्तर शैली का एक प्रकार 'अन्तर्लापिका' है । अन्तर्लापिका के द. रूप हैं—पहला रूप वह है, जिसमें प्रश्न का उत्तर रहता है, पर बताया नहीं जाता, जैसे—

बारे पर वह सब को भाया ।
बड़ा हुआ कुछ काम न आया ।
'खुसरो' कह दिया उसका नाम ।
अर्थ करो नहीं छोड़ो ग्राम ।

इस छंद में 'दिया' शब्द ही पहेली का उत्तर है । प्रथम दो पंक्तियों में विवरण है, प्रश्न नहीं । इस प्रकार की पहेलियाँ अन्तर्लापिकाएँ कहलाती हैं, परन्तु इनमें प्रश्नोत्तर नहीं रहते । दूसरे प्रकार की अन्तर्लापिकाओं में पहले प्रश्न-माला होती है और अंत में उसका उत्तर दिया जाता है, उदाहरणार्थ—

कौन करै बस बसुहि कौन यहि लोक बड़ो अति ?
को साहस को सिन्धु कौन रज-लाज धरे मति ?
को चकवा को सुखद बसै को सकल सुमन महि ?
अट्ठ सिद्धि नव निद्धि देत माँगें को सो कहि ?
जन बूझत उत्तर देत इमि कवि 'भूषण' [illegible] ।
दच्छिन नरेश सरजा सुभट साहिनंद मकरंद सिव ।

इस छप्पय के प्रथम चार चरणों में प्रश्न हैं और अंतिम चरण में उनका उत्तर है । उपर्युक्त चारों चरणों के उत्तर मिलाकर 'दच्छिन नरेश सरजा सुभट साहिनंद मकरंद सिव' उत्तर बनता है । प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार हैं । धन को कौन वश में करता है ? चतुर अर्थात् दक्षिण । इस लोक में बड़ा कौन है ? नरेश ।

साहस का सिन्धु कौन है ? सरजा । रजपूती की लाज कौन बचाता है ? सुभट । चक्रवर्त्ती को कौन सुख देता है ? राजपुत्र यानी साहिनंद । सब फूलों में कौन बसता है ? मकरंद । अष्ट सिद्धि नव निधि दाता कौन है ? शिव । इस व्यस्त-समस्तोत्तर ढंग पर रीतिकवियों ने अन्तर्लापिकाएँ लिखी हैं । उर्दू-शाइरों ने पहेलियाँ तो बहुत-सी लिखीं, परन्तु ऐसी अन्तर्लापिकाएँ उर्दू-शाइरी में प्राप्त नहीं होतीं ।

कूट शैली

आलोच्यकालीन काव्य में ग्रंथियाँ लगाकर कथन को दुरूह बनाना कला का एक अंग माना जाता था । फलतः कविता में कवि तथा शाइर कूटशैली का प्रयोग करते थे । उर्दू-शाइर अक्षर-कूटशैली तक ही सीमित रह गए, परन्तु हिन्दी-कवियों ने कूटकाव्य-क्षेत्र में पर्याप्त अनुसंधान किया है । उर्दू-शाइरी में किसी शब्द के अक्षर अलग-अलग कहने की शैली प्रचलित थी, जैसे—

दे ऐन शीन क़ाफ़ तू मुझ दाल लाम में
मुझ कों अपस के घर में अकासी किया पिया । —वली

इस शेर में 'इश्क़' एवं 'दिल' शब्दों के अक्षरों को अलग-अलग कह दिया गया है । केवल संकेत-रूप अक्षर का उल्लेख भी कहीं-कहीं मिलता है, यथा—

अर्ज़ी प हुआ मीम सियाहे प हुआ जीम
परवाना मैं तुम पर हूँ तसद्दुक़ मेरी जाँ है । —सौदा

'मीम' का यहाँ अर्थ 'मंजूर' और 'जीम' का मतलब 'जमा' है । उर्दू-शाइरी में कूटशैली इससे आगे नहीं बढ़ी ।

हिन्दी-काव्य में कूटपद लिखने की एक परम्परा पूर्वमध्यकाल से चली आ रही थी, इसलिए आलोच्यकाल में कवियों ने उसे भी अपनाकर रचनाएँ कीं । कूटकाव्य रीतिकविता के अन्तर्गत और भी आवश्यक हो गया था, क्योंकि प्रेम-संदेश के लिए यह शैली अत्यन्त उपयोगी है । हिन्दी-रीतिकवियों ने इस शैली में अनेक प्रेम-संदेश भिजवाए हैं । उदाहरणार्थ निम्नांकित कवित्त प्रस्तुत है—

सासु मेरी राधिका की सौति सो न जानै कछू
पाँचै ज्ञान इंद्रिन सों ज्ञान न बताई है ।
'देवकीनंदन' कहैं सुनौ हो बिहारीलाल
पथिक तिहारे भाग ही ते रैनि आई है ।
तीनि मेरे दूती ते प्रबीनी परमेश्वर ते
रची विधि एकै सरि हमैं अठिनाई है ।

एक सूरदासदासी एक जगन्नाथदासी
एक भृगुदासदासी ताकी एक आई है।

वचन विदग्धा नायिका का कथन है कि मेरी सास कूबड़ी होने से चल-फिर नहीं सकती। उसकी हालत यह है और जो तीन दूतियाँ हैं उनमें एक अंधी, दूसरी लँगड़ी तथा तीसरी कानी है। अंधी तो बेकार ही है। लँगड़ी से भी चिन्ता की बात नहीं, क्योंकि वह चल नहीं पाती। रही कानी, सो उसकी वह आँख भी आ गई है इसलिए वह भी कुछ देख नहीं पाएगी। अतः तुम निश्चिन्त रहो।

संकेत

उर्दू-शाइरी में यद्यपि इशारेबाज़ी के वर्णन मिलते हैं, जैसे "बैठा रहा अगर्चे इशारे हुआ किए,"[3] लेकिन शाइरों ने आशिक़ या माशूक़ के उन इशारों के विवरण नहीं दिए। वहाँ आशिक़ अपने हाथों से दिल थामे रहता है या अपना दर्द बताने के लिए दिल पर हाथ रखकर रो देता है, लेकिन आशिक़-माशूक़ की संकेत-भाषा का कोई उल्लेख नहीं है—

पूछा जो मैंने दर्दे-मुहब्बत को 'मीर' से
रख हाथ उनने दिल प टुक इक अपने रो दिया।

इस शेर में दिल पर हाथ रखकर दर्द का आभास दिया गया है। इसी प्रकार हाथ रखकर हिन्दी-कवियों ने भी मन की बात अभिव्यक्त की है—

हरषि न बोली लखि ललनु निरखि अमिलु सँग साथु।
आँखिनु ही मैं हँसि धर्‌यौ सीस हियैं धरि हाथु। —बिहारी

नायिका ने देखा कि नायक अमिल (जो अपने मेल के नहीं हैं) व्यक्तियों के साथ है, तो वह आँखों में हँसी। उसने हृदय पर हाथ रखकर सिर पर रक्खा। हृदय पर हाथ रखने का अर्थ लाला भगवानदीन तथा 'रत्नाकर' ने नायक को हृदय में स्थान देना किया है। पद्मसिंह शर्मा का मत भी यही है। परन्तु यह अर्थ प्रसंगानुसार नहीं है। हृदय पर हाथ रखकर सिर पर रखने का हमारे मत से अर्थ वास्तव में यह हुआ कि जो तुम्हारे मन में है, वह मुझे शिरोधार्य है।

लेकिन इन अंग-संकेतों के अतिरिक्त भी हिन्दी-रीतिकाव्य में संकेतों द्वारा प्रेमाभिलाष अभिव्यक्त करने की एक शैली ही अलग है। प्रेमी-प्रेमिकाएँ संकेत-भाषा में बातचीत करते हैं। कभी-कभी हाव ही संकेत बन जाते हैं, यथा—

माँग बीच धरि आँगुरी ढाँपि नील पट भाल।
अर्द्धनिशा सी छपत ही सैन बताई बाल। —रसलीन

कभी-कभी विशिष्ट पुष्पों को दिखाकर मन की बात कह दी जाती है, जैसे सुदर्शन पुष्प दिखाया तो दर्शनाभिलाषा प्रकट हुई और जीती पुष्प दिखाया तो संध्या-मिलन का संकेत मिला—

पिय की चाह सखी कही फूल सुदरशन लाइ।
उत्तर दीन्हों नागरी जीती फूल दिखाइ। —रसलीन

कभी-कभी फूल विशेष को अंग से स्पर्श करके भी भाव प्रकट करते हैं, उदाहरणार्थ—

लाल सखीनि मैं बाल लखी 'मतिराम' भयौ उर आनन्द भीनौं।
हाथ दुहूँनि सौं चंपक गुच्छनि को जुग छाती लगाइ कै लीन्हौं।
चन्द्रमुखी मुसकाय मनोहर हाथ उरोजनि अन्तर दीनौं।
आँखिनि मूँदि रही मिसि कै मुख ढाँपि निचोल को अंचल कीनौं।

नायक ने चंपक फूल का जोड़ा छाती से लगाकर कुचस्पर्श की इच्छा प्रकट की। उत्तर में नायिका ने हाथ लगाकर बताया कि तुम मेरे हृदय में बसते हो। फिर उसने मुँह ढाँपा और आँखें मूँदीं अर्थात् चन्द्रास्त के समय जब कमल पूर्णतः मुँद जाएँगे, तब मिलूँगी।

फूल को विशेष प्रकार की आकृति देकर विशेष ढंग से प्रस्तुत करके भी संकेत दिए गए हैं। कवि 'रघुनाथ' ने एक कबित्त में क्रियाविदग्ध नायक का वर्णन किया है, जिसने कमल का फूल तोड़ा, उसकी पंखड़ियाँ इकट्ठी करके मृणाल-तंतु से बाँधा जिससे वह कली-सा बन गया, फिर उसे छाती से लगाकर पानी में झुका दिया—

आजु अन्हात में गोपबधू के मिलाप के चाय चुभे चख चीन्हे।
है 'रघुनाथ' देखाइ कै बामहिं तोरि कै फूल सरोज को लीन्हे।
पाँखुरी कै इकठौर मनोल के सूत सों बाँधि कली सम कीन्हें।
मोहिं न बूझि पर्यो उर लाइ क्यों पानी में नाइ गोपाल ने दीन्हें।

फूल से ही नहीं, फलों के द्वारा भी अभिलषित बातें स्पष्ट कर दी जाती थीं—

दलन लगे हरि नारँगी गुरजन बीच निहारि।
चख चलाय लै गागरी चली नागरी नारि।—रामसहायदास

नायक ने नारंगी-दलन द्वारा कुच-मर्दनाभिलाषा व्यक्त की तो नायिका ने कटाक्ष करके गागर उठाई और चल दी। कटाक्ष से कहा 'चलो' और गागर लेकर प्रकट किया कि मैं पानी भरने के बहाने आकर अभी मिलती हूँ।

फूलमालाएँ भी रीतिकाव्य में बातें करती हैं। नायिका यदि नायक के मार्ग में कुम्हलाई माला गिरा दे तो इसका अर्थ हुआ कि वह परम दीना है, जो पहले

हृदय का हार थी अब वही धूल में लोटेगी। यह तो एकपक्षीय समाचार हुआ। नायक-नायिका दोनों को माला-माध्यम से वार्तालाप करते देखिए—

दोऊ अटान चढ़े 'पदमाकर' देखैं दुहूँ को दुवौ छबि छाई।
त्यों ब्रजबालैं गुपाल तहाँ बनमाल तमालन की दरसाई।
चन्द्रमुखी चतुराई करी तब ऐसी कछू अपने मन भाई।
अंचल ऐंचि उरोजन तें नँदलाल कों मालती माल दिखाई।

तमाल की वनमाल दिखाने से नायक ने संकेत दिया कि तमालवन में मिलूँगा। मालती माल दिखाकर नायिका ने स्थान निश्चित किया कि तमालवन में मालती कुंज के पास। कमल तथा दर्पण दिखाकर भी संकेत किए गए हैं।

हिन्दी-रीतिकाव्य की नायिकाएँ चित्रलेखन-प्रवीणा होने के कारण चित्रों-द्वारा भी भावाभिव्यक्ति करती हैं। रूठे हुए नायक को मनाने के लिए वे चित्रों के माध्यम से ऐसे-ऐसे संकेत देती हैं कि दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है—

परम प्रवीनताई प्रथम समागम में
    प्यारी की विलोकि पिय छोभ्यौ तिय लीन्हीं जानि।
कहै कवि 'तोष' पति सोच मेटिबे के काज
    लिखन सु लागी चित्र अपने सरोज पानि।
कुंभी लिख्यौ सिंहिनी जनत सुत सिंह लिख्यौ
    आधो कटि कुंभन विदार्‌यो निज कुल बानि।
समुझि समुझि चित्त आतुरता पेखि प्यारो
    अंक भरि लीन्हीं सब संक मेटि मोद मानि।

नायिका ने हाथी का चित्र बनाया, अर्धकटि-सिंह-शावक जनती हुई सिंहिनी बनाई और शावक को हाथी के कुंभ विदीर्ण करते चित्रित किया। नायिका के चित्त की आतुरता देखकर नायक ने उसे गोद में भर लिया। सिंहिनी से तात्पर्य नायिका की कटि और सिंह शावक से मतलब नायक की कटि से है। सिंह-शिशु कुंभ विदीर्ण कर रहा है अर्थात् नायक द्वारा कुचमर्दन से रति का संकेत है। इस प्रकार के संकेत उर्दू-शाइरी के अन्तर्गत प्राप्त नहीं हैं।

छंद

'सादी' दकनी का एक शेर 'सफ़ीर' बिलग्रामी ने उद्धृत करके कई नतीजे निकाले हैं। हमें उन निष्कर्षों से वाद-विवाद नहीं, परन्तु उस शेर से रीतिकालीन काव्य पर जो प्रकाश पड़ता है, वह ध्यान देने योग्य है। शेर इस प्रकार है—

'सादी' ग़ज़ल अंगेख़्ता शीरो-शकर आमेख़्ता
दररेख़्ता दुर रेख़्ता हम-शेर है हम-गीत है ।

इस बैत की सबसे स्पष्ट ध्वनि यह है कि यह रेख़्ता शेर भी है और गीत भी । इस शेर से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि उर्दू-कवि हिन्दी-गीतों से प्रभावित थे और अपनी रचनाओं में वही गेयता लाना चाहते थे । उपर्युक्त द्विपद को गीत-सम कहा गया है । वस्तुतः उर्दू के शेर मुक्तक होने पर गीत-सम हैं और यह तत्व उन्हें हिन्दी-मुक्तकों से अलग करता है ।

रीतिकाल में मुक्तक रचना की प्रधानता है । मुक्तक होने पर भी हिन्दी-उर्दू-कविता एक-सी नहीं है । 'मुक्तक' शब्द किसी छंद-विशेष का परिचायक न होकर छंद की स्थिति विशेष को सूचित करता है । मुक्तक अर्थात् उसे स्वव्यक्तित्व-स्थापनार्थ किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है । उसमें जिस भाव, स्थिति या विचार का वर्णन हो, वह उसी छंद में पूरा होकर अपना अर्थ स्पष्ट कर दे । उसका अर्थ अपनी अभिव्यक्ति के लिए आगे या पीछे के छंद का मुहताज न हो ।

हिन्दी-रीतिकविता में कबित्त, सवैया तथा दोहे मुक्तक-शैली में लिखे गए हैं । उर्दू-ग़ज़ल-पद्धति भी मुक्तक-शैली के ही अन्तर्गत आती है । ग़ज़ल में पाँच से लेकर पच्चीस शेर तक होते है, परन्तु हर शेर दूसरे शेर से मुक्त रहता है । आकार की दृष्टि से हम शेर की तुलना दोहे से कर सकते हैं, मगर रीतिकाल में दोहा जहाँ शुद्ध मुक्तक है, वहाँ ग़ज़ल का शेर उस रूप में शुद्ध मुक्तक नहीं है, क्योंकि पूरी ग़ज़ल में ये सारे शेर परस्पर मुक्त होने पर भी समष्टि रूप में मिलकर प्रेम भाव ध्वनित करते हैं । इसलिए मुक्तक होने पर भी उनमें अपना वैशिष्ट्य है । इसके अतिरिक्त शेरों में जो रदीफ़-क़ाफ़िया होता है वह उन्हें लय के रेशमी सूत्र द्वारा परस्पर जोड़ रहता है, जिसका अनुभव श्रोता को अवचेतन में बराबर होता रहता है । यह सूत्र प्रत्यक्षतः क्षीण-सा प्रतीत होने पर भी परोक्षतः बड़ा दृढ़ है ।

हिन्दी की गीत या पद-शैली में भी यह गेय-तत्व-सूत्र रहता है, परन्तु वहाँ प्रत्येक पंक्ति या अंतरा पृथक्-पृथक् भाव स्थिति या विचार का द्योतक नहीं होता, हर पंक्ति उस भाव, स्थिति अथवा विचार की पुष्टि या व्याख्या करती है । इस प्रकार हर चरण या हर दो चरण अपने आगे-पीछे के सभी चरणों से जुड़े रहते हैं । ग़ज़ल में ऐसा नहीं होता । हर शेर दूसरे शेर से बिल्कुल भिन्न हो सकता है । इसलिए हिन्दी-कविता में नीति-कथन और सूक्ति-सम्बन्धी दोहे जितने शुष्क लगते है, उतने उर्दू-ग़ज़ल के भीतर स्थित एवंविध कथ्यात्मक शेर नहीं मालूम पड़ते, क्योंकि वहाँ व्यक्ति-संयोग-संभूत सरसता या चमत्कार में वह नीरसता चन्द्रकिरणों-बीच कालिमावत् निमज्जित हो जाती है ।

'सादी' दकनी के उपर्युक्त रेख़्ते से प्रमाणित होता है कि हिन्दी-कविता के

संगीत तथा लय ने उर्दू-शाइरों का मन भी हर लिया था। हिन्दी के कुछ छंद अपनी लय-माधुरी या कथन-शैली के लिए लोक में विशेष आदर पा चुके थे, अतः उर्दू-कवियों द्वारा भी उनकी उपेक्षा न हो सकी। 'नज़ीर' अकबराबादी ने अपने माशूक़ को फँसाने के लिए जहाँ चित्रकारी, मनिहारगीरी, पहलवानी तथा पतंग-बाज़ी आदि अपनाई है, वहाँ अनेक छंदों का अभ्यास भी किया है—

देखा जो हुस्न क़ातिल तो रेख़्ते बनाए।
कुछ मुकरियाँ बनाईं और कुछ कबित बनाए।
सखियों की बहस डाली और खंड भी जमाए।
जब झूलने न पाए फिर तो मज़े उड़ाए।

रेख़्ता (शेर), मुकरियाँ, कबित्त तथा साखी (दोहा) के अलावा 'नज़ीर' साहब ने खंड भी जमाए हैं। यह 'खंड' क्या है? हमारे विचार से खंड से तात्पर्य सूफ़ी प्रबंध-काव्यों के 'खंड' से है, जैसे 'रतनसेन विवाह खंड'। 'खंड' चौपाई-दोहे में होते थे, इसलिए 'खंड जमाए' से तात्पर्य हुआ कि चौपाई-दोहे में जमकर लम्बी रचनाएँ कीं।

वास्तव में रीतिकालीन उर्दू-शाइरों को सर्वाधिक आकृष्ट करने वाला छंद दोहा है। दोहा अपनी दीर्घ अर्थवत्ता तथा अल्प अक्षर-योजना के कारण उर्दू शेर से बाज़ी मार ले जाता है। फिर, उसमें न केवल शृंगार तथा नीति-सम्बन्धी भाव, अपितु करुण रस भी सफलता से निष्पन्न होता है, अतः इन सभी बातों से उर्दू-शाइरों ने इस छंद का अनेकविध प्रयोग किया। 'सौदा' ने उसे चौपाई के साथ रक्खा—

अहले हरम सब भूखे प्यासे।
ऊँटों पर असवार निरासे।
मुझ सा कौन बिपत का मारा।
क़त्ल हुआ घर जिसका सारा।
मैं तनहा ऊँटों के आगे।
पैर पियादा काँटे लागे।
तौक़ पड़ा गर्दन में भारी।
तिस ऊपर तब की बीमारी।
राह चली जाती नहिं ग़म में।
ताक़त नहीं ज़रा अब दम में।
जो मैं टुक भी ठहर के रोऊँ डाड़ें मार।
या बैरी से यूँ कहूँ मारे आ तलवार।

'सौदा' ने पाँच अर्द्धाली के बाद दोहे का क्रम रक्खा है। यहाँ १६ मात्राओं के हिन्दी छंद 'चौपाई' के साथ दोहा विन्यस्त है। अब 'सौदा' द्वारा किया गया 'पदमावती' (३२ मात्रिक) छंद के साथ दोहे का संयोग देखिए—

दुश्मन से न बदी वो की तैं चर्ख़ ने की जो मुझ पर कोई।
दूल्हा की माँ ब्याह में ख़ुश हो लोहू के अँझुवाँ से रोई।
चाव में शादी के मैं तेरी रातों को भर नींद न सोई।
क़िस्मत का जो लिखा हो प्यारे मेट सके कब उसको कोई।

ब्याह की शब सारा कुटुम सर पर डाले धूल।
दूल्हा की चौथी के दिन तीजे के हों फूल।

'सौदा' की पहलियों में 'पद्धरी' का प्रयोग हुआ है—

रुत को जोगी नहिं कनफटा।
गिडुरी ओढ़े सर पर जटा।
अंग अंग मोती से छाव।
चार महीना जगत को भाव।

'नज़ीर' अकबराबादी ने 'तज़मीने फ़ारसी ओ-हिन्दी-ओ उर्दू' में दोहे को अपनाया। नज़्म में छांदिक योजना इस प्रकार की कि पहले तीन शेर उर्दू के, फिर एक फ़ारसी का, तत्पश्चात् दोहा—

मुझे ऐ दोस्त तेरा हिज्र अब ऐसा सताता है।
कि दुश्मन भी मेरे अहवाल पर आँसू बहाता है।
ये बेताबी ये बेख़्वाबी ये बेचैनी दिखाता है।
न दिल लगता है घर में और न सहरा मुझको भाता है।

अगर कुछ मुँह से बोलूँ तो मज़ा उल्फ़त का जाता है।
व गर चुपका ही रहता हूँ कलेजा मुँह को आता है।
मरा दरदेस्त अंदर दिल अगर गोयम जबाँ सोज़द।
व गर दम वर कशम तरसम कि मग़ज़े-उस्तख़्वाँ सोज़द।

कूक करूँ तो जग हँसे और चुपके लागे घाव।
ऐसे कठिन सनेह का किस विधि करूँ उपाव।

प्रथम चार शेर 'मफ़ाईलुन मफ़ाईलुन मफ़ाईलुन मफ़ाईलुन' बहर की लय पर आधारित हैं और अंत में २४ मात्राओं (१३ + ११) का दोहा है।

'सौदा' ने एक शेर, फिर एक दोहा—इस क्रम से भी अपने 'दोहरा बंद' मर्सियों की रचना की है—

कहती है बिन्ते पयंबर हाय सरवर हाय हाय।
ऐ नबी के नाज़-परवर हाय सरवर हाय हाय।

देख ख़फ़ा जिसको ज़रा कहते मुझे रसूल।
लाल को मेरे फ़ातिमा क्यों है किया मुलूल ?

सौ जफ़ाकेशों के तीरे-जुल्म से करबल में आज।
वह जबीं लोहू से है तर हाय सरवर हाय हाय।

यहाँ द्रुतगामी बहरों के बीच में दोहा स्थित है। शेर की गति तेज़ है—'फ़ायलातुन फ़ायलातुन फ़ायलातुन फ़ायलात'। मर्सिये में यह गति रुदन-प्रवाह का स्पष्ट आभास देती है—मानो कोई रोता ही चला जा रहा है। इसके बाद दोहे की गति है, जिसमें ठहराव है, मानो रोनेवाले ने धाड़ मारकर साँस खींची हो। और फिर उसके बाद शेर, अर्थात् रुदन-प्रवाह पुनरपि जारी हो गया।

'सौदा' ने इसी गति-विधान का ध्यान एक दूसरे मर्सिये में भी रक्खा है। वहाँ बहर के स्थान पर उन्होंने पहले हिन्दी के रोला छंद को लिया तत्पश्चात् दोहे का विनियोग किया—

रो रो जैनब हाय कहें तुम मर गए भाई।
बदल तुम्हारे आज हमें क्यों मौत न आई।
पूछ नहीं कोऊ बात बिपत के हम हैं मारे।
कहाँ छीन अब जाय कहो दुख में दुखियारे।

बाबा के तुम लाड़ले नाना के तुम चैन।
अम्मा प्यारे कहाँ गए मेरे बीर हुसैन।

रोला भी यद्यपि २४ मात्राओं का है, पर वह क्षिप्रगामी छंद है। रुदन-क्रिया रोला में उपर्युक्त बहर से अधिक त्वरायुक्त है। दोहा यहाँ रुदन में कुछ विराम देने के उद्देश्य से ही है।

हिन्दी-रीतिकविता मे कुंडलिया का प्रयोग बहुत हुआ है। कुंडलिया में दोहा के साथ रोला जोड़ा जाता है। इस प्रकार कुंडलिया में छह चरण होते हैं और प्रारंभ का प्रथम शब्द अन्त में आता है। 'सौदा' ने कुंडलिया के स्वरूप में थोड़ा परिवर्तन करके नया प्रयोग किया—

एक नार अति पातरी कुछ गोरी कुछ स्याम।
बिन पग हाथन सों चली आवत है यह काम।
आवत है यह काम देस देसन को धावे।
जहाँ जाय उत ही रहे जी और बिठावे।

गुपुत भेद परघट करे जाने सब संसार।
बूझो बद या बेद है है पतरी इक नार।

इस कुंडलिया में दोहा, फिर दो चरण रोला के और अंत में फिर दोहा रक्खा गया है। प्रारंभ का प्रथम शब्द अंत में नहीं है, उसकी जगह प्रथम दो शब्द 'एक नार' अंत में आए हैं।

हिन्दी का ताटंक (३० मात्रा) छंद भी रीतिकाल में अत्यन्त लोकप्रिय रहा। इसी छंद में १४, १६, पर यति तथा अंत में यदि मगण आता हो तो उसे 'लावनी' कहते हैं। उर्दू-शाइरों ने लावनी का भी प्रयोग किया। 'मीर' तो इस लावनी के प्रेमी थे ही, 'ज़ौक़' ने भी इसे अपनाया—

हमसे ज़ाहिरो-पिन्हाँ जो उस ग़ारतगर के झगड़े हैं।
दिल से दिल के झगड़े है नज़रों से नज़र के झगड़े हैं।
जीते ही जी क्या मुल्के-फ़ना में साथ बशर के झगड़े है।
मर के इधर से जब कि छुटे तो जाके उधर के झगड़े है।

'नज़ीर' अकबराबादी का प्रसिद्ध 'वंजारानामा' तथा लम्बी नज़्म 'जनम कन्हैयाजी' इसी लावनी छंद मे है।

लावनीबाज़ रीतिकालीन समाज में विशिष्ट स्थान रखते थे। लावनीबाज़ों की तरह ही ख़यालबाज़ों का जमावड़ा भी होता था। ख़याल के लिए बहर 'फ़ऊल फ़ालन् फ़ऊल फ़ालन् फ़ऊल फ़ालन् फ़ऊल फ़ालन्' प्रसिद्ध है। हिन्दी के 'यशोदा' छंद की लय इसी प्रकार की है। हिन्दी-उर्दू की इस उभयनिष्ठ लय-माधुरी के कारण ही अमीर ख़ुसरो की ग़ज़ल में 'ज़ हाले मस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल' के साथ हिन्दी-चरण 'सखी पिया को जो मैं न देखूँ' दूध-पानी की भाँति मिल गया था। रीतिकालीन उर्दू-शाइरों ने इस छंद का यथावत् सम्मान किया—

निगह नहीं हर्फ़े-दिलनशीं था दहन की तंगी से तंग होकर।
निकल के रस्ते से चश्मे-फ़त्ताँ के दिल में बैठा ख़दंग होकर।
फिर आया लो वो निगारे-ख़ूनीं इधर को सरगर्मे-जंग होकर।
कि जिसके हाथों से उड़ गए सर हज़ारों मेंहदी का रंग होकर। —ज़ौक़

हिन्दी का 'झूलना' छंद भी लय-लालित्य (७, ७, ७, ५, ऽ।) में अद्वितीय है। अन्तिम गुरु-लघु-योजना न मानने पर लय और भी प्रवाही हो जाती है। 'वली' ने इस छंद में भी ग़ज़ल लिखी एवं हिन्दी-छंद की सिंहावलोकन शैली का भी गंधवत् प्रयोग किया—

मुझकों है दार उल् अमन पीउ का नक़्शे चरन ।
पीउ का नक़्शे चरन मुझकों है दार उल् अमन ।
पीउ का शीरीं बचन मुझकों है आबे - हयात ।
मुझकों है आबे हयात पीउ का शीरीं बचन ।

उपर्युक्त शेर हिन्दी-छंद की लय पर है । उर्दू बहर 'फ़ायलातुन् फ़ायलातुन् फ़ायलातुन् फ़ायलुन्' की लय इससे भिन्न प्रकार की लहर से चलती है—

क्या गुनह ज़िक्रे परी है गर मेरे दीवान में ।
सूर-ए-जिन क्या नहीं ऐ ज़ाहिदो क़ुरआन में ।
राग से बेहतर नहीं आवाज़ आई कान में ।
साज़ का पर्दा हुआ पर्दा तेरे दालान में । —नासिख़

लावनी या खयाल की तरह क़व्वाली भी महफ़िली चीज़ है । क़व्वाली के लिए निम्नांकित बहर के ढंग की लय बहुत जनप्रिय रहती है—

मफ़ऊल फ़ऊलुन् मफ़ऊलुन् मफ़ऊल फ़ऊलुन् मफ़ऊलुन्

हिन्दी-छंदों में तोटक (स स स स) की लय यही है । परंतु तोटक स्तोत्रादि के लिए उपयुक्त है, शृंगारादि रस के लिए नहीं । क़व्वाली की कथित लहर मुक्तक छंदों में सवैए के बिल्कुल अनुरूप है—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं —रसखान

अतएव अपने लय-प्रवाह तथा गेयता के कारण क़व्वाली से यदि कोई छंद टक्कर ले सकता है तो वह सवैया ही है । सवैये की चाल में एक अजब मस्ती है । यह ध्यातव्य है कि मध्यकाल में सवैया सभाजित छंद है, लय की दृष्टि से भी और लोच की दृष्टि से भी । इन दोनों गुणों के कारण हिन्दी-रीतिकाव्य में भी सवैया छंद की बहुत अधिक धूम रही है ।

चूँकि हिन्दी-कवियों ने उर्दू की मादक बहर 'मफ़ऊल फ़ऊलुन् मफ़ऊलुन् मफ़ऊल फ़ऊलुन् मफ़ऊलुन्' के मुक़ाबले अपने पुराने छंद सवैया को सँभाल लिया था इसलिए उन्हें उर्दू-छंदों का मुखापेक्षी नहीं होना पड़ा । यह तथ्य याद रखने योग्य है कि हिन्दी-रीतिकाव्य उन्नीसवीं शताब्दी के आते-आते फ़ारसी भाषा से तो इतना प्रभावित हो गया कि उसकी भाषा फ़ारसीमय हो गई, लेकिन छंद-क्षेत्र में उस पर फ़ारसी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा । हिन्दी-रीतिकवि फ़ारसीनिष्ठ भाषा में रचना क्यों न करे, लिखेगा कबित्त-सवैया ही । 'पजनेश' (सन् १८४३ में वर्तमान) की भाषा और छंद का नमूना देखिए—

'पजनेस' तसद्दुक़ ता बिसमिल ज़ुल्फ़े फ़ुरक़त न क़बूल कसे ।
महबूब चुनाँ बदमस्त सनम अजदस्त अलाबल ज़ुल्फ़ बसे ।

मजमूए न काफ़ शिगाफ़ रूए सम क़्यामत चश्म से खूं बरसे।
मिज़गाँ सुरमा तहरीर दुताँ नुकते बिन बे किन ते, किन से।

हिन्दी-रीतिकवि फ़ारसी-बहरों की बेधकता के प्रशंसक थे। कवि 'कालिदास' ने तो नायिका की बात को फ़ारसी-शेर से ही उपमित किया है—

सौतिन को तीर बन सहज की बात जाकी
गीरवान बानी है कि पारसी की बैत है।

फिर भी उन्होंने उन बहरों को उधार नहीं लिया, रचना कबित्त-सवैया में ही की।

तुक तथा प्रवाह

विवेच्यकाल की हिन्दी तथा उर्दू-कविता में तुक को बहुत महत्व दिया गया है। हिन्दी-कवि प्रायः समस्यापूर्ति करते थे और उर्दू-शाइर मिसरा-तरह के अनुसार अथवा क़ाफ़िये के अनुकूल शेर बनाते थे। 'नसीर' ने 'ज़ौक़' को 'आतशो-आबो-ख़ाको बाद' तुकांत देकर शेर कहने को कहा था। हिन्दी-कवियों ने भी अनेक समस्याएँ लेकर रचना की है जैसे 'मुरि मुसकान की, कका की सौंह खान की', 'साँवरी साँपिनि सोइ रही', 'अमी निकर्‌यो बहि पूँछ की ओरन', 'आँगन खेलत नन्द को लाला' आदि। इस प्रकार कवि तथा शाइर सपरिश्रम छंद रचते थे। रीतिकाल का काव्य, प्रतिभा के साथ-साथ प्रयत्न एवं अभ्यास का काव्य भी है। ये कवि लोग भाषा एवं छंद दोनों को माँजते थे। जब तक शब्द मोती की तरह चमकें तथा ढलकें नहीं, कविता की तारीफ़ नहीं की जाती थी—

देखो तो किस रवानी से कहते हैं शेर 'मीर'
दुर से हज़ार चंद है उनके सुख़न में आब।

मोतिन कैसी मनोहर माल गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरि नाम की बात अनूठी बनाइ सुनावै।
'ठाकुर' सो कवि भावत मोंहि जो राजसभा मैं बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रबीनन को जोइ चित्त हरै सो कबित्त कहावै।

'मीर' ने छंद-प्रवाह प्रथा शब्द-कान्ति का प्रतिपादन किया है, परन्तु 'ठाकुर' ने मुक्तामाल द्वारा भाषा की चमक और रवानी का कथन करके 'चित्त हरै सो कबित्त कहावै' में छंद की मनोरंजकता अथवा मनोहारिता की ओर संकेत भी कर दिया है। तात्पर्य यह कि रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता के छंदों का प्रवाह तथा भाषा का सौकर्य एवं वैशद्य अद्वितीय है।

अध्याय | ५

अप्रस्तुत-योजना, अलंकार, ध्वनि और बिम्ब-विधान

अप्रस्तुत

काव्य में प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत दो पक्ष होते हैं। जो वर्णनीय है, जो कवि के सम्मुख है वह प्रस्तुत, और प्रस्तुत का ज्ञान कराने के लिए उसकी कल्पना विश्व-भ्रमण कर जो कुछ लाकर रखती है, वह अप्रस्तुत है, अर्थात् काव्य के वर्ण्य-प्रत्यक्ष विषय को छोड़कर अन्य सभी अप्रस्तुत हैं। इस प्रकार कल्पना-निर्मित सम्पूर्ण जगत् अप्रस्तुत द्वारा परियत्त है। अतः अप्रस्तुत ही वास्तव में काव्य-शिल्प की सच्ची कसौटी है। अप्रस्तुतों को मानदंड मानकर मूल्यांकन करने पर समीक्ष्य-कालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य की अपूर्व कल्पना-क्षमता तथा चित्रात्मकता सामने आती है।

मूर्त-अमूर्त अथवा स्थूल-सूक्ष्म दोनों प्रकार के अप्रस्तुतों से रीतिकालीन उर्दू-हिन्दी-कविता समृद्ध है। प्राकृतिक पदार्थों में इन्द्रधनुष, किरण, कमल, अंधकार, प्रकाश, हिम, कुहासा, तारक, समुद्र, संध्या, ऊषा, चन्द्रिका, बिजली, बादल, चक्रवाक, शुक, कोकिल, चातक, मयूर, हंस, झिल्ली, भ्रमर, मृग, गज, दीपक, आकाश, सूर्य, चन्द्र, सोना, चाँदी, हीरा, मोती, नीलम, पन्ना आदि की आवृत्ति हिन्दी-कविता के अन्तर्गत पुनः पुनः हुई है। रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में गुलाब का फूल कमल के स्थान पर मान्य है और पक्षियों में मोर, क़ुमरी, बुलबुल की प्रमुखता है। दीपक (मोमबत्ती) के साथ परवाना (शलभ) का अकाट्य सम्बन्ध है। बादल, बिजली के साथ उर्दू-काव्य में जुगनू के उल्लेख भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। अन्य वस्तुएँ उभयनिष्ठ हैं। मानवीय अप्रस्तुतों में मानव के अंग-प्रत्यंग और मनोभावों को अप्रस्तुत-रूप मिला है।

रीतिकालीन अप्रस्तुत-योजना जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया, शक्ति एवं स्वभाव के आधार पर हुई है। रूप की दृष्टि से आलोच्यकाल के अप्रस्तुतों का विभाजन—लौकिक तथा अलौकिक—दो प्रकार से किया जा सकता है।

लौकिक अप्रस्तुत-योजना

लौकिक अप्रस्तुत-योजना दो तरह की होती है—यथार्थ एवं संभावित। यथार्थ अप्रस्तुत-योजना वह है जो प्रस्तुत का यथार्थ ज्ञान करावे। यथा—

चलै गोल गोली अतोली सनक्कैं।
मनो भौंर भीरैं उड़ाती भन्क्कैं। —पदमाकर

भ्रमर का उड़ना और भनभनाना गोली की सनसनाहट तथा उड़ान का यथार्थ ज्ञान कराता है। उर्दू-काव्य से भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मुंह है छीपों से जैसे रोटी जली —मीर

मुंह के झाँईं पड़े काले गहरे दाग़ों का ज्ञान जली रोटी अप्रस्तुत द्वारा यथार्थता से हो जाता है।

संभावित-योजना लोकसिद्ध वस्तु-व्यापार के आधार पर होती है। जब कवि यथार्थ पर दृष्टि रखकर अलौकिक को उसी की अनुकूलता में बाँधता है तो वह संभावित अप्रस्तुत की अवतारणा करता है—

भोड़र के किनका ये लाल के बदन पर
निरखि जोन्हाई बीच ऐसे लसैं जगि जगि।
मानो फूल्यो बारिज बिलोकि कलानिधि आली
किरणैं चलाईं ते लोनाई रही लगि लगि। —रघुनाथ

कमल फूलना यथार्थ है, कलानिधि की किरणों का चलना भी यथार्थ है; बस कमल पर चलाने से लुनाई का लग जाना संभावित है।

अलौकिक अप्रस्तुत-योजना

हिन्दी-रीतिकविता में अलौकिक अप्रस्तुत-योजना का प्राधान्य है। अलौकिक अप्रस्तुत-योजना के तीन प्रभेद किए जा सकते हैं—(१) लौकिकता-प्रधान अलौकिक योजना, (२) लौकिकता-गौण अलौकिक योजना, एवं (३) नितांत अलौकिक योजना।

लौकिकता-प्रधान में सारे व्यापार लौकिक होते हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध अलौकिक से स्थापित किया जाता है, यथा—

विपरीत रचैं रति राधिका स्याम नचैं रति काम किधौं नट द्वै।
उर प्यारे के प्यारी के ताछिन में छुइ जात उरोज बिना पद द्वै।
छुटि बेनी ते 'बेनी प्रबीन' कहै तिन ऊपर आनि परी लट छ्वै।
जनु चंद दै रेसम फंद भरै जमुना जल कंचन के घट द्वै।

रेशम-फंद देकर कंचन-घट से जमुना-जल भरना लौकिक व्यापार है, परन्तु इनका

सम्बन्ध चन्द्र से है, अतः यह लौकिकता-प्रधान अलौकिक अप्रस्तुत-योजना बन गई है।

यदि लौकिकता गौण रहे और उसका अलौकिक से सम्बन्ध प्रधानता प्राप्त कर ले, तो लौकिकता-गौण अलौकिक अप्रस्तुत-योजना कही जाएगी, जैसे—

बाल ताल तीर मैं तमाल की तराई तरैं
तन तनजेब सों दुरावै गुन गाँसे मैं।
न्हाइ के नवेली कढ़ी नाइ कै नुकीले नैन
चैन की चलन मढ़ी मैन प्रेम फाँसे मैं।
'ग्वाल' कवि ऊँचे वे उरोज की अगारिन पै
लिपटी अलक ताके ललित तमासे मैं।
कंचन के कलस सुधा के भरे जानि ससि
खैंचि रह्यो मानो नील रेसम के फाँसे मैं।

कलश कंचन के हैं, परन्तु सुधा से भरे हैं और शशि नील रेशम के फाँसे से खींच रहा है। सुधा से भरे होना तथा शशि का खींचना अलौकिक है। ये वस्तु-व्यापार प्रधान होने से यह लौकिकता-गौण अलौकिक अप्रस्तुत-योजना है।

नितांत अलौकिक अप्रस्तुत-योजना में सभी वस्तु-व्यापार अलौकिकता की ही अभिव्यक्ति करते हैं। उदाहरणार्थ—

पारावार पीतम कों प्यारी ह्वै मिली है गंग
बरनत कोऊ कवि कोविद निहारि कै।
सो तो मतो 'मतिराम' के न मन मानै निज
मति सौं कहत यह बचन विचारि कै।
जरत बरत बड़वानल सों वारिनिधि
बीचिनि के सोर सौं जनावत पुकारि कै।
ज्यावत विरंचि ताहि प्यावत पियूष निज
कलानिधि मंडल कमंडल तें ढारि कै।

रीतिकालीन उर्दू-कविता में अलौकिक अप्रस्तुत-योजनाएँ हैं अवश्य और सौन्दर्य-वर्णन में शाइरों ने अलौकिक अप्रस्तुत खूब जुटाए हैं, परन्तु हिन्दी-रीतिकाव्य की भाँति अलौकिक अप्रस्तुत-योजना का प्राचुर्य वहाँ नहीं है। उर्दू-शाइरी का क्षेत्र प्रायः लौकिक एवं संभावित योजना तक ही है।

रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कवियों ने प्रकृति और मानव दोनों से अप्रस्तुत चयन करके उनका न्यास भी मनोहर ढंग से किया है, उदाहरणार्थ—

कनक बेलि मैं कोकनद तामैं श्याम सरोज।
तिन मैं मृदु मुसकानि है तामैं मुदित मनोज। —मतिराम

कनक बेलि नायिका, कोकनद मुख तथा श्याम सरोज आँख के लिए आया है। ये समस्त अप्रस्तुत प्रकृति से हैं। मुसकान अप्रस्तुत प्रसन्नता का अर्थ देता है और मनोज मन की उत्तेजक वृत्ति या मोहिनी शक्ति के लिए है। ये दोनों अप्रस्तुत मानवीय जगत् से उपचित हैं।

मानव-जीवन से सम्बद्ध अप्रस्तुतों में कुछ तत्कालीन परिवेश से गृहीत हैं और कुछ सामान्य दैनिक जीवन से। सामान्य दैनिक जीवन से लिए गए अप्रस्तुत समीक्ष्य उर्दू-काव्य में विशेष स्थान रखते हैं। एक, दो या दस-बीस नहीं, इस प्रकार के सैकड़ों अप्रस्तुत उर्दू-शाइरी में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ—

उन दिनों चर्ख़ पर नहीं है मिहर।
गोद में काँकड़ी रखे हैं सिप्हर। —ज़ौक़

आकाश पर सूर्य नहीं है, आसमान गोद में अँगीठी रक्खे हुए है। छाती पर अँगीठी लटकाना कश्मीरी जीवन का सामान्य व्यापार है।

दरख़्तों के साए से मह का ज़ुहूर।
गिरे जैसे चलनी से छन-छन के नूर। —मीर हसन

चलनी से आटा गिरते देखनेवाले के लिए प्रकाश का चलनी से छन-छनकर गिरना अकल्पनीय नहीं है।

समीक्ष्य उर्दू-शाइरी के ये अप्रस्तुत रूप, गुण, द्रव्य, जाति, क्रिया आदि पर प्रकाश डालते हैं। हिन्दी-रीतिकाव्य के अप्रस्तुत भी यही करते हैं, जैसे—

लसैं गोल चौरे मथं सुम्म ऐसे।
घड़े थोपबे के थपा होत जैसे। —पदमाकर

परन्तु रसप्रधान होने के कारण हिन्दी-रीतिकाव्य के अप्रस्तुत आंतरिक भाव को अधिक प्रगाढ़ बनाने का कार्य करते हैं, जैसा कि निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट है—

प्रान पियारो मिल्यो सपने मैं परी जब नैसुक नींद निहोरें।
कंत को आइबो त्यौं ही जगाय सखी कहै बैन पियूष निचोरें।
यौं 'मतिराम' भयो हिय मैं सुख बाल के बालम सों दृग जोरें।
ज्यौं पट मैं अतिही चटकीलो चढै रंग तीसरी बार के बोरें।

कपड़े का रँगना सामान्य दैनिक जीवन से लिया गया व्यापार है, लेकिन इस साधारण अप्रस्तुत ने असाधारण कार्य सम्पन्न किया है। 'पट' अप्रस्तुत, 'हृदय' प्रस्तुत के लिए आया है। छंद का भाव यह है कि सखियों के लाख अनुनय-विनय करने पर नायिका ने सोने का प्रयत्न किया और कुछ ही क्षण सो सकी थी कि स्वप्न में उसने नायक को देखा। तभी सखी ने जगाकर उसे पीयूष वचन सुनाए

कि नायक आया है। फिर उसने नायक को भर आँख देखा। कवि नायिका के तज्जनित सुख का अनुमान कराने के लिए पट और रंग अप्रस्तुत लाया है। 'पट' अप्रस्तुत हृदय प्रस्तुत के लिए और 'रंग' अप्रस्तुत सुख प्रस्तुत के लिए है। कपड़े को पहली बार रँगने से कुछ रंग चढ़ता है, दूसरी बार डुबोने पर रंग कुछ गहरा हो जाता है, लेकिन तीसरी बार के बोरने पर रंग अत्यंत चटकीला हो जाता है। इसी प्रकार जब स्वप्न में दर्शन हुए तो हृदय में सुख की कुछ अनुभूति हुई। जब सखी ने समाचार सुनाया तो सुख सघन हो गया, परन्तु जब दर्शन हुए तो मन उस सुख में डूबकर सुखाकार हो गया, जैसे कपड़ा तीसरी बार तद्वर्णमय हो जाता है।

अलंकार

अप्रस्तुत-योजना का अलंकारों से अपरोक्ष और अत्यंत गहरा सम्बन्ध है। अप्रस्तुत-योजना का लगभग शत-प्रतिशत परिणाम अलंकार होता है और अलंकार-विधान बिना अप्रस्तुत-योजना के असंभव-सा है। रस-निष्पत्ति यद्यपि अलंकाराभाव में भी हो सकती है, फिर भी अलंकार भाव-पोषण में परम योग देते है। सौन्दर्य काव्य की चेतना है और अलंकार उस सौन्दर्यानुभूति को यथावत् चित्रित करने हेतु छटपटाती हुई वाणी का नैसर्गिक प्रयास है। सौन्दर्याभिव्यक्ति दो प्रकार से की जा सकती है : सादृश्य के सहारे या विरोध की सहायता लेकर। यही साधन सादृश्यमूलक और विरोधमूलक अलंकार हैं। अभिव्यक्ति वाणी द्वारा होती है। वाणी के नादात्मक प्रभाव-सम्बर्द्धन-साधन शब्दालंकार कहे जाते हैं और जो अलंकार अर्थ में रमणीयता लाते हैं, वे अर्थालंकार हैं।

हिन्दी-रीतिकाव्य रस, अलंकार एवं ध्वनि आदि सभी काव्यांगों का निरूपण करता है, इसीलिए उसमें सभी के उदाहरण मिल जाते हैं। लेकिन ये कवि विशेष-रूप से अलंकार तथा रस को लेकर ही रचना-प्रवृत्त हुए हैं। चूँकि अलंकार-निरूपण में सभी अलंकारों के उदाहरण दिए गए हैं, इसलिए उनकी उद्धरणी करना अनुपयुक्त होगा। इन सायासरचित अलंकार-विषयक उदाहरणों में उतनी सहजता नहीं है, जितनी रस-निरूपक उदाहरणों में प्राप्त होती है। यद्यपि उर्दू-शाइरी में अलंकारों या रसों को लक्ष्य में रखकर उदाहरण नहीं दिए गए, फिर भी शाइर ने माशूक़ का सौन्दर्य या आशिक़ के मनोभाव अभिव्यक्त करने को जो भंगी-भणित स्वीकार की उसमें अलंकार आ ही गए हैं। हमारा उद्देश्य हिन्दी तथा उर्दू-काव्य में आए सभी अलंकारों का संकलन करना नहीं है। इस अध्याय में उन अलंकारों पर प्रकाश डाला गया है, जो हिन्दी-उर्दू-काव्य में या तो समान स्थान रखते हैं अथवा एक ही तरह के होने पर भी जो इन दो काव्यों में पृथक्-

पृथक्-वैशिष्ट्य-संवलित हो गए हैं या वे अलंकार जो सम्पत्ति तो एक काव्य की हैं, परन्तु उन्होंने दूसरे काव्य पर भी प्रभाव डाला है।

रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य अलंकृत काव्य है। हिन्दी-रीतिच्छन्द-प्रवर्त्तक आचार्य केशवदास (सन् १५५५-१६१७) की मान्यता थी कि कविता चाहे जितनी सुन्दर हो, अलंकारों के बिना उसकी श्रीवृद्धि नहीं होती—

यदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजई कविता वनिता मित्त।

बिल्कुल इसी तरह का भाव 'केशव' से दो शताब्दियों बाद 'आतश' (सन् १७६७-१८४६) ने प्रकारान्तर से व्यक्त किया है। उनकी कल्पना-वधू भी 'केशव' की सुजाति सुलक्षणा (कविता) कामिनी के समान ज़ेवर (अलंकारों) से लदी हुई है—"अरूसे-फ़िक्र इन रोज़ों लदी रहती है ज़ेवर से"।

(क) शब्दालंकार

अनुप्रास

शब्दालंकारों में अनुप्रास का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। वाणी-सौकर्य के कारण यह अलंकार हिन्दी-रीतिकवियों को इतना ज्यादा प्रिय है कि वह तत्कालीन हिन्दी-कविता का लक्षक-सा बन गया है। साधारण से साधारण कवि के छंदों में अनुप्रास के उदाहरण मिल जाएँगे। अनुप्रास-योजना करने में कविवर 'देव' ने अपनी कारीगरी ख़ूब दिखाई है—

चैत को रुचिर चंद चाँदनी-सी चाँदनी में
चाँदी को चँदोबा चामीकर चोब चारि को।
चूना के चबारे लागे चमकत हाटक को
फटिक चबूतरा उठत यंत्र वारि को।
चंदन की चौकी चढ़ि चंदमुखी 'देव' चहूँ
ओर तो चलत चारु चौंर मनुहारि को।
चोरी सी चिराकों चकी चाकरै चकोरै ऐमी
चितवति रूपरानी राधा राज क्वारि को।

उपर्युक्त छंद में 'च' वर्ण की आवृत्ति है, लेकिन यह आवृत्ति प्रयत्नपूर्वक है, यह स्पष्ट है। इस प्रयत्न में कवि ने यह ध्यान रक्खा है कि 'च' से प्रारम्भ होने-वाले शब्द आते जायँ। सब शब्द केवल 'च' वर्ण से ही निर्मित हों यह क़ैद नहीं है। परन्तु रीति-कवियों ने ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं, जिनमें एक अक्षर ने ही छंद पूरा कर दिया है, जैसे—

संसि संसि संसै ससी, साँसैं सी ससि सीस।
सीसा सैं सैं सास सो संसैं से सै सीस। —'भु० भू०'

यहाँ 'स' वर्ण की ही निरन्तर आवृत्ति है। प्रयत्न इसमें भी है और दोहे का अर्थ बहुत कठिनाई से स्पष्ट होता है। इस तरह कवि-लोग जब हाथ धोकर अनुप्रास के पीछे पड़ गए तो हर अक्षर को लेकर उठा-पटक मचाने लगे। 'नाथ' कवि की रचना से एक नमूना प्रस्तुत है—

टर्रटेट टेढ़ापना टुच्चपना टुटकार।
टीपटाप टंटा टुसुर टरकन हूँ फटकार। —लोकनाथ

उपर्युक्त दोहे में 'ट' वर्ण-प्रयोग के सिवा और कोई भाव-व्यंजना नहीं है। इस प्रकार की निरर्थक रचनाएँ आनुप्रासिक दौड़ की बदौलत हिन्दी-रीतिकाव्य में भर गईं, लेकिन यह भी सत्य है कि इस अभ्यास के कारण ही 'पदमाकर' की कविता के मनोहर अनुप्रास भी उपलब्ध हुए—

मल्लिकन मंजुल मलिंद मतवारे मिले
मंद मंद मारुत महूम मनसा की है।
कहै 'पदमाकर' त्यों निनद नदीन नित
नागर नवेलिन की नजर नसा की है।
दौरत दरेरा देत दादुर सु दुंदै दीह
दामिन दमंकति दिसान में दसा की है।
बद्दलन बुंदन बिलोकौ बगुलान बाग
बँगलान बेलिन बहार बरषा की है।

उद्धृत कबित्त में 'पदमाकर' की प्रसन्न अनुप्रास-योजना द्रष्टव्य है। जिस वर्ण से चरण उठा, उसी वर्ण का निर्वाह होता चला गया, लेकिन न कहीं शिथिलता है, न प्रयत्नशीलता का आभास।

उर्दू में अनुप्रास के सायास प्रयोग नहीं हुए। शिल्प की दृष्टि से 'अनीस' के काव्य में यत्र-तत्र प्रास अनुप्रास-योजना ही कुछ-कुछ प्रशंसनीय कही जा सकती है, उदाहरणार्थ—

उलझाते थे कमंद कमीने कमान में।
तरकश में तेग़ें रखते थे तीरों को म्यान में।

प्रस्तुत उद्धरण की प्रथम पंक्ति में 'क', 'म' तथा 'न' की आवृत्ति है और दूसरी में 'त' एवं 'र' की। यह छेकानुप्रास है। उर्दू-शाइरी में इस तरह के अनुप्रास-प्रयोग तो मिल सकते हैं, परन्तु 'पदमाकर' के उदाहरण जैसे नमूने अनुपलब्ध हैं।

यमक

शब्दालंकारों में अनुप्रास की भाँति ही यमक भी हिन्दी-रीतिकविता का एक प्रसिद्ध अलंकार है। यमक को पचासों कवियों ने बाँधा है। अकेले 'देव' के काव्य से बीसियों छंद उद्धृत किए जा सकते हैं। उन्होंने शब्दों की यमकात्मक योजना बुद्धिपूर्वक की है—

चन्द्रमुखी राधा व्रजचन्द मुखचंद्र हेरि
कहै चन्द्रावली सों गुपुतहित बात है।
'देव' जात आवत चरण जल जात से (सु)
भर जल जात लखि लोचन लजात है।

इन प्रयोगों में शब्द-रूप-विकृति या न्यूनाधिक-पदत्व-दोष आ जाना स्वाभाविक है। 'देव' की यमक-योजना में इस तरह के दोष स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं—

जगु री जगावै जगु जगुरी जगै न
उजगै न ज्योति जगै होति ही जो जग जगरी।
द्वार को डगर डगरी परति कापै डग
डग परी (? री) परतु डील डोलै डग डगरी।
'देव' गुण अगरी उसासै भरै अगरी
दबाए दंत अँगुरी अचल अंग अँगरी।
लंक लगबगरी कलंक लगबगरी
सुखीन संग बगरी सखीन संग सँगरी।

उर्दू में यमक के प्रयोग हुए अवश्य, किन्तु वहाँ हिन्दी-रचनाओं में प्रदर्शित कला के दर्शन नहीं होते। अधिकतर शाइरों ने एक शब्द को दो बार रखकर काम चला लिया है, उदाहरणार्थ—

दे सीन की सूरत दिखा तू हँस के दाँत अपने ज़रा
यासीन क्या पढ़वा रहा क़ातिल मेरे बालीं प है। —ज़ौक़

हिन्दी-यमक-योजना की तरह के प्रयोग उर्दू-शाइरी में 'अनीस' ने किए हैं। 'अनीस' की निम्नांकित षट्पदी में 'दार' शब्द पर आधारित यमक-विधान द्रष्टव्य है—

दौलते-हाकिमे-दूँ पर है तेरा दारो-मदार।
दारे-दुनिया से तअल्लुक़ नहीं रखते दींदार।
क्या मुझे दार प खींचेगा वो ज़ालिम ग़द्दार।
ख़्वाबे-ग़फ़लत है उसे और मेरे ताले-बेदार।

किसी सरदार ने ये औज न पाया होगा।
दारे-तूबा का मेरे फ़र्क़ प साया होगा।

यमक-योजना शब्द-चमत्कार के अन्तर्गत आती है, अतएव कभी-कभी नितांत आत्तसार भी हुआ करती है। ऐसा तभी होता है जब कवि भाव पर ध्यान न देकर पहले शब्द को पकड़ता है और उस शब्द के अर्थ के अनुरूप वस्तु-वर्णन कर देता है। ऐसे वर्णन के दो भेद किए जा सकते हैं—(१) सूक्ति-कथन (२) बिम्ब-गर्भ चित्रण।

जहाँ कवि का उद्देश्य उक्ति-कथन मात्र होता है, वहाँ इस प्रकार की यमक-योजना अच्छी तरह निभ जाती है, यथा—

कनकु कनक तैं सौ गुनौं मादकता अधिकाइ।
उहिं खाएँ बौराइ इहिं पाएँ ही बौराइ। —बिहारी

इस दोहे में हमारा ध्यान 'कनक' शब्द के दो अर्थों पर है। कनक कनक में यद्यपि धर्मगत साम्य नहीं है, फिर भी मादकता के दो अर्थो के कारण साम्याभास तो है ही। हिन्दी-रीतिकविता में सूक्ति-कथनान्तर्गत यमक-योजना के ऐसे प्रयोग बहुत सफल हुए हैं।

आलोच्यकालीन उर्दू-शाइरी की यमक-योजना प्रायः दूसरे ढंग की है। इसमें धर्मगत साम्याभास पर भी ध्यान नहीं रहता। शब्द को दो बार लाना ही शाइर का मन्तव्य मालूम पड़ता है। उदाहरणार्थ—

फ़िराक़े-यार मे आई अजल अब्रे-बहारी से।
हर इक बूँदी नहीं कम मुझको बूँदी की कटारी से। —नासिख़

इस शेर में बिम्बगर्भ चित्रण द्वारा चमत्कार उत्पन्न करना कवि का प्रधान उद्देश्य है। प्रिय-वियोग में मृत्यु का बादलों से आने का चित्र प्रस्तुत करता हुआ शाइर कहता है कि मुझे पानी की प्रत्येक बुँदिया बूँदी की कटारी से कम नहीं है। परन्तु बिन्दु को बूँदी शहर सिद्ध करने में धर्मगत साम्य का अभाव है। फिर बूँदी को बूँदी न कहकर बूँदी की कटारी कहने से ध्यान वास्तविक यमक 'बूँदी बूँद' से हटकर 'बूँदी की कटारी' पर चला जाता है। यदि शाइर का प्रयोजन उक्ति मात्र होता तब तो कोई बात नहीं थी, किन्तु बिम्बगर्भता के कारण बूँदी तथा कटारी के जो मानस-चित्र उभरते हैं, उनके रूप-गुण आदि में खोजने पर भी कोई साम्य नहीं मिलता। 'कनक कनक' में मादकता-धर्म विवक्षित है और उसके दो अर्थ (अहंकार तथा उन्माद) प्रथम तथा दूसरे 'कनक' के साथ संगत बैठ जाते हैं, लेकिन उपर्युक्त शेर में धर्म अनुमेय तथा अश्लिष्ट होने से यमक को वैसा लाभ नहीं मिल पाता। फलस्वरूप प्रस्तुत यमक पंगु हो गया है।

दृश्य यमक

उर्दू में लिपि-वैशिष्ट्य के कारण वर्तनी एक-सी रहने पर भी उच्चारण भिन्न हो जाता है। अतएव वर्तनी-साम्य से भी यमक प्रतीत होता है, जैसे—

गुनहगार अब जो मेरा बाल-बाल आया नज़र 'नासिख'
वो अपनी काकुले-मुश्कीं से मुश्कें मेरी कसता है।

'मुश्कीं' तथा 'मुश्कें' की वर्तनी उर्दू में एक ही होगी। अतः ऐसे यमक को हम 'दृश्य यमक' कह सकते हैं। उर्दू में इस प्रकार के यमक-विधान की सहज सुविधा प्राप्त है। हिन्दी में वर्तनी की ऐसी व्यवस्था केवल 'ष' के साथ संभव है। अन्य वर्गों की ध्वनियाँ निश्चित हैं, अतः दृश्य यमक-विधान का क्षेत्र हिन्दी-काव्य में अत्यन्त तंग है। इसलिए उर्दू-काव्य की दृश्य यमक-योजनाएँ हिन्दी-कविता में नहीं मिलतीं। हाँ काकतालीय प्रयोग अवश्य प्राप्त हैं। कविवर 'भूषण' ने अपने एक छंद मे हिन्दी-उर्दू-वर्तनियों के उपर्युक्त वैशिष्ट्य से उद्भूत यमक-योजना अत्यन्त चारुता से की है—

ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी
    ऊँचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंदमूल भोग करैं कंदमूल भोग करैं
    तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं।
भूषन सिथिल अंग भूषन सिथिल अंग
    विजन डुलाती ते वै विजन डुलाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास
    नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं।

उर्दू में मंदिर, मंदर तथा मंदुर की वर्तनी एक ही होगी, परन्तु उच्चारण भिन्न-भिन्न होंगे। उस लिपि के अनुसार यहाँ यमक है, परन्तु हिन्दी में 'मंदर' का अर्थ मंदराचल, मंद चलनेवाला अथवा स्थूल होता है। मंदिर या मंदुरा अर्थ निकालने के लिए मंदर में उर्दू-वर्तनी का आरोप करना पड़ेगा। इसलिए कबित्त के प्रथम चरण का यमक उर्दू-वर्तन्याधारित है। 'भूषन' तथा 'भूखन' में हिन्दी-लिपि-विशेषता के कारण यमक है। दोनों ही उदाहरण दृश्य यमक के हैं। इस प्रकार हिन्दी-रीतिकविता में कहीं-कहीं दृश्य यमक के नमूने भी मिल जाते हैं। लेकिन तथ्य यह है कि इस प्रकार की दृश्य यमक-योजना उर्दू-कविता की ही विशेषता है।

शब्द-संगति

रीतिकालीन उर्दू-शाइरी की अलंकार-योजना में 'रिआयत' का स्थान सर्वोच्च है। इसे शब्द-संगति कह सकते हैं। हिन्दी-अलंकार-ग्रन्थ इस प्रकार की शब्द-योजना का उल्लेख नहीं करते। कहा जा सकता है कि अलंकार शास्त्र 'समासोक्ति' एवं 'मुद्रा' नामक अलंकारों का वर्णन करता है। समासोक्ति में विशेषणों का ऐसा प्रयोग किया जाता है कि प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत का बोध भी हो जाय। 'मुद्रा' में प्रस्तुत अर्थ के पद सूचनीय का सूचन कर देते हैं। कहने का आशय यह कि इन अलंकारों मे प्रस्तुत-वर्णन से अप्रस्तुत की झलक मिलती है।

उर्दू-काव्य की शब्द-संगति इन दोनों अलंकारों से भिन्न है। इसमें एक शब्द दूसरे शब्द की संगति में आता है, लेकिन अप्रस्तुत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। आलोच्य उर्दू-शाइरी में शब्द-संगति को काव्य-कला का विशिष्ट प्रमाण माना जाने लगा था। लखनऊ काव्य-परम्परा के शाइर तो इस चमत्कार के पीछे इतने दीवाने थे कि वे शब्द-संगति सिर्फ़ शब्द-संगति के लिए ही करते थे, उदाहरणार्थ—

चप्पी शबे-विसाल सहर तक किया किए
पाए-हबीब के रहे खिदमत गुज़ार हाथ। —आतश

'पा' (पाँव) की संगति में जानबूझकर 'हाथ' लाया गया है। साधारण वस्तु-वर्णन में शाइर ने केवल शब्द-संगति के लिए हाथ-पाँव पटके हैं। शेर में न कोई भाव है न गहराई। इसे हम निर्जीव शब्द-संगति कहेंगे।

शब्द-संगति यों तो अनेक प्रकार की संभव है, परन्तु प्रधान रूप से उसके दो भेद किए जा सकते हैं—(१) रूढ्याधारित शब्द-संगति, (२) प्रयत्नाधारित शब्द-संगति।

रूढ्याधारित शब्द-संगति रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में बहुत मिलती है। उर्दू-काव्य की रूढ़ियों को यद्यपि हिन्दी-रीतिकविता में ग्रहण नहीं किया गया, फिर भी शब्द-संगति में कभी-कभी कोई रूढ़ि झलक जाती है। इस प्रसंग में 'घनानंद' की निम्नांकित पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं—

आना कानी-आरसी निहारिबो करौगे कौ लौं
कहा मो चकित दसा-त्यों न दीठि डोलि है?

उपर्युद्धृत पंक्तियों का सीधा-सा अर्थ यह है कि "तुम आना-कानी का दर्पण कब तक देखते रहोगे? क्या मेरी चकित दशा की ओर दृष्टि घूमेगी ही नहीं"[१]? लेकिन इस अर्थ में कोई विशेषता नहीं है। उक्ति-सौन्दर्य का उद्घाटन तब होगा

जब पाठक उर्दू-काव्य की रूढ़ि से परिचित हो। उर्दू-शाइरी में आईना को हैरान कहा जाता है—

ताबे नज़्ज़ारा नहीं आइना क्या देखने दूँ।
और बन जाएँगे तस्वीर जो हैराँ होंगे। —मोमिन

'घनानंद' द्वारा प्रयुक्त 'चकित' शब्द इसी हैरान का समानार्थी है। अब अर्थ यह हुआ कि आनाकानी से दर्पण को कब तक देखते रहोगे? अरे भई, यदि तुम्हें यही शौक़ है कि जो हैरान है उसे देखा करो तो मैं भी चकित (हैरान) हूँ, कृपा करके बताइए मुझ हैरान की ओर दृष्टि कब घुमाइएगा?

रूढ्याधारित शब्द-संगति कल्पित अथवा आरोपित संगति है। प्रयत्नाधारित शब्द-संगति में कवि कभी सूक्ति, कभी मुहावरा, कभी किसी विचार या भाव को लक्ष्य बनाकर अनुसंधान-प्रवृत्त होता है।

सूक्ति किसी-न-किसी विचार या भाव के आश्रित ही होती है, अतः उसे भी विचाराश्रित शब्द-संगति कह सकते हैं, परन्तु सूक्ति-कथन मे कवि का लक्ष्य उक्ति-वैशिष्ट्य होता है। इसलिए हम उसका विवेचन पृथक् करना उचित समझते हैं। सूक्त्याश्रित शब्द-संगति 'बिहारी' के निम्नोद्धृत दोहे में देखी जा सकती है—

मूड़ चढ़ाए हूँ रहै पर्‌यौ पीठि कच-भारु।
रहै गरैं परि राखिबौ तऊ हियैं पर हारु।

प्रस्तुत दोहे में 'मूँड़', 'पीठि', 'गरैं', तथा 'हिय' शब्द यद्यपि प्रयत्न करके साथ-साथ रक्खे गए हैं, परन्तु यह प्रयत्न एकदम नज़र नहीं आता, क्योंकि वाक्य-विधान के अन्तर्गत ये सारे शब्द अनिवार्य हैं। 'ज़ौक़' का निम्नलिखित शेर भी ऐसा ही है—

सर हमने जब से पाए-सनम पर है रख दिया
दोनों जहाँ से दस्ते-तमन्ना उठा लिया।

सूक्त्याश्रित शब्द-संगति 'बिहारी' के दोहे में है। 'ज़ौक़' के शेर में मुहावरों का ऐसा प्रयोग है कि शब्द-संगति-योजना हो गई है। 'बिहारी' के दोहे में भी मूँड़ चढ़ना, गले पड़े रहना, हृदय पर रखना तथा पीठि पर पड़ा रहना मुहावरे हैं।

सूक्त्याश्रित सफल शब्द-संगति प्रायः मुहावरे के रूप में ही उपलब्ध होगी, क्योंकि मुहावरे में आए संगत शब्द भाषा की स्वाभाविक माँग प्रतीत होते हैं। रीतिकालीन उर्दू-हिन्दी-काव्य में मुहावरों के प्रयोग का एक कारण यह शब्द-संगति भी है।

शब्द-संगति के प्रयत्न आलोच्यकालीन उर्दू-शाइरी में इतने अधिक किये गये

कि काव्य-पाटव का अर्थ शब्द-संगति के अतिरिक्त और कुछ रह ही नहीं गया। यह शब्द-संगति ऐसे-ऐसे शब्द-चक्र तैयार करती है कि पाठक भावानुसंधान में दिग्भ्रमित हो जाता है। उदाहरणार्थ—

उन्हीं से जौहरी फ़रयाद करने उनकी आते हैं
पिसे जाते हैं मोती पीसते हैं जब वो दन्दाँ को। —आतश

इस शेर मे शाइर का लक्ष्य सिर्फ़ 'दाँत पीसना' मुहावरे को छंदबद्ध करना था। लेकिन चूंकि दाँत को मोती से उपमित किया जाता है, इसलिये वह मोती की ओर मुड़ा। फिर क्या था मोती पिसने लगे। मोती ने जौहरी को पकड़ा और जौहरी अपने मोतियों के बरबाद होने की शिकायत करने आये। वस्तुतस्तु सिवाय लफ्फ़ाज़ी के इस शेर में और कुछ नहीं है। शब्द-संगति की यह भाग-दौड़ हिन्दी-रीतिकविता में भी उपलब्ध है—

जब तें मोहिं सुनाइ तू कही कान्ह की बात।
तब तें दृग स्रग लौं चले कानन ही को जात। —रसलीन

इस दोहे में 'स्रग' और 'कानन' शब्द क्यों आए? 'कान्ह की बात सुनाई गई' बस इतना-सा कथन है, मगर उसने आगे का ताना-बाना फैला दिया। 'कान्ह' शब्द के ध्वनि-साम्य से 'कान' शब्द की ओर ध्यान गया। जब 'कान' आ गया तो उसकी संगति में 'आँख' आना भी ठीक ही है। अब कवि ने आँख और कान का सम्बन्ध खोजा। सौन्दर्य-वर्णन में यह माना जाता है कि दृग कान तक बढ़ जाते हैं। यानी दृगों को कानों तक भेजना है। ब्रजभाषा में कानों के लिए 'कानन' (बहु वचन) शब्द आता है। 'कानन' का एक अर्थ है वन या जंगल। तो इस तरह दृग जंगल तक पहुँचने को तैयार हो गये। लेकिन वे जंगल तक जायँ तो कैसे जायँ? इसके लिए उन्हें जंगल से सम्बन्धित कोई चीज़ बनना चाहिये। वह चीज़ है फूल। परन्तु फूल शब्द को पदमैत्री के अनुकूल हो आना चाहिए इसलिए 'दृग' की पदमैत्री में 'स्रग' शब्द रखा गया। स्रग फूलों से बनती है और फूलों का सम्बन्ध 'कानन' (जंगल) से होता ही है, अतः दृग कानन को चले जाते हैं। इस प्रकार शब्द-चक्र पूरा हुआ। उपर्युद्धृत 'आतश' तथा 'रसलीन' के शब्द-चक्रों की तुलना करने से ज्ञात होता है कि 'रसलीन' की शब्द-संगति में पेचीदगी बहुत अधिक है। इस चक्रानुचक्रबद्ध शब्द-संगति को खोलने के लिए पर्याप्त बुद्धि तथा श्रम की आवश्यकता है।

परन्तु विचाराश्रित शब्द-संगति में किसी शब्द विशेष की स्थिति का निर्देश बड़ी आसानी से किया जा सकता है। एक शब्द मूल होता है दूसरा आकृष्ट। लेकिन कवि का काव्य-शिल्प-नैपुण्य उस जगह दृष्टिगोचर होगा, जहाँ मूल तथा

आकृष्ट शब्दों का निर्देश असंभव हो जाय। उर्दू के महाकवि 'ग़ालिब' की शब्द-संगति-योजना में यह गुण विशेष रूप से मिलता है।

शब्द-संगति के मुख्यतः तीन रूप हो सकते हैं—समान शब्दों की संगति, सम्बद्ध शब्दों की संगति और विरोधी शब्द-संगति। 'ग़ालिब' को विरोधी शब्द-संगति बहुत प्रिय है। परन्तु वहाँ भी चमत्कार भावाश्रित या विचाराश्रित ही रहता है, जैसे—

शरहे-असबाबे-गिरफ़्तारी-ए-ख़ातिर मत पूछ
इस क़दर तंग हुआ दिल कि मैं ज़िन्दाँ समझा।

'शरह' व 'तंग' में विरोधी शब्द-संगति और 'गिरफ़्तारी'-'ज़िन्दाँ', 'ख़ातिर'-'दिल' में समान शब्दों की संगति है। शेर शब्द-संगति-कौशल से ही पूर्ण किया गया है, फिर भी शाब्दिक चमत्कार के अन्तराल में भाव बैठा हुआ है। शाइर ने दिल की मौन व्यथा अभिव्यक्त की है।

शब्द-संगति वहीं प्रशंस्य है जहाँ वह अर्थ-संगति से समन्वित हो। अर्थ-संगति के अभाव में वह प्रलाप मात्र प्रतीत होती है। यथा—

ख़्वाब मे सारे मज़े वस्ल के हम लूटते है
बंद आँखें हैं मगर बंद कोई काम नहीं। —नासिख़

शेर के पहले मिसरे में जो बात है, उसे दूसरे मिसरे में व्याख्यायित करना चाहिये था। शाइर ने उसे न करके कथ्य अधूरा छोड़ दिया। उसे 'ख़्वाब' के सम्बन्ध से 'बंद आँखों' की तलाश हुई और आँख, मुँह की संगति बिठाने को 'काम' शब्द का प्रयोग किया गया। 'नासिख़' साहब के इस शेर में निर्जीव शब्द-संगति के अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है। सजीव शब्द-संगति वस्तुतः अर्थ-संगति के बिना सम्भव नहीं हो सकती।

प्रयत्नाधारित भाषा-चमत्कार-परक बंदिशें विवेच्य उर्दू-कविता ने बहुत की है, हिन्दी-रीतिकाव्य में भी 'रसलीन' आदि कवियों ने शब्द-संगति का भद्दा अनुकरण किया है। उर्दू-शब्द-संगति के पूर्वोद्धृत शेरों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उस शब्द-संगति-योजना में मूल तथा आकृष्ट शब्द के अनुक्रम का पता चाहे न चले, किन्तु उन दोनों का निर्देश तो किया ही जा सकता है। प्रयत्न का लक्षित हो जाना एक दोष है। दोष आ जाने का कारण यह है कि कवि के लक्ष्य में शब्द-संगति ही रहती है।

रसप्राण होने से हिन्दी-रीतिकविता इस दोष से अभिभूत नहीं हो सकी। हिन्दी-रीतिकविता के रसवादी कवियों का लक्ष्य भाव होता था, इसलिए उनकी रचना में वह भाव ही ध्यान आकृष्ट करता है, शब्द-संगति नहीं। हिन्दी

काव्य में प्रायः यह संगति अवचेतन मन की क्रिया के परिणामस्वरूप आई है, उदाहरणार्थ—

गुंजरन लागे भौंर ठौर ठौर कुंजन में
लाग्यो बेलि पुंजन दवा सो काम जुर को।
बोलन लगे हैं पिक चातक चकोर मोर
बँधि गयो सरस सनाको एक सुर को।
काम बन बानिक बिलोकि इहि भाँति दीह
दुरि-दुरि जात दुख कौन के न उर को।
बंद भयो चाहत सुरेश को समाज आज
मंद भयो चाहत अनंद सुर पुर को। —'षट्० का०'

इस कबित्त में यद्यपि शब्द-संगति का पता नहीं चलता, परन्तु 'सुरेश को समाज' और 'अनन्द सुरपुर को' यों ही नहीं आ गए हैं। वे अपने से पूर्व आए शब्दों का ध्वनन-सूत्र पकड़कर उपस्थित हुए हैं। 'सनाको एक सुर को' में अंतिम दो शब्दों के भीतर अंतिम पंक्ति की दीपिका छिपी है। 'सनाको बँधि गयो' मुहावरा है। कनौजी एवं ब्रज में इसका अर्थ होता है अविच्छिन्न रूप से आंतकमय समाँ बँध जाना। यहाँ कवि इन शब्दों का प्रयोग तो इसी अर्थ में कर रहा है, लेकिन उसकी कर्ण-शष्कुली में 'सनाको' तथा 'सुर' शब्दों की अनुगूँज भिन्न अर्थों के साथ भी अपना सम्बन्ध स्थापित करती है। अतः 'सनाक' (स + नाक = स्वर्ग सहित अथवा सुन्दर स्वर्ग) से 'सुरपुर', और 'सुर' के कारण 'सुरेश' बिना निमंत्रण आ विराजते हैं। किन्तु यह शब्द-संगति लक्षित नहीं होती। इसका कारण यह है कि यहाँ कवि का लक्ष्य शब्द-संगति नहीं है। उसका लक्ष्य है रस, और यह शब्द-संगति उस रस-प्रवाह का कलकल निनाद है। इस तरह की अलक्षित शब्द-संगति कथन-प्रभाव को बढ़ाती है।

हिन्दी-रीतिकवियों ने शब्द-संगति-विनियोग में भाव या रस दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया, परन्तु उर्दू-शाइरों द्वारा इस दिशा में वैसा श्लाघ्य प्रयास नहीं हुआ। उन्होंने शब्द-संगति को प्रधानता देकर इस अलंकार द्वारा अपनी शाइरी को आभूषित किया है, रस या भाव-सम्बद्धता को अपना लक्ष्य बनाकर अवचेत-नोद्भूत शब्द-संगति-योजना नहीं की है।

पुनरुक्तवदाभास

प्रारम्भिक उर्दू-शाइरों में एक प्रवृत्ति प्रायः दिखाई पड़ती है कि वे एक शब्द उर्दू का रखते हैं फिर उसकी उच्चारण-ध्वनि का हिन्दी-अर्थ देखकर उसका

पर्यायवाची एक हिन्दी-शब्द खोजते हैं। कभी-कभी तो यह शैली पुनरुक्तवदाभास-सी प्रतीत होती है, जैसे—

जिस बाज मेरे सीने प हर आन है इक साल
उस माह बिना तन प मेरे मास न आया। —वली

ऊपर के उद्धरण में 'माह' उर्दू का है और 'मास' हिन्दी का। मांस को बोलचाल में मास भी कह देते हैं, अतः शाइर ने 'मास' शब्द चुना। माह और मास पर्यायवाची हैं, परन्तु प्रकरण में दोनों का अर्थ भिन्न-भिन्न (चन्द्रमा तथा मांस) है।

पुनरुक्तवदाभास "भिन्न-भिन्न आकार वाले शब्दों का वस्तुतः एक अर्थ न होने पर भी एक अर्थ-सा प्रतीत होने को कहते हैं"[२]। अतएव उपर्युक्त शेर में पुनरुक्तवदाभास अलंकार कहा जा सकता है, क्योंकि 'माह' तथा 'मास' शब्द भिन्न-भिन्न रूप वाले हैं। इनके स्थान पर चाँद एवं गोश्त पर्यायवाची रख दें, तो पुनरुक्ति नहीं मालूम होगी। इसलिए यह शब्दगत अभंग पुनरुक्तवदाभास है। हिन्दी-रीतिकवि भी इस योजना से परिचित हैं—

वृन्दावन कुंजन में वंशीवट छाँह असि
कौतुक अनोखो एक आज लखि आई मैं।
लागो हुतो हाट एक मदन धनी को तहाँ
गोपिन को वृन्द रहो घूमि चहुँधाई मैं।
'द्विजदेव' सौदा की न रीति कछु भाषी जाय
ह्वै रही जु नैन उनमद की देखाई मैं।
लै लै कछु रूप मनमोहन सों वीर वै
अहीरनै गँवारी देहि हीरन बटाई मैं।

यहाँ 'सौदा' तथा 'उन्मद' में पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। सौदा का पर्याय रख देने से पुनरुक्ति नहीं रहती, परन्तु उन्मद के स्थान पर पर्याय आ जाने पर भी पुनरुक्ति रहती है। इसलिए इसे शब्दार्थ उभयगत पुनरुक्तवदाभास कहेंगे।

उर्दू-हिन्दी शब्द-न्यास द्वारा पुनरुक्तवदाभास-योजना रीतिकालीन कविता में प्रायः मिल जाती है और उसका साध्य चमत्कारोत्पादन मात्र होता है। इस चमत्कार का मूल शब्द-भ्रम नहीं, शब्द-भ्रमाभास है। शब्द-भ्रमाभास ही अलंकार है। यदि शब्द-भ्रम वास्तविक हो गया, तो वहाँ चमत्कार नहीं रहेगा।

रीतिकालीन कविता में इस शब्द-भ्रमाभास पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। हिन्दी-रीतिकाव्य का रसयिता यदि इस शब्द-भ्रमाभास को नजर अंदाज़ कर गया तो काव्य-माधुर्य समग्रता से आस्वाद्य नहीं हो सकेगा। इस बात को

स्पष्ट करने के लिए 'घनानंद' की रचना से उद्धृत अधोलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

मिलत न क्यों हूँ भरे रावरे अमिलताई
हियै मैं किये बिसाल जे बिछोह छत हैं।

प्रस्तुत उदाहरण में 'मिलत न' और 'अमिलताई' में पुनरुक्ति मालूम होती है, परन्तु यदि वास्तविक पुनरुक्ति मान ली जाएगी तो चमत्कार समाप्त हो जाएगा। यहाँ 'मिलत न' तथा 'अमिलताई' शब्द एक भाषा के नहीं, दो भाषाओं के हैं। अतः दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न होंगे। सन्दर्भ देखने से ज्ञात होता है कि बिछोह ने ये घाव बनाए हैं। बिछोह ने किसके हुक्म से ऐसा किया? तुम्हारे (प्रिय के) हुक्म से। यहाँ 'अमिलताई' वस्तुतः 'आमिल' शब्द से व्युत्पन्न संज्ञा है। अतएव अन्वय होगा 'रावरी आमिलताई-भरे (या आमिलताई हिये में भरे) बिछोह ने जो क्षत किये हैं वे मिलत न'। यानी तुम्हारे हुक्म की तामील करने के भाव से बिछोह भरा हुआ है। और तुम्हारा हुक्म है कि न मिलने दो, इसलिए उसने जो घाव बनाए वे भी मिलते नहीं हैं। यहाँ 'अमिलता' का अर्थ 'अनमेल' करने से पुनरुक्ति होगी और उक्ति में कोई सौन्दर्य न रहेगा।

यह तो शब्द-भ्रमाभास की ओर संकेत किया गया। अब उपर्युल्लिखित पंक्तियों में शब्द-संगति का अनुसंधान भी कीजिए। प्रथम चरण में 'मिलत' शब्द की संगति द्वितीय चरण के 'विसाल' शब्द में है। 'विसाल' फ़ारसी शब्द है जिसका अर्थ होता है 'मिलन'। इसी प्रकार 'अमिलताई' (न मिलना) की संगति 'बिछोह' में है। इस विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है कि 'घनानंद' काव्य-शिल्प की दृष्टि से पूर्ण रीतिबद्ध कवि हैं।

कभी-कभी शब्द-संगति के भीतर पुनरुक्तवदाभासाधारित चमत्कार आदि ऐसे छिपे रहते हैं कि पता नहीं चलता और उन चमत्कारों को समझने पर ही शब्द-संगति का ज्ञान होता है। ऐसे गूढ़ स्थलों पर पाठक को सचेत रहना पड़ता है, क्योंकि शब्द-संगति तथा पुनरुक्तवदाभास-अनुसंधानार्थ ऊपर-ऊपर देखना तुषावघात मात्र होता है। 'घनानंद' के निम्नोद्धृत कवित्त में शब्द-संगति की दुरूहता ध्यान देने योग्य है—

पाती मधि छाती छत लिखि न लिखाए जाहिं
काती लै बिरह घाती कीने कैसे हाल हैं।
आँगुरी बहकि तहीं पाँगुरी किलकि होति
ताती राती दसनि के जाल ज्वाल माल हैं।

इन पंक्तियों में 'आँगुरी बहकि तहीं पाँगुरी किलकि होति' का सतही अर्थ यह

होगा कि "अँगुली वहीं बहककर (अर्थात् लिखना छोड़कर इधर-उधर भटक जाती है) चिल्लाने लगती है और लँगड़ी हो जाती है"[३]।

परन्तु इस अर्थ में कई दोष हैं। 'किलक' का हिन्दी में अर्थ होता है किलकना प्रसन्न होना। किलकारी भरना हर्षोल्लास का परिणाम है। इसलिए 'किलकि' का अर्थ 'चिल्लाकर' करना ग़लत होगा। दूसरी आपत्ति यह है कि 'चिल्लाकर लँगड़ा होना' कोई मुहावरा नहीं है। तब 'पाँगुरी किलकि होति' का क्या अर्थ ? आइये हम इसकी कुंजी बताएँ। 'नासिख़' की एक पंक्ति देखिए—

सरीरे-किल्क को अब शेर का नारा समझते हैं

'किलकि' (किल्क) अर्थात् लेखनी। 'घनानंद' के पूर्वोद्धृत उदाहरण में 'पाती' तथा 'किलकि' की शब्द-संगति है। यह शब्द-संगति समझकर ही भाव-संगति जुड़ सकेगी। अब अर्थ इस प्रकार होगा कि जैसे ही उँगली बहकी, लेखनी पंगु हो जाती है। फ़ाउन्टेनपेन के चलन से पहले नरकुल या बेदमुश्क की क़लम से लिखा जाता था। हमने बचपन में ऐसी ही क़लम से लिखा है। क़त रखकर बीच में थोड़ा फाड़ देते थे, जिससे उसमें स्याही ख़ूब भर जाती थी। वह क़लम जब काग़ज़ पर चलती तो 'चर-चर' की आवाज़ करती थी। 'नासिख़' के मिसरे का 'सरीर' और 'घनानंद' का 'किलकि' शब्द इसी ध्वनि को ओर इशारा करते हैं। 'घनानंद' का कौशल इस बात में है कि शब्द-संगति के भीतर ध्वन्यर्थ-व्यंजना-विधान करके उन्होंने काव्य-सौंदर्य को बहुत निखार दिया है।

(ख) अर्थालंकार

उपमा

अर्थालंकार-वर्ग-गत सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा सभी की मुकुटमणि है। उपमा वस्तुतः सभी अलंकारों की परिजा है। कुछ अलंकार उसके अपत्यरूप हैं, कुछ उसके निकट संबंधी हैं। शेष जैसे अनन्वय, प्रतीप, स्मरण, व्यतिरेक, निदर्शना, उत्प्रेक्षा, संदेह, अतिशयोक्ति आदि स्पष्टतः और विरोधाभास, विषम आदि परोक्षतः उपमा के ही उलट-फेर हैं। यही कारण है कि प्रत्येक युग में इस अलंकार को प्रथम स्थान मिला है। काव्य तो पद-पद पर इसकी सहायता लेता है।

आलोच्यकाल के काव्य में रूप, गुण, क्रिया को अधिक तीव्र करने के उद्देश्य से कवियों ने उपमा के प्रचुर प्रयोग किये हैं, इसलिए उसके अंगों या उद्देश्य को दृष्टि में रखकर सैकड़ों उदाहरण आसानी से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। रूप, गुण क्रिया—तीनों की व्यंजना 'बेनी प्रवीन' के निम्नांकित उद्धरण में द्रष्टव्य है—

नैननि निहारि जानी रंभा रति मन जानी
उर जानी आई अति आनँद की जफरी ।
माँगत बिरी के मुसिक्यात भजिबे की घात
दबत सकात चली प्रीतम तरफ री ।
धाइ धरि लीन्हीं लाइ उर मैं 'प्रबीन बेनी'
कहाँ लौं गिनाऊँ अब कौतुक के दफरी ।
नाही करे पिक जानी बाहीं धरे बीजुरी सी
अंक भरे जानी परजंक माहि सफरी ।

यहाँ नकारात्मक वाणी से पिक (गुण), बिजली से चकाचौंध करने वाला वर्ण (रूप) और शफरी से उसका फड़फड़ाना (क्रिया) व्यंजित है ।

इस प्रकार उपमान-नियोजन-प्रावण्य के अतिरिक्त समीक्ष्यकालीन काव्य की सर्वाधिक महत्ता उपमाओं की नूतनता में निहित है । उपमा में उपमेय-उपमान की सजातीयता और विजातीयता देखकर उसे चार प्रकार का उल्लिखित करते हैं । कभी स्थूल उपमेय के लिए स्थूल उपमान आता है, तो कभी सूक्ष्म और कभी सूक्ष्म उपमेय के लिए सूक्ष्म उपमान आता है, कभी स्थूल । रीतिकालीन उर्दू-शाइरी तथा हिन्दी-रीतिकविता की इस क्षेत्र में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं ।

सूक्ष्म के लिए स्थूल उपमान लाकर उसका रूप स्पष्ट कर पाना कठिन होता है, परन्तु हिन्दी-रीतिकवि 'बिहारी' ने स्थूल उपमान द्वारा सूक्ष्म उपमेय को ऐसा उभार कर रक्खा है कि देखते ही बनता है—

छतौ नेह कागर हियैं भई लखाइ न टाँकु ।
बिरह तचैं उघर्‌यौ सु अब सेंहुड़ कैसो आँकु ।

नायिका के हृदय में नायक के प्रति जो प्रेम था, वह अभी तक अलक्षित था, लेकिन विरहताप से वह उघर गया । जैसे सफ़ेद काग़ज़ पर सेंहुड़ के दूध से लिखा हुआ अक्षर आँच खाकर उभड़ आता है । इस उपमान से कवि की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति तथा अछूते उपमान-चयन-प्रवृत्ति का आभास मिलता है । 'बिहारी' का एक अन्य दोहा भी इस सन्दर्भ मे ध्यान देने योग्य है, जिसमें नायक-नायिका के मन-मिलन का चित्रण है । नायक-नायिका के शरीर दो, मगर प्राण एक हैं । इसके लिए कवि ने काकगोलक उपमान प्रस्तुत किया है—

उनकौ हित उनहीं बनै कोऊ करौ अनेकु ।
फिरत काकगोलकु भयौ दुहूँ देह ज्यौ एक ।

कौए की दोनों आँखों में पुतली एक ही होती है । वह इस आँख में भी आ जाती

है और उस आँख में भी पहुँच जाती है। दोनों शरीरों के बीच प्राणों की स्थिति इसी प्रकार है।

रीतिकालीन उर्दू-शाइरी की उपमाओं में सेंहुड़ का आँक या काकगोलक जैसे नितांत नवीन अनुसंधान तो नहीं हुए, लेकिन सूक्ष्म के लिए स्थूल का प्रयोग करते समय शाइरों ने सामान्य उपमानों में से ऐसा उपमान चुना है जो उपमेय के स्वरूप को व्यंजित करने में पूर्ण समर्थ है। उदाहरणार्थ—

हाय उसके शर्बती लब से जुदा
कुछ बतासा-सा घुला जाता है जी। —मीर

बतासा पानी को अपने भीतर सोखकर इतना जलपूर्ण बन जाता है कि उसका कण-कण सिक्त हो जाता है। देखने में उसका रूप ज्यों का त्यों मालूम पड़ता है, लेकिन देखते ही देखते विलीन हो जाता है। 'बतासे' से जी का छोटापन, उसकी प्रिय-अधरामृतपूर्णता तथा नाशासन्नता व्यंजित है। हिन्दी-रीतिकविता में ऐसे उपमान भी उपलब्ध हैं—

पिय जक लागे हूँ विकल बकि थकि जाइ
पूछे हूँ न कहै कछु काम छाया है छली।
'आलम' सुकवि लोग कहत मरूरै औरै
अति कै मरू रै काम डरी मरी है अली।
जेतो उपचार कीजै तेतोई विकास होतु
जानि ऐसी बान हौं तौ प्यारे तुम पै चली।
चन्दन चुवाये नलिनी को नीर नाये आँगु
पानी पाये जैसे प्रजरति चूने की कली।

पानी पड़ने से विरहिणी नायिका ऐसे पजरती है, जैसे चूने की कली। उपमान की विशेषता यह है कि वह उपमेय की जलन को प्रस्तुत करने के साथ ही उसके रंग पर भी प्रकाश डालता है और कली (डली) से उसके लघ्वाकार की व्यंजना भी होती है।

हिन्दी-रीतिकाव्य में स्थूल प्रस्तुत के लिए स्थूल उपमानों का प्रयोग भी मनोत्फुल्लकारी है। उपमान पुराने हैं, परन्तु उनका संयोजन नवीन है, यथा—

पीव बिन पूस मास पैयत न चैन आली
बूंद ऐसो दिन होत रैन दरियाव सी। —'षट्० का०'

बूंद और नदी दोनों उपमान पुराने हैं, परन्तु रात दिन के युग्म का स्वरूप स्फुट करने के लिए उनका जो प्रयोग किया गया है, वह सर्वथा नूतन है।

प्रीति गुड़ियान की भई है छल कैसी रीति
सुनत सोहान लागी मदन महंत की ।
अंग अंग रंग रंग बसन 'प्रबीन बेनी'
संत संत मानो रितु राजत बसंत की ।
एक ही दिना में जलधर सी उमड़ि आई
जोबन की उमँग अवाई सुनि कंत की ।

आलोच्यकालीन उर्दू-शाइरों की दृष्टि भी प्रभाव-साम्य पर रहती है, यथा—

जाना इधर से मेरे है वैसा उधर के तईं ।
बीमारियों में जैसे बदलते हैं घर के तईं । —मीर

यहाँ रूप, गति ही नहीं, प्रभाव का चित्रण भी है । घर बदलने में परेशानी की व्यंजना है । इधर (आशिक़ का अपने घर) से उधर (माशूक़ के घर) को जाने का कारण परेशानी है ।

निर्दिष्ट काल की उर्दू-शाइरी में अक्षरों का उपमान-रूप-प्रयोग खूब हुआ है । इनमें कुछ प्रयोग तो बहुत घिसे-पिटे हैं, जैसे क़द को अलिफ़-सा, जुल्फ़ को लाम-सा तथा मुँह को मीम-सा कहना, लेकिन कुछ प्रयोग नये हैं, जैसे—

चमन से बोद हमें जैसे सीनो-क़ाफ़े-क़फ़स ।
क़फ़स में बैठे हैं हम जैसे फ़ाए-नाफ़े-क़फ़स । —ज़ौक़

हम चमन से इस तरह दूर हैं जैसे 'क़फ़स' शब्द में 'सीन' व 'क़ाफ़', क्योंकि बीच में 'फ़े' अक्षर विद्यमान है । परन्तु 'क़फ़स' (जाल) में हम इस प्रकार बंद हैं जिस तरह 'क़ाफ़' और 'सीन' के मध्य 'फ़े' अक्षर।

हिन्दी-रीतिकाव्यान्तर्गत 'अ' अक्षर का तो उपमान की भाँति कटि-वर्णन में प्रयोग हुआ है, लेकिन अन्य अंगों के लिए अक्षरों का कोई प्रयोग नहीं मिलता ।

समीक्ष्य हिन्दी-कविता में विज्ञान से सम्बद्ध उपमान भी उपलब्ध हैं । सभी उपमान चेतन नहीं हैं, जैसा कि निम्नांकित दोहे से प्रकट है—

इहि विधुवदनी के लषें खुले छबोले बार ।
बस्यौ मनौ तम आइकैं ससि मुख के पिछवार । —रसनिधि

चन्द्रमा का आधा भाग अंधकार में ही रहता है । इस तथ्य को कवि ने जान-बूझकर अथवा संयोगवश उपमान-रूपेण उपन्यस्त किया है, अतः उत्प्रेक्षा में कोई नवीनता न होने पर भी उपमान पर वैज्ञानिकता की छाप मानी जाएगी ।

रीतिकालीन काव्य के वैज्ञानिक उपमान तत्कालीन विज्ञान के नितांत साधा-

रण अथवा प्रचलित उपमान हैं। उदाहरणार्थ लौह-चुम्बक का अधोलिखित प्रयोग द्रष्टव्य है—

कूजित पूंजित केलि करैं मिलि काम कलानि में दोऊ न खीनो।
अंक भरे परजंक परे जस होत है लौह में चुंबक लीनो। —तोष

संदिष्ट हिन्दी-कविता में ज्योतिष-सम्बन्धी उपमानों का प्राचुर्य है। इस ग्रंथ के प्रथम खण्ड में उद्धृत ज्योतिष से सम्बद्ध छंदों में ये उपमान देखे जा सकते हैं। आलोच्यकाल के उर्दू-शाइर भी इस क्षेत्र में हिन्दी-कवियों के समान ही गतिशील हैं, परन्तु उर्दू-शाइरों ने रेखागणित पर आधारित उपमान भी संकलित किए है। बिन्दु तथा वृत्त का सम्बन्ध निम्नलिखित शेर में द्रष्टव्य है—

हैराँ बैठे है गिर्द सारे मूनिस।
तस्वीर की तरह खिंची हो मजलिस।
ग़ुर्बत में हुआ है ज़ोफ़ ऐसा तारी
नुक़्ते की तरह हूँ दायरे में बेहिस। —नासिख़

अब बिन्दु के साथ परकार का उपमान-रूप-प्रयोग देखिए। वृत्त परकार से खींचा जाता है। परकार की एक नोक बिन्दु पर रहती है और दूसरी (पेन्सिल लगी) नोक घूमकर वृत्त बनाती है। निम्नांकित शेर में यह सम्पूर्ण व्यापार चित्रित है—

नुक़्तए-ख़ाल उसका सौदा खेज़
फ़िरते हैं इक पाँव हम परकार-से। —ज़ौक़

हिन्दी-रीतिकविता में रेखा गणित-सम्बन्धी उपमानों का अभाव है।

रूपक

हिन्दी-रीतिकविता में सावयव रूपक को प्रमुख स्थान प्राप्त है। आलोच्यकालीन हिन्दी-कवियों ने सैकड़ों छंदों में रूपक-योजनाएँ की हैं। रूपक के लिए इन रचनाकारों के प्रकृति-वर्णन देखने चाहिए। उदाहरणार्थ हिन्दी-रीतिकवि शरद् ऋतु को कृष्ण के रूप में प्रस्तुत करता है—

मंद मुसुकानि चंद ज्योति में उदोति होति
कुंद में दिखावै द्युति दशन रसाल की।
खंजन लखावै कान्ह नैन मन रंजन से
पानि लौं सुहावै कला कंजन विशाल की।
भौंरन की गुंज पुंज मंजुल मंजीरन सी
हंसनि चलावै गति श्याम के सु चाल की।

आयो री शरद काल दरद बढ़ावन को
जरद करैगो हमें शोभा धरि लाल की। —'षट्० का०'

उर्दू-शाइरी में सावयव रूपक तो मिल जाता है, लेकिन वह समस्त वस्तु विषय रूपक नहीं है। उर्दू-शाइर एकदेशविवर्ति रूपक की ही योजना करते हैं, जैसे—

भुनते हैं दिल इक जानिब सिकते हैं जिगर एक सू
है मज्लिसे-मुश्ताक़ाँ दूकान कबाबी की। —मीर

लेकिन शब्द-संगति-प्रेमी उर्दू-शाइर को सर्वाधिक अनुकूल परंपरित रूपक पड़ता है, क्योंकि परंपरित रूपक में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण बन जाता है—

हूँ मैं ऐसा कोहकन जिसका फ़लक है बेसतूँ
कहकशाँ कहते हैं जिसको मेरी जूए-शीर है। —नासिख़

अपने ऊपर फ़रहाद का आरोप होने से शाइर को आकाश पर बेसतूँ का आरोप करना पड़ा। आकाश पर बेसतूँ के आरोप ने आकाश-गंगा पर दूध की नहर का आरोप कराया।

उर्दू-शाइरी में सावयव समस्त विषय रूपक का सर्वप्रथम उदाहरण हमें अली आदिलशाह द्वितीय के काव्य में प्राप्त हुआ है, जो इस प्रकार है—

जोगी हुआ है झाड़ जो लेता भिबूती छाल की।
बैठा है आसन मार कर कीता मड़ी ले पाल की।
सर पर जटाँ सुद पारंबियाँ हो'र फूल के गुल तन पै सब
गुचे की लइ सिंगी बजा धूरी लगाया लाल की।
पुस्तक बना पत्तर की सब रेकाँ दिसे अक्खर हो सुद
दिखला दिया है भेक कर पूरी जगुत को ताल की।
सारे फलाँ सो कान में मुँदरे किया है आपने
गाड्या नखाँ कर सब जड़ाँ लेने ख़बर पाताल की।
जब झाड़ कों जोगी किया साबित सकल मज़्मन ते
तब हुई ग़ज़ल ताज़ी तरज़ 'शाही मदन भूपाल' की।

इस ग़ज़ल में पेड़ को योगी का रूपक देने के लिए उसके सभी अंग आरोपित हैं, जैसे विभूति, मृगछाला, आसन मारना, जटा, फूल, सिंगी, पुस्तक, मुँदरे आदि। शाइर ने इसे ताज़ी तर्ज़ की ग़ज़ल कहकर यह इशारा किया है कि इस ढंग की ग़ज़ल उर्दू में नहीं लिखी जाती। उर्दू में माशूक़ के रूप-चित्रण के लिए सावयव

एकदेशविवर्ति रूपकों तथा परंपरित रूपकों के प्रयोग ही मिलते हैं। समस्त वस्तु विषय रूप में सावयव रूपक का उर्दू में यह पहला प्रयोग है।

मिर्ज़ा सलामत अली 'दबीर' ने 'कूफ़े में बहार आई जो गुलगश्त चमन को' से आरब्ध मर्सिए में 'सुल्ताने बहारी' का छत्तीस पंक्तियों में एक लम्बा रूपक बाँधा है—

सुल्ताने बहारी ने तजम्मुल जो दिखाया।
अब्र आगए नक़्क़ारा सलामी का बजाया।
हर बर्ग से गुल दस्ते-अदब बाँध के आया।
रूमाल शिगूफ़ा ने गुलामाना हिलाया।
बेताब ने बोसा जो दिया गुल की जबीं पर।
तस्बीह गिरी ज़ाहिदे-शबनम की ज़मीं पर।

इसके बाद शाहे-बहारी तख़्त नशीं हुआ, उसने तने-रंगीं पर पोशाके-गुलदस्ता सँवार कर फ़र्मान जारी किया। उसने बीमार नर्गिस को बहाल कर दिया। फिर शाइर उसके लश्कर का वर्णन करता है। लश्कर पर दृष्टि डालकर युद्धार्थ क्रुतोद्यम वर्षा के रूप को इस प्रकार सुव्यक्त किया गया है—

नागाह हवा बदली उठा जंग को बाराँ।
कड़कैत बना राद सदा दी सरे मैदाँ।
बिजली थी सिनाँ अब्र सिपर क़त्रे थे पैकाँ।
गुस्से से हुआ सुर्ख़ रुखे-फ़ौजे-गुलिस्ताँ।
बरसा दिए तीर उसने जवानाने-चमन पर।
याँ तन्तना ये था कि लिये सब सरो-तन पर।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह रूपक सावयव है, परन्तु इसमें एक तो वस्तु के सारे अवयवों को नहीं लिया गया है, दूसरे सब कहीं धर्म-साम्य-निर्वाह भी नहीं हो सका है, यथा अधोलिखित पंक्तियों में—

फिर लेके क़लम फ़र्दे-निगहदाश्त उठाली।
लाले के शिगूफ़े की दवात उसने निकाली।

यहाँ लाला फूल की कली दवात बनाई गई है जो ठीक है, परन्तु क़लम के साधर्म्य का अभाव है। इसी प्रकार फ़र्दे-निगहदाश्त का भी पता नहीं चलता। हिन्दी-काव्य में ऐसा दोष नहीं मिलेगा। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के प्रथम सोपान में मानस का रूपक बाँधा है, जो 'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू' से प्रारम्भ होकर 'मिटहिं पाप परिताप हिए तें' पर समाप्त हुआ है अर्थात् १६२

पंक्तियों में है, परन्तु क्या मजाल कि कहीं भी शिथिलता हो। हिन्दी-रीतिकाव्य में इतने लम्बे रूपक तो नहीं हैं, लेकिन कवियों ने सोलह-सोलह पंक्तियों तक के रूपक बाँधे हैं और सारूप्य तथा साधर्म्य का पूरा निर्वाह किया है। उर्दू-शाइरी में 'दबीर' के सावयव रूपक काफ़ी लम्बे-लम्बे हैं परन्तु उनमें उस प्रकार का समस्त वस्तु विषय रूप नमूना नहीं है, जिस प्रकार का अली आदिलशाह द्वितीय की पूर्वोद्धृत ग़ज़ल में प्राप्त है।

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा साम्यमूलक अलंकारों में एक महत्वपूर्ण अलंकार है। उत्प्रेक्षा चाहे सिद्धविषया हो चाहे असिद्धविषया, उसमें कवि-कल्पना को दौड़ने के लिए खूब मैदान मिलता है। उर्दू-शाइरी में उत्प्रेक्षाएँ बहुत हुई हैं—

बिखरे है ज़ुल्फ़ उस रुखे-आलम-फ़रोज़ पर
वर्ना बनाव होवे न दिन और रात का। —मीर

दिन और रात होने का कारण माशूक़ के विश्व-प्रकाशक मुख पर ज़ुल्फ़ का बिखरना बताया गया है। यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है। इस उत्प्रेक्षा में वाचक लुप्त है। यदि वाचक लुप्त नहीं माना जाएगा तो कथन प्रस्तुत होने से अचमत्कारक हो जाएगा। फलोत्प्रेक्षा का उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

थी जिन्हें आगे तेरे क़ंद से होटों प निगाह।
आरज़ू ही में वो सब मरके हुए खाक-सियाह।
उन शहीदों की भी कुछ तुझको खबर है वल्लाह।
बोसे लेने की तमन्ना में तहे-खाके-सियाह
वही हसरतज़दा अब निकले हैं बनकर तरबूज़। —नज़ीर

उर्दू-शाइरी के इन दो उद्धरणों से दो बातें प्रकट होती हैं—पहली बात यह कि उर्दू-कविता सौन्दर्य-चित्रण के लिए उत्प्रेक्षा को अपनाती है और दूसरी कि कल्पना के सहारे किसी कथन की पुष्टि करती है।

हिन्दी-रीतिकविता में भी उत्प्रेक्षा से यही दोनों काम लिए जाते हैं, परन्तु वहाँ उत्प्रेक्षा में चित्रात्मकता अधिक है। सौन्दर्य-चित्रण में अलौकिक उत्प्रेक्षाओं के स्फीत सचल चित्र मानस को आन्दोलित कर देते हैं। होली खेलती हुई नायिका के सौन्दर्य पर निम्नोद्धृत उत्प्रेक्षा उल्लेखनीय है—

किरण सी कढ़ि आई अंगना उघारे गात
कवि 'पजनेस' छैल छिति पै छहरिगो।
उझकि झपाक मुख फेरि प्यारे रुख ओर
हेरि हेरि हरष हिंमचल पै अरिगो।

आधो मुख मलत अबीर ते मुकेस साथ
नख रेख चिह्नित उरोजन पै झरिगो।
मानो अर्द्धचन्द्र को प्रकाश अर्द्धचन्द्रिका पै
ह्वै कै चन्द्र चूर चन्द्रचूर पै बगरिगो।

सिद्धविषया और असिद्धविषया उत्प्रेक्षाओं के एकत्र उदाहरण अधोलिखित पंक्तियों में हैं—

सिद्धा औ असिद्ध चारों तुकनि विचारो भेद
छेद सहे मुकुता तिहारे तन छूवे को।
पाख रोज भान की चढ़ावत कलान, सीत-
भान सखि तो मुख समान मनु हूबै को। —दूलह

हिन्दी-रीतिकाव्य की उत्प्रेक्षाएँ भले ही कुछ रूढ़ि या कविसमय के आश्रित हों, परन्तु उनमें अधिक माथापच्ची नहीं करनी पड़ती, जैसे होली-संबंधी उपर्युक्त कबित्त में स्तनों के लिए रूढ शब्द 'शिव' यदि मालूम है, तो कबित्त का अर्थ समझने में कोई दिक़्क़त नहीं होगी। परन्तु उर्दू-काव्य की उत्प्रेक्षाएँ रूढ़ि-ग्रस्त, रीतिबद्ध तथा निपट शब्दाधारित हो जाती हैं और उनका अर्थ खोलने में दिमाग़ी कसरत करते-करते पाठक इतना थक जाता है कि प्रस्तुत का सौन्दर्य हृदयंगम करने की शक्ति ही उसमें नहीं रह जाती। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

अक्से-ज़ुल्फ़े-यार और आईना-ए-रुख़सारे-यार
खेंचे हैं शामो-सहर तस्वीरे-सौसन आब में! —ज़ौक़

माशूक़ की ज़ुल्फ़ का कपोल-मुकुर में अक्स पड़ रहा है। शाइर की उक्ति है कि मानो रात-दिन पानी में सौसन की तस्वीर खींच रहे हैं। ज़ुल्फ़ का रंग नीला है। कपोल मुकुर है। शीशा आबदार होता है, इसलिए कपोल की आब में पड़ा ज़ुल्फ़ का अक्स पानी में सौसन हो गया। यह तो शब्दाधारित रूढ़ अर्थ हुआ। लेकिन दूसरे मिसरे में रात-दिन का आरोप भी कर दिया गया। ज़ुल्फ़ रात तथा कपोल दिन। ये दोनों (रात और दिन) मिलकर मानो तस्वीरे-सौसन आब में खींच रहे हैं। अलंकार में कितनी पेचीदगी है? इस प्रकार के आरोप-प्रारोप-युक्त अलंकार हिन्दी-रीतिकविता में ढूंढ पाना असंभव है।

लुप्तोत्प्रेक्षा

आलोच्यकालीन उर्दू-शाइर प्रथम मिसरे में कोई तथ्य कथन करते हैं और दूसरे में उसी की अप्रस्तुत-माध्यम से अभिव्यंजना कर देते हैं। उदाहरणार्थ निम्नांकित शेर प्रस्तुत है—

शामे-हिजराँ सुब्ह भी करके न देखा रोजे-वस्ल
साँप को कुचला पर 'आतश' गंज पिनहाँ हो गया।

शेर के दूसरे मिसरे में साँप तथा गंज उपमान शाम एवं रोज़ के लिए लाए गए हैं। प्रथम चरण में तथ्य है कि वियोग-रजनी हमने सुबह में बदल दी (जैसे-तैसे काटी), फिर भी संयोग-दिवस के दर्शन नहीं हुए। व्यंजना यह कि माशूक़ से भेंट नहीं हुई। साँप को कुचला जिससे वह खज़ाना जिस पर वह (साँप) बैठा था मिल जाय, लेकिन वह खज़ाना ग़ायब हो गया। दोनों मिसरों का सम्बन्ध जुड़ने के लिए वाचक की आवश्यकता है। सम्बन्ध जोड़ने के लिए उत्प्रेक्षा का आरोप करना पड़ेगा। दूसरा मिसरा वस्तुतः पहले का पूरा-पूरा उपमान है।

अलंकार-योजना की यह शैली समीक्ष्य उर्दू-शाइरी की विशिष्ट शैली है, लेकिन न मालूम मौलाना अल्ताफ़ हुसैन 'हाली' इसे समझने में कैसे भूल कर बैठे ? उन्होंने 'मुक़दम--ए-शेरो शाइरी' में मसनवी 'सहरुल्बयान' की पंक्तियाँ उद्धृत करके शाइर मीर हसन के वर्णन को भ्रमवश झूठा सिद्ध किया है। पक्तियाँ निम्नांकित हैं—

वो गाने का आलम वो हुस्ने-बुताँ।
वो गुलशन की खूबी वो दिन का समाँ।
दरख़्तों की कुछ छाँव और कुछ वो धूप।
वो धानों की सब्ज़ी वो सरसों का रूप।

'हाली' साहब लिखते हैं "अख़ीर मिसरे से साफ़ यह मफ़हूम होता है कि एक तरफ़ धान खड़े थे और एक तरफ़ सरसों फूल रही थी। मगर यह बात वाक़ै के खिलाफ़ है, क्योंकि धान खरीफ़ में होते हैं और सरसों रबी में गेहूँ के साथ बोई जाती है।"

लेकिन यहाँ पहली बात तो यह समझने की है कि यह वर्णन नाच का है और वह नाच गुलशन में हो रहा है, कहीं मैदान या खेतों में नहीं। इसलिए ऐसी हालत में शाइर को धान और सरसों की क्या ज़रूरत पड़ गई ? दूसरी बात यह कि जब 'धानों और सरसों' कह देने से काम चल सकता था तो 'धानों की सब्ज़ी' तथा 'सरसों का रूप' क्यों लिखा गया ?

वस्तुतस्तु यहाँ 'गुलशन की खूबी' तथा 'दिन का समाँ' चित्रित करने के लिए शाइर ने 'धानों की सब्ज़ी' (हरापन) और 'सरसों का रूप' (पीलापन) उपमान जुटाए है। शाइर का अभिप्राय यह है कि 'दरख़्तों की कुछ छाँव और कुछ वह धूप' ऐसी लगती थी मानो 'धानों की सब्ज़ी और सरसों का रूप' हो। अर्थात् छाँव तो हरे-हरे धानों-सी थी और धूप सरसों के रूप-सी पीली-पीली थी। यह संभावित अप्रस्तुत-योजना का अत्यन्त हृदयग्राही उदाहरण है। ज़ाहिर है कि

'हाली' ने इन पंक्तियों को समझने में ज़बरदस्त धोखा खाया है। आश्चर्य है कि 'हाली' की इस असत् आलोचना को उर्दू-आलोचक आज तक नहीं समझे और हिन्दी के समालोचक भी भ्रम में आ गए। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबन्ध 'कवि और कविता' मे 'हाली' की ये पक्तियाँ न केवल उद्धृत कीं, बल्कि उनको आदर्श बताकर खूब प्रशंसा भी की है।

हिन्दी-रीतिकाव्य मे इस प्रकार का अलंकार नहीं मिलता। इसे अलंकार-ध्वनि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वह स्पष्टतया प्रत्यक्ष है। नामकरण के अभाव मे हम इसे 'लुप्तोत्प्रेक्षा' संज्ञा दे सकते हैं।

हिन्दी-रीतिकविता में यद्यपि ऐसे उदाहरण अनुपलब्ध हैं, लेकिन उपमानों के माध्यम से (रूपकातिशयोक्ति के अतिरिक्त) भी अभिव्यक्तियाँ हुई हैं—

हा हा ! बदुन उघारि दृग सफल करै सब कोइ।
रोज सरोजन के परै हँसी ससी की होइ। —बिहारी

खंडिता नायिका की सखियों की उक्ति है—हा हा सखी अपने मुख से घूंघट हटा, जिससे हम नेत्र सफल करें। घूंघट हटाने से सरोजों पर विपत्ति पड़ेगी और चन्द्रमा की हँसी होगी। सरोज पति के नेत्रों के लिए और शशि सपत्नियों के मुख का उपमान है। यहाँ वाचक लुप्त नहीं है। उपमानों के माध्यम से यह तथ्य प्रकट किया गया है कि तेरा मुख खुलते ही पति के नेत्र लज्जा से झुक जाएँगे। और सपत्नियाँ हतप्रभ हो जाएँगी। 'आतश' के उपरि उद्धृत शेर (शामे हिज्राँ····) में उपमानों से तथ्य की पुष्टि है, 'बिहारी' के दोहे मे उपमानों के माध्यम से तथ्य का कथन है। मीर हसन के उद्धरण मे उत्प्रेक्षा लुप्त है, परन्तु 'बिहारी' के दोहे में उत्प्रेक्षा का प्रश्न ही नहीं है।

वाचक

हिन्दी-रीतिकाव्य में वाचक निश्चित हैं। वे कभी कथित रहते हैं, कभी लुप्त, जैसे कि लुप्तोत्प्रेक्षा में। ये वाचक 'सा', 'इव', 'जनु', 'मनु' आदि होते हैं। लेकिन उर्दू-शाइर 'कि' का प्रयोग भी वाचक की तरह करते हैं। इस 'कि' का प्रयोग 'अनीस' ने बड़े चमत्कारी ढंग से किया है "गुचे थे दो मिले हुए इक जा कि उनके गोश"। यहाँ 'कि' संदेह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा तथा उपमा का भी वाचक प्रतीत होता है। यह वर्णन घोड़ों का है। उनके (घोड़ों) के कान थे कि दो कलियाँ एकत्र मिली हुई थीं—संदेह अलंकार। उनके कान नहीं थे, दो कलियाँ एकत्र मिली हुई थीं—अपह्नुति अलंकार। उनके कान क्या थे मानो दो कलियाँ एकत्र मिली हुई थीं—उत्प्रेक्षा। उनके कान ऐसे थे जैसे दो कलियाँ एकत्र मिली हुई थीं—उपमा। वाचक के ऐसे बहुरूपी प्रयोग हिन्दी में नहीं हैं।

'हाली' ने इन पंक्तियों को समझने में ज़बरदस्त धोखा खाया है। आश्चर्य है कि 'हाली' की इस असत् आलोचना को उर्दू-आलोचक आज तक नहीं समझे और हिन्दी के समालोचक भी भ्रम में आ गए। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबन्ध 'कवि और कविता' मे 'हाली' की ये पक्तियाँ न केवल उद्धृत कीं, बल्कि उनको आदर्श बताकर खूब प्रशंसा भी की है।

हिन्दी-रीतिकाव्य में इस प्रकार का अलंकार नहीं मिलता। इसे अलंकार-ध्वनि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि वह स्पष्टतया प्रत्यक्ष है। नामकरण के अभाव में हम इसे 'लुप्तोत्प्रेक्षा' संज्ञा दे सकते हैं।

हिन्दी-रीतिकविता में यद्यपि ऐसे उदाहरण अनुपलब्ध हैं, लेकिन उपमानों के माध्यम से (रूपकातिशयोक्ति के अतिरिक्त) भी अभिव्यक्तियाँ हुई हैं—

हा हा ! बदुन उघारि दृग सफल करै सब कोइ।
रोज सरोजन के परै हँसी ससी की होइ। —बिहारी

खंडिता नायिका की सखियों की उक्ति है—हा हा सखी अपने मुख से घूंघट हटा, जिससे हम नेत्र सफल करें। घूंघट हटाने से सरोजों पर विपत्ति पड़ेगी और चन्द्रमा की हँसी होगी। सरोज पति के नेत्रों के लिए और शशि सपत्नियों के मुख का उपमान है। यहाँ वाचक लुप्त नहीं है। उपमानों के माध्यम से यह तथ्य प्रकट किया गया है कि तेरा मुख खुलते ही पति के नेत्र लज्जा से झुक जाएँगे। और सपत्नियाँ हतप्रभ हो जाएँगी। 'आतश' के उपरि उद्धृत शेर (शामे हिज्राँ····) में उपमानों से तथ्य की पुष्टि है, 'बिहारी' के दोहे मे उपमानों के माध्यम से तथ्य का कथन है। मीर हसन के उद्धरण मे उत्प्रेक्षा लुप्त है, परन्तु 'बिहारी' के दोहे में उत्प्रेक्षा का प्रश्न ही नहीं है।

वाचक

हिन्दी-रीतिकाव्य में वाचक निश्चित हैं। वे कभी कथित रहते हैं, कभी लुप्त, जैसे कि लुप्तोत्प्रेक्षा में। ये वाचक 'सा', 'इव', 'जनु', 'मनु' आदि होते हैं। लेकिन उर्दू-शाइर 'कि' का प्रयोग भी वाचक की तरह करते हैं। इस 'कि' का प्रयोग 'अनीस' ने बड़े चमत्कारी ढंग से किया है "गुचे थे दो मिले हुए इक जा कि उनके गोश"। यहाँ 'कि' संदेह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा तथा उपमा का भी वाचक प्रतीत होता है। यह वर्णन घोड़ों का है। उनके (घोड़ों) के कान थे कि दो कलियाँ एकत्र मिली हुई थीं—संदेह अलंकार। उनके कान नहीं थे, दो कलियाँ एकत्र मिली हुई थीं—अपह्नुति अलंकार। उनके कान क्या थे मानो दो कलियाँ एकत्र मिली हुई थीं—उत्प्रेक्षा। उनके कान ऐसे थे जैसे दो कलियाँ एकत्र मिली हुई थीं—उपमा। वाचक के ऐसे बहुरूपी प्रयोग हिन्दी में नहीं हैं।

श्लेष

हिन्दी-रीतिकवियों का बौद्धिक उत्कर्ष उनके उन छन्दों में देखा जा सकता है, जिनमें उन्होंने श्लेष की अखण्ड योजना की है। हिन्दी-कविता में कवि 'सेनापति' श्लेष के लिए प्रसिद्ध हैं। अपने 'कबित्त रत्नाकर' की श्लेष तरंग में उन्होंने छियानबे कबित्त ऐसे लिखे हैं, जिनके दो-दो अर्थ निकलते हैं। न केवल यही, इसके साथ यह विशेषता भी कवि ने दिखाई है कि नितांत विरोधी वस्तुओं से संबंधित अर्थों का समावेश भी एक छंद में है। 'सेनापति' के पश्चात् भी श्लेष लिखने की परम्परा हिन्दी में चलती रही।

उर्दू-शाइरी में श्लेष तो मिल जाते हैं, परन्तु सम्पूर्ण छन्द में श्लेष-योजना नहीं मिलती। श्लेष-एक-दो शब्दों में रहता है, उदाहरणार्थ 'सौदा' का एक शेर देखिए—

ऐ लालची तू कीसा ग़ैरों का मत टटोले।
जो कुछ तू चाहे यक शब मुझ पास आके सोले।

यहाँ 'सोले' शब्द मे श्लेष है, बस। उर्दू की प्रारंभिक रचनाओं में श्लेष के यही नमूने है। शब्द-संगति-प्रधान-उर्दू-शाइरी में श्लेष-विधान-क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण हो गया था। रीतिकालीन उर्दू-शाइरी की श्लेष-योजना का लक्ष्य शब्द मात्र है और इससे वह पुनरुक्तवदाभास, विरोधाभास, अथवा शब्द-संगति आदि चमत्कार उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए निम्नांकित शेर प्रस्तुत हैं—

वो समर पाए कि पहुँचे न जहाँ दस्ते-जलाल
बालाए-नख़्ल एक जो बुलबुल तो गुल हज़ार
तीर जोड़े हैं जो मुझ पर तो ख़ता करते हो —अनीस

इन उद्धरणों में श्लेष स्वतन्त्र नहीं है। 'पाए', 'पहुँचे' का श्लेष 'दस्त' (हाथ) की संगति के लिए है, 'हज़ार' शब्द 'बुलबुल' के साथ इसलिए आया है कि पुनरुक्तवदाभास आ जाय, क्योंकि 'हज़ार' का एक अर्थ बुलबुल भी होता है और 'ख़ता' का प्रयोग 'जोड़' के साथ विरोधाभास की दृष्टि से किया गया है। इस प्रकार श्लेष-विधान करते समय उर्दू-शाइर के लक्ष्य में अर्थ नहीं, केवल शब्द रहता है। हिन्दी-रीतिकाव्य की श्लेष-परम्परा इससे भिन्न है।

हिन्दी-रीतिकवियों ने जो श्लेष बाँधे हैं, उनमे उनका भाषाधिकार एवं शिल्प-नैपुण्य देखकर उनकी बुद्धि का लोहा मानना पड़ता है। कबित्त पढ़ने पर ऐसा लगता है कि कवि फूलों या चिड़ियों के नाम गिना रहा है, मगर ध्यान देने पर उसमें से अन्य अर्थ भी निकल पड़ता है। 'फूलों के नामों का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

कुंद ह्वै कही जु बात केतकी तिहारे पास
एक हू न मानी यह मोतिया कहा कही।
सेवती हैं बजे जिन मारे मदनवान परे
इश्कपेचन में रीति और ही गही।
'ग्वाल' कवि कपट कदंब क्यों करत प्यार
दुपहरि आये इहाँ चाँदनी उहाँ नही।
मोगरे न लागो लाल सोन जुही लागी कालिह
रोसन भई है मोहि जोसन तुम्हें रही।

सुनने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि कुंद, केतकी, मोतिया, सेवती, मदन-बान, इश्क़पेचाँ, कदम्ब, दुपहरिया, चाँदनी, मोगरा, सोनजुही और जोशन आदि फूलों के नाम बता रहा है, लेकिन पूरे कबित्त में खंडिता का कोप अभिव्यक्त है। अंतिम पंक्ति उसे साफ़ बता रही है 'मोगरे न लागो' अर्थात् मेरे गले मत लगिए, मैं वह नहीं हूँ (सो न), जो कल तुम्हारे गले लगी थी।

हिन्दी-रीतिकविता की दूतियाँ तो इसी प्रकार की भाषा बोलती हैं। बजा-जिन है तो कपड़ों के नाम गिनाकर नायिका से नायक का संदेश कह देगी, रसोईदारिन है तो साग-भाजी, अचार, कढ़ी, चावल और दाल आदि की बात करके अभिप्रेत भाव प्रकट करेगी और यदि चिड़ीवाली है तो चिड़ियों के नाम बताकर नायिका को मना लाएगी, यथा—

तूती लाल करकरे सारस झगर तोते
तीतर तुरमुती बटेर कहियतु है।
सिंधुवार कूके 'रघुनाथ' कलसिरी भर
तूलै करिबान कहरी लै लहियतु है।
पोको काक सुनि कर घूतिय चिते सराहि
वरहिय अगिनि बगेरी चहियतु है।
करचोटी सगबगी नाकबास बिसरै दै
श्यामा बया कूर न गरूर गहियतु है।

इस कबित्त में तुरमुती, करिबानक, बटेर, तोते, सिंधुवार आदि अनेक प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध पक्षियों के उल्लेख द्वारा श्लेष-योजना की गई है। श्लिष्ट अर्थ इस प्रकार है—अब मैं सिंधु के इस पार (वार) कूकती हुई [वह सिंधु जो सुंदर श्री से युक्त होकर तुलना के बानक बनाता हुआ भी हलकेपन (हरी) को ही प्राप्त करता है। यानी तेरी गंभीरता नहीं पा सकता] टेर कर कहती हूँ कि हे तिय तूने लाल को वश में कर रक्खा है। तुझसे (प्रियतम का) झगड़ा भी हो जाय

तो भी सारस सी चपलमतिवाली स्त्रियाँ तेरे नीचे (तर) हैं। प्रियतम की काकु-उक्ति सुनकर चित्त में ध्रुव सराहना कर। श्रेष्ठ हृदय में प्रेम की अग्नि बिखेरनी चाहिए। चोटी को तेल में बगबगी कर नाक में बेसर का बास दे। हे षोडशी क्रूर ग़रूर नहीं ग्रहण करना चाहिए।

दो ही नहीं, हिन्दी-रीतिकवियों ने तीन-तीन अर्थाभिव्यंजक श्लेषों की योजना भी की है। उदाहरणार्थ—

सोहै युग चरण वरण व्रत पाटी चारु
गुणनि सों बीनी महा महिमो के ठाट की।
राजति अनूप रूप रंगनि अनेक भरी
परम नरम पद सद सुख घाट की।
प्यारी लागै भोग कर ताको कहै 'रघुनाथ'
नित चित बसी ही ते नासक उचाट की।
बिधाता की सृष्टि ऐसे बाट की बनी है
देखो भाट की कबित्त जैसी खाट आठ काट की।

इस छन्द में सृष्टि, कबित्त तथा खाट से सम्बद्ध तीन अर्थ निकलते हैं। उर्दू-शाइरी में एतादृश श्लेष-विधान का नितांत अभाव है।

विरोधाभास

विरोधाभास अलंकार चमत्कार-प्रधान अलंकार है, इसलिए यह अलंकार रीतिकालीन कवियों तथा शाइरों को बहुत पसंद है। लेकिन उर्दू और हिन्दी में उसके प्रयोग-लक्ष्य पृथक्-पृथक् हैं, साथ ही उसके प्रयोग के ढंग भी भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते है। उर्दू-शाइर कभी-कभी तो मात्र शब्दात्मक-विरोधाभास-योजना करते हैं, यथा—

वो तो गले लगा हुआ सोता था ख्वाब में
बख्त अपने सो गए कि जो बेदार हो गए। —मीर

'हम जाग गए तो हमारा भाग्य सो गया' कहकर शाइर ने इस शेर में शब्दों का ऐसा प्रयोग कर दिया कि विरोध प्रतीत हो। परन्तु यह अलंकार यहाँ मुहावरे के कारण है। हिन्दी-काव्य में भी इस तरह के प्रचुर उदाहरण प्राप्त हैं—

प्यारी की उनींदी वा अटारी उतरनि आज
चढ़ि रही चित्त न उतारी उतरति है। —रंगपाल

लेकिन दूसरे प्रकार के प्रयोग वे हैं जो मुहावरे के अधीन नहीं हैं। अर्थात् जिनमें कथन तथ्य है और जो शब्द प्रयुक्त हैं उनके पर्यायवाची भी यदि रख दिए जाँय, तब भी विरोध का आभास होगा, उदाहरणार्थ—

मिलना तेरा अगर नहीं आसाँ तो सहल है
दुश्वार तो यही है कि दुश्वार भी नहीं। —ग़ालिब

उर्दू-कविता में ऐसे विचारोत्तेजक विरोधाभास के बहुत सुन्दर प्रयोग किए गए हैं। रीतिकालीन उर्दू-शाइर किस ख़ूबी से विरोधाभास की योजना करता है, यह निम्नांकित शेर में द्रष्टव्य है—

याद सहवन उसे ऐ ग़ैर! है निसयाँ अम्दन
याद रख भूल गया जिसको वही याद रहा। —मोमिन

शेर का भावार्थ यह है कि माशूक़ यदि किसी का स्मरण करता है तो भूलकर, और यदि भुलाता है तो जानबूझकर, क़स्दन। उसने रक़ीब को याद रक्खा और मुझे (आशिक़ को) भुला दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं अधिक गौरवशाली हूँ, क्योंकि माशूक़ के स्मरण का सम्बन्ध विस्मरण से है। उसने मुझे जानबूझकर भुलाया है अर्थात् मुझे बराबर याद करता रहा है।

हिन्दी-रीतिकाव्य मे उपर्युल्लिखित शेर मे प्राप्त विरोधाभास के नमूने नहीं मिलते। लक्षण ग्रन्थों में तो कामचलाऊ उदाहरण है, जैसे—

कहत विरोधाभास तँह भूठो जहाँ विरोध।
जहँ असोक तहँ सोक-बस है न सियहि निज बोध। —पदमाकर

स्वतंत्र उदाहरणों में भी ऐसा विचारोत्तेजन नहीं है। 'घनानंद' ने विरोधाभास का इतना प्रयोग किया है कि उन्हें [illegible] का कवि ही कहा जा सकता है, परन्तु उनके काव्य में भी इस तरह के उदाहरण नहीं हैं। अन्य कवियों की रचनाओं में भी विरोधाभास ऐसा ही है। उदाहरणार्थ—

तो लखि मो मन जो लही, सो गति कही न जाति।
ठोड़ी गाड़ गड़्यो, तऊ उड़्यौ रहै दिन राति। —बिहारी

हिन्दी-रीतिकविता के विरोधाभास-प्रयोग दो बातों में उर्दू-विरोधाभास से कुछ भिन्न है। प्रथमतः श्लिष्ट प्रयोग के कारण, द्वितीयतः रसाभिमुखी होने के कारण। श्लिष्ट-शब्द-प्रयोग पर आधारित विरोधाभास हिन्दी-रीतिकाव्य में अक्सर मिल जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि उर्दू-विरोधाभास का विचारोत्तेजन हिन्दी-रीतिकाव्य में अनुपलब्ध है, लेकिन हिन्दी-कवियों ने विरोधाभास-प्रयोग से जो भावान्दोलन

करके रसमयता उत्पन्न की है, वह उर्दू-शाइर नहीं कर सके। रसाभिमुखी विरोधाभास का निम्नांकित उदाहरण पर्याप्त होगा—

संग न सहेली केली करत अकेली एक
कोमल नवेली वर वेली जैसे हेम की।
लालच भरे से लखि लाल चलि आये सो
विलोचन चलाइ रही रासि कुल नेम की।
'देव' मुरझाइ उरमाल उरझाइ कह्यो
दीजै सुरझाइ बात पूछी है सुक्षेम की।
भाइक सुभाइ भोरे स्याम के समीप आइ
गाँठिहि छुटाइ गाँठि पारि गई प्रेम की।

ध्वनि

उर्दू-शाइरी में प्रयुक्त अलंकारों का हमने विवेचन किया, परन्तु इस सन्दर्भ में यह बात स्मरण रखने योग्य है कि उर्दू की कविता अलंकार-प्रधान कविता न होकर ध्वनि-प्रधान कविता है। हम हिन्दी-अलंकार-शास्त्र के अनुसार उसमें अलंकार-निर्देश चाहे कर दें, लेकिन विचार करने पर वहाँ ध्वनि ही की प्रमुखता प्रकट होगी, जैसे—

मुकद्दर क्यों न दिल तेरा हो अश्को-आह से मेरे
लगे है जंग लोहे को हवाए-बरशिगालो से। —सौदा

यहाँ कौन-सा अलंकार है? अर्थान्तरन्यान या दृष्टान्त? अर्थान्तरन्यास, क्योंकि सामान्य का विशेष से समर्थन है। दृष्टान्त, क्योंकि मुकद्दर (दूषित) होना और जंग लगना भिन्न-भिन्न धर्मों का परस्पर सादृश्य है। लेकिन अर्थान्तरन्यास में बिम्ब-प्रतिविम्ब भाव नहीं होता और दृष्टान्त में दोनों वाक्य या तो सामान्य होते हैं या विशेष। अतः यहाँ न अर्थान्तरन्यास है, न दृष्टांत। तब क्या निदर्शना? क्योंकि दोनों वाक्य सापेक्ष्य हैं। लेकिन निदर्शना में ये वाक्य सामान्य-विशेष नहीं होते। तब कौन-सा अलंकार कहा जाय?

अलंकार-निर्देश की असंभवता का कारण यह है कि शाइर का उद्देश्य अलंकार-योजना करना नहीं है। शेर का अर्थ समझने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी। आशिक़ कहता है 'चूँकि बरसाती हवा से लोहे में जंग लग जाती है, अतएव तेरा दिल यदि मेरे अश्रु-निश्वास से दूषित (मलिन, गंदा) हो जाता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।' व्यंजना यह है कि तेरा दिल लोहा है। वास्तव में यह व्यंजना ही शाइर के लक्ष्य में थी, अलंकार लाना उसे अभीष्ट न था।

निष्कर्षार्थ यह कि उर्दू-शाइरी में ध्वनि-चमत्कार का महत्त्व है, अलंकार का नहीं। अलंकार भी जहाँ है वहाँ बहुत दूरारूढ़ है और उसमें कुछ न कुछ व्यंग्य ज़रूर है। उर्दू-काव्य में जो ध्वनि रहती है, उसकी व्यंजना प्रायः दुरूह होती है, यथा—

रश्क के मारे ज़मुर्रद ख़ाक में मिल जाएगा।
सब्ज़े पर उस गोश के फ़ीरोज़ा हीरा खाएगा। —आतश

पूरे का पूरा कथन रत्नों का नाम लेकर मुहावरों के माध्यम से पूर्ण कर दिया गया है। साधारण बात तो यह मालूम पड़ती है कि कान के बुंदे के सामने पन्ना तथा वैदूर्य कुछ नहीं है, लेकिन गहराई में जाने पर प्रकट होता है कि शाइर कान के बुंदे का रंग व्यंजित कर रहा है कि यदि ज़मर्रुद को ख़ाक में मिला दें और फ़ीरोज़ा हीरा खा ले तो उस सब्ज़े की समता कर पाए। अर्थात् पन्ना यदि कुछ (नीला-हरा) मिलकर मटमैला हो जाय और वैदूर्यमणि में कुछ हीरे की श्वेतता मिश्रित हो जाय तो सब्ज़े का रंग आ सकता है। ख़ाक में मिलना नष्ट होने और हीरा खाना ज़हर खाने के अर्थ में आता है। तब यह अर्थ होगा कि ज़मुर्रद और फ़ीरोज़ा माशूक़ के कान के सब्ज़े के सामने कुछ नहीं है।

हिन्दी-रीतिकविता की ध्वनि ऐसी जटिल नहीं है। उसमें व्यंजना इतनी रूढ्याधारित नहीं रहती अथवा इतनी दूरारूढ़ नहीं होती कि समझ में न आए, उदाहरणार्थ 'प्रतापसाहि' का अधोलिखित सवैया प्रस्तुत है—

सीख सिखाई न मानति है बर ही बस संग सखीन कै आवै।
खेलत खेल नए जल में बिना काम वृथा कत जाम बितावै।
छोड़ि के साथ सहेलिन को, रहि कै महि कौन सवादहि पावै।
कौन परी यह बानि अरी! नित नीर भरी गगरी ढरकावै।

नायिका बार-बार नीर-भरी गागर ढलका देती है। वयःसंधि की क्रीड़ा का वर्णन है। लोगों का ख़्याल है कि उसके नेत्रों का प्रतिबिम्ब पानी में पड़ता है। नेत्र मछली की तरह हैं, जिससे उसे पानी में मछली का भ्रम होता है और वह गागर ढलका देती है। लेकिन इस अलंकार-ध्वनि को न समझ पाने पर भी पाठक जो अर्थ ग्रहण करता है उसमें अपना अलग आनंद है और वह आनंद अलंकार-ध्वनि के चमत्कार से कहीं अधिक रमणीय है। इसी तरह रूढ़ि पर आधारित परकीया नायिका की कतिपय उक्तियाँ हैं, जैसे—

नाहिनै और है ठौर अहै जन मूढ़ कठोर सबै है इहाँ हीं।
जाने न जे पर स्वारथ हेत निकेत तजे बस खेत सदा हीं।

पावस पंथिय मीत ! निवास को पास न गाँव है जाव जहाँ हीं।
ऊँचे उठे नभ देखि पयोधर जो बसिहौ तौ बसौ घर माहीं। —कुमारमणि

'पयोधर' शब्द के श्लेष से व्यंग्य है कि मेरा यौवन देखकर रात में यहीं रुककर रतिकेलि करो, क्योंकि घर के लोग रात में खेत पर चले जाते हैं अर्थात् निश्चिन्तता है, तुम सुखपूर्वक संभोग कर सकोगे। रीतिकविता का यह व्यंग्य भी रूढ़ हो गया था, अतः उसे समझने के लिए नायिका-भेद से परिचित होना आवश्यक है। लेकिन परिचित न होने पर भी छंद का अर्थ अस्पष्ट नहीं है।

रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य दोनों ही अपनी-अपनी रूढ़ियों पर आधारित हैं, इसलिए उनकी ध्वनि समझने से पहले उन रूढ़ियों से अवगत होना आवश्यक हो जाता है। परन्तु इसका यह मतलब कदापि नहीं कि रूढ़ियों का आश्रय बिना लिए ध्वनि के रमणीय प्रयोग हुए ही नहीं। रूढ़ि-मुक्त प्रयोग भी दोनों काव्यों में उपलब्ध हैं।

ध्वनि के सर्वोत्तम उदाहरण वे हैं, जिनमें हर पाठक अपने-अपने मन के अनुसार या मनोदशा के अनुकूल अर्थ ग्रहण कर लेता है। उदाहरणार्थ—

क़ासिद के आते-आते ख़त इक और लिख रखूँ
मैं जानता हूँ जो वो लिखेंगे जवाब में। —ग़ालिब

जो पाठक उर्दू-शाइरी की रूढ़ि से अनभिज्ञ है वह भी अपने हिसाब से अर्थ लगा लेगा। यह कथन पाठक की कल्पना को पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ देता है। आशिक़ एक ख़त और लिख रखना चाहता है, क्योंकि उसे मालूम है कि माशूक़ जवाब में क्या लिखेगा ? उत्सुकता कि निराशा, उल्लास कि अवसाद; किसकी व्यंजना है ? शायद इन सभी की एक साथ ? 'ग़ालिब' का यह शेर माशूक़ की मर्यादा-रक्षा करते हुए आशिक़ के मनोभावों की कैसी गूढ़ व्यंजना कर रहा है ? इस ढंग की ही व्यंजना 'ग़ालिब' से सौ साल पहले 'बिहारी' ने अधोलिखित दोहे में की है—

लाज गहौ, बेकाज कत घेरि रहे, घर जाँहि।
गोरस चाहत फिरत हौ, गोरसु चाहत नाँहि।

स्वयंदूती नायिका के इन वचनों में वर्जन भी है आमंत्रण भी। दोहे की व्यंजना विचित्र है। नायिका कहती है—तुम तो लज्जा करते हो। फिर हमें व्यर्थ में क्यों घेर रहे हो ? तो क्या हम घर जाँय ? क्योंकि तुम तो दूध-दही आदि चाहते हो और इन्द्रिय रस की तुम्हें चाह नहीं है। और उसकी उक्ति यह भी मालूम पड़ती है हम समझ गईं कि तुम दूध-दही आदि नहीं चाहते, तुम्हें तो इन्द्रिय रस की चाह है। लेकिन लज्जा करो, निर्लज्ज मत बनो। रास्ते में व्यर्थ क्यों घेर

रहे हो। अब हम घर जायँ। मिलना है तो फिर किसी दूसरे स्थान पर मिलना।

इन उदाहरणों के अतिरिक्त ध्वनि के कुछ उदाहरण अत्यंत अदुरूह एवं सरल हैं किन्तु वे भाव-गांभीर्य एवं कल्पना की ऊँचाई के अच्छे निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ—

बैठी तिया गुरु नारिन मैं रति ते कमनीय स्वरूप सोहाई।
आयो तहाँ मन मोहन त्यौं सब की अँखियान वहै छवि छाई।
कैसे लखे पिय 'बेनी प्रबीन' नवीन सनेह सकोच सवाई।
पीठि दै भामते को सजनो सजनीन की डीठि मैं डीठि लगाई।

नायिका-भेदविद् इसे क्रियाविदग्धा नायिका का उदाहरण कह देंगे। परन्तु भामते की ओर पीठ देकर और सखियों की दृष्टि में दृष्टि मिलाकर बैठने में एक गहरी व्यंजना है। उर्दू-शाइरी में आशिक़ माशूक़ के देखने वालों से रश्क करता है 'हम देखने वालों की नज़र देख रहे है।' लेकिन हिन्दी का भाव भिन्न प्रकार का है। नायिका यदि खुद नहीं देख सकती तो कम से कम नायक को देखने वालों के दर्शन करके ही तृप्त हो जाय। परन्तु इससे भी गूढ़ व्यंजना यह है कि सखियाँ नायक को देख रही हैं, उनके नेत्रों मे उसकी छवि बसी हुई है 'अँखियान वहै छवि छाई', इसलिए नायिका उनके नेत्रों को देख रही है अथवा नायक सखियों के सामने खड़ा है जिसका प्रतिबिम्ब सखियों की आँखों में पड़ रहा है। नायिका सखियों की दृष्टि में दृष्टि देकर उनकी आँखों में प्रतिबिम्बित नायक को देख रही है।

प्रतीक

ध्वनि-क्षेत्र की सबसे प्रशंसनीय खोज प्रतीक है। धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग जब कवि किसी विशेष उद्देश्य से करता है तब वह प्रतीक की रचना करता है। रीतिकालीन कवियों ने अलंकार-प्रयोग में धर्म पर विशेष ध्यान दिया है, फलतः उनके काव्य में प्रतीकों की सुश्लाघ्य आढ्यता नहीं मिलती।

उर्दू-शाइरी में शराब, मयखाना (मधुशाला), बुतखाना (मंदिर) तथा प्याले का प्रतीक-रूप प्रयोग किया जाता है। हिन्दी-रीतिकविता में इन प्रतीकों को कोई स्थान नहीं मिल सका। उर्दू-कविता के गुलो-बुलबुल को भी आलोच्यकालीन हिन्दी-कवियों ने प्रतीक की तरह ग्रहण नहीं किया। परन्तु उर्दू-शाइरों ने हिन्दी के कुछ प्रतीकों को लेकर अपने ढंग से प्रयोग किये हैं।

'हंस' भारतीय काव्य में विवेकी का प्रतीक माना जाता रहा है। 'कौवा' चालाक और 'धूर्त' की व्यंजना करता है। मेढकी तथा हाथी भी क्षुद्र एवं महान् के प्रतीक हैं—

कुलाह हंस की कौवा खड़ा उतारे है।
उछल के मेढकी हाथी के लात मारे है। —नज़ीर

परन्तु 'क़िस्सए हंस' में 'नज़ीर' ने हंस का प्रतीक भिन्न भाव-व्यंजनार्थ प्रयोग किया है। कथा अत्यंत प्राचीन है कि हंस के साथ अन्य पक्षी नहीं उड़ सकते। 'नज़ीर' ने चंडूल, बगले, तोते, टुइयाँ, बुलबुल, कोयल, खंजन आदि बीसियों पक्षियों की सूची देकर कहा है कि—

सब रह गए जो साथ के साथी थे 'नज़ीर' आह
आखिर के तईं हंस अकेला ही सिधारा।

'हंस अकेला ही सिधारा' मुहावरा आत्मा के संदर्भ में आता है, लेकिन 'नज़ीर' का कथन है कि जो अप्राप्य वस्तु है, उसकी चाह करना व्यर्थ है। सब उल्फ़त का दम भरते थे, मगर हंस के साथ न जा सके। दुनिया का प्रेम ऐसा ही है। 'हंस' अर्थात् 'चरम सौंदर्य' तक उस सांसारिक प्रेम की पहुँच नहीं हो सकती। वह पीछे छूट जाता है।

हिन्दी-कवियों ने परम्परया सत्, रज, तम के लिए श्वेत, लाल तथा काले रंगों का प्रयोग किया है। अनुराग का रंग रीतिकालीन हिन्दी-काव्य में लाल और पाप का काला माना गया है। इससे काफ़ी मिलते-जुलते अर्थों में 'नासिख़' ने भी इन रंगों का उपयोग अपनी रचना में इस तरह किया—

कर ले पसंद इनमें से 'नासिख़' तू कोई रंग
मस्ती है सुर्ख़ कुफ़्र सियह और दीं सफ़ेद।

'भूषण' ने लिपि को प्रतीक रूप में लिया है। अरबी-फ़ारसी आदि भाषाओं की लिपि दाएँ से बाएँ लिखी जाती है। संस्कृत और हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि आधुनिक आर्य भाषाओं एवं तेलगु, तमिड़, मलयालम तथा कन्नड (द्रविड़ परिवारीय) भाषाओं की लिपि बाईं ओर से दाईं ओर चलती है। इसी आधार पर कवि ने 'बाएँ लिखवैया' का अर्थ मुसलमान तथा 'दाएँ लिखवैया' का अर्थ हिन्दू लिया है—

बाएँ लिखवैयन के वाम विधि होन लगे
दाएँ लिखवैयन पै दाप सो मढ़ै लगी।
छा गई उदासी खासी मस्जिद मकबरन
मठ मंदिरन कोटि रोसनी चढ़ै लगी।

आलोच्यकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता ने यौन प्रतीकों के प्रयोग भी किए है। कुछ प्रयोग तो सामान्यरूपेण प्रसिद्ध है, लेकिन कुछ को नया अर्थ मिला है। रति-बंध के लिए 'इंशा' ने 'सुई डोरा' प्रतीक लिया—

यूँ झुका मुझ पर कोई रात का जागा जैसे।
तुम तो वो चाहती हो सुई में धागा जैसे।

'इंशा' का यह प्रतीक प्रकृत प्रतीक है, किन्तु हिन्दी-कवि ग़ुलाम नबी 'रसलीन' ने रस, मुक्त (मोती) तथा लाल को यौन-प्रतीक-रूप सन्निविष्ट किया है—

को है माली चतुर जो सरस सींचि रस जाल।
या कंचन की बेलि में मुक्त लगाए लाल।

इसी प्रकार उन्होंने अंकुश द्वारा भी यौन-प्रतीक की व्यंजना की है—

कौन महावत जोर सो बस करिबे की चाह।
तुव यौवन गज कुंभ पै अंकुश दीनों आइ।

साधारण ढंग से देखने पर तो यह प्राचीन प्रयोग प्रतीत होता है, परन्तु जब 'जोर सो' शब्दों के प्रकाश में उसे देखते हैं तो उसका प्रतीकरूप स्पष्ट हो जाता है।

रीतिकालीन उर्दू-हिन्दी-काव्य में धार्मिक विश्वासों का बहुत महत्व था। कुत्ता हिन्दू-धर्मशास्त्रों में अपवित्र माना गया है और मुस्लिम धर्मशास्त्री भी कुत्ते को अपवित्रता तथा गंदगी का रूप बताते हैं—

नजिस-उलऐन फ़क़ीहों ने इन्हें लिक्खा है
इनसे जो होय मुसलमाँ उसे दूरी है ज़रूर। —सौदा

फिर भी आलोच्य उर्दू-शाइरी में कुत्ता वफ़ादारी का प्रतीक है और शाइरों ने अपने को हज़रत अली के दरवाज़े का कुत्ता कहा है—

दोस्ती रक्खें वो किसकी तुझ सिवा
हैं जो सगहाए-दरे-शाहे-नजफ़। —सौदा

कुछ व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को भी रीतिकालीन काव्य ने प्रतीक रूप में ग्रहण कर लिया था। 'रसनिधि' ने 'रतनहजारा' के अन्तर्गत 'जमना' को मृत्यु का प्रतीक माना है—

इत जमुना रमना उतै बीच जहाँनाबाद।
तामैं बसि नेकी करौं करौं न वाद-विवाद।

'रतनहज़ारा' के सम्पादक हरिमोहन मालवीय ने 'रमना' का अर्थ नर्मदा नदी और जमुना का यमुना करके इस दोहे में बुंदेलखंड की सीमा खोज निकाली है,[१] परन्तु उन्होंने 'जहाँनाबाद' के बारे में कुछ नहीं सोचा। 'जहाँनाबाद'

रीतिकालीन उर्दू-कविता में दिल्ली नगरी का नाम था। फिर इस दोहे का अर्थ करने से पहले यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह दोहा 'सज्जन-वर्णन' के अन्तर्गत है।

इन सारी बातों पर विचार करने पर उपर्युक्त दोहे के 'जहाँनाबाद' का अर्थ 'संसार की स्थिति' होगा। भाव यह कि इधर रमना है, उधर जमुना और बीच में संसार की स्थिति है। रमना की पदमैत्री 'जमुना' में न होकर 'जमना' में है, अतः पाठ 'जमना' होना चाहिए। 'जमना' में जम (यम) की स्पष्ट ध्वनि है, अतः 'जमना' मृत्यु की प्रतीक है। यमुना को यम की बहिन होने से मृत्यु का प्रतीक मानना अनुपयुक्त नहीं है। 'रमना' शब्द गढ़ा हुआ शब्द है, जिसकी ध्वनि से 'रमण करना या भोग-विलास' का अर्थ निकलता है। 'करौं' क्रियापद आत्म-परक है, अर्थात् करता हूँ। यह दोहा सज्जन-वर्णन का है, अतः क्रियापद विधिपरक होना चाहिए। इसलिए 'करौं' नहीं, शुद्ध शब्द 'करौ' है। तात्पर्य यह कि शुद्ध पाठ का रूप निम्नलिखित होगा—

उत जमना रमना इतै बीच जहाँनाबाद।
तामें बसि नेकी करौ, करौ न वाद विवाद।

दोहे का अर्थ यह है कि उस ओर मृत्यु और इस ओर भोग-विलास है, बीच में जहान आबाद है, अर्थात् संसार की स्थिति है। इस संसार में रहकर सज्जन को अपना समय नेकी में लगाना चाहिए, उसे व्यर्थ के वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। जहाँनाबाद का अर्थ यदि दिल्ली करें तब भी ठीक है, क्योंकि राजधानी होने से वह रीतिकाल में भी जीवन का उसी प्रकार प्रतीक थी, जिस प्रकार आजकल की दिल्ली है।

'रसनिधि' ने 'जमना' को मृत्यु का प्रतीक माना है, किन्तु 'नज़ीर' अकबरा-बादी ने 'जमना' को आनंद का केन्द्र बताया है—

घर बार रूपे और पैसे में मत दिल को तुम खुर्सन्द करो।
या गोर बनाओ जंगल में या जमना पर आनंद करो।

इस प्रकार के एक-दो नूतन प्रयोगों के अतिरिक्त समीक्ष्यकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य ने प्रतीक की दिशा में कोई खास प्रगति नहीं की। इन कवियों ने प्रायः पुराने प्रतीकों का ही प्रयोग किया है। जैसा उत्साह उन्होंने अप्रस्तुत, अलंकार तथा ध्वनि के सम्बन्ध में दिखाया वैसा प्रतीक के संबंध मे नहीं दिखाया।

बिम्ब-विधान

अप्रस्तुत-योजना, अलंकार तथा ध्वनि-क्षेत्र में तो समीक्ष्य हिन्दी-उर्दू-कविता की देन श्लाघ्य है ही, परन्तु आलोच्यकाल के कवियों के काव्य-कौशल का

वास्तविक पता उनके बिम्ब-विधान से चलता है। वैसे तो अप्रस्तुत का अर्थ अत्यन्त व्यापक है और प्रस्तुत का अभिज्ञान कराने के लिए कवि जो विधान करता है, वह सब अप्रस्तुत है, लेकिन हिन्दी-रीतिकविता तथा उर्दू-शाइरी बिम्ब-विधान-क्षेत्र में इतनी असाधारण एवं सम्पन्न है कि उनके बिम्ब-विधान पर पृथक् से विचार करने की आवश्यकता है।

बिम्ब-विधान का अर्थ है रसयिता अथवा पाठक के मानस में चित्र-स्थापना। यह कार्य प्रायः उपमा, रूपक या ध्वनि आदि के सहारे किया जाता है, इसलिए बिम्ब को किसी हद तक अप्रस्तुत के अन्तर्गत माना जा सकता है। परन्तु बिम्ब का क्षेत्र अप्रस्तुत मात्र नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत भी बिम्ब-निर्माण-क्षम हो सकता है, उदाहरणार्थ—

ड्योढ़ी प अहले-बैत हैं सब खोले सर के बाल।
पर्दे से मुँह निकाले हैं अत्फ़ाले-खुर्दसाल।
लब उनके ऊदे-ऊदे हैं मुँह गोरे-गोरे हैं।
आँखों में अश्क हाथों में खाली कटोरे हैं।
कहते हैं सब लबों प ज़बानों को फेर कर।
अब पानी लेके आते हैं अब्बास नामवर। —अनीस

इस उद्धरण में प्यासे बच्चों का चित्र बिना अप्रस्तुत के प्रस्तुत किया गया है। गोरे-गोरे चेहरों के बीच बच्चों के ऊदे-ऊदे ओठ विपरीत-वर्णी फलक पर बने चित्र की भाँति मन में स्पष्ट उभर आते हैं। यह एक चित्र हुआ। हाथों में ख़ाली कटोरे पकड़े अश्रु-भरी आँखों से टकटकी लगाने में दूसरा तथा ऊदे रंग के सूखे ओठों पर लाल-लाल ज़बानों का फिरना तीसरा चित्र है। ये सभी बिम्ब प्रस्तुत रूप हैं, अतः हम इन्हें मूलबिम्ब कहेंगे।

बिम्बों की गति बड़ी गहन है। वे प्रस्तुत-अप्रस्तुत की क्रिया-प्रक्रिया के फल-स्वरूप जन्म लेते हैं। कहीं वे मूलबिम्ब-रूप होते हैं, कहीं प्रतिबिम्ब-रूप। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए हम तुलसीदास के सवैए से दो चरण प्रस्तुत करना उचित समझते हैं। बालक राम के सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

'तुलसी' जन रंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील मनहुँ नवनील सरोरुह से विकसे।

इस उद्धरण में एक चित्र तो कज्जल-रंजित नेत्रों का है, दूसरा खंजन-शावकों का और तीसरा शशि में विकसे दो समशील सरोजों का। कवि का वास्तविक उद्देश्य अंजन-रंजित नेत्रों का सौन्दर्य प्रस्तुत करना है, अतः मूलबिम्ब यही है। उसको स्फुट बनाने के लिए जिन दो बिम्बों की प्रतिष्ठा की गई, वे उस मूलबिम्ब के प्रति

उपकारी हैं, परन्तु वास्तविक (अभिप्रेत) बिम्ब नहीं हैं। ये बिम्ब मूलबिम्ब के प्रभाव से कवि के मानस में उभरे हैं। जैसे आकाश-स्थित-सूर्य जलस्थित-सूर्य का कारण है, वैसे ही मूलबिम्ब कवि-मानस में इन प्रतिबिम्बों की रचना करता है।

हमारे कहने का आशय यह है कि प्रस्तुत तो कवि के सामने स्थित हो भी सकता है, लेकिन वह पाठक के सामने स्थित नहीं होता। पाठक जब उपर्युक्त उद्धरण पढ़ेगा तो कज्जल-रंजित नेत्रों तथा खंजन-शावकों और शशि में विकसे सरोजों का ग्रहण उसे बिम्बरूप ही होगा, क्योंकि उसके लिए ये सभी मानसबिम्ब मात्र हैं। मूलबिम्ब तथा उपकारीबिम्ब का जैसा विवेक कवि-बुद्धि में रहता है, वैसा पाठक की बुद्धि में नही रहता। इस दृष्टि से बिम्बों के बीच प्रस्तुत-अप्रस्तुत के आधार पर कोई रेखा खींचना संभव नहीं है। इसलिए बिम्ब-योजना को अप्रस्तुत-योजना से पृथक् रक्खा गया है।

बिम्ब सूक्ष्म शब्दों का स्थूल परिणाम है। परन्तु स्थूल होने पर भी वह केवल मानस-गोचर होता है। मन द्वारा ग्रहण होने से वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध—इन सभी विषयों को आस्वाद्य बना सकता है। अतएव बिम्ब को विषयानुसार पाँच प्रकार का माना जा सकता है—(१) ध्वनि-बिम्ब (२) स्पर्श-बिम्ब (३) रूप-बिम्ब (४) रस-बिम्ब और (५) गंध-बिम्ब। इन्हीं को इन्द्रियों के संबंध से चाक्षुष, श्रोत्रिय आदि नाम भी दिए गए हैं। परन्तु बिम्ब केवल मानसगोचर होता है। इसलिए चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होने के कारण बिम्ब के लिए चाक्षुष आदि संज्ञाएँ युक्ति-युक्त नहीं है। हाँ, अधिदैव के सम्बन्ध से यदि कोई उन्हें तैजस-वायव्यादि नाम देना चाहे तो दे सकता है।

अलंकरण-प्रवृत्ति के कारण रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य बिम्ब-प्रचुर हो गया है। एक-एक विषय से सम्बद्ध बिम्ब-योजनाओं के बड़े मनोहर नमूने सुगमता से खोजे जा सकते है। 'मोमिन' के निम्नोद्धृत शेर में रूप बिम्ब द्रष्टव्य है—

वाइज़ के ज़िक्रे-मेह्रे-क़यामत को क्या कहूँ
आलम शबे-विसाल के आँखों में छा गए।

शेर का भाव यह है कि वाइज ने आशिक़ के आगे प्रलयकालीन सूर्य के असह्य तेज का बखान किया जिससे वह भयभीत होकर इश्क़ करना छोड़ दे। परन्तु उसका वह वर्णन सुनकर आशिक़ की आँखों में मिलन-यामिनी का दृश्य छा गया जिसमें उसके माशूक़ का चेहरा प्रलयकालीन सूर्य-सा भास्वर था।

यह एक प्रस्तुत के लिए एक बिम्ब का उदाहरण है। उर्दू-शाइरी में ऐसी बिम्ब-योजना बहुत हुई है। हिन्दी-रीतिकविता में भी ऐसे बिम्ब उपलब्ध हैं, उदाहरणार्थ—

बिन अवलंब किलकान असमान में ह्वै
लेत बिसराम जहाँ इन्दु औरउ थके।
महल उतंग मनि जोतिन के संग आनि
कैयो रंग गहत तुरंग रवि-रथ के। —भूषण

'मोमिन' तथा 'भूषण' के पद्यांश रूप-बिम्ब के उदाहरण है। 'भूषण' ने वर्णन किया है कि रायगढ़ के उच्च महलों के ऊर्ध्व भाग में जड़ी हुई विविध मणियों का प्रकाश पड़ने से सूर्य के घोड़े अनेक रंग प्राप्त करते हैं। 'मोमिन' के बिम्ब में चमचमाहट है और 'भूषण' के बिम्ब में रंगीनी। यहाँ यद्यपि एक प्रस्तुत के लिए एक बिम्ब ही प्रयुक्त है, परन्तु हिन्दी-रीतिकविता की प्रकृति प्रायः एक प्रस्तुत के लिए कई बिम्ब सन्निविष्ट करने की है। रूप-बिम्ब को ही देखिए—

चारु तमाल प्रसून लता किधौं स्याम घटा सँग बिज्जुल गोरी।
मधुपावलि कंज की माल मनो छबि पारस कंचन खंभ की जोरी।
मूरतिवंत समुद्र समीप दिपै बडवागि सिखा कछु थोरी।
जो चलि 'आलम' नीके लखौ तौ पै नंदलला वृषभानु किशोरी।

इस सवैये में राधा-कृष्ण के लिए तमाल-प्रसूनलता, बादल-बिजली, मधुप-कंजमाला, पारस-कंचनखंभ तथा समुद्र-वडवाग्नि-शिखा के चार-रूप बिम्ब आए हैं।

बिम्ब के भेद

बिम्ब विचार या भाव को रंग-बिरंगा परिधान पहनाकर अधिक हृद्य रूप मे प्रस्तुत करता है। रीतिकालीन बिम्बों का मुख्य कार्य यही है। परन्तु क्या बिम्ब कोई नया भाव या विचार उत्पन्न नहीं करता ? इस दृष्टि से हम बिम्बों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) जड़ बिम्ब (२) चेतन बिम्ब।

बिम्ब यदि कवि-लक्ष्य-साधक है, अर्थात् उसका कार्य नया भाव या विचार सामने रखना है तो उसे चेतन बिम्ब कहा जाएगा। यदि आलम्बन को निरूपित करने के स्थान पर वह उसे विरूपित करके अग्राह्य बनाता है तो उसे जड़ बिम्ब कहेंगे।

हम पहले विचार कर चुके हैं कि बिम्ब का वास्तविक कार्य प्रस्तुत का रूप उजागर करके मानस-ग्राह्य बनाना होता है। इस योजना में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव ही प्रायः सामने आता है। हिन्दी-रीतिकविता में इसी प्रकार की बिम्ब-योजना हुई है, परन्तु उर्दू-शाइरी की बिम्ब-योजना हिन्दी-ढंग से भिन्न प्रकार की है। उर्दू-कविता में बिम्ब-विम्ब-भाव की योजना प्रकृष्टता से प्राप्त है। उदाहरणार्थ—

तेरी जुल्फ़े-सियह की याद में आँसू झमकते हैं।
अँधेरी रात है बरसात है जुगनूँ चमकते हैं। —मीर

इस शेर में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव तब है जब पहले मिसरे को प्रस्तुत तथा दूसरे को अप्रस्तुत मानें। यदि न मानें तो ये सभी स्वतंत्र वर्णन होने पर बिम्ब-बिम्ब भाव कहा जाएगा। बिम्ब-बिम्ब-भाव इसलिए कि इसमें कौन बिम्ब है कौन प्रतिबिम्ब इसका निर्णय नहीं हो सकता। जुल्फ़ों की याद में आँसू झमकने का प्रतिबिम्ब बरसात तथा जुगनूं मे है अथवा बरसात एवं जुगनूं के कारण जुल्फ़े-सियह की याद आई और आँसू झमके। यहाँ प्रतिबिम्ब बिम्ब बन गया और बिम्ब प्रतिबिम्ब, अतः दोनों ही बिम्ब स्वतंत्र सिद्ध हुए।

हिन्दी-रीतिकविता में ऐसी बिम्ब-योजना का यद्यपि प्रचलन नहीं हुआ, तथापि कहीं-कहीं उसके दर्शन अवश्य हो जाते हैं। कविवर 'भूषण' ने इस प्रकार के बिम्ब-विधान में चमत्कार-दर-चमत्कार उत्पन्न करके अपने शिल्प-नैपुण्य का परिचय दिया है—

साहूजी की साहिबी दिखात कछु होनहार
जाके रजपूत भरे जोम बमकत हैं।
भारे भारे नग्रवारे भागे घर तारे दै दै
कारे घन घोर ज्यों नगारे धमकत हैं।
व्याकुल पठानी मुगलानी अकुलानी फिरैं
'भूषन' भनत माँग मोती दमकत हैं।
दिल्ली-दल दाहिबे को दच्छिन के केहरी के
चंबल के आर पार नेजे चमकत हैं।

इस कबित्त में दमकने तथा चमकने से सम्बद्ध दो स्वतंत्र बिम्ब हैं। तुलना की दृष्टि से देखें तो एक ओर मोती दमक रहे हैं और दूसरी ओर नेज़े चमक रहे हैं। अब दोनों का संबंध देखिए। मोती दमकते है, उनकी ज्योति से मानों नेज़ों में चमक आ गई है। मोतियों की दमक और नेज़ों की चमक के बीच स्थित है 'दिल्ली दल दाहिबो'। विचार करने पर यह 'दाहिबो' ही चमक-दमक का स्रोत मालूम पड़ता है। क्योंकि मोती या नेज़े स्वयंप्रकाश नहीं हैं, वे किसी के प्रकाश में ही चमक-दमक सकते हैं। दहन में जो ज्वाला है, उसका दमक-चमक से अन्तरंग सम्बन्ध होने से यहाँ दहन ही दमक-चमक का कारण सिद्ध होता है। अब दाह, चमक तथा दमक के त्रिकोणिक संबंध पर दृष्टि डालिए। दिल्ली की सेना जलाने के लिए नेज़े चमकते हैं और उनके भय से पठानियाँ-मुग़लानियाँ अस्त-व्यस्त भाग रही हैं, जिससे उनका मुखाच्छादन हट जाता है और माँग के मोती दमक उठते है। होड़ा-होड़ी का भाव भी द्रष्टव्य है। माँग के मोतियों को दमकता देखकर भाले भी चमक उठते हैं।

इन उदाहरणों मे बिम्ब-बिम्ब-योजना है। लेकिन ये दोनों बिम्ब योजनाएँ एक-सी नहीं हैं। 'मीर' का साध्य बिम्ब है, लेकिन 'भूषण' का साध्य भाव है। 'मीर' के दोनों बिम्ब यद्यपि स्वतन्त्र बिम्ब है, फिर भी वे आलंबन का स्वरूप स्पष्ट करने में उपकारी अवश्य हैं। रूप-बिम्ब को मानस भोग्य बनाने में एक बिम्ब दूसरे की सहायता कर रहा है।

तात्पर्य यह कि विविक्त बिम्ब स्वयं में दोषयुक्त नहीं होता। उसमें दोष तब आ जाता है जब उसकी योजना भाव-सम्प्रेषण में बाधक बनती है। उदाहरणार्थ 'ग़ालिब' का एक शेर उद्धृत है—

बयाँ क्या कीजिए बेदादे-काविश हाए-मिज़गाँ का।
कि हर यक क़त्रए-ख़ूं दाना है तस्बीहे-मरजाँ का।

शाइर माशूक़ के पलकों की चुभन प्रस्तुत करना चाहता है, मगर उसके प्रभाव को बताने के लिए दूसरी पंक्ति में वर्णन करता है कि मेरे ख़ून का हर बिन्दु मूँगे की माला का दाना बन गया है। यहाँ मूँगे की माला का जगमगाता बिम्ब ही हृदय पर अधिकार कर लेता है, प्रस्तुत पक्ष्म-बिद्ध रक्त-बिन्दुओं की स्थिति कुछ नहीं रह जाती। यह बिम्ब कवि-लक्ष्यनात्मक नहीं है, अतः जड़ बिम्ब है।

उर्दू-शाइरी में जड़ बिम्ब-योजना का आधिक्य है। रीतिकालीन उर्दू-कविता में तो जड़ बिम्बों का कारख़ाना ही खुल गया था। 'नासिख़' तथा 'आतश' का अधिकांश काव्य इस जडिमा का लम्बा नमूना है। लेकिन सिद्ध उर्दू-कवियों ने चेतन बिम्बों की योजनाएँ भी अपने काव्य में की हैं—

किया आईनाख़ाने का वो नक़्शा तेरे जल्वे ने
करे जो परतवे-ख़ुर्शेद आलम शबनमिस्ताँ का। —ग़ालिब

इस बिम्ब-योजना का चाकचिक्य यद्यपि आँखों को चकाचौंध करता है, लेकिन अर्थ को आच्छादित नहीं करता। यहाँ सूर्य (ख़ुर्शेद) और ओस के दो बिम्ब पृथक्-पृथक् मनोहर हैं, परन्तु सूर्य-ज्योति से उद्भासित ओस-बिन्दुओं की जगमगाहट प्रिय-प्रभा प्रतिबिम्बित-आईना खाने (शीशमहल) को और भी स्पष्टता से प्रस्तुत कर देती है। अब इस तैजस बिम्ब से हटकर सूर्य तथा ओस के सम्बन्ध पर विचार करने से अर्थ की गंभीरता उद्घाटित होती है। सूर्य ओस को उड़ा देता है। यह वायव्य बिम्ब या स्पर्श-बिम्ब है। उड़कर ओस विलीन हो जाती है अर्थात् सूर्य के आगे नहीं ठहर पाती। उसी प्रकार दर्पण भी तेरे मुक़ाबले की ताब नहीं ला सकता। यहाँ बिम्ब हमारे बुद्धि-सूत्र को किस प्रकार संचालित कर रहा है?

उपर्युक्त शेर में चेतन बिम्ब-योजना है। परन्तु इसमें बिम्ब-संयोजन-कला की अपूर्वता नहीं है। बिम्ब-सन्निवेश-कला के जैसे अद्भुत दर्शन हमें 'घनानन्द'

की कविता में होते हैं वैसे किसी भी रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कवि की रचना में प्राप्त नहीं हैं। आलोच्यकाल के हिन्दी-उर्दू-कवियों की रचनाओं में बिम्ब-योजना का पृथक् या मिश्र रूप तो मिलता है, लेकिन दुहरी-बिम्ब-योजना का कौशल नहीं मिलता। 'घनानन्द' के निम्नांकित कबित्त में दुहरे बिम्ब-विधान का चमत्कार दर्शनीय है—

कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै।
पैंड़े परे पापी ये कलापो निस द्यौस ज्यौं ही
चातक घातक ज्यौं ही तू हू कान फोरि लै।
आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना
जानि कै अकेली सब घेरौ दल जोरि लै।
जौ लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै।

इस कबित्त की विषम संख्याक पंक्तियों अर्थात् १, ३, ५, ७ में विभिन्न बिम्ब हैं, परन्तु सम संख्याक पंक्तियों में सर्वत्र ध्वनि-बिम्ब रक्खे गए है। 'कूकि कूकि' में ध्वनि स्पष्ट है ही, चातक की चीख व्यंग्य है और अंतिम चरण में घन की गरज का वर्णन है। छठी पंक्ति के 'घेरौ' शब्द में भी ध्वनि-बिम्ब की व्यंजना है। 'घेरौ' वस्तुतः 'धैरो' है, जिसका अर्थ बदनामी होता है। बदनामी-कुचर्चा आदि वाणी के आश्रित होने से ध्वनि-बिम्ब है।

विषम पंक्तियों में काढ़ति, कोरि, फोरि, आवन, बरसावन आदि क्रियाएँ तो सहज ही गति-बिम्ब प्रस्तुत करती हैं। 'आनँद के घन प्रान जीवन' विशेषण में गति-बिम्ब व्यंजित है। 'प्रान जीवन' का घन के सम्बन्ध से अर्थ है प्राणों के लिए जीवन (पानी) प्रदान करने वाले। पानी बरसने में क्रिया है, इसलिए यहाँ गति-बिम्ब है। 'पैंड़े परे' में तो मोरों की गति सामने आ ही जाती है। अब देखिए ध्वनि-बिम्ब के द्वारा क्या-क्या कार्य होते हैं? वह ध्वनि कलेजा कोरती है अर्थात् नुकीला औज़ार है, कान फोड़ती है यानी हथौड़े की तरह कोई भारी चीज़ है, दल जोड़ती है मानो कोई व्यक्ति है। 'विनोद-बरसावन' में ध्वनि का बरसना निहित है। इस प्रकार ध्वनि की तरलता एवं रसता द्रष्टव्य है। यदि 'वर' और सावन' को अलग-अलग कर दें तो वह (प्रिय) विनोद का श्रेष्ठ सावन हुआ यानी उसकी विनोद-वार्ता प्रेमी को हरा-भरा कर देती है। यहाँ ध्वनि का सम्बन्ध रूप से है। पूरे कबित्त की सम पंक्तियों मे ध्वनि-बिम्ब की एकसूत्रता है, जिसमें विषम पंक्तिगत गति-बिम्ब मणि-मुक्ता की भाँति ओतप्रोत हैं।

जिस तरह कार्य-भेद से हमने बिम्ब को जड़ या चेतन मान लिया उसी प्रकार अवस्था-भेद से उसके दो प्रकार हो सकते हैं—(१) अचल बिम्ब (२) चल बिम्ब। अचल बिम्ब का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

नवला की नाभि कोहनी है कान्ह कुच गहि
सोए जोरा जटित अँगूठी सोहै कर में।
मेरे जान बाँबी ते निकसि कारे नाग फनि
राख्यो मणि मंडित सुमेर के शिखर में।—'जंजीरा'

नायक नायिका के कुच पकड़े हुए सो रहा है। उसने उँगलियों में अगूठियाँ पहन रक्खी हैं। उसकी कुहनी नायिका की नाभि के ऊपर रक्खी हुई है। कवि ने बाँबी से निकल कर सुमेरु पर्वत के शिखर में मणि-मंडित-फण रखे हुए काले सर्प का बिम्ब प्रस्तुत किया है। यह बिम्ब अचल है। उर्दू-शाइर 'आतश' के निम्नांकित शेर में भी बिम्बों की अचलावस्था देखी जा सकती है—

ज़ुल्फ़ को देखे अगर देखा न हो अब्रे-सियाह
बर्क़ देखी हो न जिसने देखे उस रुख़्सार को।

चल बिम्ब वह बिम्ब है जो अवस्थित नहीं होता। उसमें हरकत होती है। 'आतश' के अधोलिखित शेर में चल बिम्ब का नमूना है—

ता सुब्ह नींद आई न दम भर तमाम रात।
नौ चक्कियाँ चलीं मेरे सर पर तमाम रात।

चक्कियाँ चलने में चल बिम्ब है। लेकिन यह बिम्ब केवल नींद न आने के कारण का उल्लेख करता है, आशिक़ के भावों को प्रकाशित नहीं करता। बिम्ब ज़रूर चल बिम्ब है, परन्तु यह बिम्ब है जड़ बिम्ब ही। चल बिम्ब का एक नमूना हिन्दी-कवि 'देव' की रचना से लीजिए—

ह्वै सपने तिय को पिय आइ दई हिय लाय बनाइ बिरी त्यों।
चुंबत ही चख चौंकि परी सुचितै चकि सेज तैं भूमि गिरी त्यों।
'देव' जू द्वार किवारनहू झँझरीन झरोखन झाँकि फिरी त्यों।
दीन ज्यों मीन जरा की भई सु फिरै फरकै पिंजरा की चिरी ज्यों।

नायिका ने स्वप्न में नायक को चूमते हुए देखा; वह चौंक पड़ी। फ़ौरन ही उसकी आँख खुल गई। वह चकपका कर शय्या से नीचे गिर पड़ी। उसने द्वार, किवाड़, झँझरी, झरोखा सभी में झाँका। वह जल रहित मीन-सी दीन हो गई और अब पिंजड़े की चिड़िया की तरह फरकती फिरती है। चिड़िया के बाहर निकल न

पाने और फड़फड़ाने के बिम्ब से नायिका के आन्तरिक भाव अधिक विशद हो जाते हैं। इसलिए यह चल बिम्ब चेतन बिम्ब के वर्ग में रक्खा जाएगा।

बिम्ब के विषयानुसार जो पाँच प्रकार है, उनमें रूप का महत्त्व सर्वाधिक है। गंध को छोड़कर अन्य चारों विषयों में रूप प्रायः सम्मिलित ही रहता है। यही कारण है काव्य में रूप-बिम्बों के प्रभूत उदाहरण मिलते हैं। लेकिन रूप-बिम्ब की सत्ता तभी मानी जाएगी, जब उसका सम्बन्ध तेज से हो। परन्तु यदि वह तेज किसी दूसरे बिम्ब का स्वरूप उत्कृष्ट करने के लिए है तो वहाँ रूप-बिम्ब नहीं माना जा सकता, यथा—

रंग हवा से यूँ टपके है जैसे शराब चुआते हैं —मीर

यहाँ रंग में रूप-बिम्ब है ज़रूर, लेकिन यह बिम्ब अंग-रूप है। अंगी तो हवा से रंग टपकने से सम्बद्ध रस-बिम्ब है, क्योंकि यही बिम्ब कवि को अभिप्रेत है। हिन्दी तथा उर्दू-काव्यों मे ध्वनि, रस, स्पर्श, गंध तथा रूप सभी से सम्बन्धित बिम्बों के निदर्शन उपलब्ध है। परन्तु कहीं एक, कहीं दो बिम्बों की योजना के आगे कवियों की पहुँच नहीं दिखाई पड़ती। बिम्ब-योजना के क्षेत्र में जैसा विचित्र विन्यास 'घनानन्द' का है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। उनके धूपछाहीं बिम्बों की अन्तर्योजना का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

विकच नलिन लखें सकुचि मलिन होति
    ऐसी कुछ आँखिन अनोखी उरझनि है।
सौरभ समीर आएँ बहकि दहकि जाय
    राग भरे हिय में विराग-मुरझनि है।

यहाँ आपाततः दो रूप-बिम्ब मानसगोचर होते हैं। प्रफुल्लित कमल देखकर नेत्र संकुचित होकर मलिन हो जाते हैं। सुगंधित वायु के कारण सुध-बुध खोकर जल उठते हैं। लेकिन 'घनानन्द' की बिम्ब-योजना इतनी महिष्ठ है कि उसका सौन्दर्य उद्घाटित करने के लिए बहुत गहरे उतरना पड़ता है। इस उद्धरण में वस्तुतः रूप, रस, स्पर्श, गंध एवं शब्द इन पाँचों से सम्बन्धित बिम्बों का समायोजन है। प्रथम चरण में रूप-बिम्ब स्पष्ट ही है। दूसरी पंक्ति में सौरभ तथा समीर का प्रभाव नेत्रों पर दिखाया गया है। सौरभ के कारण वे बहकते हैं और समीर के कारण दहकते हैं। चौथे चरण की व्याख्या सम्मान्य विद्वानों ने इस तरह की है, "कमल को देखकर उनसे विराग होता है और प्रेम युक्त हृदय मे मुरझाहट आ जाती है।"[५] परन्तु यह अर्थ 'घनानन्द' की कला की उपेक्षा करता है। 'घनानन्द' उपरिउद्धृत कवित्त के प्रथम तीन चरणों में रूप, रस, स्पर्श तथा गंध से सम्बद्ध बिम्ब ला चुके हैं। इस चौथे चरण में ध्वनि-बिम्ब की योजना है। यहाँ 'राग'

का अर्थ है गान। मतलब यह है कि जिस हृदय में सुजान की प्यारी संगीत-भरी वाणी गूँजती रहती थी, वहाँ अब विराग की मूर्च्छनाएँ उठ रही हैं। यह ध्वनि-बिम्ब हुआ। पाँचों बिम्बों की योजना होने से अर्थ गंभीरतर तथा भाव उत्तरोत्तर तीव्र होता चला गया है। ऐसी जादूभरी चेतन बिम्ब-योजना करना 'घनानन्द' का ही काम है।

हिन्दी-रीतिकविता तथा उर्दू-शाइरी अप्रस्तुत-योजना, अलंकार-प्रयोग तथा बिम्ब विधान के क्षेत्र में बहुवर्णा एवं अनेकरूपा है। दोनों यद्यपि आढ्य हैं फिर भी दोनों समान नहीं हैं और सबसे बड़ा अन्तर यह है कि हिन्दी-कविता के अप्रस्तुत, अलंकार या बिम्ब, प्रस्तुत के रोचनार्थ हैं, परन्तु उर्दू-शाइरी में वे प्रायः स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं।



अध्याय | ६

शृंगार रस

रीतिकाल राजनैतिक दृष्टि से पूर्ण उत्कर्ष एवं पूर्ण पतन का काल है। शाहजहाँ (रा० का० १६२७-१६५८) के समय में मुग़ल-वैभव अपनी पराकाष्ठा पर था। जीवन में भोग-विलास तथा सजावट आ गई थी। औरंगजेब की मृत्यु (सन् १७०७) के बाद मुग़ल साम्राज्य का द्रुतगति से पतन हुआ। शासक अशक्त तथा निर्वीर्य थे। तलवार उनके बूते की नहीं थी, अतएव जीवन-संघर्ष भुलाने के लिए सुरा-सुंदरी के आश्रित रहते थे। मुग़लों का शासन छिन्न-भिन्न हो जाने से मांडलिक राजा-नवाब स्वतन्त्र हो गए। स्वतंत्र राजा-नवाबों में मुग़ल बादशाहों से होड़ लेने की प्रवृत्ति जगी, अतः अपनी शान-शौक़त बढ़ाने लगे। कुछ अनुकरण-वश और कुछ वास्तविक जोश ने उन्हें सुरा-सुन्दरी की ओर उन्मुख किया। आशय यह कि मुग़ल बादशाह जीवन में निराशा की प्रबलता के कारण संकुचित होकर रमणी-भोग-केन्द्रित हुए थे, लेकिन अन्य शासकों को स्वच्छंदतावश जीवन के उल्लास-स्फूर्ति के कारण सुरा-सुन्दरी की आवश्यकता महसूस हुई। रीतिकालीन राजनैतिक उत्थान-पतनोद्भुत परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में भी सामंत वर्ग के भीतर यह भोग-प्रवृत्ति एक समान मिलने का यही कारण है। इस स्थिति में काव्य का स्वर शृंगार-प्रधान हो गया, क्योंकि तत्कालीन कवि अथवा शाइर जिस जीवन से काव्योपकरण संकलित करता था उसमें शृंगार-प्रवृत्ति बहुत बढ़ी हुई थी। संपत्ति और शृंगार पर्यायवाची बन गए थे—

'देव' सबै सुखदायक संपति संपति सर्वसु दंपति जोरी।
दंपति दीपति प्रेम प्रतीति प्रतीति की रीति सनेह निचोरी।
प्रीति जहाँ रस रीति विचार विचार की बानी सुधारस बोरी
बानी को सार बखान्यो सिँगार सिँगार को सार किसोर किसोरी।

'देव' के कथन से सुव्यक्त है कि रीतिकालीन वाणी (काव्य) का सार शृंगार

रस है और इस शृंगार के सार हैं किशोर-किशोरी। परन्तु किशोर-किशोरी में भी किशोरी (नायिका) की महत्ता अधिक मानी गई है—

नौरस में शृंगार रस सब तें नीको आहि।
तामैं नीकी नाइका बर्नत हौं अब ताहि। —सुन्दर

वाणी का सार शृंगार होने से हिन्दी-रीतिकवियों ने अन्य रसों को स्पर्श मात्र करके शृंगार रस का अत्यन्त विस्तार से निरूपण किया और उस निरूपण में नायिका को दृष्टि-पथ में बराबर रक्खा है। आलोच्य कालीन उर्दू-शाइरी में भी शृंगार की ही प्रधानता है।

नायिका तथा माशूक़

रति की स्थिति किशोर-किशोरी के भीतर होने से एक आलम्बन होता है और दूसरा आश्रय। इन्हें लौकिक भाषा में प्रेमी-प्रेमिका या आशिक़-माशूक़ कहते हैं। काव्य शास्त्र में इनकी संज्ञा नायक-नायिका है। आलोच्यकालीन हिन्दी-कविता में जितना महत्व नायिका का है, उर्दू-शाइरी में उतना ही प्राधान्य माशूक़ को प्राप्त है, परन्तु नायिका तथा माशूक़ प्रेमालम्बन होने पर भी प्रकृत्या समान नहीं है।

हिन्दी में नायिका-भेद के सिलसिले में प्रायः अवस्था-भेद से 'दश नायिका' मान्य रही हैं। इन नायिकाओं का सम्बन्ध उर्दू-कविता के माशूक़ से नहीं जोड़ा जा सकता। उर्दू-माशूक़ नित्यालम्बन रहने से वासकसज्जा, विरहोत्कंठिता, स्वाधीनवल्लभा, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितवल्लभा और अभिसारिका मे से किसी भी वर्ग के अन्तर्गत नहीं आता है।

स्वाधीनवल्लभा वह नायिका है जिसे नायक के प्रेम पर एकाधिकार प्राप्त हो। वह अनूढ़ा, स्वकीया अथवा परकीया हो सकती है। यही नहीं, वयोनुसार वह मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भी होगी।

हिन्दी-रीतिकाव्य में स्वकीया, परकीया तथा सामान्या तीनों के उल्लेख होने पर भी सबसे अधिक उदाहरण परकीया के दिए गए हैं। फ़ारसी और उर्दू-कविता में स्वकीयेतर प्रेम-चित्रण का आधिक्य देखकर समालोचक एवं साहित्य-इतिहास-लेखक हिन्दी के नायिका-भेद पर उसका प्रभाव फ़ौरन दिखाने लगते हैं। लेकिन उनका यह कथन परम्परा-अज्ञान का प्रतिफल है। परकीया भारतीय काव्य-शास्त्र में कोई नई चीज़ नहीं है। वात्स्यायन ने स्त्रियों के कन्या, भार्या, परदारा तथा वेश्या, चार प्रकार बताए हैं। इसलिए यह कहना कि परकीया-प्रेम-वर्णन पर विदेशी प्रभाव है, अविचारित उद्घोषणा है। रीतिकालीन नायिका-भेद

संस्कृत-चिन्तन का तत्कालीन सामाजिक-परिस्थिति-जन्य मनोवैज्ञानिक पल्लवन है, फ़ारसी या उर्दू-कविता का अनुधावन नहीं है।

उर्दू-काव्य का माशूक़ विवाहित नहीं होता, अतः वह स्वकीया नहीं है। परंतु यदि वह नायिका है तो किस वर्ग में आएगा यह विचारणीय है? नायिका होने की जो योग्यताएँ आचार्यों द्वारा उल्लिखित हैं, उनमें सौन्दर्य प्रमुख है। उर्दू-शाइरी में माशूक़ को अनिंद्य सुन्दर होने के कारण यूसुफ़ द्वितीय कहा जाता है। चूँकि हज़रते-यूसुफ़ दास थे, उन्हें मिस्र के बाज़ार में बेचा गया था, इसलिए माशूक़ के बिकने का वर्णन भी किया जाता है—

शायद मताए-हुस्न खुली है किसू की आज
हंगामा हश्र का-सा है बाज़ार की तरफ़। —मीर

जब माशूक़ के हुस्न की ख़रीद-फ़रोख़्त होने लगी तो उसका भाव भी घटने-बढ़ने लगा। वह कभी मोतियों के भाव बिका, कभी गेहूँ के भाव—

जो हुस्न मोतियों की तोल उन दिनों बिका
तूने बनिर्ख़े-गंदुम उसकी धड़ी लगाई। —सौदा

इन वर्णनों से उर्दू-कविता का माशूक़ नायिका-भेद के अनुसार सामान्या की कोटि में आना चाहिए। वह वादा करके वचन-भंग करने वाला, आशिक़ को कटाक्षाहत कर प्रसन्न होने वाला, प्रेम जोड़ने के अभिनय में दक्ष और अनेक प्रति-प्रेमियों का आश्ना बताया गया है। हिन्दी-रीतिकविता में ऐसी नायिका के नमूने हैं—

एकनि सों मिलबे को सहेट बद्यो एक सों हित हेत निहोरति।
एकनि सों चितवै चित दै तिय एकनि सों मुरि भौहें मरोरति।
भोर ते साम लौं काम इहै 'रघुनाथ' अनेकनि के मन बोरति।
चोरति एकनि के चित कों हित एक सों तोरति, एक सों जोरति।

लेकिन इस प्रकार की प्रेम-व्यापार-प्रवीणा नायिका को कुलटा कहा गया है। उर्दू-काव्य का माशूक़ भी इसी कोटि में आएगा, क्योंकि ऐसे कोई संकेत उर्दू-शाइरी में नहीं मिलते, जिनसे प्रकट हो कि उसका रक़ीबों (प्रति-प्रेमियों) के साथ रहना लोभवश है। माशूक़ का रक़ीबों से मिलना यदि धनादि के लोभ से होता तो हम उसे सामान्या के वर्ग मे रखते। यह मिलन स्वच्छन्दाचरण के कारण हो सकता है, अतः वह कुलटा है—

कुलटा को यों सुकवि सब बरनत हैं करि नेम।
बिना द्रव्य जो करति है बहु पुरुषन सों प्रेम। —रघुनाथ

परन्तु माशूक़ में कुलटा से अनेक बातों में भिन्नता है। वह क़ातिल है।

आशिक़ों को क़त्ल करना उसका खेल है। तलवार, चाक़ू, नाज़ो-अदा आदि में से आशिक़ किसी न किसी का लक्ष्य बन ही जाता है। इनके अतिरिक्त वह लात, घूँसे और मुक्के का इस्तैमाल भी करता है—

मज़े को इश्क़ की ज़िल्लत के जानता है वही
किसी की जिनने कभी लात मुक्की खाई हो। —मीर

आशिक़ ही नहीं, उसके अत्याचार की लपेट से आशिक़ के संदेशवाहक भी नहीं बचते। वह पत्रवाहक की गर्दन उड़ा देता है और यदि कबूतर पत्र लेकर जाय तो उसका पर ढूंढे नहीं मिलता—

क्या है 'नासिख़' जवाबे-ख़त का ज़िक्र
न मिला एक पर कबूतर का।

और ज़रा उसका शौक़ देखिए। कभी वह आशिक़ के ख़ून की मेंहदी लगाता है, कभी कबूतर के ख़ून को पैरों में मिलता है। वह न केवल आशिक़ों का ख़ून करता है, अपितु चुल्लू में भर कर उसे पी भी लेता है "चुल्लू में उसके मेरा लहू था सो पी चुका।"[१] वह इतना ख़ून बहाता है कि पड़ोसियों के घरों में भी 'लोहू के परनाले' बहते है। उसने इतने लोगों को क़त्ल किया है कि सारा वातावरण दुर्गंध से भर गया है "बूए-ख़ूं आती है बादे-सुब्हगाही से मुझे।"[२] उसकी महफ़िल क्या है, कबाबी की दूकान है जहाँ एक ओर आशिक़ों के दिल भूने जाते हैं तो दूसरी ओर उनके जिगर सेंके जाते हैं।

गाली देना उसके स्वभाव में दाखिल है। वह मुँह भी चिढ़ाता हैं—"लगे मुँह भी चिढ़ाने देते-देते गालियाँ साहब"[3] और निष्ठुर इतना कि आशिक़ के मर जाने पर भी नहीं पसीजता। आशिक़ उसको गली में इसलिए मरना चाहता है कि उसकी क़ब्र वहीं बने। मगर वह आशिक़ों की हड्डियाँ खुदवाकर फिकवा देता है—

हड्डियाँ खुदवा के फिंकवा दी हैं उस सफ़्फ़ाक ने
आशिक़ों के मुरदे अपने-अपने मदफ़न में नहीं। —आतश

तात्पर्य यह कि माशूक़ का रुझान आशिक़ की ओर नहीं होता। वह उसे अपनी महफिल से बहुत बे-आबरू करके निकाल देता है। इसका कारण उर्दू-शाइरों ने यह दिया है—

इम्तिहाने-इश्क़ का दस्तूर देखा दूसरा
मुम्तहिन वो है न जाने ऐन शीनो-क़ाफ़ को।—'उ० का० ई०'

लेकिन यह तो आशिक़ की मन-समझौवल है। माशूक़ अपने आशिक़ के प्रतिस्पर्धी

से तो प्रेम करता ही है और यह तथ्य आशिक़ को मालूम है। इसलिए वह 'ऐन शीनो-क़ाफ़' से नावाक़िफ़ है इसे हम नहीं मान सकते। आशिक़ के प्रति उसके अवध्यान का कारण यह है कि वह शंकालु है। उसे आशिक़ की प्रेमनिष्ठा पर विश्वास नहीं है। उर्दू के महाकवि 'ग़ालिब' अपने माशूक़ के प्रति बहुत कुछ आश्वस्त हैं। उनका कथन है 'नामेहरबाँ नहीं है अगर मेहरबाँ नहीं' लेकिन माशूक़ की शंकालुता को उन्होंने भी इंगित किया है—

क्या बदगुमाँ है मुझसे कि आईने में मिरे
तूती का अक्स समझे है ज़ंगार देखकर।

शंकालुता की हद देखिए। आशिक़ के दर्पण मे जो काई लग गई है उसे देखकर माशूक़ यह समझता है कि आशिक़ ने एक तूती पाल रक्खी है और वह बजाए मुझे तूती को प्यार करता है। कमाल है माशूक़ की चाह का और अफ़सोस है उसकी बदगुमानी का।

शंकालु होना अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि अपरिचित पर सहसा विश्वास नहीं होता। परिचय, विश्वास तथा प्रेम, यह स्वाभाविक क्रम है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी बात को इन शब्दों में कहा है—

जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।

परन्तु माशूक़ की शंकालुता में अस्वाभाविकता इसलिए है कि आशिक़ अपना पूरा जीवन माशूक़ के लिए गुज़ार देता है फिर भी माशूक़ को उस पर विश्वास नहीं होता। हिन्दी-रीतिकवियों की नायिका भी शंकालु दिखाई गई है, लेकिन धीरे-धीरे वह नायक से परच जाती है। कवियों ने ऐसी नायिका के बड़े मधुर चित्र प्रस्तुत किए हैं—

जाहि न चाहि कहूँ पति की सु कछू पति सों पतियान लगी है।
त्यों 'पदमाकर' आनन में रुचि कानन भौंह कमान लगी है।
देत तिया न छुवै छतियाँ बतियान में तौ मुसिक्यान लगी है।
प्रीतमैं पान खवावन कौं परजंक के पास लौं जान लगी है।

जिसे पहले पति की चाह नहीं थी, वह अब पति को कुछ-कुछ पतियाने लगी है। इसलिए इस परिवर्तन के अनुसार ही उसके मुख पर कान्ति आ गई है, यद्यपि भौंह कमान तनी रहती है। अभी उरोज स्पर्श नहीं करने देती, परन्तु बातों में तो मुस्कराती है। इस प्रकार प्रियतम को पान खिलाने के लिए अब वह पर्यंक तक जाने लगी है। स्पष्ट है कि इस नायिका का स्वरूप उर्दू-माशूक़ से अलग है।

माशूक में निष्ठुरता के साथ अहंमन्यता तथा निरपराध प्रेमी के प्रति कोप-प्रदर्शन-प्रवृत्ति भी है। हिन्दी-रीतिकाव्य में ऐसी नायिका को अधमा कहा गया है—

पिय सौं हित हू के किए, करै मान जो बाल।
तासौं अधमा कहत है कवि 'मतिराम' रसाल।

रति-हीन भाव को शृंगाररस के अन्तर्गत मानना नायिका-भेद में मूले कुठाराघातः वाली बात है। नायिका-भेद का आधार ही पारस्परिक रति भाव है। उसके अभाव मे नायक-नायिका की कल्पना हो ही नहीं सकती। डॉ० राकेश गुप्त ने सर्वदैव कोपनशीला स्त्री को नायिका नहीं माना है।* हिन्दी-रीतिकवियों ने उसे अधमा कहा है। इस विशेषण से लक्षणकारों की तथाकथित-नायिका के प्रति अवमानना तथा उपेक्षा अभिव्यक्त होती है। हमारा अनुमान है कि उर्दू में इस प्रकार के माशूक़ का बोलबाला देखकर ही आचार्यों ने ऐसी स्त्री को भी नायिका-भेद में प्रविष्ट कर लिया, लेकिन उसे माना अधमा। हिन्दी-रीतिकवि अधमा कहकर ही नहीं रुक गए, उन्होंने उसे 'पापिनी' शब्द तक से सम्बोधित किया है—

ह्यौ उरझाइ रिझाइबे को रस राग कबित्तन की धुनि छाई।
त्यौं 'पदमाकर' साहस कै कबहूँ न विषाद की बात सुनाई।
सापनहू न कियो अपराध सु आपने हाथनि सेज बिछाई।
प्यौ परि पाइ मनाई तऊ (हाय) पापिनि को कछु पीर न आई।

लेकिन उर्दू-काव्य में अकारण क्रोधी माशूक़ की बड़ी प्रशंसा की गई है। आशिक़ उसके आगे बार-बार सर झुकाता है, उसके पैर पड़ता है, फिर भी वह उसे दुतकारता है।

प्रकृत्या निष्ठुर माशूक़ के प्रति प्रेम-निवेदन 'इकतरफ़ा' प्रेम कहलाता है। हिन्दी के अनेक आलोचकों ने इकतरफ़ा प्रेम को 'घनानंद' आदि रीतिकालीन सत्कवियों तक की रचनाओं में न केवल खोज निकाला, अपितु यह घोषणा भी कर दी है कि उनकी प्रेम-चित्रण-पद्धति फ़ारसी और उर्दू की है। हम यहाँ बल देकर कहना चाहते हैं कि इन कवियों का प्रेम उस तरह का इकतरफ़ा प्रेम नहीं है।

उर्दू-काव्य के आशिक़ का माशूक़ से संयोग कभी होता ही नहीं। आलोच्यकाल के हिन्दी-रीतिकवि संयोग-लाभ कर चुके थे। 'घनानंद' के विरहोद्गार इस बात के प्रमाण हैं कि उन्हें प्रेमिका के साथ रस-सागर में डूबने का निश्चित योग मिल चुका था—

---

*"But as it would be difficult to recognize a woman, who shows unabated anger to her lover, for no fault of his as a heroine."

तबतौ छवि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित-पोष कै तोष सु प्रान पले, बिललात महादुख-दोप-भरे।
'घनआनंद' मीत सुजान बिना सबही सुख साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे।

उपर्युक्त कबित्त से सुस्पष्ट है कि 'घनानन्द' का काव्य 'तब' और 'अब' का अन्तर अभिव्यक्त करने वाला प्रेम-काव्य है। 'तब' मे प्रेमी है और उसकी प्रिया है। 'अब' में प्रेमी के साथ प्रिया नहीं है, परन्तु प्रिया का सारा क्रिया-कलाप उसके साथ है। 'घनानन्द' के 'अब' में 'तब' सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। अर्थात् उनका 'अब' 'तब' पर आधारित है। उर्दू-कविता मे 'तब' का अस्तित्व न होने से 'अब' विच्छिन्न, कृत्रिम तथा अप्राकृत सिद्ध होता है। 'घनानन्द' की यह विरह-व्यथा सुदूर स्थित चन्द्रमुखी की छवि-ज्योत्स्ना से प्रेरित प्रेम-समुद्र का व्याकुल उद्वेलन है, लेकिन उर्दू-कविता के आशिक़ के उद्‌गार अंधकार में छोड़े गए रंगीन गुब्बारे है, जो शून्य में जाकर समाप्त हो जाते हैं।

'घनानन्द' द्वारा प्रयुक्त 'बिसासी' शब्द ही इस 'तब'-'अब' का अन्तर बताता है। विद्वानों ने 'बिसासी' शब्द की व्युत्पत्ति को 'वस्वसः' आदि फ़ारसी शब्दों में खोजने का अच्छा प्रयास किया है, परन्तु हमे तो यह शब्द स्पष्टतः 'आशीविष' का व्यत्यय मालूम पड़ता है। सर्प को लाख दूध पिलाइए बनेगा विष ही। 'घनानन्द' ने प्रेयसी को प्रेमामृत का पान कराया पर बदले मे मिला विष। उर्दू-आशिक़ को माशूक़ ने कभी आश्वस्त किया ही नहीं, फिर विश्वासघात का सवाल कैसा? उर्दू-काव्य का आशिक़ माशूक़ के प्रति सर्वथा शंकालु है—

है बसकि उनके हर इक इशारे मे निशाँ और
करते है मुहब्बत तो गुज़रता है गुमाँ और।
यारब वो न समझे हैं न समझेंगे मिरी बात
दे और दिल उनको जो न दे मुझको जबाँ और। —ग़ालिब

'घनानन्द' के काव्य मे प्रेम की स्थिति दोनों ओर थी, बाद मे प्रेयसी शरीर से उनके साथ नहीं आई, निष्ठुर हो गई तो सम प्रेम विषम हो गया। उर्दू-काव्य में प्रेम कभी सम था ही नहीं, इसलिए वह इकतरफ़ा है। अतएव 'घनानन्द' के काव्य का प्रेम विषम है, इकतरफ़ा नहीं और वह विरह-वर्णन के अन्तर्गत आएगा।

हिन्दी-रीतिकवियों में 'बोधा' (जन्म १७४६ ई०) के जीवन में जो 'विरह-वारीश' लहराया उसके दोनों किनारे प्रेयसी की दोनों भुजाएँ है। वहाँ आदि में भी संयोग है और बाद में भी। इसलिए वहाँ इकतरफ़ापन की हवा नहीं पहुँच सकती। और 'आलम' (रचनाकाल सन् १६८३-१७०३) जब शेख़ से वियुक्त ही

नहीं हुए तो उनकी कविता में उर्दू-काव्य का प्रेम-प्रभाव देखना ज़बरदस्त नेत्र-दोष है। 'ठाकुर' (सन् १७४६-१८२३) स्पष्ट घोषणा करते हैं "पर बीर मिले बिछुरे की बिथा मिलिकै बिछुरै सोई जानतु है।" अर्थात् वह मिलकर बिछुड़े है, जन्म-जात बिछुड़े हुए नहीं हैं। उन्होंने पहले संयोगानन्द उठाया है तब वियोगी बने हैं। 'ठाकुर' ने वियोग का कारण नहीं बताया, अतः उनका प्रेम उभयपक्षीय सम प्रेम भी हो सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से सिद्ध है कि इन सभी कवियों का विरह-वर्णन साधार है, उर्दू-काव्य के वियोग-वर्णन की भाँति निराधार नहीं है। यह सोचने की बात है कि जो अलमस्त प्रेमी हिन्दी-काव्य की लकीर के ही पूरे फ़क़ीर नहीं बने, वे उर्दू की अप्रकृत प्रेम-कविता के रूढ़ि-पंक में जाकर लथपथ क्यों होने लगेंगे ?

फ़ारसी काव्य-परम्परा में जो पुरुष का पुरुष के प्रति प्रेम-निवेदन है, उससे उर्दू-कविता सर्वभावेन प्रभावित है। परन्तु इस कुत्सित परम्परा का हिन्दी-कविता में भूलकर भी कथन नहीं किया गया है। फिर उर्दू तथा हिन्दी की प्रेम-परम्परा में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि उर्दू के आशिक़-माशूक़ एकांत प्रेमी-प्रिय है, जब कि हिन्दी के नायक-नायिका समाज-स्थित प्रेमी-प्रेमिका हैं। हिन्दी नायिका-भेद की आधारशिला समाज है। प्रेमी के साथ सामाजिक सम्बन्ध की दृष्टि से ही प्रेमिका को स्वकीया, परकीया एवं सामान्या कहकर पुकारा गया है। स्वकीया वह है जिसका नायक के साथ विवाह हुआ है, और परकीया उसे कहते हैं जिसका विवाह एक व्यक्ति से हुआ है, परन्तु वह प्रेम किसी दूसरे पुरुष से करती है।

इन दोनों प्रकारों में बड़े मार्के की बात यह है कि स्वकीयात्व का अर्थ पति-पत्नी-संबंध मात्र नहीं है। यदि ऐसा हो तब तो जिसे परकीया कहा जाता है, वह भी किसी की पत्नी होने से स्वकीया ही हो जाएगी। पति-पत्नी होने पर भी यदि उनमें प्रेम नहीं है तो वे नायक-नायिका नहीं हैं। इसलिए प्रेम की स्थिति नायक-नायिका होने की पहली अनिवार्यता है।

इस कसौटी के आधार पर 'सामान्या' नामक भेद अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि सामान्या वह है जो अनेक व्यक्तियों से सम्बन्ध रक्खे। वह सम्बन्ध रखती है, प्रेम-सम्बन्ध नहीं रखती। प्रेम तो वस्तुतः एक ही व्यक्ति से हो सकता है। एक से अधिक के प्रति प्रेम नहीं, प्रेम करने का प्रदर्शन होता है। ऐसी दशा में सामान्या वर्ग बनता नहीं। सामान्या का प्रेम धननिष्ठ है, व्यक्तिनिष्ठ नहीं। अतः उसे नायिका का पद नहीं मिलना चाहिए। लेकिन 'सामान्या' का विवेचन करते समय आलोच्यकालीन कवियों ने सामान्य नारी के मनोविज्ञान को नहीं भुलाया, क्योंकि अन्ततः सामान्या भी है तो नारी ही।

इस मनोविज्ञान के अनुसार सामान्या के स्वतंत्रा, जनन्यधीना, नियमिता एवं

क्लृप्तानुरागा भेद किए गए हैं। इनमें नियमिता तक तो वह गणिका कही जाएगी, क्योंकि उसका लक्ष्य धन है—

वसु दै बहु जो नियम करि काहूँ राखी होइ।
ता गनिका को नियमिता कहि बरनै सब कोई। —'शृं० मं०'

परन्तु क्लृप्तानुरागा का लक्ष्य धन नहीं, व्यक्ति है—

जाको सनेह है एक ठौर।
जौ यों गनिका कुल सीस मौर।
क्लृप्तानुराग सोई बखान।
सिगरे सज्जन मन लेउ मान। —'शृं० मं०'

ऐसी नायिका 'गणिका कुल सिर मौर' है। यदि वह अक्षतयोनि है और किसी एक से ही सम्बद्ध होकर रहती है तो कार्य एवं शीलादि की दृष्टि से वह स्वकीया ही है। लेकिन गणिका-कुल में जन्म लेने से सद्गुणवती होने के बावजूद समाज उसे गणिका ही कहेगा और यह एहसास उसके तथा उसके प्रेमी के मन में सदैव बना रहेगा। इस हीन ग्रंथि के कारण दोनों को प्रेमानुभव अक्षुब्ध-स्तरीय नहीं होगा। अतः न केवल सामाजिक दृष्टिकोण से, अपितु प्रेम की स्थिति के हिसाब से भी यह नायिका सामान्या है। इस हेयता से सम्बन्धित होने के कारण हिन्दी-आचार्यों ने उसे नायिका मानकर भी उसके उदाहरणों के प्रति रुचि नहीं दिखाई।

विवेच्यकालीन हिन्दी-काव्य में हमें परकीया की एक विचित्र स्थिति दिखाई पड़ती है। इन कवियों ने सामाजिक सम्बन्ध ध्यान में रखकर तो नायिका को परकीया कहा, परन्तु उसके प्रेम को स्वकीया का रक्खा। यह कहा जा चुका है कि रीतिकालीन नायक-नायिका के बीच परस्पर प्रेम का स्थिति पहली शर्त है। प्रेम का फल है सुखानुभूति। इस निकष पर परकीया का मनोविज्ञान देखने से प्रतीत होता है कि उसमें सुखानुभूति व्याघातमय होने से प्रेमोल्लासपूर्ण नहीं है। इस तथ्य को नायिका-भेद के अन्तर्गत समझना समीचीन होगा।

परकीया के भीतर अनूढा (कन्या) को भी माना गया है। प्रेम की दृष्टि से अनूढा प्रेमी के अतिरिक्त और किसी की नहीं होती, अतः उसे परकीया कैसे कहा जा सकता है? लेकिन आचार्यों के अनुसार "जब तक अनूढा है तब तक वह परकीया ही रहेगी और प्रेमी से उसका विवाह हो जाएगा तब वह स्वकीया होगी—स्थिति-भेद से स्वरूप-भेद होगा।"[४] लेकिन प्रश्न तो यह है कि विवाह न होने से जब वह किसी की नहीं है, तब वहाँ परकीया विशेषण कैसे उपयुक्त होगा?

वस्तुतः अनूढा को परकीया मानने का कारण सामाजिक परिवेशान्तर्गत दोनों के मनोविज्ञान की समता है। यद्यपि कन्या के मन में नायक की पति-रूप-प्राप्ति का विकल्प भी रहता है जो परकीया में नहीं होता, फिर भी प्रेम करते समय अपने अपराध के प्रति जितनी सज्ञान परकीया होती है उतनी ही अनूढा भी। सामाजिक दृष्टि से दोनों ही अपराधी हैं। नायक से मिलते समय परकीया को जिस प्रकार पति-परिवार का भय रहता है, अनूढा को भी उसी प्रकार अपने परिवार का।

सामाजिक मर्यादा-अतिक्रमण के कारण परकीया-प्रेम अनुचित है। कवियों ने परकीया भेदोल्लेख परम्परा-पालनार्थ किया अवश्य, किन्तु मुक्त भाव से उसका प्रतिपादन वे न कर सके—

छपे छपे पर पुरुष सों करे जो रस बस प्रेम
परकीया बरनन करत भैजुत करिके नेम। —रघुनाथ

'भययुत' शब्द कवि की मनोवृत्ति का प्रकाशक है। परकीया-प्रेम अविहित होने के कारण उपेक्षणीय है, स्वकीया-प्रेम विहित होने के कारण निर्वचनीय है। इसी सामाजिक दृष्टि के कारण कवि 'देव' ने स्वकीया, परकीया तथा सामान्या के वर्णनों को अभिधा, लक्षणा और व्यंजना कहकर इस बात की पुष्टि की है—

अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षना लीन।
अधम व्यंजना रस विरस उलटी कहत नवीन।

फलितार्थ यह है कि "स्वकीया का वर्णन काव्य में प्रत्यक्ष कहना चाहिए, परकीया का वर्णन उपलक्षण के रूप में लाना चाहिए और सामान्या का संकेत के रूप में।"[५]

समाज के भय के कारण प्राप्त क्षणों का जितनी उत्कंठा से परकीया उपभोग करना चाहती है, उतनी ही आतुरता से अनूढा भी। अतएव मनोविज्ञान में दोनों समान हैं। इस दृष्टि से अनूढा को भी परकीया कहा जा सकता है।

परकीया का प्रेम अत्युत्कट अवश्य होता है, परन्तु संभोग अथवा चुम्बनालिंगन में न तो वह निश्चिन्त रह पाती है और न नायक ही। इसीलिए उसे आनन्द का वैसा अनुभव नहीं होता जैसा स्वकीया को। अतएव आनन्द की मात्रा देखते हुए भी परकीया का प्रेम निर्बाध न होने से मध्यम कोटि का है। कहने का आशय यह कि न केवल सामाजिक दृष्टि से, प्रत्युत प्रेम-सुख की अतिशयता के कारण भी स्वकीया-प्रेम परकीया-प्रेम से उत्कृष्ट है।

परकीया नायिका तथा उपपति को अव्याहत सुखानुभूति तभी हो सकती है, जब उनकी पारस्परिक प्रेमनिष्ठा सामाजिक मर्यादा की चिन्ता न करे। स्वकीया जसमान निश्चिन्तता प्राप्ति तभी होगी जब आलम्बन ऐसा हो जिसके आगे लोक-

मर्यादा नगण्य मानी जाय। कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम इसी तरह का था। आचार्य केशवदास ने परकीया को परमात्मा की प्रेमिका ही बताया है—

(क) कोऊ जानै नहीं दृग दौरि कबै कित ह्वै हरि आनन छ्वै निकसै

(ख) सखि कालिह गई हुती गोकुल हौं सब ही मिलि दूँज को चंद करो

स्वकीया पतिव्रता होती है, उसके लिए पति ही परमात्मा है। परकीया परमात्मा की प्रेमिका होती है, उसके लिए परमात्मा ही पति है। इस प्रकार दोनों की स्थिति एक-सी है। हिन्दी-रीतिकविता मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि नंदकिशोर के अतिरिक्त अन्य पुरुष को चौथ का चन्दा समझना चाहिए—

पति ते न करै मन बाहिर औ जिमि जाहिर सूम करै न धनै।
गुन सील सुभाव सनेह पतिव्रत वारिधि को भयौ मीन मनै।
कवि 'तोष' कोऊ न कवौं घर ते गुनि द्वार की देहरी ना गमनै।
निज नैननि सेजति नंद किसोरहि औरहिं चौथि को चंद गनै।

तात्पर्य यह कि यदि स्वकीया है तो उसका पति नंदकिशोर-स्वरूप है और यदि परकीया है तो वह गोपी-स्वरूपा है, जिसको नंदकिशोर के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं है।

इस तथ्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी-रीतिकविता का मूलस्वर स्वकीया-प्रेम-वर्णन है। हमारे इस कथन का समर्थन रीति-ग्रन्थों में किए गए परकीया के भेदों से भी होता है। खंडिता तथा अन्य संभोगदुःखिता को परकीया का भेद कहा गया है। लेकिन यह जानते हुए भी कि नायक एक दूसरी स्त्री का प्रेमी है और उससे संभोग करके आया है क्या कोई परकीया उससे प्रेम करती रहेगी? परन्तु रीतिकालीन हिन्दी-परकीया का प्रेम दृढ है। अतः परकीया होने पर भी निष्ठा से वह स्वकीया है, क्योंकि स्वकीया पति के इन विपरीताचरणों को जानकर भी उसके प्रति वफ़ादार रहती है। इसलिए हिन्दी-रीतिकविता की परकीया का मनोविज्ञान परकीया का न होकर स्वकीया का मनोविज्ञान है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह रूपतः परकीया भले प्रतीत हो, स्वरूपतः तो शुद्ध स्वकीया ही सिद्ध होती है। अतएव रीतिकालीन हिन्दी नायक-नायिका पर उर्दू का प्रभाव नहीं है। इसके विपरीत हिन्दी नायिका-भेद ने उर्दू पर अत्यन्त गहरा रंग चढ़ाया है।

हिन्दी-रीतिकाव्य का सूत्रपात यों तो भक्तिकाल मे ही हो चुका था, परन्तु व्यवस्थित रूप में रचना करने वाले प्रथम कवि केशवदास (सन् १५५५-१६१७) हैं। उनकी 'रसिक प्रिया' (सन् १५९३) शृंगार का रसराजत्व सिद्ध करने वाली रचना है। इसलिए उसमे नायिका-भेद का परिचय प्राप्त होता है। इस समय तक

आते-आते ब्रजभाषा एवं अवधी भाषाएँ अत्यन्त समर्थ बन गई थीं और इनमें संस्कृत रीति-ग्रन्थों के आधार पर नायिका-भेद सम्बन्धी काव्य-परम्परा को पुष्टता प्राप्त हो चुकी थी। उत्तर भारत में हिन्दी की एक बोली खड़ीबोली को जब 'उर्दू' कहा जाने लगा, तब उसकी काव्य-परम्परा के अनस्तित्व में हिन्दी-काव्य-परम्परा को ही उर्दू-शाइरों ने अपनाया। 'उर्दू' शब्द के ऐतिहासिक झमेले में न पड़कर भी यदि हम उर्दू के प्रथम शाइर मुहम्मद क़ुली क़ुतुब शाह (सन् १५८०-१६११) की रचनाओं का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि उनमें प्रेम-चित्रण हिन्दी-परम्परा के आधार पर ही हुआ है। अली आदिलशाह द्वितीय (सन् १६५६-१६७६) के काव्य-संग्रह में तो प्रेमिका स्वरूप से सर्वांशतः वही है जो रीतिकालीन हिन्दी-कविता की प्रतिपाद्य है। अली आदिलशाह द्वितीय की कविता में नायिका के पुष्प-शय्या सजाकर प्रिय के साथ आनन्द करने, उसे रिझाने आदि के वर्णन मिलते हैं—

कइ जिन्स फूल रँगीले सेज में बिछाकर
आनँद करी हूँ पिव सों हिलमिल वतन में जम जम।
अर्दंग हो मैं पिया की दिसती हूँ छाँव सम हो
कइ भाव से रिझाकर लेती हूँ मन में जम जम।
रूँ रूँ छकी हुई हूँ पी वस्ल का पियाला
पिव जीव होके हरदम बसते हमन में जम जम।

नायिका-भेद के हिसाब से इस नायिका को उत्कंठिता या वासकसज्जा कह सकते हैं। परन्तु इस ग़ज़ल में उल्लिखित नायिका स्वकीया नहीं है, यह बात ध्यान देने की है। यदि स्वकीया होती तो 'अर्दंग हो' न लिखकर कवि ने 'अर्दंग हूँ' लिखा होता। वह अपने पिया की छाँह के समान अभिन्न है और प्रियतम उसका प्राण (जीव) है। अर्थात् स्वकीया न होने पर भी उसका प्रेम स्वकीया-प्रेम के समान ही एकनिष्ठ है। यह प्रेमनिष्ठा [illegible] की विशेषता है इसे हम दिखा चुके हैं। उपर्युक्त नायिका उसी प्रकार नायकनिष्ठ है, जिस प्रकार हिन्दी-रीतिकविता की नायिका।

समीक्ष्यकाल की उर्दू-कविता में नायक को पिया, सजन, साजन आदि शब्दों द्वारा पुकारा गया है। अनेक स्थानों पर वह सिरीजन (सरीजन अथवा सुरीजन) शब्दों से भी सम्बोधित हुआ है—

क्या बयाँ कर सकूँ मैं गत उसकी
'फ़ायज़' अति खुश अदा सरीजन है।

जो बात मिलने की होवे उसका पता बता दे मुझे सरीजन
तुम्हारे पट्टू में आज बरसों से ये बटोही भटक रहा है।

—सौदा

सरीजन या सिरांजन 'श्रीजन' का तद्भव रूप है। उर्दू-लिपि में उसे सुरी-जन भी पढ़ सकते हैं। रघुनाथ बंदीजन ने नायक के लिए 'सुरजन' शब्द का प्रयोग किया है—

मैन सुख मौज की सकल सौंज कीन्हे, आपु
अकनत पाई धुनि प्यारी सुरजन की।

इन 'श्रीजन' के पट्टू पर दृष्टि डालिए तो पता चलेगा कि यह पटका-परिहित नायक हमारा परिचित-सा है। अच्छा ज़रा इसका रंग देखा जाय। 'वली' औरंगाबादी (सन् १६६८-१७४४) फ़रमाते हैं—

सजन साँवरा सज का सजीला
कटीला और हटीला लटपटा है।

साँवरा, कटीला, हठीला, लटपटा ये सारे के सारे विशेषण कृष्ण के हैं। भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य मे कृष्ण के लिए इन शब्दों का प्रयोग आम बात थी। 'वली' ने एक शेर में उसका नाम भी बता दिया है—

हर्गिज न देवे रस्मे-वफ़ा हाथ सों वली
एक बार इस ग़ज़ल को सुने गर गोबिन्दलल।

कहा जाता है कि प्रसंगाधीन ग़ज़ल का आलम्बन गोविन्दलाल नामक कोई लड़का है। कुछ भी सही, यह गोविन्दलाल है निर्मोही और वफ़ा करना नहीं जानता। 'वली' ने विरह-निवेदन-सूचक जो ग़ज़ल लिखी है उससे उन्हें विश्वास है कि गोविन्दलाल इसे सुनकर रस्मे-वफ़ा हाथ से न जाने देगा। 'गोविन्द' शब्द की व्युत्पत्ति यदि देखें तो निर्ममता उसके अनुरूप ही है। 'लाल' शब्द मासूमियत तथा अनभिज्ञता का व्यंजक है। भक्तिकाल का यह सम्बोधन हिन्दी-रीतिकवियों ने खूब प्रयोग किया है। 'फायज़' की कविता में 'लाल' और 'वली' के काव्य में 'लालन' शब्दों का इस्तैमाल हुआ है।

उपरि उद्धृत पंक्तियाँ इस बात की संदेहरहित प्रमाण हैं कि उर्दू-शाइरी अपने प्रारम्भ में हिन्दी-नायिका-भेद के आदर्श पर ही चली। रति का आलंबन वह प्रियतम मन को मोह लेता है, क्योंकि वह असीम सौन्दर्यराशि है। इसलिए उर्दू-शाइरों ने उसे 'मोहन' कहकर भी पुकारा—

नज़ारा जो किया मैं तुझ मुबारक हुस्न का मोहन
खुबा मुझ दिल में तेरी जुल्फ़े-ख़म-दर-ख़म का ख़म आकर। —वली

परन्तु यहाँ हम एक परिवर्तन यह देखते हैं कि अली आदिल शाह द्वितीय में जो 'मोहन' नायकवाची था, वह 'वली' में नायिका का अर्थ देता है—

आलिंग करै है लाल रँगीली सों पिरत कर
केसरभिनी है अंग में तेरी जिदर किदर।
शाही ते सेज में हुई लटपट मोहन ने (सों) जब
वारिक कमर ते खिस गया है जर कमर किदर।

—अली आदिलशाह

तुझ चाल की क़ीमत सों दिल नईं है मिरा वाक़िफ़
ऐ मान भरी चंचल टुक भाउ बताती जा।
तुझ ग़ेह (? नेह) में दिल जल जोगी की लिया सूरत
इक बार उमे मोहन छाती सों लगाती जा। —वली

हमारे विचार से 'वली' ने सूफ़ी प्रेम-साधना के प्रभाव के कारण मोहन की स्त्रीरूप कल्पना की। 'वली' के पश्चात् यद्यपि मोहन को इस मोहिनी रूप में रखना प्रायः समाप्त हो गया, फिर भी उसके दर्शन उर्दू-कविता में हो जरूर जाते हैं। 'नज़ीर' अकबराबादी (सन् १७३५-१८३०) ने केवल 'मोहन' अपितु लाला शब्द को भी स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है—

तिहारी आसा लगी है निसदिन तिहारे दरशन को तरसें नैना।
दिला री सुन्दर अनूठी अबरन हठीली मोहन अनोखी लाला।

'वली' के काव्य में 'कृष्ण' शब्द भी आया है, परन्तु यह 'कृष्ण' शब्द 'मोहन' का पर्यायवाची नहीं है। 'वली' का मोहन प्रेमालम्बन है, लेकिन कृष्ण आश्रय-रूप में प्रयुक्त हुआ है—

ऐ ज़ुहरा जबीं किशन तेरे मुख की कली देख
गाता है हर इक सुबह में उठ रामकली कों।

'वली' की कविता मे 'कृष्ण' विशिष्ट प्रेमी का अर्थ देता था, बाद में वह 'कन्हैया' रूप में मनचले हरजाई माशूक़ के लिए प्रयुक्त होने लगा।

यद्यपि हिन्दी-रीतिकाव्य के नायकवाची 'लाला' शब्द का प्रयोग कभी-कभी उन्नीसवीं शताब्दी की उर्दू-शाइरी में भी मिल जाता है, जैसे—

उस बुत से या पूछूँगा दिखा सीना-ए-पुर-दाग़
लाले की बहार ऐसी कहीं देखी है लाला। —जुरअत

लेकिन ये सम्बोधन आलोच्यकालीन उर्दू-शाइरी से अठारहवीं शताब्दी के उत्त-रार्द्ध तक प्रायः बहिष्कृत हो गए थे और जिन शब्दों का प्रयोग अप्रधान था, उन्हें

प्रधानता प्राप्त हुई। प्रधानता ही नहीं, उन्हीं का एकमात्र प्रयोग होने लगा। उर्दू-कविता के माशूक़वाची इन शब्दों को हिन्दी-रीतिकाव्य ने यद्यपि उस दरजे नहीं अपनाया जिस दरजे उर्दू-शाइरी ने हिन्दी-सम्बोधनों को ग्रहण किया था, फिर भी उनका कुछ न कुछ प्रभाव ज़रूर पड़ा।

उर्दू मे माशूक़ को यार, दोस्त, महबूब, सनम एवं बुत आदि शब्दों से संबोधित किया जाता है। हिन्दी-कवि 'पदमाकर' तथा रामसहायदास ने 'यार' और 'रसनिधि' ने 'महबूब' शब्द अपनी रचनाओं में रक्खे हैं—

'रसनिधि' आवत देखि कै मनमोहन महबूब
पग अंकुस कर मैं कमल करि जु दियो करतार।
सु सखि सफल ह्वै है तबहिं जब ऐहैं घर यार। —पदमाकर

चोखी चितवन यार की कटि न कहूँ कटि जाय।

—रामसहाय दास

इन दोनों दोहों मे 'यार' शब्द नायकवाची होने से उचित है, लेकिन 'बोधा' के 'विरहवारीश' मे नायिका के लिए भी 'दोस्त' शब्द प्रयुक्त है 'यह बाल सयानी बड़ी निधानी कहि या दोस्त पुकार्‌यो।' परन्तु 'महबूब' शब्द का प्रयोग नायिका के लिए 'बोधा' ने नहीं किया। उसके स्थान पर उन्होंने 'महबूबा' अर्थात् 'महबूब' का स्त्रीलिंग रक्खा—

पूरी लगी डगी फिर नाहीं।
सुरत लेश महबूबा माहीं।
बिछुरन परी महाजन काबा।
तब बिरही यह ग्रंथ बनावा।

प्रेमालम्बन के लिए हिन्दी-रीतिकविता में 'सुजान' शब्द का प्रयोग भी हुआ है। 'ठाकुर' (सन् १७६६–१८२३) ने 'सुजान' को अपने काव्य में बहुत बार स्थान दिया और 'ग्वाल' कवि (सन् १८०२–१८६६) ने भी उसे यत्र-तत्र कविता के भीतर रक्खा है, लेकिन यह शब्द सोलहवीं शताब्दी के भीतर आचार्य केशवदास की 'रसिका प्रिया' में भी उपलब्ध होता है—

तातें रुचि सों सोचि पचि कीजै सरस कबित्त।
केशव स्याम सुजान को सुनत होइ बस चित्त।

इस प्रकार रीतिकाल के प्रारम्भ से अन्त तक 'सुजान' शब्द हिन्दी-कविता में प्रयुक्त मिलता है, परन्तु 'घनानंद' (मृत्यु सन् १७७५-१७६१ के बीच) ने इसका प्रयोग अपनी कविता में इतना अधिक किया है कि यह शब्द 'घनानंद' के

साथ जुड़-सा गया है और ऐसा जुड़ा है कि किंवदन्ती में 'सुजान' को 'घनानंद' की प्रेयसी तक बना दिया गया है। 'घनानंद' के साथ जुड़े इस शब्द पर विचार करने की सख्त जरूरत है।

उपर्युक्त उद्धरण से सिद्ध है कि 'सुजान' शब्द हिन्दी-कविता में 'घनानंद' से लगभग १६६ वर्ष पूर्व केशवदास द्वारा शृंगाररसालम्बन के लिए प्रयुक्त हो चुका था, अतः 'घनानंद' को वह परम्परया प्राप्त हुआ, यह सीधी-सी बात है। अन्तर है तो इतना कि जहाँ केशवदास ने 'रसिकप्रिया' (सन् १६५१) में 'सुजान' का अर्थ कृष्ण लिया, वहाँ 'घनानंद' की रचनाओं में वह लौकिक आलम्बन के लिए भी आया है। 'केशव' के दोहे में 'सुजान' का अर्थ 'जानकार' या 'सज्ञान' ध्वनित होता है। कृष्ण जो भक्त के हृदय की दशा को अच्छी तरह जानते हैं 'सुजान' हैं। परन्तु 'घनानंद' ने 'सुजान' को अधिकतर अपने हृदय की दशा से अनभिज्ञ ही दिखाया है, अतः 'घनानंद' का 'सुजान' शब्द 'केशव' के 'सुजान' से भिन्न होना चाहिए।

'घनानंद'-सम्बन्धी प्रेम-कथा की छानबीन करना हमारे क्षेत्र के बाहर है, परन्तु इस सन्दर्भ में यह दृष्टव्य है कि जहाँ-जहाँ 'घनानंद' और 'सुजान' की कथा का उल्लेख हुआ है वहाँ-वहाँ वह किम्वदन्त्युद्धरण मात्र है, किसी भी विद्वान् ने कोई ऐसा प्रमाण पेश नहीं किया है जिससे सिद्ध हो जाय कि 'सुजान' घनानंद की प्रेयसी का नाम था। 'घनानंद-कबित्त' के आधार पर अनुसंधान करने से प्रतीत होता है कि कवि ने 'सुजान' शब्द का बीसों बार प्रयोग परम्परीण जानकार या सज्ञान अर्थ मे ही किया है। इस अर्थ में 'सुजान शिरोमनि' या 'सुजान प्रबीन' आदि प्रयोग भी हुए हैं। सुजान शब्द व्यक्ति का ही नहीं नेत्रों का विशेषण भी है, "पिय के मुख कौतुक देखि सखी निज नैन विशेष सुजान छकैं।" नेत्रों को कवि ने 'जीवन रूप सुजान' कहा है।

'सुजान' शब्द के साथ 'घनानंद' ने लगभग चौंतीस विशेषण लगाए हैं, जैसे मीत सुजान, प्रीतम सुजान, लाडिले सुजान, जीवन मूल सुजान, सुजान प्यारे, प्यारे सुज़ान, नेह निधान सुजान, सजीवन सुजान, सुजान सजीवन, सुजान अमोही, जीवन प्रान सुजान, सुन्दर सुजान, घन आँनद सुजान, सुजान घनआनँद, सुजान पिय, बिसासी सुजान, जीवन रूप सुजान, सुजान सनेही, निकाई निधान सुजान, कृपानिधान सुजान, रूप निधान सुजान, रसीले सुजान, रस मूरति स्याम सुजान, सुजान छबीले; घन आनँद रूप सुजान, स्याम सुजान, साँवरे सुजान, सुखद सुजान, सुजान बिलास निधान, सुखदान सुजान, ईठि सुजान, रंग रस बरस सुजान, नेह निधान सुजान, सुजान प्रान दान, भावते सुजान आदि! ये सारे विशेषण पुल्लिग हैं। इसके अतिरिक्त रस मूरति, रसीले, केलि की कला निधान तथा साँवरे

इत्यादि शब्द कृष्ण के वर्ण-स्वभाव की ओर भी संकेत करते हैं। पुल्लिग की प्रामाणिकता, उन प्रयोगों से एकदम स्पष्ट हो जाती है जहाँ 'सुजान' शब्द नायिका के साथ नायक के अर्थ में प्रयुक्त है जैसे "पौढ़े घनआनंद सुजान प्यारी परजंक।"

पुल्लिग के प्रभूत प्रमाणों के बीच कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें 'सुजान' स्त्रीवाची ध्वनित होता है, यथा— सुजान तिया, प्यारी सुजान, सुजान प्यारी, अलबेली सुजान। एक स्थान पर तो 'सुजान' असंदिग्धरूपेण एक साधारण नायिका के अर्थ में है "देखि जियौ न छियौ घन आनँद कोवरे अंग सुजान बधू के।" लेकिन एक छंद में कवि उसे राधा का पर्याय भी बताता है "राधे सुजान चितै चित दै।" इन तथ्यों के आधार पर दो निष्कर्ष निकलते हैं—(१) 'घनानंद' ने 'सुजान' शब्द को कृष्ण और राधा दोनों के लिए प्रयोग किया है और यह प्रयोग पहले से प्राप्त था। (२) 'घनानंद' के कबित्तों में 'सुजान' अधिकतर नायक वाची सामान्य शब्द है, हाँ यत्र-तत्र वह नायिकावाची भी है। नायकवाची के लिए तो कहा जा सकता है कि रीतिकाल में जब कृष्ण शब्द सामान्य नायक का पर्याय बन गया तो 'सुजान' का सामान्य नायक के अर्थ में प्रयोग अस्वाभाविक नहीं है, लेकिन उसे सामान्य नायिका के अर्थ में व्यवहृत करना रीतिकालीन हिन्दी-काव्य की प्रकृति से मेल नहीं खाता। अर्थात् 'सुजान' का पुल्लिग वाची व्यवहार 'घनानंद' ने परम्परा से लेकर उसे रीतिकालीन प्रवृत्ति में ढाला, परन्तु उसका सामान्य नायिका-रूप में स्त्रीवाची इस्तैमाल न तो परम्पराजन्य है और न रीतिकालीन रस-प्रवाहानुकूल।

'सुजान' की तरह ही 'घनानंद' ने 'जान' का प्रयोग भी किया है और उसके साथ भी लगभग वैसे ही विशेषण हैं, जैसे—जीवन मूरति जान, जान दुलारे, जीवन अधार जान उजियारे, जान प्यारे, रंग रचावन जान, जान अमोही, चित चातकि प्रान सजीवन जान, जान सजीवनि, जान जीवन प्रान, जान महा सहजै रिझवार, जान अलबेले, जान छबीले, मन भावन जान, जान सुखारे, जान प्रान प्यारे, जान प्रीतम, जान अमैडे, जान प्रवीन, जान सयान की खानि, जान महा कपटी, जान महा गरुवे गुन में, आदि।

स्त्री वाची प्रयोग भी हैं। अनेक छंदों में 'जान प्यारी' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त 'जान लखी', 'जान है मानमई' जैसे प्रयोगों द्वारा भी उसके स्त्री होने का आभास मिलता है। विशेषण की तरह 'सज्ञान' अर्थ में भी उसका व्यवहार हुआ है, यथा "वे तौ जान प्यारे निधरक हैं।"

'सुजान' तथा 'जान' शब्दों का समानार्थी प्रयोग देखकर यह प्रश्न सहज ही उठता है कि 'घनानंद' की प्रेयसी का नाम 'सुजान' था कि 'जान'? इसके साथ यह जिज्ञासा भी होती है कि उनकी प्रेयसी वेश्या, हिन्दू थी कि मुसलमान? मध्य

कालीन हिन्दू पातुरो के नाम 'राय' प्रत्ययान्त होते थे, जैसे प्रबीनराय, रामराय आदि। अतः उसका नाम 'सुजानराय' हो सकता है ? लेकिन 'सुजानराय' शब्द 'घनानंद कबित्त' में एक बार भी नहीं आया जब कि 'जानराय' शब्द आठ बार प्रयुक्त है। इसलिए यदि वह प्रेयसी पातुर थी तो उसके 'जानराय' नाम्नी होने की संभावना 'सुजान राय' से अनेक गुनी अधिक है। इसके साथ ही एक नुक्ते की बात यह है कि 'जानराय' नाम हिन्दूपन से ज़्यादा मुसलमानी आभास भी देता है। मुसलमान वेश्याओं के नाम 'जान' प्रत्ययान्त होते थे जैसे 'साहब जान' 'गौहर जान' आदि। परन्तु एक समस्या यह भी है कि संख्या में 'सुजान' शब्द 'जान' से कहीं अधिक आया है।

अब इस गुत्थी को सुलझाने के लिए 'सुजान' अथवा 'जान' की व्यंजना पर ध्यान देना चाहिए। 'घनानंद' ने 'सुजान' या 'जान' को बिसासी, निष्ठुर आदि जिन विशेषणों से विभूषित किया है वे रीतिकालीन शृंगार रस-परम्परा-पोषक नहीं है। आलम्बन को निष्ठुर-अत्याचारी आदि रूप में चित्रित करना उर्दू-शाइरी में प्राप्त है, साथ ही वहाँ उसे पुल्लिग शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाता है। उर्दू-शाइरी में माशूक़ के लिए 'जान' शब्द आता है, जैसे 'मेरी जान' या 'मेरी जाँ'—

एक छोड़ा न ज़िन्दा जाँ तूने —इंशा

यह 'जान' शब्द हिन्दी-कविता में नायक-नायिका के लिए प्रयुक्त 'प्राण प्यारे' या 'प्राण प्यारी' का समानार्थी है। 'जान' शब्द का एवंविध प्रयोग रीतिकालीन हिन्दी-कविता में यत्र-तत्र प्रचलित हो चुका था। कवि 'बोधा' ने भी नायिका को 'दिलवर दिलजान' शब्दों द्वारा संबोधित कराया है—

सोवत में तोकहँ तज्यो हे दिलवर दिलजान।
सो न चूक मेरी कछू भीत भूप की मान।

'जान' शब्द संज्ञा है। माशूक़ के लिए सर्वनाम में 'वह' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे—"पूछते हैं वो कि 'ग़ालिब' कौन है।"

अर्थात् 'वह' तथा 'जान' दोनों ही माशूक़वाची शब्द हैं। 'घनानंद' ने इन दोनों को मिला दिया सो (वह) + जान और शब्द बन गया 'सो सान' = सुजान। अर्थ हुआ 'वह माशूक़'। यदि 'सु' (ह्रस्व 'सो') को सर्वनाम न मानकर उपसर्ग मानें तो सु + जान का अर्थ 'सुन्दर माशूक़' होगा। लेकिन 'सु' उपसर्ग 'जान' तथा 'सुजान' में अन्तर कर देता है। प्रेमी अपने माशूक़ को कभी 'सुन्दर माशूक़' कहे और कभी केवल 'माशूक़' कहे यह अनुचित है। उसके लिए तो वह सदैव एक रूप है। अतः 'सु' को सर्वनाम ही मानना ठीक है। 'घनानंद ने जहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं किया वहाँ अपने माशूक़ को 'जान' कहा और जहाँ सर्व

नाम लगाया वहाँ 'सुजान' कहकर पुकारा। उर्दू-काव्य में 'जान' शब्द माशूक़-वाची और उभयलिंगी है, अतः 'सु' को अन्य पुरुषीय सर्वनाम मानने से 'जान' तथा 'सुजान' दोनों समस्याओं का युगपत् समाधान हो जाता है। इसलिए हमारी धारणा है कि 'सुजान' घनानंद की प्रेमिका का वास्तविक नाम न होकर कवि-कल्पना द्वारा खोजा गया एक प्रतीक मात्र है, जिसका निर्माण कवि ने माशूक़माची 'वह' और 'जान' शब्दों को मिलाकर किया है। इस 'सुजान' शब्द को उन्होंने हिन्दी-व्यंजना के कारण भी पसंद किया होगा, परन्तु 'जान' स्पष्टरूपेण फ़ारसी तथा उर्दू-प्रभाव से आया है। हाँ, इस सम्बोधन को छोड़कर उनकी प्रेम-पद्धति पर बाहरी प्रभाव नहीं है।

उर्दू-शाइरी की प्रारंभिक प्रेम-प्रवृत्ति का पर्यालोचन करके जब हम उत्तर भारत के उर्दू-काव्य पर दृष्टि डालते हैं तो स्थिति और भी अधिक पुष्ट प्रतीत होती है। नवाब सद्रुद्दीन मुहम्मद खाँ बहादुर 'फ़ायज़' उत्तर भारत के ज्ञात उर्दू-शाइरों में प्राचीनतम हैं। उनका देहान्त सन् १७३८ में हुआ था। हिन्दी-रीति-कविता में यह 'तोष', चिंतामणि (जन्म सन् १६०९), 'मतिराम' (जन्म सन् १६१७) तथा 'देव' (सन् १६७३-१७६८) का समय है। रीतिकाल का हिन्दी-काव्य प्रारंभ से ही लौकिक काव्य है। लौकिक होने से वह यथार्थ है। 'फ़ायज़' के काव्य की प्रेरणा यही हिन्दी-रीतिकाव्य है। इसीलिए उनकी शाइरी में किसी अदृश्य या परोक्ष सौन्दर्य को लेकर उक्तियाँ नहीं बाँधी गई हैं। उर्दू ग़ज़ल में आध्यात्मिक रंग के दो-चार शेर कह देने की जो परम्परा चली उसका 'फ़ायज़' के यहाँ अभाव है। अतएव बाद की उर्दू-काव्य-परम्परा को कसौटी मानकर जब इस काव्य की समीक्षा की जाती है तो 'फ़ायज़' उसमें बैठ नहीं पाते और समीक्षक को निराश होकर कहना पड़ता है कि "फ़ायज़ की ग़ज़लों का आम मौज़ू ज़ाहिरी हुस्न है। मजाज़ी मुहब्बत और खुदाई मुहब्बत का तो शायद कहीं ज़िक्र ही नहीं। इंसानी मुहब्बत का तसव्वुर भी कुछ बलंद नहीं है। उनके यहाँ जिस मुहब्बत का बयान मिलता है, वह वही है जिसे हवस या हुस्न-परस्ती कह सकते हैं। इश्क़ के नाम से ताबीर नहीं कर सकते।"[६]

उपर्युक्त समीक्षा 'फ़ायज़' की शाइरी में खतरानी, काछिनी, भँगेड़िन, तथा गूजरी आदि का वर्णन देखकर की गई है। यदि समीक्षक महोदय का परिचय तत्कालीन हिन्दी-रीतिकविता से होता तो इस प्रकार का निर्णय कभी नहीं दिया जाता। हिन्दी-रीतिकविता में इस प्रकार के वर्णन पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से ही प्राप्त होते हैं। बादशाह अकबर (रा० का० सन् १५५६-१६०५) के दरबारी कवि 'रहीम' ने 'नगर-शोभा' के अन्तर्गत विभिन्न जाति की नायिकाओं का चित्रण किया है। उस वर्णन की विशेषता यह है इसमें तत्तज्जाति सम्बद्ध-वस्तु-

सूचक शब्दावली का ही प्रयोग हुआ है। दो उदाहरण लीजिए—

उत्तम जाती ब्राह्मणी देखत चित्त लुभाय।
परम पाप पल मे हरत परसत वाके पाय।
परजापति परमेश्वरी गंगा रूप समान।
जाके अंग तरंग में करत नैन अस्नान।
परम रूप कंचन बरन सोभित नारि सुनारि।
मानो साँचे ढारि के विधिना गढी सुनारि।

इस शैली में खतरानी, जौहरनि, कैथनि, चितैरनि, बरइन, बनियाँइन, रँगरेजनि, गँवारिन, कौंजरी, बनजारी, कुम्हारिन, लुहारिन, कलवारी, गूजरी, काछिनि, कसाइन, तबाखनो, तेलिनि, पटइन, भटियारी, कमाँगरनि, तीरगरनि, छीपनि, सिकलीगरनि, सक्कनि, गंधिनि, रजपूतनी, तुरकिनि, जोगिनि, भाटनि, डोमनी, चेरी (राजपूताना की एक जाति), नटनी, पातुरी, जुकिहारी, खटकिनि, सबुनीगरनि, कुन्दीगरनि, धुनियाइन, कोरिनि, दवगरनि (कुप्पा बनाने वाली), नगरचिनि, दलालनि, ठठेरनि, कागदिनि, मसिगरनि, जिलेदरनि, भगेरनि, बोजागरनि (मदिरा विक्रेत्री), चीतावनि (चीतापालिका), कठिहारिनि, घासिनि, डफीलिनी, गडिवारिनि (गाड़ी चलाने वाली), महावतिनि, सरवानी (ऊँट च-ानेवाली) नालबंदिनी चिरवादरनि (साईस), चमारिनी तथा चूहरी का वर्णन है। इसके अतिरिक्त कुछ बरवै छंदों में कुरमी, अहीरिनि, हलवाइनि, धोबिनि और भड़भूजिनि का चित्रण भी हुआ है।

तात्पर्य यह कि हिन्दी-रीतिकविता में ब्राह्मणी से लेकर मेहतरानी तक की मंज़िल के बीच पड़ने वाली सभी जाति तथा पेशे से सम्बद्ध स्त्रियों को नायिका बनाया गया है। इस परम्परा को 'देव' ने तो बड़े मनोयोग से अपनाया, परन्तु अन्य कवियों की सौन्दर्य-चेतना खटिकिनि, चमारिन तथा चुहेड़िनि आदि को नायिका स्वीकार न कर सकी। कवि 'देव' (सन् १६७३–१७६८) ने 'रसविलास' में जौहरिनि, छीपिनि, पटइन, सुनारिनि, गंधिनि, तेलिनि, तमोलिनि, हलवाइनि, बनीनी, कुम्हारिनि, दरजिनि, कुँजड़िनि, जुलाहिनि, मोचिनी, बढ़इनि, लुहारिनि, चुरिहारिनि, गणिका आदि पेशेवर तथा ब्राह्मणी, क्षत्राणी, खत्रानी, वैश्या, काइथिनि, किरातिनि, भरभूँजिनि, नाइनि, मालिनि, धोबिनि, अहीरिनि, जाटिनि, काछिनि, कुरुमिनि, कहारिनि, कलवारिनि, लुनेरिनि आदि नाना जाति की नारियों को तो नायिका बनाया ही, पुरवासिनी, वनवासिनी, सैन्यवासिनी आदि भेदों के उपभेद भी किए हैं, जैसे वनवासिनी के अन्तर्गत ऋषिपत्नी, व्याधवधू और भीलिनि, मार्गवासिनी में बनजारिनि, योगिनि, नटी तथा कंजरिन को लिया है।

इन दोनों कवियों के वर्णनों में एक विशेषता यह है कि उन्होंने जिस स्त्री का वर्णन किया है, उसके लिए अप्रस्तुत उसके पेशे या जात्युपकरणों से ही लिए हैं। उदाहरणार्थ 'तमोलिनि' तथा 'तेलिनि' का वर्णन लीजिए—

(क) सुरंग बरन बरइन बनी नैन खबाए पान।
निसिदिन फेरै पान ज्यों बिरही जन के प्रान।
पानी पीरी अति बनी चन्दन खोरै गात।
परसत बीरी अधर की पीरी कै ह्वै जात। —रहीम

(ख) तिल है अमोल लोल नैनी के कपोल बीच
कोटिक अनूप रूप भरि फेरियतु है।
सोभा सुनै जाकी कवि 'देव' कहै कौन कौ न
होत चित चीकनो चतुर चेरियतु हैं
घाट बाट हू में घट निकट बटोहिनि कौ
नेक ही निहारै नेह भरे हेरियतु है।
सरस निदान ताके परस के कौन कहै
पौन हूँ के परस परौसी पेरियतु है।

इसी ढंग का वर्णन 'फ़ायज़' का है। शाइर "एक तँबोलिन देखी मैं दिलरुबा, माहे, रुखाँ बीच बहुत अदा" कहकर उसके पेशे से सम्बद्ध वस्तुएँ उपमान-रूप जुटाता है। उसके मृग से नयन, हाथ में हरी बाँकुड़ी, आँखों मे दुबालादार कजला। हुस्न से उस पर बहार आई हुई थी। ओठों पर मिस्सी की घड़ी सुशोभित थी और गले में मोतियों की लड़ी लटक रही थी। कत्थे से कड़ुवे वचन बोलकर दिल जलाकर चूने से बदतर कर देती थी। सुपारी से उभरते कुच आशिक़ों के जिगर टुकड़े-टुकड़े करते थे। पान क्या फिराती थी जग के दिलों को ही फिराती थी—

कहुए बचन कथ से जो करती ग़ज़ब।
चूने से बदतर हुए जल के सब।

'फ़ायज़' ने नेत्रों को कमल, मृग या खंजन से उपमित करने के अलावा भी सारा सांस्कृतिक वातावरण हिन्दी रक्खा है। 'फ़ायज़' का दिलरुबा पुरुष नहीं, स्त्री है। यह रूप-चित्रण पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि 'फ़ायज़' पर हिन्दी-कविता का पूरा-पूरा प्रभाव है।

हिन्दी-काव्य-परम्परा पुरानी होने के अतिरिक्त मुग़ल-दरबारों में सम्मानित परम्परा थी। प्रचुर प्रमाण प्राप्त हैं कि अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहाँ के दरबार में अनेक हिन्दी-कवि रहते थे। 'मतिराम' जहाँगीर के आश्रय में रहे थे और बादशाह की आज्ञा से उन्होंने सन् १६१९ में 'फूलमंजरी' की रचना की थी।[७]

उस समय तक उर्दू-शाइरी का कोई स्थान नहीं था। औरंगज़ेब (रा० का० सन् १६५८-१७०७) के दरबार में 'भूषण' कवि कुछ काल तक रहे थे। औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र मुअज़्ज़म, बहादुरशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह हिन्दी-कविता का बहुत प्रेमी था। 'देव' कवि (सन् १६७३-१७६८) ने उसे अपने 'अष्टयाम' तथा 'भावविलास' ग्रन्थ सुनाए थे।[८] 'आलम' कवि (रचनाकाल सन् १६८३-१७०३) तो मुअज़्ज़म के आश्रित ही थे।[९] सूरतिमिश्र (सन् १७०९-१७३७ के बीच वर्तमान) दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह रँगीले के दरबार में आते-जाते थे और उसके एक सरदार नसरुल्लाखाँ के आश्रय में रहते थे।[१०] इसी बादशाह के वज़ीर क़मरुद्दीन ख़ाँ के आश्रित 'गंजन' कवि ने 'कमरुद्दीन खाँ हुलास' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना सन् १७२९ में की थी[११] और इसी बादशाह के मीरमुंशी थे 'घनानन्द' (मृत सन् १७५७ से १७६२ के बीच) जो हिन्दी के परम प्रख्यात कवि हैं। शाह आलम द्वितीय (रा० का० सन् १७५९-१८०६) के दरबार में भी हिन्दी-कवि रहते थे। ऐसे एक 'धीर' कवि का पता चला है।[१२] रीतिकाल के अन्त तक इस दरबाराश्रय-परम्परा का निर्वाह मिलता है। उर्दू के प्रसिद्ध शाइर 'अमीर मीनाई' की पुस्तक 'इन्तखाबे-यादगार' में उपलब्ध उल्लेख से ज्ञात होता है कि हिन्दी के कवि तथा रीतिकाल के अंतिम आचार्य 'ग्वाल' कवि का सम्बन्ध नवाब रामपुर के दरबार से था।[१३] इन प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होता है कि जिस समय उर्दू-शाइरी ने उत्तर भारत में ठीक-ठीक आँखें भी नहीं खोली थीं, उस समय हिन्दी-कविता मुग़ल दरबार में गूँज रही थी। इसीलिए 'फ़ायज़' पर उसका प्रभाव पड़ना बिल्कुल स्वाभाविक था। प्रभाव के लिए यह अनिवार्य नहीं कि 'फ़ायज़' हिन्दी भाषा लिखना-पढ़ना जानते ही हों। कविताएँ सुनकर भी प्रभाव पड़ता है और श्रोता उस काव्य-परम्परा से परिचित हो जाता है।

परन्तु हिन्दी-कविता की यह प्रणाली उर्दू-शाइरी में अधिक दिनों तक मान्य न रही। इसका कारण यह था कि बादशाह शाह आलम के शासन-काल (सन् १७५९-१८०६) में उर्दू-शाइरी (जिसे रेख़्ता कहा जाता था) ने ज़ोर पकड़ा। लेकिन उसके दरबार में जो शाइर थे वे फ़ारसी के कवि थे। ये शाइर ब्रजभाषा या संस्कृत-काव्य से अनभिज्ञ थे। अतएव इन शाइरों ने रचना तो उर्दू भाषा में की, परन्तु उनके भाव, विचार एवं शैली पर सारा रंग 'सईदी', 'हाफ़िज़', 'नासिरअली', 'जलाल', 'असीर', 'बेदिल' और 'तालिब' आदि फ़ारसी-शाइरों का ही रहा। फ़ारसी-कवियों के अनुकरण से उर्दू-कविता फ़ारसी के साँचे में ढल गई। दिल्ली दरबार में फ़ारसीयत छाई हुई थी। शाइरों की कविता में प्रेम-चित्रण की फ़ारसी-शैली गृहीत हुई और वे अपनी ग़ज़लों में स्त्री की जगह पुरुष के प्रति प्रेम-

निवेदन करने लगे। फ़ारसी का यह प्रभाव 'वली' पर भी पड़ चुका था, लेकिन अब उत्तर भारत की उर्दू-शाइरी उस रंग में आकंठ मग्न हो गई।

फ़ारसी-प्रभाव के फलस्वरूप उर्दू-शाइरों का माशूक़ एक छोकरा हुआ। मीर तक़ी' 'मीर' (सन् १७२५-१८१०) उर्दू के एक ऐसे प्रतिष्ठित कवि हैं, जिनकी प्रशंसा 'ग़ालिब' तक ने की है, परन्तु खेद है कि 'मीर' के काव्य में माशूक़ का स्तर इतना अप्रकृत तथा अधोगामी है कि पढ़ते हुए मन घृणा से भर उठता है। सैयद पिसर उनका दिल खींचता है, मुग़ल बच्चे के वादा न करने पर उन्हें दुख है, तुर्क बच्चे से इश्क़ करके वह ग़ज़ब के रेख़्ते कहते हैं, उन्हें शिकायत है कि वह धोबी का उनसे बहुत कम मिलता है।

ये तो जातिगत इश्क़ की बात हुई। अब पेशेवरों के लड़कों से इश्क़ के ताल्लुक़ात मुलाहिज़ा फ़रमाइए। इन दिनों मुफ़्ती का लौंडा सर चढ़ा है, तो चार दिन बाद सिपाहीज़ादा उनका दिल छीन लेता है, सर्राफ़ के ने उनसे बहुत खटपच्चरियाँ की हैं, उत्तूकश के लड़के ने उन्हें उत्तू कर दिया है, मामार के पत्थर दिल लड़के ने तो 'मीर' को मिट्टी में ही मिला डाला, उनका तथा अफ़सानाख्वाँ के लड़के का क़िस्सा सभी को मालूम है, और हिन्दी बच्चे कभी-कभी अंगदान करते हैं—

हिन्दी बच्चों से क्या मईशत है
ये कभू अंगदान करते हैं।

इश्क़ के इतने अनुभवी होने पर भी ज़रा उसकी सादा दिली तो देखिए कि बीमार हुए जिसके सबब "उसी अत्तार के लौंडे से दवा लेते हैं।" 'मीर' के वर्णन पढ़ कर उर्दू-काव्य के आशिक़ के विषय में हमारी धारणा बहुत नीची हो जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि कोई लफ़ंगा दिल्ली की सड़कों पर सबेरे से शाम तक लड़कों की ही तलाश में घूमता रहता है—

दिल लेके लौंडे दिल्ली के कब का पचा गए
अब उनसे खाई पी हुई शय क्या वसूल हो? —मीर

फ़ारसी-शाइरी में पुरुष का पुरुष के प्रति प्रेम-निवेदन करना प्रचलित था जो 'वली' तथा उत्तरभारत के शाइर 'फ़ायज़', 'आरज़ू' (सन् १६८६-१७५६) शम्सुद्दीन जानजाना 'मज़हर' (सन् १६९८-१७८१), शेख शरफ़ुद्दीन 'मज़मून' (सन् १७४५ में वर्तमान), शाह मुबारक 'आबरू' (सन् १७५० में वर्तमान', 'सौदा' (सन् १७१३-१७८१), मीर दर्द (सन् १७२०-१७८४) तथा सै० मुहम्मद मीर 'सोज़' (सन् १७२०-१७९८) आदि सभी शाइरों में मिलता है। लेकिन यह विचारणीय है कि मीर तक़ी 'मीर' के काव्य में पुरुष माशूक़ के जो भेदोपभेद

उस समय तक उर्दू-शाइरी का कोई स्थान नहीं था। औरंगज़ेब (रा० का० सन् १६५८-१७०७) के दरबार में 'भूषण' कवि कुछ काल तक रहे थे। औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् उसका द्वितीय पुत्र मुअज़्ज़म, बहादुरशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह हिन्दी-कविता का बहुत प्रेमी था। 'देव' कवि (सन् १६७३-१७६८) ने उसे अपने 'अष्टयाम' तथा 'भावविलास' ग्रन्थ सुनाए थे।[८] 'आलम' कवि (रचनाकाल सन् १६८३-१७०३) तो मुअज़्ज़म के आश्रित ही थे।[९] सूरतिमिश्र (सन् १७०९-१७३७ के बीच वर्तमान) दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह रँगीले के दरबार में आते-जाते थे और उसके एक सरदार [illegible] के आश्रय में रहते थे।[१०] इसी बादशाह के वज़ीर क़मरुद्दीन ख़ाँ के आश्रित 'गंजन' कवि ने 'कमरुद्दीन ख़ाँ हुलास' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना सन् १७२९ में की थी[११] और इसी बादशाह के मीरमुंशी थे 'घनानन्द' (मृत सन् १७५७ से १७६२ के बीच) जो हिन्दी के परम प्रख्यात कवि हैं। शाह आलम द्वितीय (रा० का० सन् १७५९-१८०६) के दरबार में भी हिन्दी-कवि रहते थे। ऐसे एक 'धीर' कवि का पता चला है।[१२] रीतिकाल के अन्त तक इस दरबाराश्रय-परम्परा का निर्वाह मिलता है। उर्दू के प्रसिद्ध शाइर 'अमीर मीनाई' की पुस्तक 'इन्तख़ाबे-यादगार' मे उपलब्ध उल्लेख से ज्ञात होता है कि हिन्दी के कवि तथा रीतिकाल के अंतिम आचार्य 'ग्वाल' कवि का सम्बन्ध नवाब रामपुर के दरबार से था।[१३] इन प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होता है कि जिस समय उर्दू-शाइरी ने उत्तर भारत में ठीक-ठीक आँखें भी नहीं खोली थीं, उस समय हिन्दी-कविता मुग़ल दरबार में गूँज रही थी। इसीलिए 'फ़ायज़' पर उसका प्रभाव पड़ना बिल्कुल स्वाभाविक था। प्रभाव के लिए यह अनिवार्य नहीं कि 'फ़ायज़' हिन्दी भाषा लिखना-पढ़ना जानते ही हों। कविताएँ सुनकर भी प्रभाव पड़ता है और श्रोता उस काव्य-परम्परा से परिचित हो जाता है।

परन्तु हिन्दी-कविता की यह प्रणाली उर्दू-शाइरी में अधिक दिनों तक मान्य न रही। इसका कारण यह था कि बादशाह शाह आलम के शासन-काल (सन् १७५९-१८०६) में उर्दू-शाइरी (जिसे रेख़्ता कहा जाता था) ने ज़ोर पकड़ा। लेकिन उसके दरबार में जो शाइर थे वे फ़ारसी के कवि थे। ये शाइर ब्रजभाषा या संस्कृत-काव्य से अनभिज्ञ थे। अतएव इन शाइरों ने रचना तो उर्दू भाषा में की, परन्तु उनके भाव, विचार एवं शैली पर सारा रंग 'सईदी', 'हाफ़िज़', 'नासिरअली', 'जलाल', 'असीर', 'बेदिल' और 'तालिब' आदि फ़ारसी-शाइरों का ही रहा। फ़ारसी-कवियों के अनुकरण से उर्दू-कविता फ़ारसी के साँचे में ढल गई। दिल्ली दरबार में फ़ारसीयत छाई हुई थी। शाइरों की कविता में प्रेम-चित्रण की फ़ारसी-शैली गृहीत हुई और वे अपनी ग़ज़लों में स्त्री की जगह पुरुष के प्रति प्रेम-

निवेदन करने लगे। फ़ारसी का यह प्रभाव 'वली' पर भी पड़ चुका था, लेकिन अब उत्तर भारत की उर्दू-शाइरी उस रंग में आकंठ मग्न हो गई।

फ़ारसी-प्रभाव के फलस्वरूप उर्दू-शाइरों का माशूक़ एक छोकरा हुआ। मीर तक़ी' 'मीर' (सन् १७२५-१८१०) उर्दू के एक ऐसे प्रतिष्ठित कवि हैं, जिनकी प्रशंसा 'ग़ालिब' तक ने की है, परन्तु खेद है कि 'मीर' के काव्य में माशूक़ का स्तर इतना अप्रकृत तथा अधोगामी है कि पढ़ते हुए मन घृणा से भर उठता है। सैयद पिसर उनका दिल खींचता है, मुग़ल बच्चे के वादा न करने पर उन्हें दुख है, तुर्क बच्चे से इश्क़ करके वह ग़ज़ब के रेख़्ते कहते हैं, उन्हें शिकायत है कि वह धोबी का उनसे बहुत कम मिलता है।

ये तो जातिगत इश्क़ की बात हुई। अब पेशेवरों के लड़कों से इश्क़ के ताल्लुक़ात मुलाहिज़ा फ़रमाइए। इन दिनों मुफ़्ती का लौंडा सर चढ़ा है, तो चार दिन बाद सिपाहीज़ादा उनका दिल छीन लेता है, सर्राफ़ के ने उनसे बहुत खटपच्चरियाँ की हैं, उत्तूकश के लड़के ने उन्हें उत्तू कर दिया है, मामार के पत्थर दिल लड़के ने तो 'मीर' को मिट्टी में ही मिला डाला, उनका तथा अफ़सानाख़्वाँ के लड़के का क़िस्सा सभी को मालूम है, और हिन्दी बच्चे कभी-कभी अंगदान करते हैं—

हिन्दी बच्चों से क्या मईशत है
ये कभू अंगदान करते हैं।

इश्क़ के इतने अनुभवी होने पर भी ज़रा उसकी सादा दिली तो देखिए कि बीमार हुए जिसके सबब "उसी अत्तार के लौंडे से दवा लेत हैं।" 'मीर' के वर्णन पढ़ कर उर्दू-काव्य के आशिक़ के विषय में हमारी धारणा बहुत नीची हो जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि कोई लफ़ंगा दिल्ली की सड़कों पर सबेरे से शाम तक लड़कों की ही तलाश मे घूमता रहता है—

दिल लेके लौंडे दिल्ली के कब का पचा गए
अब उनसे खाई पी हुई शय क्या वसूल हो? —मीर

फ़ारसी-शाइरी में पुरुष का पुरुष के प्रति प्रेम-निवेदन करना प्रचलित था जो 'वली' तथा उत्तरभारत के शाइर 'फ़ायज़', 'आरज़ू' (सन् १६८६-१७५६) शम्सुद्दीन जानजाना 'मज़हर' (सन् १६६८-१७८१), शेख़ शरफ़ुद्दीन 'मज़मून' (सन् १७४५ में वर्तमान), शाह मुबारक 'आबरू' (सन् १७५० में वर्तमान', 'सौदा' (सन् १७१३-१७८१), मीर दर्द (सन् १७२०-१७८४) तथा सै० मुहम्मद मीर 'सोज़' (सन् १७२०-१७६८) आदि सभी शाइरों में मिलता है। लेकिन यह विचारणीय है कि मीर तक़ी 'मीर' के काव्य में पुरुष माशूक़ के जो भेदोपभेद

उपर्युक्त उद्धरणों में प्राप्त हैं वे भेद अन्य किसी शाइर में नहीं मिलते। हम पहले दिखा चुके हैं कि 'रहीम' तथा 'देव' ने अपनी रचना में नायिका के जातिगत, पेशागत और निवासगत अनेक भेद किए हैं। 'मीर' पर इन भेदों का प्रभाव पड़ा हो यह असंभव नहीं है। 'मीर' का जन्म आगरे में हुआ था, जो ब्रजभाषा का क्षेत्र है। जवानी के उदय तक वह आगरे में ही रहे, अतः ब्रजबोली वह अवश्य जानते होंगे और इसलिए ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा से परिचित होना उनके लिए स्वाभाविक था। उनकी शाइरी में ब्रजभाषा शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है जो उन पर पड़े ब्रजभाषा-प्रभाव को प्रकट करता है।

जब 'मीर' ने लिखना शुरू किया तब हिन्दी-काव्य-जगत् में महाकवि 'देव' की तूती बोल रही थी। ब्रजभाषा की कविता में इस प्रकार की नायिकाएँ सुनकर यदि उन्होंने भी माशूक़ को अनेक प्रकार का दिखा दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कालक्रम की दृष्टि से 'मीर' का जन्म 'रहीम' के १८० तथा 'देव' के ५२ वर्ष बाद हुआ। 'देव' ने 'रसविलास' की रचना सन् १७२६ में की थी जब 'मीर' एक वर्ष के थे, इसलिए 'मीर' का प्रभाव 'रहीम' या 'देव' पर हो नहीं सकता। इसके अतिरिक्त फ़ारसी में द्विभाषीय शब्दकोश 'तोहफ़तुल्हिन्द' के अन्तर्गत कोशकार मिर्ज़ा जान (या खान) शृंगार रस व नायिका-भेद का विस्तृत विवेचन कर चुके थे। यह कोश सन् १७०७ में ('मीर' के जन्म से १७-१८ वर्ष पूर्व) बन चुका था। फ़ारसी के ज्ञाता मीर तक़ी 'मीर' ने यह कोश अवश्य देखा होगा। इसलिए नायिका-भेद-परम्परा की जानकारी उन्हें जरूर रही होगी यह भी ध्यातव्य है कि 'मीर' शाहआलम द्वितीय के समय के शाइर हैं। शाह आलम द्वितीय खुद हिन्दी में रचनाएँ करते थे। रामपुर के कुतुब खानए-आलिया से प्राप्त 'नादिराते-शाही' नामक हस्तलिखित काव्य ग्रंथ (र० का० सन् १७६९) में शाह आलम द्वितीय के होली-सम्बन्धी ६० छन्द (सवैये-दोहे) और नायक-नायिका-भेद से सम्बद्ध २७८ सवैये उपलब्ध हुए हैं, जिनमें से कुछ डॉ० उदयशंकर श्रीवास्तव ने अपने शोध प्रबन्ध 'मध्ययुगीन हिन्दी के सूफ़ी इतर मुसलमान कवि' में उद्धृत भी किए हैं।[१४] इससे सिद्ध है कि नायक-नायिका भेद का उस समय मुग़ल दरबार में खूब प्रचार था। अतः हमारा दृढ़ विश्वास है कि 'मीर' ने माशूक़ के जातिगत या पेशागत जो भेद किए हैं, उन पर हिन्दी-रीतिकविता के नायिका-भेद का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है।

'रहीम' का अनुसरण कर 'देव' ने जाति या पेशे के आधार पर नायिकाओं की जो कल्पना की है, वह अशास्त्रीय है। "शास्त्रीय दृष्टि से नायिका का स्वरूप सर्वमान्य होता है। इस बात को 'देव' ने 'काव्य रसायन' में स्वीकार भी किया है, फिर भी 'जाति विलास' में उन्होंने विभिन्न जाति की नारियों का चित्रण

किया है।"[१५] जो बात नायिका के विषय में कही गई थोड़े-बहुत अन्तर से माशूक़ पर भी घटित होती है। माशूक़ के भी कुछ सर्वमान्य गुण हैं, उनकी उपेक्षा करके जाति या पेशे के अनुसार माशूक़ के भेद करना उचित नहीं है। परन्तु 'मीर' द्वारा दिखाए गए मार्ग का अनुसरण उर्दू में खूब हुआ। आगे चलकर यह सूची और भी लम्बी हुई। कोई शाइर ब्राह्मण बालक के हुस्न से कटकर रह गया, तो कोई ईसाई बच्चों के विरह में आँसू बहाकर लंदन को डुबाने लगा। आशय यह कि उर्दू-शाइरों को रत्यालम्बन के लिए किसी न किसी लड़के की दरकार हुई। यह अशिष्ट प्रेम-रीति उर्दू-कविता की ऐसी मान्य शैली बनी कि बड़े से बड़े उस्ताद भी इस लक्ष्मण-रेखा से बाहर न जा सके। 'नासिख' साहब किसी दूसरे का पुत्र फाँस न सकने के कारण सख्त मुलूल हैं—

ग़ैर के फ़र्ज़न्द को क़ाबू में लाऊँ किस तरह
कर नहीं सकता मुसख्खर अपने ही हमज़ाद को।

कोई लड़का यदि साक्षात् नहीं मिलता तो शाइर कल्पना में ही उससे लिपटकर मस्त हो जाता है। पतन की हद वहाँ है, जहाँ इन लड़कों की उम्र का विवरण भी दिया गया है। दस-बारह बरस के बच्चों को ही नहीं, छह-सात वर्ष के बालक को भी आशिक़ इन्हीं वासना-बुभुत्सु नेत्रों से देखते चित्रित किए गए हैं। आलम्बन के चित्रण में श्मश्रु रेखा का वर्णन बार-बार हुआ है, इसलिए उसकी पुरुषाकारता में संदेह के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।

हिन्दी की प्रकृत-पद्धति को छोड़कर उर्दू-शाइरी का इस तरह भटकना तत्कालीन वातावरण का परिणाम था। वह ज़माना मुहम्मदशाह रँगीले (सन् १७१९-१७४८) का ज़माना था, जिसमें आचरण भ्रष्टता एक साधारण बात हो गई थी। शाह आलम द्वितीय (सन् १७५९-१८०६) के समय में हालत बद से बदतर होती गई। शिक्षा-दीक्षा का कोई उचित प्रबन्ध न था। जिनके माँ-बाप धार्मिक थे, उन्हे ही अरबी पढ़ाई जाती थी। परन्तु यह पढ़ाई इतनी जटिल और विस्तृत थी कि लड़के दस-पन्द्रह बरस तक रट-रटाकर उकता जाते थे और पाठशालाओं के हाथ जोड़ लेते थे। हाँ, फ़ारसी का बहुत ज़ोर था। सरकारी काम-काज तथा पत्र व्यवहार की भाषा फ़ारसी होने से उसे सभी सीखते थे। फ़ारसी में दार्शनिक ग्रंथों की कमी नहीं थी। यदि उस ओर ध्यान दिया जाता तो विचार का स्तर कुछ उच्च होता, लेकिन फ़ारसी शिक्षा का ढर्रा दूसरे ढंग का था। उसके पाठ्यक्रम में जितने भी ग्रन्थ थे, 'गुलिस्ताँ' 'बोस्ताँ' को छोड़कर सभी हुस्न और इश्क़ की दास्तानों से भरे हुए थे। फलस्वरूप ये छात्र उन कथाओं को सत्य समझने लगते और छात्र-जीवन समाप्त करने के बाद उन्हीं "फ़ौकल आदत-वालों के ख्वाहिशमंद रहते थे।"[१६] बादशाहों के पतन की यह दशा थी कि अच्छी

सूरत देखकर उनकी राल टपक पड़ती थी । सुन्दरियों की कौन कहे सुन्दर जवानों को भी देखने बादशाह सलामत चले जाते थे । शाह आलम द्वितीय के विषय में उल्लेख मिलता है कि वह अब्दुल हई 'ताबाँ' को देखने अपनी सवारी ले गए थे और 'ताबाँ' किसी सुलेमान नामक जवान के आशिक़ थे ।

इस प्रकार शाही दरबार के वातावरण तथा शिक्षा की बलिहारी के कारण अप्रकृत प्रेम-चित्रण-शैली उर्दू में भी प्रचलित हो गई । मीर दर्द, मीर तक़ी 'मीर' तथा मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी 'सौदा' उस समय के उस्ताद थे । 'दर्द' के काव्य में तसव्वुफ़ और मीर तक़ी 'मीर' की रचनाओं मे व्यथा-भरा आशिक़ाना रंग था । सूफ़ियाना शेर सुनने में अच्छे भले ही लगते हों, लेकिन वे सामान्य मानव के हृदय के व्याख्याता नहीं होते, क्योंकि उनमें व्यक्त अनुभव विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभव हैं । आशिक़ाना रंग के शेर आकर्षक होते हैं, परन्तु तत्कालीन उन शेरों में एक मानसिक उलझाव था । इस समय उर्दू-ग़ज़ल एक विचित्र विकार से पीड़ित हो गई थी । ग़ज़लों में प्रेम-चित्रण तो रहता था, परन्तु वैसा नहीं जैसा संसार में होता है । इसका कारण यह था कि सूफ़ियाना प्रेम-वर्णन के साथ सांसारिक प्रेम का ताल-मेल बैठाया जाता था और उसे फ़ारसी-काव्य-परम्परा (पुरुष का पुरुष के प्रति प्रेम) में ढाल दिया जाता था । 'ग़ज़ल' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है स्त्रियों से बातें करना, परन्तु समय का फेर देखिए कि उसके संस्थान में स्त्री-सम्बोधन दोष समझा जाने लगा । फल यह हुआ कि इन उर्दू-शेरों की नाज़ुक ख़याली तथा चमत्कारिता आदि की प्रशंसा करने पर भी जनता उनमें अपने जीवन की अनुभूत प्रेम-पद्धति का प्रतिबिम्ब नहीं पाती थी । यही कारण है कि उसकी रुचि को दृष्टि में रखकर शाइरों के एक वर्ग ने उर्दू-काव्य में उपेक्षित नारी की ओर ध्यान दिया ।

उर्दू-आलोचकों ने इस शैली को 'एक शिगूफ़ा'[१७] कहा है, क्योंकि वह उर्दू की रूढ़ प्रेम-पद्धति के प्रतिकूल थी । परन्तु तथ्य यह है कि हिन्दी-कविता के प्रकृत-प्रेम-चित्रण के मुक़ाबले में शाइरों को उर्दू-काव्य में यह दोष मालूम पड़ा । उन्होंने हिन्दी-कविता की प्रेम-प्रणाली अपनाई, मगर नई राह निकालने के चक्कर में उत्पथ पर चले गए । इस शैली के आविष्कारक तो सआदतयार ख़ाँ 'रंगीं' हैं, मगर उसे पुष्ट करने का श्रेय इंशाअल्ला ख़ाँ को है । 'रंगीं' के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए 'इंशा' लिखते हैं कि उन्होंने "रेख़्ते की तर्ज़ छोड़कर रेख़्ती ईजाद की है इस वास्ते कि भले आदमियों की बहू-बेटियाँ पढ़कर मुश्ताक़ हों ।"[१८]

इस शाइरी का उद्देश्य भले आदमियों की बहू-बेटियों को अपने ऊपर आसक्त करना था । बहू-बेटियाँ तभी आसक्त होंगी, जब उस शाइरी में उन्हें अपने हृद्गत भावों की उपलब्धि हो और उनके प्रति किये गये प्रेम-निवेदन में पुरुष के दिल

की वास्तविक गर्माहट के दर्शन हों। अर्थात् वह प्रेमाभिव्यक्ति भले आदमियों की बहू-बेटियों के कुल-शील के अनुरूप होनी चाहिए थी। महाकवि 'देव' ने नायिका की योग्यता के संदर्भ में कुल और शील का उल्लेख किया है। रेख़्ती-कविता की भाषा तथा अभिव्यक्ति इस स्तर पर क़ायम न रहकर काफ़ी नीचे गिर गई। 'रंगीं'-मंडल की शाइरी में इस तरह के वर्णन होने लगे—

किसने लिक्खा था तुम्हें दिल गया और जान गई।
मुझको क्यों लिखती हो तुम मैं तुम्हें पहचान गई।
हीजड़ा मुझको जो कहती हो ख़बरदार रहो
वक़्त पर कहियो न बसकर तेरे क़ुरबान गई।

'इंशा' (मृत सन् १८१७) बहुभाषाविद् थे। उन्हें हिन्दी, पंजाबी, मारवाड़ी, मराठी आदि अनेक भारतीय भाषाओं का ज्ञान था। वह हिन्दी के ज्ञाता ही नहीं, अच्छे लेखक भी थे। यही कारण है कि इंशा की रेख़्ती-शाइरी में माशूक़ा का वर्णन हिन्दी-रीतिकाव्य-परम्परा के अनुसार हुआ है। आगामी विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

हिन्दी-रीतिकविता में 'विदग्धा' का वर्णन बहुत मिलता है। जब नायिका नायक से मिलने का संकेत इस युक्ति से करती है कि उपस्थित व्यक्तियों में से कोई नहीं समझ पाता तो वह विदग्धा है। वह अपना अभिप्राय शब्दों द्वारा सम्प्रेषित करती है तो उसे वचन-विदग्धा और जब क्रिया द्वारा करती है तो उसे क्रिया-विदग्धा कहते हैं। रीतिकालीन हिन्दी-काव्य में विदग्धा के अनेक उदाहरण मिलते हैं, परन्तु अधिकतर कथन एक-से हैं, यथा—

चोखी जाति गैया कोई और न दुहैया 'देव'
देवर कन्हैया कहा सोवत सवारेई।

अथवा कभी नायिका यह कहती है कि, घर में कोई नहीं है, दीवाल गिर गई है, चोरों का भय है—

आवत गोपालैं देखियो हो कवि 'रघुनाथ'
पाइकै निकट सखी साथिन तौ बारे की।
बिलखौहीं बदन कै तासों यों कहन लागी
जीवति वृथा हैं जे हैं बाम बनिजारे की।
लदि गयो पति हो सपतनी अकेली छोड़ि
राति में न सुनिये पुकार रखवारे की।
चोरन को डर घर गाँव के किनारे आजु
तापै सुनौ मीत गिरी भीत पिछवारे की।

शब्द-चातुरी कार्य-साधिका तभी हो सकती है जब नायिका नायक से मिलना चाहे। जहाँ मिलना ही नहीं वहाँ ऐसी विदग्धता की आवश्यकता ही क्या ? उर्दू की रूढ़ शाइरी में माशूक़ को इन बातों से क्या लेना-देना और बेचारे आशिक़ को इतनी जुरअत कहाँ। यह तो हिन्दी-रीतिकविता का ही प्रसाद है कि उर्दू-शाइरों ने भी इस प्रकार के संकेतों में नायिका की शब्द-चातुरी का नमूना पेश किया है—

है जो दरवाज़ा वो दुगाना का
उसमे बिन चूल का किवाड़ है एक।
उसकी ज़ंजीर भी नहीं लगती
आगे फिर शर्म ही की आड़ है एक। —इंशा

नायिका ने सखी के घर की दशा बताकर यह इशारा किया कि नायक रात में वहीं आ जाय। अंतिम मिसरा बहुत व्यंजक है। कथन तो साधारण मालूम पड़ता है कि जिस घर में किवाड़ बिन चूल का हो और फिर जिसमें ज़ंजीर भी न लगती हो, वहाँ लज्जा के अलावा किसकी आड़ कही जाय ? परंतु नायिका का संकेत है कि ऐसे घर में तुम्हारे आने में लज्जा के अतिरिक्त और कोई रुकावट नहीं है। तात्पर्य यह कि बेधड़क चले आना, शर्म करने की जरूरत नहीं है।

रीतिकालीन काव्य में विदग्धा के समान ही 'लक्षिता' की भी दशा है। लक्षिता के उदाहरण भी प्रायः घिसे-पिटे है, जैसे नायक के कुंडल का नायिका के शरीर पर उपट जाना या उसकी बाँह पर पड़ी नायिका की वेणी दबने से नायक के शरीर पर उसका चिह्न बन जाना। 'इंशा' ने लक्षिता का एक उदाहरण दिया है, जिसकी नवीनता देखिए—

बाजी की बास में जो बसी इक जने की बास।
तो ठीक ठीक हो गई दूल्हनपने की बास।
बटना निगोड़ा कहना भी कुछ लफ़्ज़ है भला
हम तो यही कहेंगे अजी उबटने की बास।
चाहत की आग से ये भुना दिल के ऐ दवा
गोदी में अपने भर गई भूने चने की बास।

नायिका अनूढा (कन्या) है, अभी वधू (दूल्हन) नहीं बनी, मगर किसी नायक से संभोग करके आई है। सखी उसे अपनी गोद में बिठाकर कहती है कि मेरी बहिन (अर्थात् नायिका) की शरीर-गंध में एक जने की गंध और मिल जाने से पूरी दूल्हनपने की गंध बन गई अर्थात् नायिका की हर आंगिक चेष्टा अब उसके दुल्हन होने का आभास देती है। 'इक जाने की बास' कहकर वह फिर उस बात

को दूसरी तरफ़ मोड़ती है कि वह गंध किसी जने (व्यक्ति) की नहीं, बल्कि बटने की है। मगर 'बटना' शब्द भी कोई शब्द है ? इसलिए हम तो कहेंगे कि वह उबटने की सुगंध है। उबटने को स्त्रियों की बोली में 'बटना' कहते हैं। बटना क्रिया में एक वस्तु पर दूसरी वस्तु को रगड़ा जाता है। सिलबट्टा को हिन्दी की बोलियों में सिल-बटना भी कहते हैं। यह क्रिया भी 'बटना' कहलाती है। सखी 'बटना' शब्द का प्रयोग करके किस चतुराई से नायिका की संभोग-लीला का पर्दाफ़ाश कर रही है ?

रीतिकालीन हिन्दी-कविता में नायिका के 'छिति तक छहरनेवाले छरा' का उल्लेख तो बहुत हुआ है, परन्तु उस छरा को [illegible] सूत्र नहीं बनाया गया। 'इंशा' ने इस उपेक्षित माध्यम के सहारे भी लक्षिता के स्वरूप की अभिव्यक्ति की है। पावस ऋतु मे रात्रि-क्रीडा-सुखाप्ता नायिका से उसकी सखी कहती है—

तेरे इज़ारबंद की क्या बात है परी
है सब इज़ारबंदों में छैला इज़ारबंद।
बिजली-सी एक कौंध गई अपनी आँख में
काली घटा में तेरा ये फैला इज़ारबंद।
क्या भर गया है आज कि जिसके सबब तेरा
है सख्त जैसे लकड़ी का चैला इज़ारबंद।

रेख़्ती से लक्षिता का एक उदाहरण और देखिए—

मुझसे न उड़ ज़नाख़ी तू रात को कहीं थी
है रंग कोई छुपता ऐसी मिली-दिली का।
हाथों से तेरे मैं तो कम्बख्त आजिज़ आई
जो काम है निगोड़ा तेरा सो हलबली का।

यहाँ नायिका लक्षिता है या अन्य संभोगदुःखिता ? सखी वचन मानें तो लक्षिता और नायिका का कथन मानें तो अन्य संभोगदुःखिता। 'हाथों से मैं तो तेरे कम्बख्त आजिज़ आई' मिसरे की व्यंजना उर्दू-परम्परा से समझी ही नहीं जा सकती। इसे समझने की दीपिका हिन्दी-रीतिकाव्य की निम्नांकित पंक्तियों में प्राप्त होगी—

ब्रजमंडल देखि सबै 'पदमाकर' ह्वै रही यों चुपचाप री है।
मनमोहन की बहियाँ में छुटी उपटी यह बेनी दिखा परी है। —पदमाकर

नायिका-भेद मे नायिका का एक भेद 'गर्विता' भी है। महाकवि 'देव' ने अष्टांग गर्विताएँ मानी हैं। उनके अनुसार रूप, प्रेम, गुण, शील, कुल, विभव

तथा भूषण को ध्यान में रखकर आठ प्रकार की गर्विताएँ हो सकती हैं। इस तरह और भी भेद किए जा सकते हैं, इसलिए इन भेदों का ज़्यादा महत्व नहीं है, परन्तु हमारे विचार से 'शील-गर्विता' जैसा भेद नितान्त अनुपयुक्त है। शील हृदय की वह वृत्ति है जो मनुष्य को मर्यादा तथा अनुशासन में रखती हुई सहज विनम्र बनाती है। अर्थात् यह वृत्ति गर्व-विरोधिनी वृत्ति है। इसलिए शीलगर्विता जैसी कल्पना अशास्त्रीय तथा अमनोवैज्ञानिक है। रीतिकालीन हिन्दी-काव्य में सामान्यतया रूपगर्विता तथा प्रेमगर्विता भेद ही स्वीकार किए गए हैं। रूप के अन्तर्गत हिन्दी-कवियों ने वर्ण, गंध तथा ज्योति सभी को सम्मिलित कर लिया है। 'मतिराम' ने एक ऐसी नायिका का वर्णन किया है, जिसे निद्रामग्न देखकर प्रियतम ने उसके ललाट पर कैसर-खौरि लगा दी। जब वह जागी तो उसने भौंहें वक्र कीं और उस खौरि को पोछ डाला। व्यंजना यह है कि वह कंचनवर्णा एवं पद्मगंधा है—

सोय रही रति अंत रसीली अनंत बढ़ाय अनंग-तरंगनि।
कैसर-खौरि रची तिय के तन, प्रीतम और सुबास के संगनि।
जागि परी 'मतिराम' सरूप गुमान जनावत भौंह के भंगनि।
लाल सों बोलति नाहिंन बाल सु पोंछति आँखि अँगोछति अंगनि।

'पदमाकर' (सन् १७५३-१८३३) की नायिका चन्द्रमुखी कहने से चिढ़ती है, क्योंकि उसका मुख चन्द्रमा से कहीं सुन्दर है—

नेह भरी बतियाँ कहिकै नित सौतिन की छतियाँ दहिबो करौ।
चंदमुखी कहे होती दुखी तौ न कोऊ कहैगो सुखी रहिबो करौ।

उर्दू-काव्य के अन्तर्गत रूपगर्वित माशूक़ का कथन बार-बार किया जाता है। नवाब मिर्ज़ा ख़ाँ 'दाग़' (सन् १८३१-१९०५) का सौन्दर्य-गर्व-सम्बन्धी एक शेर बहुत प्रसिद्ध है—

रुखे रौशन के आगे शम्मा रखकर वो ये कहते हैं
उधर जाता है या देखें इधर परवाना आता है।

रूपगर्वित माशूक़ का एक उदाहरण 'ग़ालिब' के निम्नांकित शेर से स्पष्ट होता है—

मैं जो कहता हूँ कि हम लेंगे क़यामत में तुम्हें
किस रऊनत से वो कहते हैं कि हम हूर नहीं।

इंशा अल्ला ख़ाँ ने रूपगर्विता नायिका का चित्र इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया है—

बाम्हन के लड़के खोल के पोथी विचार तू
मुझ-सी परी भी होगी कोई इंद्र लोक में।

रूपगर्विता तथा प्रेमगर्विता नायिकाओं के वर्णन वास्तव में नायिका से सम्बन्धित होने पर भी दो अलग-अलग पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। रूप-गर्विता भेद नायिका को सामने रखता है, लेकिन प्रेमगर्विता भेद नायक के सम्बन्ध से ही बनता है। नायक के बिना प्रेमगर्विता भेद सिद्ध ही नहीं हो सकता। जब तक नायक का एकांत प्रेम नायिका को प्राप्त नहीं होगा, वह प्रेमगर्विता नहीं कही जाएगी। हिन्दी-रीति-कविता में प्रेमगर्विता के मधुर उदाहरणों की कमी नहीं है—

ऊख मयूख पियूख की भूष मिटै जब मो अधरा रस पावै।
श्रौननि के हित बोलि हमैं नित कै बिनती बहु बार बुलावै।
मोहि विलोकत ही कहि 'तोष' सु नैननि नेकु निमेष न लावै।
कौन उपाइ करौं सजनी रजनी दिन नेकु न छूटन पावै।

उर्दू-शाइरी में आशिक़ माशूक पर आसक्त भले ही रहे, माशूक़ को उसके प्रेम की कोई आवश्यकता नहीं है। जब उसे प्रेम ही नहीं चाहिए तो वह प्रेम-गर्वित (अथवा प्रेमगर्विता) कैसे होगा ? इस प्रेमभाव के कारण उर्दू-शाइरी में प्रेमगर्विता भेद के नमूने नहीं मिल सकते। 'इंशा' का उपरि उद्धृत शेर हिन्दी-रीतिकविता की रूपगर्विता का उदाहरण था। अब प्रेमगर्विता-विषयक उनका शेर देखिए—

सौतिनें कम्बख़्त वो जो बैर दौड़ाती रहीं।
उन से आखिर क्या हुआ अपना किया पाती रहीं।

इसे 'पदमाकर' के अधोलिखित दोहे से मिलाइए—

कछु न खात अनखात अति बिरह बरी बिललाति।
अरी सयानी सौति की बिपति सही नहीं जाति।

'इंशा' ने प्रेमगर्विता का चित्र प्रस्तुत किया जो उर्दू-शाइरी में अप्राप्य है। परन्तु प्रेमगर्विता के भी दो रूप हैं। एक वह रूप जिसमें नायिका को प्रियतम का प्रेम प्राप्त है। इस रूप के दर्शन 'इंशा' की उपर्युक्त पंक्तियों में होते हैं, लेकिन दूसरा रूप वह है जिसमें नायिका का उत्कट प्रेम नायक के प्रति दिखाया जाता है, जैसे—

'देव' मैं शीश बसायो सनेह कै भाल मृगंमद विन्दु कै राख्यौ।
कंचुकी में चुपर्‌यौ करि चौवा लगाय लियौ उर सौं अभिलाख्यौ।
लै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत शृंगार कै चाख्यौ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यौ।

यह उत्कट प्रेम यदि प्रतिदान-विहीन है तो निरानंद होने से रसाभास मात्र

होगा। उर्दू-शाइरी में आशिक़ को प्रेमी तो बताया जाता है, लेकिन वह माशूक़ को बेवफ़ा, हरजाई, अत्याचारी आदि-आदि न मालूम क्या-क्या समझता है? इसलिए आशिक़ की आसक्ति को हम उत्कट प्रेम नहीं कह सकते। और यदि इसे प्रेम की संज्ञा दे भी दें तो उसका अपने इस प्रेम पर गर्व करना थोथा आस्फालन होगा, क्योंकि उस गर्व को सत्य प्रमाणित करने का प्रमाण उसके पास क्या है? प्रेम का प्रमाण है प्रेम। हिन्दी-काव्य में प्रेमगर्विता को अपने प्रेम करने का गर्व तभी है जब वह पूरी तरह अवगत है कि उसका प्रियतम उसे सर्व-भावेन प्रेम करता है :—

मालिनि ह्वै हरि माल गुहै चितवै मुख चेरी भयो चित चायनि।
पान खवावै खवासिनि ह्वै कै सवासिनि ह्वै सिखवै सुख भायनि।
बेंदी दै 'देव' दिखाइ कै दर्पण जावक देत भये अब नायनि।
प्रेम पगो पिय पीत पिछौरी-सी प्यारी के पोछि पयारी से पायनि।

नायक और आशिक़

हिन्दी-रीतिकविता में नायक के कभी चितेरिनि, लिलहारिन, कभी चुरिहारिन, कभी जोगिनि और कभी दासी आदि बनने का वर्णन बारम्बार हुआ है। कृष्ण के सपेरा बनकर राधिका के कृत्रिम सर्पदंश दूर करने की कल्पना भी की गई है। नायिका जानती है कि नायक उसे इतना चाहता है कि उसे देखने के लिए स्त्री वेश धारण करके भी आता है "निज भेष बनावत है तिय को हमैं देखिबे को इत आवत है।"[१९]

उर्दू-शाइरी में आशिक़ चित्रकार बनकर माशूक़ का दर्शन ज़रूर करता है, लेकिन माशूक़ को इसकी जानकारी नहीं है। इस अतिरिक्त अन्य साधन अंगीकार करने का वर्णन नहीं मिलता। ब्रजभूमि की रज में लोट-लोटकर अलमस्त विचरने वाले वलीमुहम्मद 'नज़ीर' अकबराबादी (सन् १७३५-१८२०) ने हिन्दी-कविता के वर्णनों के अनुरूप अपने सुन्दर माशूक़ के दर्शनार्थ मक्रोफ़न बनाए हैं। अगर माशूक़ भारी हुआ तो पहलवान बन गये—

देखा जो हुस्न भारी और रंग-रूप ताड़ा
तो पहलवान बनकर खोदा वहीं अखाड़ा।

यदि माशूक़ टेढ़ा-बाँका और क़ातिल हुआ तो ढाल-तलवार सँवारी तपंचे बाँधे, या लकड़ीबाज़ बनकर फरी-गदका उठा लिया। इस तरह 'नज़ीर' ने चित्रकारी, कीमियागरी, जादूगरी, रीछबाज़ी, कबूतरबाज़ी, बंदरबाज़ी, ज्योतिष, पिंजड़े बनाना, घाट पर चन्दन लगाना आदि सभी पेशे अपनाए। गारुड़ी-रूप के दर्शन निम्नांकित पंक्तियों में कीजिए—

देखा जो हुस्न कोई बलदार लहर खाया।
तो बन गए सपेरे और साँप को जिलाया।
तूँबी बजा के हरदम साँपों का फन हिलाया।
उस साँप के ही फन से अपना भी मन मिलाया।

बेचारे आशिक ने क्या-क्या नहीं किया? आम, जामुन, सेव, अनार, दालमोठ, पापड़, अचार सभी कुछ बेचा; बटेर, तोते, बगुले, बये एवं गिलहरे पाले और जब काम न सिद्ध हुआ तो मनिहार बन के निकल पड़े—

देखी जो नर्मोनाज़ुक उस हुस्न की कलाई
मनिहार बनके चूड़ी हाथों में खनखनाई।

स्पष्ट है कि ये सारे वर्णन हिन्दी-रीतिकविता के प्रतिफल हैं। परन्तु हिन्दी-प्रभावापन्न होने पर भी इन वर्णनों को हम हिन्दी-प्रकृति से यत्किंचित् भिन्न पाते हैं। हिन्दी-रीतिकविता का नायक अपनी उसी प्रियतमा से मिलने के लिए ये युक्तियाँ करता है जब कि 'नज़ीर' विभिन्न माशूक़ों से मिलने के लिए विभिन्न पेशे अख्तियार करते हैं। 'नज़ीर' की कविता का आशिक़ हुस्नपरस्त है, हिन्दी-काव्य का नायक प्रेम का पुजारी है। उर्दू-शाइरी सौन्दर्योपासना की कविता है, हिन्दी-कविता में प्रेमाराधना की महत्ता है।

सौन्दर्योपासना तथा प्रेमाराधना मे बहुत बड़ा अन्तर है। उर्दू-शाइरी मे सौन्दर्य रूपाश्रित है। अतएव वहाँ सौन्दर्योपासना वस्तुतः रूपोपासना ही है। रूपोपासना में भोग का भाव प्रबल रहता है, किन्तु प्रेमाराधना में समर्पण का। भोग-लिप्सु को विकलता अथवा निराशा ही हाथ लगती है, क्योंकि प्राप्त आलम्बन के सौन्दर्यापकर्ष से उसका मन निर्विण्ण होकर किसी अन्य अप्राप्त सुन्दर आलम्बन को खोजता है और न मिलने तक व्याकुल रहता है।

उर्दू-शाइरी में आशिक को जो बराबर बेचैन दिखाया गया है उसका यही कारण है। नया माशूक़ आशिक़ से अपरिचित होने के कारण भद्र व्यवहार नहीं करता, बेरुखाई से पेश आता है और ज्यादा हठधर्मी दिखाने पर गाली-गलौज या मारपीट भी कर सकता है। उर्दू-काव्य में माशूक़ की निष्ठुरता का यही मनोविज्ञान है। यह हुस्न परस्ती का नतीज़ा है कि आशिक़ हमेशा परेशानहाल और अत्याचार-तितिक्षु दिखाया गया है।

यह तो भोग-लिप्सु को नया माशूक न मिलने तक की अवस्था का हाल हुआ। मिल जाने पर भी उसे चैन नहीं मिलता, क्योंकि इन्द्रिय-शक्ति क्षीण हो जाने के कारण उस सौन्दर्य का वह भोग नहीं कर पाता, अतः निराशा होती है। इसलिए ऐसे आशिक़ बुढ़ापे मे हाय-हाय करते नज़र आते हैं। सौन्दर्य-भोगाक्षमता का दुख 'नज़ीर' के इन शेरों से प्रकट होता है—

थे हम भी जवानी में बहुत इश्क़ के पूरे।
वो कौन से गुलरू हैं जो हमने नहीं घूरे।
अब आके बुढ़ापे ने किये ऐसे अधूरे।
पर झड़ गए, दुम उड़ गई फिरते हैं लँडूरे।

यहाँ 'इश्क़' शब्द का अर्थ ऐन्द्रिय शक्ति है, प्रेम नहीं। शाइर की सौन्दर्य-लिप्सा "वह कौन से गुलरू हैं जो हमने नहीं घूरे" मिसरे से स्पष्ट हो जाती है। रूपोपासकों की विषय-लोलुपता लोगों के लिए छेड़खानी का कारण बन जाती है—

क्या यार उलट हमसे गया हाय ज़माना।
जो शख़्स कि थे अपनी निगाहों के निशाना
छेड़े हैं कोई डाल के दादा का बहाना
हँसकर कोई कहता है कहाँ जाते हो नाना। —नज़ीर

हिन्दी तथा उर्दू दोनों ही काव्यों में सौन्दर्य-चित्रण है। लेकिन जो निष्ठा हिन्दी-रीतिकविता में मिलती है, उसका उर्दू-शाइरी में अभाव है। उर्दू में प्रेम का यह हाल है कि किसी के रूप का ज़िक्र सुना और राल टपकने लगी, चुंबन की चर्चा चली तो मुँह फाड़ दिया—

शीरीं लबों के ऊपर राल अपनी टपकती है
बोसे का नाम सुनकर हम मुँह पसारते हैं। —आतश

फलतः आशिक़ की सौन्दर्योपासना विषयगत है और उसकी बुद्धि व्यभिचार-दोष से आक्रांत है। उसमे निश्चयात्मिका वृत्ति का अभाव है। परिणाम स्वरूप उसके माशूक़ विविध हैं, क्योंकि वहाँ सम्बन्ध विषयीगत नहीं है—

दिल दिया चाहे तो 'आतश' दिलरुबा हैं सैकड़ों।
ख़ूबतर से ख़ूबतर बेहतर से बेहतर सैकड़ों।

इन पंक्तियों में उद्दामवासना का मुखररूप स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। प्रेम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी यह अनेकनिष्ठा उर्दू-शाइरी में सर्वत्र मिलेगी। यही कारण है कि उर्दू-शाइरी में एक-एक-आशिक़ के सौ-सौ माशूक़ तक मिलते हैं। उस आशिक़ के माशूक़ संख्या में सैकड़ों न सही, चंद ज़रूर होंगे—

चंद तस्वीरें-बुताँ चंद हसीनों के खुतूत
बाद मरने के मेरे घर से ये सामाँ निकला।

उर्दू का आशिक़ जीवन भर माशूक़ के अत्याचार सहता है। मिलन उसे कभी नसीब नहीं होता। रंजो-ग़म, रोदन, संताप तथा पीड़ा उसके हिस्से में पड़े हैं। उसका दिल खून हो जाता है और जिगर जलकर कबाब बन जाता है। रोते-रोते उसकी आँखें अंधी हुई जाती हैं, मगर आशिक़ है कि उफ़ नहीं करता। वह खून

के आँसू रोता है। उसकी आँख गोया खून का फ़व्वारा है। दिल में बराबर धुआँ उठता रहता है। खूने-जिगर के कारण उसकी वाणी भी रक्त-रंजित हो जाती है "मुँह पर आते हैं सुखन आलूदा-ए-खूने-जिगर।"[२०]

वह जानूं पर सर रक्खे निराशा की मूर्ति बना बैठा रहता है। वह सरापा शिकस्त है—

जिससे तदबीरे-दुरुस्ती हो हमारी जूं जुल्फ़
कि शिकस्तों से बनाया है सरापा हमको। —जौक़

वह तड़पता है। उसका सीना दाग़ों से भर गया है "दाग़ों से जिसका सीना गुलजार था सो मैं था।" उसके हृदय में इतने घाव हैं कि छाती छलनी हो गई है, मगर माशूक़ के सितम उठाने की तमन्ना कभी कम नहीं होती। वह यही चाहता है कि उसके घाव कभी भरें नहीं। उन पर माशूक़ बराबर नमक छिड़कता रहे।

वह मौत की कामना करता है, परन्तु यह मौत दुख-पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए नहीं है। मौत इसलिए प्यारी है कि माशूक़ कम से कम उस समय तो आ ही जाएगा। वह अपनी क़ब्र माशूक़ की गली में बनाना चाहता है। उसकी हड्डियों पर माशूक़ की गली के कुत्ते लड़ते हैं—

रोज़ो-शब हंगामा बरपा है मियाने-कूए-दोस्त।
हड्डियों पर मेरी लड़ते हैं सगाने-कूए-दोस्त। —आतश

उसको खुशी है कि मरने के बाद उसकी मिट्टी से प्याला बनेगा। माशूक़ उसमें शराब पिएगा इस तरह उसके ओठ चूमने का संयोग प्राप्त होगा। हड्डियों का चूना बनेगा जिससे माशूक़ के घर की पुताई होगी।

माशूक़ की चौखट पर या चौखट के पत्थर पर सिज्दा करना, उसके चरण-चिह्न के आगे मत्था टेकना, आशिक़ का अनिवार्य कर्तव्य है। माशूक़ के चरण चूमने की अभिलाषा आशिक़ के दिल में इतनी प्रबल रहती है कि क़त्ल होने पर उसका सर माशूक़ के पैरों की ओर ही दौड़ता है।

इस प्रकार उर्दू-कविता का आशिक़ आजन्म-मृत्यु-अतृप्त है। फिर भी उसमें प्रेमातिरेक इतना है कि उसकी जीवनचर्या विपर्यस्त हो जाती है। गर्मी-ए-इश्क़ के कारण वह उन्मत्त होकर जंगलों-रेगिस्तानों में मारा-मारा फिरता रहता है। लड़के उसको पत्थर मारते हैं। पैर में आबले पड़ जाने से खून बहने लगता है। उसका यह मर्ज़ लाइलाज है। उसे ज़ंजीरों से बाँधा जाता है, मगर वियोग की गर्मी से ज़ंजीर दग्ध केश की तरह बल खाकर बेकार हो जाती है। निराशा में रात-रात भर जागना, आहो-ज़ारी करना, माशूक़ की गली की राख मलना उसकी

दीवार की छाया में बैठे रहना या उससे सर टकराना, गरेबाँ फाड़ना, सीना पीटना, यही उसके मश्ग़ले हैं। कभी-कभी जब तपिशे-दिल ज़्यादा बढ़ जाती है तो वह दीवार फाँदने की भी कोशिश करता है।

तपिशे-दिल मुझे दीवार फँदा देती है
दरे-जानाँ में जो है क़ुफ़्ल तो वस्वास नहीं। —नासिख़

रीतिकाल की उर्दू-शाइरी में आशिक़ बचपन से ही आशिक़ मिज़ाज दिखाया गया है। उद्देश्य यह है कि उसे प्रेम-मार्ग का सिद्ध राही चित्रित किया जाय। 'ज़ौक़' का कथन है कि मुझे इश्क़ ने लड़कपन से ही बंदी बना लिया और 'ग़ालिब' मजनूँ से भी पहले इश्क़ की मंज़िल में फ़ना के दरजे तक पहुँच चुके थे।

सृष्टि के आरम्भ से ही आशिक़ होने पर भी विडम्बना देखिए कि माशूक़ का प्रेम उसे नहीं मिल पाता। माशूक़ उससे वादा करता भी है तो झूठा वादा करता है। आशिक़ भी जानता है कि माशूक़ के वादे झूठे हैं "तेरे वादे पर जिए हम तो ये जान झूठ जाना।"[२१]

निष्कर्ष यह कि उर्दू-शाइरी में माशूक़ को असत्यव्रती तथा आशिक़ को उसके प्रति शंकालु दिखाया गया है। प्रेम का मूल है बिश्वास। अतः उर्दू-काव्य में प्रेमाभिव्यक्ति नहीं, वासना की व्यंजना है। हिन्दी-रीतिकविता में नायिका के विप्रलब्धा रूप में नायक की वादा-खिलाफ़ी की ध्वनि है ज़रूर, परन्तु वहाँ देर है अंधेर नहीं है। इसलिए यह विलम्ब मिलनोत्कंठा-विवर्धक है। इसे प्रेम का विलास कह सकते हैं। उर्दू-शाइरी के आशिक़ को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि उस अंधेर नगरी में अनबूझ राजा का डंका बज रहा है।

हिन्दी-कविता में नायिका स्त्री होती है और नायक पुरुष, किन्तु प्रेम की स्थिति वहाँ उभयपक्षीय है। उभयपक्षीय होने के कारण नायिका-भेद की तरह नायक के भेद भी हो सकते हैं—

जितनी होतीं नायिका नायक तितने जानि।
पै इतने बरने सुकवि रस ग्रंथन में आनि। —तोष

इसलिए कुछ कवियों ने भेदों का उल्लेख भी किया है। परंतु ये भेद मनोविज्ञान के अनुरूप नहीं हैं। मनोविज्ञान के आधार पर यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि कामातुरता एवं प्रेमावेग पुरुष की अपेक्षा स्त्री में बहुत अधिक होते हैं। हिन्दी-रीतिकविता में इसीलिए नायक के इन भेदोपभेदों की परम्परा में रुचि नहीं दिखाई गई। उर्दू-शाइरी में आशिक़ प्रेमातुर तथा कामाविष्ट प्रदर्शित किया जाता है, माशूक़ नहीं। दरबारों में उर्दू-कविता की धूम ने हिन्दी-कवियों का ध्यान आशिक़ की ओर आकृष्ट किया होगा। संभव है आशिक़ के समानान्तर

नायक को भी महत्व देने के लिए कुछ आचार्यों में नायक-भेद-आविष्करण-बुद्धि जगी हो, परन्तु इस परम्परा का सम्वर्धन हिन्दी-रीतिकविता में हुआ नहीं।

उर्दू-शाइरी के आशिक़ में प्रेमोन्माद के अतिरिक्त भी शाइरों ने कुछ गुण दिखाए हैं, जैसे 'ग़ालिब' ने उसकी जादूबयानी का वर्णन किया है—

ज़िक्र उस परीवश का और फिर बयाँ अपना।
बन गया रक़ीब आख़िर था जो राज़दाँ अपना।

लेकिन आशिक़ के ये गुण माशूक़ का प्रेम प्राप्त कराने में कोई सहायता नहीं करते, विपरीत्या उन्हें माशूक़ के विकर्षण का ही साधन बनाया जाता है। हिन्दी-रीतिकाव्य में नायक के ये गुण नायिका की प्राप्ति में सहायक हैं—

नाउ लै वाको जो प्रीति की रीति सखी कही ही तुम ज्यों सुखदाई।
कुंज की ओट अचानक आइ कै त्यों 'रघुनाथ' मैं सो सुनि पाई।
बूझति हौं अब साँची कहौ यह कान छपैगी न बात छपाई।
बाल बची वह एक रही वृज में सो गोपाल उहौ फुसलाई।

यह वचनलक्षित नायक का उदाहरण है। उर्दू-शाइरी के उपर्युक्त उदाहरण में आशिक़ वचनलक्षित है, लेकिन हिन्दी-नायक की भाँति वह प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सका अर्थात् वह माशूक़ को फुसला न सका, उल्टे उसकी जादू-बयानी से उसका अंतरंग सखा भी उसका रक़ीब बन गया। अतएव नायक के भेदोपभेदों को उर्दू-शाइरी के आशिक़ ने चाहे प्रेरणा दी हो, लेकिन हिन्दी-नायक तथा उर्दू-आशिक़ के वर्णन-निर्वाह में अन्तर है। हिन्दी-काव्य का क्रियालक्षित नायक देखिए—

साँय साँय पवन करति दिसि झाँय झाँय
चील्ह की चिकार सौ गगन छाइयतु है।
वाउ बकै झारसी उड़ति छोड़ि छोड़ि छार
वारिध की बीली लौ मरीची गाइयतु है।
चकित ह्वै जीव जात जहाँ तहाँ परै सबै
'रघुनाथ' खोज काहु को न पाइयतु है
ऐसी दुपहरी पै अकेले या गली मे लाल
ऐसी कौन बाल जाके लीन्हें आइयतु है।

यहाँ नायक उस बाला के लिए आता है जो उससे प्रेम करती है, यह बात लक्षित हो गई। उर्दू में माशूक़ आशिक़ से प्रेम नहीं करता, इसलिए वहाँ क्रिया-लक्षित भेद नहीं बन सकता। लेकिन हिन्दी से प्रभावित क्रियालक्षित नायक का एक उदाहरण 'इंशा' की शाइरी से लीजिए—

जो तू कहती है कि तुझको भाँपता है इक जना
क्या डराने मुझको लगती है ये तेरी भाँप-भाँप।
है बड़ा रत जागरा 'इंशा' अरे तू क़हर है
कब तलक मैं तेरी कारतूतों को रक्खूँ ढाँप-ढाँप।

सखी या दूती का वचन है कि ऐ 'इंशा' तू ग़ज़ब का रतजागरा है। तेरे रात-रात भर जागरण करने की करतूतों को मैं कब तक छिपाऊँ ? यहाँ शाइर ने आशिक़ की जागरण-रूप-क्रिया से उसका प्रेम लक्षित करा दिया।

'इक जना भाँपता है' कहना बहाना भी हो सकता है और वस्तुतः सखी ही भाँप रही हो। मगर 'मैं तेरी करतूतों को कब तलक ढाँप-ढाँपकर रक्खूँ' वाक्य से व्यंजित होता है कि सखी नायक की करतूतों को भूतकाल में ढाँपती रही है। वह उसकी अंतरंग सखी या दूती है। अतएव 'इक जना' यहाँ रक़ीब है। इस रक़ीब के कारण हिन्दी उदाहरण से ये शेर कुछ भिन्न हो गए। यदि 'जना' की जगह 'जनी' शब्द होता तो सपत्नी-व्यंजक होने से हिन्दी-कविता के क्रियालक्षित नायक का उदाहरण बन जाता। तब व्याख्या इस प्रकार होती। नायिका की अंतरंग सखी 'इंशा' (अर्थात् आशिक़) से कहती है कि तुझे एक जनी ताड़ रही है। इस पर 'इंशा' कहते हैं कि तू जो यह कहती है कि तुझे एक जनी ताड़ रही है उससे मैं डरने लगता हूँ। तब सखी जवाब देती है कि ऐ 'इंशा' तू बड़ा रतजागरा है। रात-रात भर जागता रहता है और नायिका के वियोग में (या उससे मिलने के उपाय करने में) तेरा जागना देखकर उस एक जनी (अर्थात् सौत) को तेरे ऊपर शक हो जाता है। पहले कई बार उसे शक हुआ था, लेकिन मैंने कोई न कोई बहाना करके इस पर पर्दा डाला, मगर अब तेरी इन करतूतों को मैं कहाँ तक छिपाऊँ ?

दूती

हमने देखा कि 'जना' शब्द के प्रयोग के कारण शेर की प्रकृति कुछ उर्दू-ढंग की अवश्य हो गई है, परन्तु सखी या दूती की उपस्थिति इस बात की पुष्टिसूचक है कि ये वर्णन हिन्दी-रीतिकाव्य से प्रभावित है। उर्दू-शाइरी में दोस्तों, मित्रों या सखाओं का उल्लेख तो मिल भी जाता है, लेकिन सखी और दूती को कोई स्थान नहीं है। हिन्दी-काव्य में दूतियों के बहुत से काम हैं। दूतियाँ बड़ी युक्ति करके नायक-नायिका को मिलाती हैं, यही नहीं, नई युवतियों को फँसाकर संकेत-स्थान तक पहुँचाती हैं और बख़्शीश माँगती हैं—

जाके रूप आगे रंभा रति उरवशी शची
हची मान मैनका को ह्वै गयो कुरी कुरी।

और हौं कहाँ लौं कहौं ए हो कवि 'रघुनाथ'
देखि कलानिधि जू की कहा है धुरी धुरी।
ऐसी वाम कुंजधाम रसिक तिहारे लीन्हें
ल्याई चलौ बकसीस करिकै रुरी रुरी।
सुधि न रहेगी फेरि वैस की लसनि हेरि
घूँघट में हँसनि विलोकनि दुरी - दुरी।

ये दूतियाँ बड़ी चतुर होती थीं। इनकी भाषा को संधा-भाषा समझिए। बात तो अपने पेशे से सम्बद्ध कहती थी, किन्तु उसकी व्यंजना के सहारे नायिका से मिलन की व्यवस्था भी करती जाती थीं। नायक (जिसे कृष्ण कहकर संबोधित किया गया है) सभी से मिलता है। कभी पटइनि से पूछता है "ये मोती के गजरे किसके हैं ?" कभी दरजिन से प्रश्न करता "कौन की आँगी है" और जब उस कुँआरी का नाम मालूम होता तो आह भरता, वह वस्तु छाती से छुआकर वहीं रख देता। बस फिर क्या नायिका को इस प्रेम-अंकुरण का संदेश देकर ये दूतियाँ अपना काम चालू कर देती थीं। चित्रकर्त्री तो पहले चित्र दिखाकर गारंटी करती थी कि "देखि कै रीझौ तो औसर पाइकै लाल तुम्हें वह बाल मिलाऊँ।"[२२] पड़ोसिनी भी यह कार्य साधती है, लेकिन उसे लोक-लाज का खयाल भी है, क्योंकि "बास परोस बड़े विसवास को जाते कुनाउ कढ़ै सौ न कीजै।"[२३] इसलिए वह शिक्षा देती है कि जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। संभव है, वह ललना भड़क जाय और मध्यस्थता के कारण मैं भी बदनाम हो जाऊँ। अतएव "नारि नवेली है बातनि सों बसकै पहले उनको रस लीजै।"[२४] धाय का कथन है कि उसे सुलाकर चली जाऊँगी, तुम चुपके से पलंग पर जाकर उसे अंक में भर लेना। वह लज्जाशीला है अतः संकोचवश कुछ कहेगी नहीं। तुम्हारा काम बन जाएगा। "लाज भरी हैं सकेगी न बोलि निसंक नवेली को अंक भरोगे।"[२५] कितनी ऐयार और आँख से काजल चुराने वाली हैं ये दूतियाँ ? रेख़्ती के प्रसिद्ध शाइर 'जान साहब' ने एक जगह इन कुटनियों का ज़िक्र किया है—

महताब और ज़ोहरा में वो दोनों कुटनियाँ
थिगली लगाएँ छेद करें आसमान में।

ये सारे के सारे वर्णन हिन्दी-रीतिकविता की परम्परा से सम्बद्ध स्त्री-पुरुष की प्रकृत यौन-भावना पर आधारित हैं, उर्दू-शाइरी की प्रेम-रीति से इनका बादरायण सम्बन्ध भी नहीं है।

रेख़्ती-काव्य की कितनी भी आलोचना की जाय, परन्तु यह श्रेय तो उसे देना ही पड़ेगा कि उसने उर्दू की निसर्ग-विरुद्ध, घृणित समलिंगीय-प्रेम-चित्रण-

परम्परा के विरुद्ध विद्रोह किया। तत्कालीन उर्दू-शाइरी की प्रेम-चित्रण-शैली के विपरीत होने से रेख्ती-कविता को निम्नस्तरीय तथा ज़नानी कहा गया। फ़ारसी काव्य-पान-मत्त अप्रकृत प्रेम-प्रशंसकों की बुद्धि में उसकी व्यंजनाएँ आ ही कैसे सकती थीं? इसीलिए उसे हेय समझकर छोड़ दिया गया। लेकिन उस शाइरी का फल इतना ज़रूर हुआ कि उर्दू-कविता में प्रेम-चित्रण के विशाल अनैसर्गिक नद में हिन्दी-प्रेम-चित्रण की एक क्षीण धारा का मेल हो गया। इन दोनों धाराओं का अन्तर्मिलन 'नज़ीर' अकबराबादी (सन् १७३५–१८३०) के काव्य में प्रायः उपलब्ध है। जब वह हिन्दी-रीतिकाव्य-धारा से प्रभावित होकर लिखते हैं तो माशूक़ का चित्रण इस प्रकार होता है—

कभी वो नाज़नी हँसकर जो कुछ बातें बनाती है।
तो इक-इक बात में मोती को पानी में बहाती है।

परन्तु स्थान-स्थान पर माशूक़ का पुरुष-रूप में भी वर्णन हुआ है और इस परम्परा पालन में वह भी अन्य उर्दू-शाइरों की भाँति लड़कों के प्रति वासना-पंकिल दिखाई पड़ते हैं—

जूँ ही इतने में हमको इस बुरे अहवाल में देखा।
कहा उसने कि फँसता होगा इनसे किस तरह लड़का।
नज़र से उसकी मैंने जब तो वाँ इस बात को ताड़ा।
कमर को देख ढूँढ़ी जेब पगड़ी का टटोल उस जा।
वहीं हमने निकाला ढूँढ़कर बच्चा गिलहरी का।

दूसरे शाइरों का पंथ वही है जिसे दिल्ली के 'मीर' तथा उनके परवर्ती कवियों ने दिखाया था, फिर भी माशूक़ के वर्णन में स्त्री की झलक कहीं-कहीं मिल जाती है। 'मोमिन' ने माशूक़ को 'पर्दानशीं' कहकर उसके स्त्री होने का संकेत दिया है—

जल्वा दिखलाए ता वो पर्दानशीं
मैंने दावा किया तहम्मुल का।

लेकिन उर्दू-शाइरी की गर्हित परम्परा भी उनके काव्य में पूरी तरह प्राप्त है। एक ओर तो वह अवगुण्ठनावेष्टित सुन्दरी का वर्णन करते हैं, उसके दुपट्टे की तरफ़ ध्यान आकृष्ट करते हैं "हट गया होगा दुपट्टा मुँह से" और दूसरी ओर माशूक़ की मसों का उल्लेख है, जिससे उसके पुरुष होने का आभास मिलता है और अप्रकृत बाल-रति-प्रदर्शन भी उनके काव्य में हुआ है। उर्दू-शाइरी में स्थान-

स्थान पर उरोजों के वर्णनों से भी साबित होता है कि माशूक़ स्त्री है। शाइर उरोजों को कभी दूर से देखता है, कभी उन्हें हाथ में लेता है—"मैं लेके हाथ में पिम्ताने-यार मरता हूँ।"[२६]

माशूक़ के लिए 'परी' शब्द का प्रयोग भी उसके स्त्रीत्व की तरफ़ संकेत करता है। 'ग़ालिब' के काव्य में माशूक़ यद्यपि वही परम्परीण पुरुष है, फिर भी एक शेर में स्त्रीलिंग क्रिया-प्रयोग से उसके स्त्री-रूप की व्यंजना होती है, लेकिन 'ग़ालिब' रीति-बहिर्गत-प्रयोग के पक्षपाती नहीं थे, अतः उन्होंने कर्ता पुल्लिग ही रक्खा है—

इन परीज़ादों से लेंगे ख़ुल्द में हम इंतक़ाम
क़ुदरते-हक़ से यही हूरें अगर वाँ हो गईं।

माशूक़ का पुरुष-रूप-वर्णन होने पर भी उर्दू-शाइरी मे उसके नक़ाब पहनने और पर्दा करने को प्रथा का पालन बराबर किया गया है। उर्दू-काव्य के इस दोष का परिहार करने वाले नक्षधर समीक्षकों का कहना है कि उर्दू-शाइरी का माशूक़ शब्दों में पुरुष, परन्तु भाव या अर्थ मे स्त्री होता था। मुसलमानों में पर्दा-प्रथा इतनी ज़बरदस्त थी कि कन्याएँ तक पर्दे में रहती थीं। इसलिए उर्दू-कविता में माशूक़ हमेशा पर्दे में दिखाया जाता है। हालाँकि उनकी यह दलील उपहासास्पद है, क्योंकि वहाँ माशूक का रूप-रंग, चाल-ढाल वेश-भूषा तथा अंगांग-वर्णन सभी कुछ उसके पुल्लिग होने का समर्थन करते हैं। यदि उर्दू-शाइरी के इस दोष को नज़र अंदाज़ कर भी दिया जाय तब भी उस पर हिन्दी-प्रभाव असिद्ध किया नहीं जा सकता। पर्दा हिन्दी-रीतिकविता में भी मिलता है, लेकिन उर्दू-शाइरी से कुछ अन्तर है। उर्दू-शाइरी का माशूक़ बराबर नक़ाब में रहता है—

पर्दा न उठाया कभी रुख़्सार से उसने
ताज़ीस्त मुझे हसरते-दीदार में रक्खा। —मुसहफ़ी

हिन्दी-काव्य की वधू तो घूंघट में दिखाई गई है, लेकिन अविवाहिता के लिए पर्दे की कोई आवश्यकता नहीं है। हिन्दी-रीतिकविता में विवाहिता परकीया भी घर के भीतर ही पर्दे में रहती है, अन्यथा उसके अवगुंठनादि का वर्णन प्रायः नहीं है। आशय यह कि रीतिकालीन नायिका पर्दा-बंधन-मुक्त स्वच्छंद रमणी है। 'ग़ालिब' ने अपने माशूक़ से एक जगह पर्दे का परित्याग करवा दिया—

दरपर्दा उन्हें ग़ैर से हैं रब्ते-निहानी
ज़ाहिर का ये पर्दा है कि पर्दा नहीं करते।

यह पर्दादरी मुसलमानी संस्कृति से मेल नहीं खाती। अतः माशूक़ का पर्दा-परित्याग हिन्दी-रीतिकविता से प्रभावित कहा जा सकता है।

मनःस्थितियाँ

उपर्युक्त प्रकरण में नायक-नायिका की स्थिति का पर्यालोचन करके हमने उन स्रोतों पर प्रकाश डाला जिनसे उर्दू के माशूक़ और आशिक़ प्रभावित हुए हैं। अब हम आशिक़-माशूक़ के संयोग-वियोग तथा उनसे उत्पन्न कुछ मानसिक स्थितियों पर विचार करेंगे।

हिन्दी-कविता में शृंगार रस के अन्तर्गत संयोग तथा वियोग दोनों स्थितियाँ आती हैं, जब कि उर्दू-शाइरी में वियोग का वर्णन ही मिलता है। संयोग की रात का उल्लेख यदि किया भी गया तो वह वियोग से बदतर है। यह संयोग उर्दू-शाइरी में चित्रित नहीं, व्यंजित हुआ है और उस व्यंजना में भी वियोग की स्थिति अक्षुण्ण रक्खी गई है। उर्दू में प्रेम-निवेदन की एक परिपाटी है, इश्क़ के कुछ उसूल हैं। इन उसूलों के अन्तर्गत वहाँ मिलन एवं संयोग का चित्रण नहीं मिलता। परन्तु 'मोमिन' ने अपनी एक ग़ज़ल में इन उसूलों का पालन नहीं किया। हृद्‌गत वासनाओं का चित्रण, प्रेमक्षेत्र की घटनाओं का वर्णन, कभी प्रेमी का दैन्य, कहीं प्रिय से समानता की होड़ आदि अनेक दशाओं तथा भावनाओं के विवरण 'मोमिन' ने प्रस्तुत किए हैं। उनकी यह ग़ज़ल "वह जो हममें तुममें क़रार था तुम्हें याद हो कि न याद हो" पूरी की पूरी हिन्दी-प्रेम-चित्रण के ढंग पर है। इसमें संयोग-सुख का वर्णन है। इस ग़ज़ल में प्रबद्ध भावधारा है। प्रणयोपालंभ, मान एवं वक्रता आदि सभी का वर्णन है। संयोग की रात की घटना कैसी स्वाभाविक है—

वो बिगड़ना वस्ल की रात का वो न मानना किसी बात का
वो नहीं नहीं की हर आँ अदा तुम्हें याद हो कि न याद हो।

यह 'नहीं-नहीं' करना प्रथम संभोग से पहले सहज लज्जा का परिणाम है जो उत्सुकता-विवर्धन द्वारा प्रणय-रस को और प्रगाढ़ बनाता है। हिन्दी-रीतिकविता में इस 'नहीं-नहीं' को 'हाँ' से भी भला बताया गया है—

धरी जब बाहीं तब करी तुम नाहीं, पाँय
दियौ पलकाहीं नाहीं नाहीं कै सुहाई हौ।
बोलत में नाहीं, पट खोलत में नाहीं
कवि 'दूलह' उछाही लाख भाँतिन लहाई हौ।
चुंबन में नाहीं, परिरंभन में नाहीं, सब
आसन विलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ।
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्हीं चित चाही,
यह हाँ ते भली नाहीं सो कहाँ ते सीखि आई हौ।

हिन्दी-रीतिकाव्य में मुग्धा के अन्तर्गत नवोढा तथा विश्रब्ध नवोढा भेद किए

गए हैं। वह मुग्धा जो भय-लज्जा के कारण पति के साथ रति नहीं चाहती उसे नवोढा कहते हैं। नवोढा के चित्रण में कवियों ने उसे प्रायः दोनों हाथों से सखी का अंचल पकड़े या सिकुड़ कर इन्द्रबधूटी बनी दिखाया है। नवोढा जब विश्रब्ध हो गई तो वह विश्रब्ध नवोढा है। इन दोनों के बीच की भी एक स्थिति है, जिसमें मिलन भी है और दूरी भी है—

सद अफ़सोस जाती रही वस्ल की शब
ज़रा ठहरिए बेवफ़ा कहते - कहते। —मोमिन

यह कल्पना हिन्दी-रीतिकवि नहीं कर सकता, क्योंकि वहाँ रात यों ही नहीं बीत सकती। उर्दू-शाइर की विरह में ही 'सुब्ह होती है शाम होती है,' अतः उसके लिए इस स्थिति का अनुमान करना स्वाभाविक है। परन्तु यह स्थिति एक तथ्य अवश्य है, जो लज्जाधिक्य अथवा भयाधिक्य में असंभव नहीं है। कभी-कभी नायिका जान बूझकर भी ऐसा कर सकती है। 'मोमिन' के शेर से यह तो प्रकट होता है कि मिलन की रात यों ही बीत गई, लेकिन इस कथन से यह नहीं मालूम पड़ता कि माशूक़ ने मक्कारी की अथवा लज्जा के कारण ऐसा हुआ। इससे कहीं सुन्दर चित्र 'मतिराम' ने प्रस्तुत किया है—

केलि कै राति अघाने नहीं दिन ही मैं लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयौ भीतर बैठि के बात सुनाई।
जेठी पठाई गई दुलही हँसि हेरि, हरे 'मतिराम' बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीनौ, सो गेह की देहरी पै धरि आई।

यह नायिका विश्रब्ध नवोढा है, अतः उसका यह कार्य शरारत या परिहास से भरा हुआ है। पानी देहली पर रख आई। व्यंजना यह है कि मैं तुम्हारा पानी माँगना अच्छी तरह जानती हूँ। नायिका की इस शैतानी के कारण नायक पर क्या गुज़री होगी इसे वही जानता होगा।

हिन्दी-रीतिकाव्य में नायिका के अनूढा-ऊढा दो भेद प्राप्त हैं। उर्दू माशूक़ के नादान, कमसिन, नाज़नी आदि कितने ही विशेषण देखने को मिल जायँ, लेकिन आलोच्यकाल में उसके अविवाहित होने का संकेत नहीं मिलता। 'इंशा' ने अपने एक शेर में माशूक़ा के मुँह से उसके अविवाहित (कन्या) होने का कथन करवाया है—

फिर जो बोल उट्ठूंगी कुछ मैं तो ये ताने दोगी
क़हर ऐसा न करो तुम अभी बिन ब्याही हो।

उर्दू-माशूक़ को न तो ऊढा कहा गया है न अनूढा, परन्तु वर्णनों से ऐसा ज्ञात होता है कि आशिक़ के अतिरिक्त रक़ीबों को उसका प्रेम प्राप्त है। आशिक़

का माशूक़ से वियोग तो दिखाया जाता है, परन्तु माशूक़ या आशिक़ को प्रेम-क्रीड़ा भूमि से कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। हिन्दी-रीतिकाव्य में नायक से वियुक्त नायिका की कई अवस्थाओं का चित्रण मिलता है।

आचार्यों ने प्रोषितवल्लभा के उपभेदों में प्रवत्स्यत्वल्लभा, प्रवत्सत्वल्लभा और आगतवल्लभा को भी अन्तर्भुक्त कर लिया है। लेकिन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर इनमें परस्पर बहुत अन्तर है, क्योंकि ये स्थितियाँ स्पष्ट भिन्न-भिन्न हैं।

जिस नायिका को यह मालूम हो कि उसका वल्लभ जानेवाला है उसकी मनोदशा तथा जिसका वल्लभ परदेश में है, उस नायिका की मनोदशा एक समान नहीं कही जा सकती। इसलिए प्रोषितवल्लभा और प्रवत्स्यत्वल्लभा को दो भेद मानना चाहिए। जिस नायिका को मालूम हो गया कि नायक जानेवाला है उसके हृदय में आशा-निराशा, प्रेम-कर्तव्य की एक विचित्र कशमकश होती है। 'काश नायक रुक जाता! यदि वह चला जाएगा तो मैं क्या करूँगी' आदि भावनानुमंथन से उसकी प्रेमातुरता और बढ़ जाती है, परन्तु जब नायक वास्तव में चल देता है तो आशा-पक्ष समाप्त हो जाता है और निराशा के कारण वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है। एक में नायिका आशंकाभिभूत है, दूसरे में घटनाघात-पीड़िता। अतः प्रवत्स्यत्वल्लभा और प्रवत्सत्वल्लभा को भी एक नहीं कह सकते।

प्रवत्स्यत्वल्लभा तथा प्रवत्सत्वल्लभा के जोड़ में कवियों ने आगमिष्यत् वल्लभा और आगच्छत्वल्लभा भेदों का कथन किया है।[२७] भाव-गत अन्तर देखते हुए ये भेद उचित तथा उपयुक्त हैं। हमारे विचार से प्रोषितवल्लभा के समानान्तर 'निर्वर्तितवल्लभा' नायिका की कल्पना भी की जा सकती है। आचार्यों ने आगत-वल्लभा अथवा आगतपतिका संज्ञा द्वारा इस भेद का उल्लेख किया ज़रूर है, लेकिन आगतवल्लभा से निर्वर्तितवल्लभा भेद का भाव स्पष्ट नहीं होता।

आगत का अर्थ है आया हुआ अर्थात् नायक नायिका के पास आया है। वह प्रवास के बाद ही आया है, ऐसा भाव आगत से प्रकट नहीं होता। नायक-नायिका एक-दूसरे का दर्शन-लाभ अपनी-अपनी छतों से चाहे नित्यप्रति करते हों, परन्तु जब नायक नायिका के घर पहुँचता जाता है तो उसकी दशा अन्य ही प्रकार की हो जाती है। इस मनोदशा की नायिका आगतवल्लभा कही जानी चाहिए। आश्चर्य है कि आचार्यों ने इस मनोदशा पर विचार नहीं किया।

हिन्दी-रीतिकविता में निर्वर्तितवल्लभा के हृद्य उदाहरण कवियों की भावाव-गाहन-सामर्थ्य अभिव्यक्त करते हैं। यद्यपि इन कवियों ने मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि के वर्ग बनाकर मनोभाव निश्चित से कर दिए हैं, फिर भी मन की भिन्न-

भिन्न दशाओं की झाँकी उन्होंने दिखाई है। नायिका की उत्सुकता का एक चित्र देखिये—

आयो कह्यो काहू आइ कहूँ ते यही चितवै चित चाइ विसेखै।
आनँद के अँसुवा ढरके फरकै सु हियो सु कछू लखि लेखै।
औचक ही चित चौंकि चहूँ दिसि आगम सों उमगी अवरेखै।
घूँघट ओट किए दृग कोरन द्वार की ओर दुरै दुरै देखै। —देव

नायिका का प्रियतम प्रवास से लौटकर आ गया है। नायिका को ऐसा लगता है कि अब कोई आया, अब आकर किसी ने प्रिय-आगमन का समाचार सुनाया। चित्त में विशेष उत्साह है, आनंद के आँसू ढलक रहे हैं, हृदय फड़क रहा है, कुछ देखकर फिर देखती है और कभी अचानक चौंक पड़ती है। चित्त प्रियागम से उमँग रहा है। चारों दिशाओं में अवेक्षा कर रही है। नेत्र घूँघट में किए हुए नेत्र-कोरों से दरवाज़े की ओर देख रही है। 'दुरै-दुरै' शब्द उसकी चेष्टा तथा उत्सुकता के सफल व्यंजक हैं। परिवार के बीच मर्यादा एवं शील की सीमा में रहती हुई नेत्र-कोरों से सबकी नज़र बचा-बचाकर (छिप-छिपकर) द्वार की ओर देख लेती है।

इसके पश्चात् उस स्थिति का वर्णन है जब नायिका के पास चारों ओर से प्रियागम की बधाई आ गई। वह कोटि-कोटि भाँति रस-भावनाओं से भर गई। भाव-रसोद्वेलित उसकी मानसोर्मियों के चेष्टा-स्वरों की लिपि महाकवि 'देव' ने इन शब्दों में प्रस्तुत की है—

आई खोरि खोरि ते बधाई प्रिय आगम की
कोरि कोरि भाँति रस भावन भरति है।
मोरि मोरि वदन निहारत विरह भूमि
दौरि दौरि आनँद घरी-सी उघरति है।
'देव' कर जोरि जोरि (करति) सुरति, लघु
लोगन के लोरि लोरि पायन परति है।
तोरि तोरि माल पूरै मोतिन के चौक, ही
निछावरि को छोरि छोरि भूषण धरति है।

नायिका के गर्दन मोड़-मोड़कर विरह-भूमि देखने में 'नीचैर्गच्छति उपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण' की कितनी गूढ़ व्यंजना है? दौरि-दौरि आनँद-घरी-सी उघरने में उसके वर्तमान आनन्दोदय पर प्रकाश पड़ता है। पाँचवीं पंक्ति में उसको नम्रता तथा निरहंकारिता इस बात को स्पष्ट करती है कि प्रेम मनुष्य को मृदु एवं अनुभूतिमय बना देता है। और अंतिम दो चरण त्याग तथा उत्सर्ग

की कोमल अभिव्यंजना करते हैं। माला तोड़ना अपशकुन है, लेकिन यहाँ भावनाधिक्य के कारण उस अपशकुनरूप क्रिया में कितना प्रेम भर गया है ? इसी प्रकार प्रेमाधिक्य से भूषण छोरने में आत्मविस्मृति की व्यंजना है। नायिका तो अपना सर्वस्व प्रिय पर निछावर करना चाहती है, उसे अपने को अलंकृत करने का ध्यान कहाँ ?

तीसरी स्थिति वह है जब प्रियतम प्रिया से मिलने के लिए घर के भीतर आ रहा है। यह समाचार पाकर नायिका की क्या दशा होती है—

आँगन बैठी सुनी प्रिय आवत चित्त झरोखन मैं लरक्यौ परै।
घूँघट मैं घट मैं पटहू मैं समाति न फूलि हियौ फरक्यो परै।
नैनन तें सुख के असुँवा मनो भौंर सरोजन ते सरक्यो परै।
मंद हँसै दुति (दंत) लसै मुख सुन्दर दाड़िम सो दरक्यो परै। —देव

इस सवैए में पूर्वोद्धृत छंद की विह्वलता एवं चंचलता का अभाव है। नायिका आँगन में बैठी है। वह दौड़-दौड़ कर दरवाज़े तक नहीं जाती या घूँघट से दुर-दुर कर नहीं देखती। जब प्रिय निस्सन्देह घर के भीतर आ रहा है तो दौड़-धूप कैसी ? लेकिन उसका चित्त झरोखों में से बाहर लटका पड़ रहा है। वह फूली नहीं समाती। परन्तु कवि सिर्फ़ इतना ही नहीं कहता। उसका कथन है कि न घूँघट में समाती है, न घट में समाती है, न पट में समाती है। घट अर्थात् शरीर। हृदय के स्फुरण तथा आंतरिक उल्लासोत्साह का उच्छलन देखिए—घूँघट एवं घट-पट सभी का अतिक्रमण। हृदय बाहर बिखरा पड़ रहा है। नेत्रों में आनन्दाश्रु हैं, ओठों पर हँसी है। मुख अनार की भाँति दरका पड़ रहा है, जिससे व्यंजना है कि यह हँसी बनावटी नहीं है, भीतर का आनंद स्वयमेव फूटा पड़ता है। इस मनोदशा के भावक पाठक स्वतः अनुमान कर सकते हैं कि जब नायक आँगन में आया होगा तो नायिका उससे किस प्रकार लिपट गई होगी। नायक ने उसे किस प्रकार छाती से लगा लिया होगा और उसके केश नायिका के कंधे पर किस तरह फैल गए होंगे ? आचार्यों ने इस नायिका का नामकरण नहीं किया है।

हिन्दी-रीतिकविता में निवर्तितवल्लभा के उदाहरण तो प्रचुर हैं, लेकिन आगतवल्लभा (जिसकी व्याख्या हम अपने ढंग से कर चुके हैं) की स्थिति व्यंजक नमूने नहीं मिलते। आगतवल्लभा नायिका की भाँति आगतवल्लभ नायक भी होगा। उर्दू-शाइरी में आगतवल्लभ नायक की कई भाव-स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। हालाँकि रीतिकालीन काव्य-धारा में नायक अपरिचित नायिका के दरवाज़े पर बड़े अदब के साथ चक्कर लगाते हुए मिल जाता है, लेकिन वह नायक मनोविज्ञान में उर्दू-आशिक़ से भिन्न है, क्योंकि वह निराश नहीं, आशान्वित है—

वा निरमोहिनी रूप की राशि जऊ उर हेतु न आनत ह्वै है।
बारहि बार विलोकि घरी घरी सूरति तौ पहचानत ह्वै है।
'ठाकुर' या उर की परतीत है जो पै सनेह न मानत ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिए इतनो तौ विशेष कै जानत ह्वै है।

इन पंक्तियों में नायिका पर भी प्रभाव लक्षित होता है। लेकिन उर्दू-माशूक़ को तो कोई माया व्यापती ही नहीं। अब मान लीजिए ऐसे नायक के घर नायिका आ जाय तो नायक की क्या दशा होगी? 'ग़ालिब' के एक शेर में इस भाव की व्यंजना है—

वो आएँ घर में हमारे खुदा की क़ुदरत है
कभी हम उनको कभी अपने घर को देखते हैं।

शाइर ने आशिक़ को हर्षावेगपूर्ण भावानुभावयुक्त चित्रित न करके संभ्रमग्रस्त आश्चर्यचकित दिखाया है। हिन्दी में ऐसा वर्णन नहीं मिलता। कारण यह है कि वहाँ नायिका यदि स्वकीया है तो उसे प्रियतम का आना अथवा प्रियतम को उसका आना कोई अघटित घटना नहीं लगेगा। इसलिए उन्हें चकपकाने की क्या आवश्यकता? यदि नायिका परकीया है तब भी हिन्दी-रीतिकाव्य-परम्परा में ऐसे मनोभाव नहीं आ सकते, क्योंकि वहाँ परकीया का नायक से अथवा नायक का परकीया से मन मिला हुआ है। उर्दू का माशूक़ आशिक़ की ओर कभी मुखातिब नहीं प्रतीत होता, इसलिए वह यदि कभी आशिक़ के घर पहुँच जाय तो आशिक़ को विश्वास ही नहीं होगा। वह कभी सोचेगा कि यह घर कहीं किसी दूसरे का तो नहीं है, कभी सोचेगा कि यह माशूक़ ही है या कोई इन्द्रजाल?

उपरिकथित सम्बन्ध के संदर्भ में 'ग़ालिब' ने आशिक़ की मानस तरंगों को एक अन्य शेर में इस प्रकार उतार कर रक्खा है—

है खबर गर्म उनके आने की
आज ही घर में बोरिया न हुआ।

माशूक़ के आने का समाचार सर्वत्र प्रचारित हो चुका है, हाय आज ही घर में बिस्तर नहीं है। इस पश्चाताप और निराशा में प्रेम एवं उत्साह भरा है और इससे विरह-दुःख की कितनी गहरी व्यंजना होती है, इसे सहृदय रसज्ञ ही जान सकते हैं। डा० राकेश गुप्त ने नायिकाओं पर विचार करते हुए स्थिति की अचानकता को दृष्टि में रखकर 'मिलन मुदिता' तथा 'मिलन निश्चय मुदिता' नामक दो भेद सामने रक्खे हैं—"When a heroine either unexpectedly meets her lover or hears something which would give her

safe and sure opportunity to meet him, she is Mudita. In the former case she is Milan-Mudita and in the later she is Milan-Nishchaya-Mudita." जब नायिका अपने प्रेमी से अप्रत्याशित रूप में मिलती है तो वह 'मिलन मुदिता' है और जब कोई ऐसी ख़बर सुने जिससे उसका उसके प्रेमी से मिलन निर्बाध तथा निश्चिन्तरूपेण हो तो वह 'मिलन निश्चय मुदिता' है। परन्तु उन्होंने गुरुजन-परवशा-स्वकीया तथा प्रवत्स्यत्वल्लभा को भी 'मुदिता' के अन्तर्गत रख दिया है। डा० राकेश गुप्त का यह भेद परस्पर परिचित एवं प्रेमनिष्ठ-नायक-नायिका को आधार बनाकर ही है, लेकिन उपर्युक्त उदाहरण में व्यंजित मनोदशा से मुदिता की मनोदशा बिल्कुल भिन्न है। ऐसी नायिका आगतवल्लभा और ऐसा नायक आगतवल्लभ है। इसलिए अब निर्वतित-वल्लभा और आगतवल्लभा ये दो भेद करके आचार्यों को आगतवल्लभा की परिभाषा दूसरे ढंग से करनी चाहिए।

यों रूढ़िबद्धता की दृष्टि से उर्दू-काव्य हिन्दी-कविता की अपेक्षा अधिक सीमित है, फिर भी कोई-कोई शाइर रूढ़ि से बाहर की हवा में भी साँस लेता है। उर्दू माशूक़ आशिक़ की दयनीयावस्था पर कभी-कभी दुखी होता है, परन्तु यह दुःख कृत्रिम होता है जिसमें आशिक़ का कष्ट बढ़ाने का कुचक्र छिपा रहता है। उर्दू-काव्य में यह सब इसलिए चित्रित करना पड़ता है कि माशूक़ के नैष्ठुर्य पर आँच न आने पाए। प्रेम-सम्बन्धी यह रूढ़ि शाइर को गहरे नहीं उतरने देती। मगर 'ग़ालिब' ने बड़े चमत्कारी ढंग से माशूक़ का मर्मस्पर्श करके उसके सच्चे मनोभाव सामने रक्खे है और विशेषता यह है कि उस अकृत्रिम भाव से ही रूढ़ि-रक्षा हुई है—

जौर से बाज़ आए पर बाज़ आएँ क्या
कहते हैं हम तुमको मुँह दिखलाएँ क्या ?

माशूक़ अत्याचार से बाज़ आया, परन्तु क्या बाज़ आया ? क्योंकि वह दुखी होकर कहता है "मैं तुम्हें क्या मुँह दिखाऊँ ?" माशूक़ शर्म से पानी-पानी है, दुखी है। वह आशिक़ को अपना मुँह कैसे दिखाए ? लेकिन उस आशिक़ पर क्या गुज़र रही है जिसे अब माशूक़ का मुँह भी देखने को नहीं मिलेगा। इससे अधिक निष्ठुरता का चित्रण और क्या हो सकता है ? नायिका-भेद के हिसाब से आप इस कथन को 'कलहांतरिता' से सम्बद्ध कर सकते हैं, परन्तु कलहांतरिता की कल्पना के भीतर इन भावों की समाई कहाँ ? अतएव इस तरह के मनोभावों वाली नायिका का भी नया नामकरण होना चाहिए।

अध्याय | ७

अन्य रस

हास्य रस

हिन्दी-रीतिकवियों ने रस-निरूपण करते समय सभी रसों के उदाहरण दिए हैं, परन्तु उर्दू-काव्य में इस तरह की कोई परम्परा नहीं है। उर्दू-शाइरी में अन्य रस संयोगवश भले ही आ जायँ, लेकिन शाइर कटिबद्ध होकर उनका निरूपण करने नही बैठता। हिन्दी-रीतिकवि यद्यपि परम्परा-पालनार्थ शृंगारेतर उदाहरण देता है, परन्तु वे सारे उदाहरण खानापूरी से अधिक कुछ नहीं है। उसका ध्यान शृंगार रस पर ही रहता है, उन रसों पर नहीं।

समीक्ष्यकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता में शृंगार के पश्चात् हास्य को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हास की जन्मभूमि उल्लास-वृत्ति है परन्तु व्यंग्य ईर्ष्या, प्रतिद्वन्द्विता, पाखंड तथा भ्रष्टाचार के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। रीतिकालीन समाज का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस समय की परिस्थितियाँ हास्य-व्यंग्य-के उपर्युक्त बीज-तत्वों से परिपूर्ण थीं, अतः तत्कालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में हास्य-व्यंग्य-सम्बन्धी रचनाओं की कमी नहीं है।

हिन्दी-रीतिकविता में हास्य के कुछ विषय तो निपट निश्चित-से हैं। धार्मिक आलम्बनों मे शंकरजी का स्थान सबसे पहला है। शंकरजी की असंगत वेश-भूषा के जैसे वर्णन भक्तिकाल में हुए थे, वैसे ही रीतिकाल में भी किए गए। बताना कठिन है कि इन वर्णनों को पढ़कर पाठक हँसता है या नहीं, परन्तु कवि ऐसे 'हास्य का दंगा' प्रस्तुत किए बिना नहीं मानता—

हँसि हँसि भागैं देखि दुलहै दिगम्बर कौं
पाहुन जे आवैं हिमाचल के उछाह मैं।
कहै 'पदमाकर' सु काहू सों कहै को कहा
जोई जहाँ देखै सो हँसोई तहाँ राह मैं।
मगन भएई हँसैं नगन महेस ठाढे
औरो हँसें ये हू हसाहस के उमाह मैं।

सीस पर गंगा हँसैं भुजनि भुजंगा हँसैं
हास ही को दंगा भो सुनंगा के विवाह में।

इसी प्रकार हलधर का नाच भी है। कवियों ने उन्हें हल-मूसल लिए और भंग पिये नाचता दिखाकर खूब स्वाँग बनाया है।

ये कथन इतने रूढ़ हो गये थे कि हास्य-तत्त्व का लेश न होने पर भी इन्हें हास्योत्पादक मान लिया जाता था। 'रघुनाथ' कवि का निम्नलिखित छंद द्रष्टव्य है—

श्री गिरजा को सँवार सिंगार विवाह के चौक पै नाइनि लाई।
जोरि के गाँठि नेछावरि माँगति रूप भरी औ भरी तरुणाई।
रीझि भरे हरि देखि समै 'रघुनाथ' बुलाइ विभूत लगाई।
जोग तुम्हें न इतो कहिकै हँसि सेली ते खोलि कै सींगी देखाई।

यहाँ 'सींगी दिखाना' प्रतीकार्थ में अभद्र तथा मुहावरे-रूप में हास्यहीन कथन मात्र है। शंकर-सम्बन्धी हास्य की सामग्री प्रायः इसी तरह की है। 'तोष' कवि ने हरि-हर का मिलन कराकर क्या दृश्य उपस्थित किया है ! विष्णु भगवान् लक्ष्मी के साथ शंकर जी के पास पहुँचे। शंकर ने उन्हें देखकर फ़ौरन साँप की कोपीन लगा ली। तब तक गरुड़ जी आ गए। भयभीत सर्प बेचारा भागा। फिर क्या था शंकर जी कोपीन रहित हो गए—

आइ गए हरिजू हर पास कोपीन ककोदर को कर लीनी।
श्री गरुड़ासन जू कहि 'तोष' सो आसन दै अति आदर कीनी।
ताछन आइ खगेस गये पग से सब जाय भये भय भीनी।
संभुहिं देखि दिगंबर अंबर दै मुख श्रीउ सिवै हँसि दीनी।

शंकर जी को लेकर रीतिकालीन उर्दू-शाइर 'नज़ीर' अकबराबादी ने भी हास्य-निष्पत्ति की है। उन्होंने शिवजी की बारात का जो चित्र दिया है, वह परम्परित होने पर भी विचित्र है—

फिर और हज़ारों साथ चले जो भूत परी और राक्षस थे।
जोबन ऊँचे उनके बुर्ज समन और सीस भी उनके गुम्मट से।
हर पगड़ा उनका सौ मन का और मोटे रस्सों के पटके।
और पगड़ों पर तुर्रों की तरह थे साखू बर के बर रक्खे।
कोई नंगे सिर वो बाल उसके जो बाँस बड़े दस दस गज़ के।
कोई मुंड कोई रुंड और कोई बिन पावों भाजे और कूदे।
कोई हाथी रक्खे काँधे पर कोई ऊँट बग़ल में दबकाए।
कोई अरना भैंसा गोद लिए कोई गैंडा सर पर बिठलाए।

कोई साँप गले में लटकाए फन उनके दम पर दम चूमे।
कुछ लम्बे सोटे लोहे के कुछ हाथ लिए भारी लकड़े।

त्रिदेवों में शंकरजी के बाद ब्रह्मा को लेकर कुछ कवियों ने व्यंग्य किये हैं। 'फेरन' कवि ने ब्रह्मा की भूल दिखाई है कि कहने को तो ब्रह्माजी चतुरानन हैं, परन्तु उनमें चतुरता के कोई लक्षण नहीं हैं। वे आदि से अंत तक ग़लती ही ग़लती करते गए हैं। कवि ने प्रकारांतर से ब्रह्माजी को मूर्ख सिद्ध किया है—

गृहिन दरिद्र गृहत्यागिन विभूति दीन्ही
पापिन प्रमोद पुन्यवंतन छलो गयौ।
गहन ग्रहेश कियो ससि को, सुचित लघु
व्यालन अनंद सेस भरन दलो गयौ।
'फेरन' फिरावत गुनीजन को द्वार द्वार
गुनते विहीन ताहि बैठक भलो दयौ।
कौन कौन चूक तेरी कहौं एक आनन तें
नाम चतुरानन पै चूकते चलो गयौ।

आलोच्यकाल की उर्दू-शाइरी मे मुहम्मद साहब अथवा पंजतन (हज़रत मुहम्मद, हज़रत अली, हज़रत फ़ातिमा और उनके दोनों पुत्र) में से किसी पर भी हास्य-व्यंग्य-सम्बन्धी कोई रचना नहीं हुई। खुदा को लेकर भी हास्य नहीं के बराबर लिखा गया। हाँ, हज़रत मूसा एवं हज़रते-खिज्र को शाइरों ने व्यंग्य-बाणों का लक्ष्य अवश्य बनाया है। इनमें से हज़रत मूसा को तो असमर्थ दिखाकर यह व्यंजना की गई है कि वे पूर्ण सिद्ध नहीं थे, परन्तु खिज्र. साहब के अमरत्व पर अविश्वास प्रकट करके खूब खिल्ली उड़ाई गई है—

अब कहीं जंगलों में मिलते नहीं
हज़रते खिज्र. मर गये शायद। —मीर

धार्मिक हास्य को छोड़कर जब हम लौकिक हास्य को लेते हैं तो रीति-कालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में उसका अच्छा प्रसार दिखाई पड़ता है। लौकिक हास्य को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) व्यक्तिगत, (२) सामाजिक।

रीतिकालीन कवि तथा शाइर अपनी रचना सुनाकर पारितोषिक पाते थे। ये कवि या शाइर उन व्यक्तियों को नापसंद करते थे जो पुरस्कार में ऐसी वस्तु दें, जिसका देना न देना एक-सा हो। ऐसा दाता वस्तुतः दरिद्रदास है। व्यक्तिगत हास्य के आलम्बन दो प्रकार के है एक वे जिनका नाम कवि नहीं बताता, लेकिन रचना पढ़ने से कवि का उससे व्यक्तिगत सम्बन्ध ध्वनित अवश्य हो जाता है। दूसरा प्रकार वह है, जिसमे आलम्बन का नाम दे दिया गया है।

हिन्दी-रीतिकवियों ने दाता दरिद्रदास के वर्णन पूरी तन्मयता से किए हैं। उन्होंने कृपण दाता द्वारा दिए गए घोड़े के बड़े मज़ेदार चित्र खींचे हैं। ये वर्णन दो तरह के हैं। दयनीयावस्था दिखाकर जैसे—

चींटी लगी चहूँ पायन में अरु माछी लगी औ मछेव लगैयाँ।
ऊपर काग कलोल करै चिल्हिया चिचियात फिरै सब ठैयाँ।
स्वानन घात लगाए फिरैं अरु गिद्ध सियार की सिद्ध रसैयाँ।
घूमत घोड़ा फिरै कवि दान को ना कवि लेत न गुसैयाँ।—'भ० सं०'

अथवा व्याजनिन्दा द्वारा, यथा—

सूरज को रथ लाग्यो रह्यो, याके आगे भयो कई बेर कन्हैया।
लोमस के लरिकाई के खेल की भूलि गयौ जग को उपजैया।
ऐसो तुरंग मँगाय के भूपति दान को काढ्यो दरिद्र को छैया।
भुंडन काग लगे फिरैं संग मनो यह काग भुसुंड को भैया।—'भ०सं०'

उर्दू-शाइरी में इस प्रकार के वर्णन उपलब्ध हैं। मिर्ज़ा 'सौदा' ने भी ऐसे ही घोड़े का ख़ाका उड़ाते हुए लिखा है—

फ़ाक़ों से हिनहिनाने की ताक़त नहीं रही
घोड़ी को देखता है तो पादे है बार-बार।

यहाँ दयनीय दशा चित्रित की गई है। व्याजनिन्दा का उदाहरण राजा नरपति सिंह के हाथी की हज्व (उपहास) में मिलता है—

बना है पाक तीनत इस क़दर वो।
क़दम हर्गिज़ न रक्खे ख़ाक पर वो।
सुबुक चलना कोई क्या उसको बतलाय।
जहाँ तक भेजो काग़ज़ पर चला जाय। —सौदा

तुलना करने से प्रतीत होता है कि 'सौदा' के प्रथम उद्धरण में अमर्ष की भी कुछ व्यंजना है, परन्तु हिन्दी-कवि का वर्णन सादा तथा अपरुष है। यह बात दुरुस्त है कि हास्य के आलम्बन के प्रति कवि के भाव में प्रायः क्रोध, घृणा, तिरस्कार अथवा आश्चर्य मिश्रित तरस आदि की झलक रहती है, लेकिन यदि उस तत्व का प्रकाशन हो गया तो हास क्षत-विक्षत हो जाता है। उर्दू-शायरी में हज्व के अंदर यह दोष प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। मिर्ज़ा 'सौदा' 'फ़िदवी' शाइर का परिचय देते हैं—

शाइर हुआ है फ़िदवी क्या शाइरों का मुल्ला।
मादा वो ज़न तखल्लुस यारों का मस्ख़रुल्ला।

माक़ूल शेर उससे गाहे सुना न हमने
जुज़ टें टें टाँ टाँ टूँ टूँ और टख्ख टख टखुल्ला।
कोई बइस्म उसके घर का पता न पावे
उल्लू जो कहके पूछो बतलाए तब महल्ला।

'फ़िदवी' के लिए मादा तथा उल्लू शब्दों का प्रयोग या उनके उपनाम में स्त्रीत्व की खोज कर लेना स्पष्टतः सिद्ध करता है कि शाइर अपने प्रतिद्वन्द्वी को गाली-गलौज करके नीचा दिखाना चाहता है। 'मिर्ज़ा अली' के विरुद्ध हज्व बाज़ी करने में देखिए 'सौदा' कहाँ तक पहुँचते हैं—

इक क़िस्सा मैं सुना था मर्दुम से ये क़ज़ारा।
बैतुल्खला गया था मिर्ज़ा अली पियारा।
ता गाह खुड्डी ऊपर गीदड़ ने जा पछाड़ा।
तब रो के उस जगह पर लौंडी के तईं पुकारा।

'मौलवी कश्मीरी' की हज्व में भी उनकी घृणा झलक जाती है। अपना मुखम्मस वह शुरू तो हलके व्यंग्य से करते हैं, परन्तु अंतिम चरण तक पहुँचते-पहुँचते उनका अमर्ष प्रकट हो जाता है—

वज़अ् को शेरख्वानी की आपकी गर बताइए।
कुप्पी में डाल कंकरी उसके तईं हिलाइए।
वज़्म में शाइरों की आप होवें तो वाँ न जाइए।
जाइए भी तो आपके मुँह प ये कहके आइए।
घोड़े को दो न दो लगाम मुँह को तनिक लगाम हो।

मीर 'ज़ाहिक' की हज्व में उनकी (ज़ाहिक की) भोजनभट्टता प्रस्तुत करके 'सौदा' ने उन्हें उपहासास्पद बनाया है! वर्णन से प्रकट होता है कि शाइर अपने लक्ष्य को हिक़ारत की नज़र से देखता है—

संगरेज़े तलक न इससे बचे।
मेदे में उसके तो पहाड़ पचे।

इसके बाद वह आलम्बन को उस रूप में चित्रित करता है जो पाठक के हृदय में विकर्षण उत्पन्न कर दे—

आग लगकर किसी के घर से दूद।
एक जर्रा भी गर करे है नुमूद।
लोग तो दौड़ें हैं बुझाने को।
दौड़े ये ले रकाबी खाने को।

विकर्षण के भाव को और अधिक गहरा बनाने के लिए शाइर ने उसी प्रकार के कई प्रसंग विनियुक्त किए हैं। यदि किसी के यहाँ शादी हो रही हो प्रसिद्ध गवैयों-बजैयों का संगीत चल रहा हो, तो उसे इससे कोई मतलब नहीं। वह न तो खुद सुनता है, न दूसरे को सुनने देता है—

यही पूछ है हर एक से बेशर्म !
पूरी का आटा सख्त है या नर्म ?

इस रचना में बेशर्म, बदज़ात तथा भड़ुआ आदि शब्दों का प्रयोग क्रोध का स्पष्ट प्रच्छर्दन है। क्रोध हास्य के भाव को साधारणीकृत नहीं होने देता। मिर्ज़ा जब यह लिख देते हैं कि—

तोड़ खाता है जाके पाखाने।
ये बवासीर अपनी के दाने।

तो पाठक का विकर्षण जुगुप्सा में परिवर्तित होकर अपना लक्ष्य बदल देता है। यह विकर्षण आलम्बन से हटकर कवि की ओर अभिप्रवृत्त हो जाता है। मिर्ज़ा 'सौदा' के हास्य में यह दूषण अत्यंत प्रबल है।

आलम्बन के प्रति द्वेषादि से प्रेरित हास्य विकृत हो जाता है। उर्दू के मितवाक् शाइर 'मीर' को भी क्रोध ने लांछित कर दिया है। बिलासराय के प्रति उनका क्रोध इन शब्दों में उमड़ा—

सुनो यारो बिलासराय का हाल।
एक लुच्चा है वो अजायब माल।
काम लेना है उससे अम्रे-मुहाल।
सूर भी जा अड़ें तो देवे टाल
पीर को अपने दे न....का बाल।
× × ×
मेरी हैबत से निकल आता है मूत।
दुश्मनी की उनने अपनी........।

'मीर' साहब की हजोयात इसी पैराए की है, जो बहुत अश्लील हो गई है। उर्दू-काव्य मे 'इंशा', 'मुसहफ़ी' तथा 'जुरअत' आदि का हास्य गंदगी-प्रकाशन के लिए प्रख्यात हो चुका है।

हम यह नहीं कहते कि हिन्दी-रीतिकविता में अश्लीलता नहीं है। हिन्दी-रीतिकवि भी क्रोधावेश में वावदूक हो गए हैं और एक कवि ने अपने पिशुन की खबर बिल्कुल 'मीर' की शैली में ली है—

चूक जात जौहरी जवाहिर परख जाने
चूक जात पंडित पढैया वेदचारी के।

चूक जात घोड़े के चढ़ैया अवसार केते
चूक जात चतुर लदैया टाडा भारी के।
चूक जात मेघ मेजराजन के बातन में
लेखो चूक जात है लिखैया लेखधारी के।
बान किरवान के चलैया पूरे चूक जात
एक नहीं चुके हैं चुगल........के।

परन्तु यह अश्लीलता हिन्दी हास्य-काव्य की प्रवृत्ति नहीं बन सकी। हिन्दी में ऐसे काव्य को 'भड़ौआ' कहा गया है। 'भड़ौआ' शब्द की व्युत्पत्ति 'भाँड़' से है। इस प्रकार के काव्य को 'अधम काव्य' की संज्ञा दी गई है और उसे रचनाकार कवि के लिए अनिष्टकारक बताया गया है। भड़ौआ लिखते समय आत्मसंयम रख पाना मुश्किल है, इसलिए आचार्यों ने इसका निषेध किया है। फलस्वरूप आलोच्यकाल की हिन्दी-कविता में हास्य का उपर्युक्त रूप नहीं मिलता।

हिन्दी का कवि व्यक्तिगत प्रहारों में भी हास्य-कवि के उत्तरदायित्व को पूरी तरह निभाता है। 'सौदा' तथा 'मीर' ने 'फ़िदवी', मीर 'ज़ाहिक' और बिलास-राय के विरुद्ध आक्रोशातिशय द्वारा हास्य की हत्या कर दी है। यही नहीं, ये शाइर आलम्बन के प्रति पाठक के हृदय में क्रोध उत्पन्न करने में भी सफल नहीं हो सके। क्रोध की अभिव्यक्ति गालियों से बढ़कर मृत्यु तक पहुँचती है। मृत्यु क्रोध की चरमावस्था है। हिन्दी-कवि इस काष्ठा तक पहुँचकर भी हास्य की निष्पत्ति करता है। वह दीवान काशीपरसाद से नाराज है, लेकिन नाराज़ी को अप्रकट रखकर प्रार्थना करता है—

होत ही दिवान अभिमान बेप्रमान बाढ़्यो
ससुर दमाद लागे वहै मंत्र जापने।
जाही मंत्र-जाप तें बिलाने बनवारी लाल
टीकाराम चुन्नी औ फ़तेअली गुनापने।
फेर भो भवानी परसाद हीरा साहु अरु
लाला भगवंत अफजल आदि थापने।
सुनो जमराज महराज या अरज मेरी
कासीपरसाद को बुलाओ पास आपने। —'भ० सं०'

व्यक्तिगत द्वेषादि से प्रेरित होकर कवि यदि हास्य उत्पन्न करना चाहता है तो उसे अपने प्रहार की दिशा बदल देनी चाहिए। हिन्दी भड़ौए लिखने में 'बेनी' कवि अद्वितीय हैं। दयाराम नाम के एक प्राणी से इन कवि जी की कुछ अनबन हो गई थी। अतः उन्होंने दयाराम को कई भड़ौओं का विषय बनाया। एक-दो

स्थानों पर उनका क्रोध उनके हास्य कवि पर अवश्य हावी हो गया है, जिससे वह 'दयाराम की काँच' का वर्णन कर बैठे, अन्यथा उन्होंने अपना संयम नहीं खोया। वह व्यक्ति पर चोट नहीं करते। उनके वाक्शर व्यक्ति की किसी वस्तु को लक्ष्य बनाते हैं—

चूक सी लगत चाखे लूक सी लगावैं कंठ
ताप सरसावैं हैं अपूरब अराम के।
रस को न लेस चोप रेसा है हमेस, छाँड़ि
दीनों सब देस पकुसाने परे घाम के।
बुरे बदसूरत बिलाने बदबोयदार
'बेनी' कहै बकला बनाए मनो घाम के।
आए बिन दाम के ये निपट निकाम के
सु कौड़ी के न काम के हैं आम दयाराम के।

इस छंद में यद्यपि 'निपट निकाम' शब्दों के श्लिष्ट अर्थ से कवि का प्रच्छन्न भाव थोड़ा झलक जाता है, फिर भी इस कथन में उस भाव की अपेक्षा हास्य कहीं अधिक है। दयाराम जी ने आम भेजकर जैसी छीछालेदर कराई वैसी ही दुर्दशा एक रायसाहब की भी हुई। इन राय जी ने कभी प्रसन्न होकर 'बेनी' कवि को एक रजाई प्रदान की थी—

कारीगर कोऊ करामात कै बनाय लायो
लीनी दाम थोरे जान नई सुघरई है।
रायजू को रायजू रजाई दोनी राजी ह्वै कै
सहर में ठौर ठौर सोहरत भई है।
'बेनी' कवि पाय के अघाय रहे घरी द्वैक
कहत न बनै कछु ऐसी मति ठई है।
साँस लेत उड़गो उपल्ला औ भितल्ला सबै
दिन द्वैकै बाती हेत रुई रह गई है।

यहाँ क्रोध, तिरस्कार अथवा घृणा आदि के किसी सजातीय भाव का स्पष्ट प्राकट्य न होने से उत्तम हास्य उत्पन्न हुआ है। परन्तु स्पष्टरूपेण क्रोध प्रकट करते हुए भी 'गंग' ने एक छंद में हास्य-निष्पत्ति की है—

चूतिया चलाक चोर चौपट चबाई च्युत
चौकस चिकित्सक चिबिल्ला औ चमार है।
चौसरखेलार सिर चाँदुल चपल चित्त
चतुर चुहेड़ा चुरगन चिड़ीमार है।

चिहुकन चटना चुहुलबाज़ 'गंग' कहै
चुगुल चंडाल चरपरिया चपार हैं ।
जुलुम को चाल सब जाल की हवाल जाने
चौधरी बखानो जामें चौबिस चकार है ।

उर्दू-शाइर अश्लीलता-परित्याग करने पर भी प्रायः व्यक्ति-लक्षी रहता है। वह व्यक्ति के रूप को विकृत चित्रित करता है—

गाल कलुचे से फिर तवे से सियाह ।
कासए-सर है जैसे औंधा कड़ाह । —मीर

लेता तो वह वस्तु को भी है, परन्तु उसको व्यक्ति-निरपेक्ष नहीं रहने देता। वस्तु के साथ व्यक्ति जुड़ जाता है—

मैं दाढ़ी तेरी वाइज़ मस्जिद ही में मुँडवाता
पर क्या करूँ साथ अपने हज्जाम नहीं रखता। —मीर

बिना असा शेख़ यक क़दम न रखे
राह चलता नहीं ये ख़र बेचोब । —मीर

प्रथम उद्धरण में शेख़ की दाढ़ी पर हमला है, लेकिन उससे शेख़ का ही रूप विकृत होता है। दूसरे शेर में शेख़ की छड़ी का वर्णन है, परन्तु उस डंडे के माध्यम से शेख़ को गधा बनाकर प्रस्तुत किया गया है। हर दशा में शाइर व्यक्ति का दामन नहीं छोड़ पाता। किन्हीं-किन्हीं उदाहरणों में वस्तु-वर्णन ही है, परन्तु व्यंजना से व्यक्ति की रूप-विकृति हो गई है—

नहीं ग़ायाने-जेबे-गुंबदे-दस्तार कुछ ज़ाहिद
मगर मिस्वाक है उस पर कलस होवे अगर होवे। —मीर

शाइर कहता है कि ज़ाहिद की गुंबद-जैसी पगड़ी के लिए कोई उपमान योग्य नहीं प्रतीत होता। यदि हो सकता है तो शायद यही कि दातौन पर कलश रक्खा हुआ है। 'दातौन' की व्यंजना से ज़ाहिद की पतली गर्दन लक्षित है।

कोई व्यक्ति यदि लोक-मानस के विपरीत आचरण करता है—अथवा लोक-कल्याण विरोधी है तो उसका रूप विकृत करने से हास्य-निष्पत्ति होती है। मिर्ज़ा 'सौदा' ने बारह बरस की छोकरी से विवाह करने वाले एक बूढ़े शेख़ जी की बड़ी दुर्गति कराई है। हालाँकि 'सौदा' ने इस रचना में भडुआ, छिनाल आदि शब्दों का प्रयोग करके हास्य-स्तर नीचा कर दिया है, लेकिन शेख़जी की जो हालत शाइर ने बनाई है उसे लोक-मानस देखना चाहता है। बारह बरस की बालिका से साठ वर्षीय व्यक्ति का विवाह सामाजिक नियम के चाहे प्रतिकूल न हो, किन्तु

वह मानव-हृदय के नितांत विरुद्ध है। उस पर जब नैतिकता का ठेकेदार शेख़ ऐसा काम करता है तब तो और भी विगर्हणीय है। अतः प्रथम मिलन में ही जब जोरू अपने केश-बंध से उनकी मुश्कें जड़ लेती है तो वह दृश्य पाठक के मनोनुकूल होता है—

कोई कहता है कि भुस आगे बने के डालो
कोई कहता है कि बूढ़ा है खली कूट के दो।
बग़लों में हाथ मुरीदों ने दिए कह उट्ठो
अब यहाँ बैठे हो कुछ और बना चाहते हो
पीर से घोड़े बने घोड़े से अब ढोर बने।

लोक-मानस की इसी कसौटी के आधार पर कंजूस, धूर्त तथा पाखंडी व्यक्ति हास्य के आलम्बन बनाए जाते हैं। कवि जब इन लोगों पर चोट करता है और ये तड़फड़ाते हैं तो पाठक प्रसन्न होता है। ऐसा हास्य सामाजिक हास्य कहलाता है। व्यक्तिगत हास्य तथा सामाजिक हास्य में बाल बराबर अन्तर है। एक हलकी सी वक्रता व्यक्तिगत हास्य को सामाजिक हास्य में बदल देती है। आलम्बन एक ही होने पर भी निर्वाह-भिन्नता से एक व्यक्तिगत हास्य हो जाता है और दूसरा सामाजिक। एक वैद्य को लेकर हिन्दी-कवि ने लिखा—

सूल सुजाक छई लकवा ज्वर पीनस पील को पाँव घनेरे।
और जलन्दर हू परमेह कहै कवि राम कहा लगि हेरे।
जाकै विलोकत ही ततकाल चहूँदिसि तें दुख आवत घेरे।
जापै दया करि हाथ गहै तिहि माथ गहै जमराज सवेरे।—'भ० सं०'

इस सवैए में वैद्य की मूर्खता उजागर की गई है। वैद्य व्यक्ति विशेष के लिए आफ़त लाने वाला है। मिर्ज़ा 'सौदा' ने भी एक हकीम को लक्ष्य बनाया है। परन्तु उनका चित्रण दूसरे ढंग का है। पहले तो शाइर ने उसके द्वारा अगणित हत्याओं का उल्लेख किया—

शक्ल है शैतान की और ग़ौस नाम
जग में हल्लाकू का है क़ायम मक़ाम।

और बताया कि वह हिन्दू-मुसलमानों का क़ातिल है। यदि वह नुस्ख़े न लिखता तो मनुष्यों से स्वर्ग-नरक न भरते। लेकिन इसके आगे शाइर वर्णन को यों मोड़ता है कि एक बार वह हकीम कुछ अस्वस्थ हो गया। तब वह अपनी दवा भी ख़ुद करने लगा। यह सुनकर शव-स्नान कराने वाले, शोक मनाने वाले तथा ताबूत बनाने वाले लोग उसके चारों ओर आकर इकट्ठे हो गए और उनमें से प्रत्येक दुहाई देता हुआ प्रश्न करके विनीत स्वर में बोला—"ज़ालिम तू अपनी

दवा आप न कर। अरे हमारे बाल-बच्चों की तरफ़ नज़र कर। और यदि तू अपनी दवा आप करना ही चाहता है तो कृपा करके अपनी तरह के किसी दूसरे का नाम बता दे जिससे हमारी रोज़ी चले। इस कृपा के बदले मैं तेरी क़ब्र पर फूल तथा शम्मा भेजूंगा"—

खूब जो करता है तू आप ही दवा।
और कोई आप सा मुझको बता।
रोज़ी से खातिर हो मिरी ताकि जमा।
भेजूं तिरी गोर पर गुल और शमा।

इस वर्णन में हकीम जी का समाज-अकल्याणकारी-स्वरूप पूरे विवरण के साथ प्रकाशित हो गया है।

सामाजिक हास्य कवि की सामाजिक कल्याण-भावना से प्रेरित उद्देश्यगर्भित हास्य है। हिन्दी-कविता में इस प्रकार के हास्य की झलक तो मिलती है, लेकिन उस हास्य में उर्दू-कविता के हास्य-जैसी पूर्णता नहीं है। सामाजिक हास्य जब समाज के प्रति कवि में उत्पन्न करुणा के भाव से प्रेरित होता है तब उसे व्यंग्य कहते हैं। हिन्दी-कवियों तथा उर्दू-शाइरों की परिवेश-भिन्नता के कारण हिन्दी में ऐसा व्यंग्य अनुपलब्ध है और उर्दू में उसका प्राधान्य है। मिर्ज़ा 'सौदा' ने तत्कालीन समाज के पतन का ऐसा व्यंग्य-संवलित शैली में चित्रण किया है कि उसकी समता उर्दू में भी नहीं हो सकती, हिन्दी की तो बात ही दूर है। उनके ऐसे दो व्यंग्य बहुत लम्बे हैं जिनमें पूरे समाज का चित्र अत्यन्त निर्भीकता से खींचा गया है। व्यंग्य इस तरह प्रारम्भ होता है—

कहा मैं आज ये 'सौदा' से क्यों तू डाँवाँडोल।
फिरै है जा कहीं नौकर हो लेके घोड़ा मोल।
लगा वो कहने ये उसके जवाब में दो बोल।
जो मैं कहूँगा तो समझेगा तू कि है ये ठिठोल।
बता कि नौकरी बिकती है ढेरियों या तोल।

इसमें शाइर ने सैनिकों, मस्जिदों, मुसाहबों, हकीमों, सौदागरों, किसानों, कवियों तथा शिक्षकों आदि की दुरवस्था का बड़ी निर्ममता से चित्रण किया है। दूसरे व्यंग्य में सामाजिक अव्यवस्था, शक्ति-संचित-वर्ग की आचरण भ्रष्टता, किसानों की प्रगल्भता, नवाबों की रंकता, मंत्रियों का क्लैव्य, राजकीय कोष की शून्यता तथा फटे हाल सुल्तानों की मेहमानबाज़ी से विमुखता आदि के साथ दिल्ली की भयावह स्थिति का वर्णन है। ये दोनों व्यंग्य बड़े तीखे हैं।

व्यंग्य का प्रहार चाहे भारी हो चाहे हलका, तीखा हो चाहे मृदु, लेकिन है

तो अंततः प्रहार ही। उद्देश्य-गर्भ-प्रहार होने से व्यंग्य कभी क्रोध, कभी घृणा और कभी करुणा उत्पन्न करता है। लेकिन स्वच्छंद कवि 'नज़ीर' अकबराबादी ने उस सामाजिक व्यंग्य को भी विशुद्ध हास्य में बदल दिया है। उदाहरणार्थ—

मस्जिद भी आदमी ने बनाई है याँ मियाँ।
बनते हैं आदमी ही इमाम और खुत्बा-ख़्वाँ।
पढ़ते हैं आदमी ही क़ुरान और नमाज़ याँ।
और आदमी ही उनकी चुराते हैं जूतियाँ।
जो उनको ताड़ता है सो है वो भी आदमी।

यह हास्य व्यंग्यालम्बन-पराभव से उद्भूत है। नमाज़ियों की जूतियाँ चुराने वाले के प्रति क्रोध और घृणा जगती है, परन्तु 'नज़ीर' ने एक ताड़ने वाले को सामने लाकर उस चोर की मिट्टी पलीद करवा दी है। ऐसे व्यक्तियों का पर्दा-फ़ाश होना ही हास्य का कारण है।

पर्दा-फ़ाश-जन्य के ठीक विपरीत पर्दा डालकर भी 'नज़ीर' ने हास्य उत्पन्न किया है। यथा निम्नांकित उदाहरण में व्यंग्य है। इसमें क्रोध या घृणा आदि का भाव होना चाहिए, परन्तु ऐसा हुआ नहीं। प्रसंग बरसात का है। बरसात की बहार में पहले रंडियों तथा उनके सहवासी प्रेमियों का वर्णन करके 'नज़ीर' साहब अब उन वेश्या-गामियों के घरों की ओर मुड़ते हैं—

जो बेगमें हैं घर में आराम कर रही हैं।
परदों में दोस्तों से पैग़ाम कर रही हैं।
चितवन लगावटों से सौ दाम कर रही हैं।
चुपके ही चुपके अपना सब काम कर रही हैं।
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें।

इस उदाहरण में आलम्बन कौन है वेश्यागामी या वेश्यागामियों की बेगमें? यहाँ हास्य पर्दा-फ़ाश होने से नहीं माना जा सकता, क्योंकि वेश्यागामी उन बेगमों की करतूत से नितांत अनभिज्ञ हैं। जैसे को तैसा देखकर पाठक को कुछ संतोष अवश्य हो जाता है, परन्तु उसे हँसी नहीं आती। यहाँ वस्तुतः हास्य का कारण 'सब काम कर रही हैं' वाक्य में छिपी व्यंजना है। 'सब काम' की व्यंजना को अगर शाइर विवृत कर देता तो हास्य जुगुप्सा में बदल जाता। 'नज़ीर' अकबराबादी के व्यंग्यानुबद्ध हास्य की तरह के दूसरे नमूने आलोच्य हिन्दी-उर्दू-कविता में कहीं नहीं मिलते।

हास्य विदाहक भले ही हो, परन्तु स्नेहन-रहित न हो। स्नेहिल विदाहकता वह व्यंग्य है, जो हास्य के अन्तर्गत माना जाता है। ऐसे हास्य की तलवार

मधुबुझी होती है, विषबुझी नहीं। उर्दू-शाइरी में ज़ाहिद, वाइज़ और शेख़ व्यंग्य के प्रथागत आलम्बन हैं। शाइर इन पर ख़ूब चोटें करते हैं। 'ग़ालिब' ने भी चोट की है—

कहाँ मयख़ाने का दरवाज़ा 'ग़ालिब' और कहाँ वाइज़
पर इतना जानते हैं कल वो जाता था कि हम निकले।

कथनी तथा करनी की असंगति दिखाकर 'ग़ालिब' ने व्यंग्य में किस नैपुण्य से मार्दव उत्पन्न किया है ? 'ग़ालिब' मदिरालय से निकलकर चुपचाप चलते गए। उन्होंने इतना भर कह दिया 'हम बस इतना जानते हैं कि जब हम निकले तो वह जा रहा था।' इस वर्णन को पढ़कर पाठक मुस्कराकर रह जाता है।

कथनी और करनी की इस असंगति को बिहारीलाल ने अपने एक दोहे में अनन्य कलात्मकता से दिखाया है। नायिका का पति नपुंसक है और पेशे से वैद्य है। एक सज्जन जो नामर्दी के शिकार है इन वैद्यराज के पास आते हैं। 'बिहारी' इन वैद्यजी को आलम्बन बनाकर लिखते हैं—

बहु धन लै अहसान कै पारो देत सराहि।
वैद वधू हँसि भेद सौं रही नाह मुँह चाहि।

वैद्यजी बहुत-सा धन लेकर और काफ़ी अहसान जताकर (रोगी की काम-शक्ति बढ़ाने के लिए) उसे पारा दे रहे है। वैद्य-वधू रहस्य से मुस्कराई और पति का मुँह देखती रह गई। 'ग़ालिब' को जहाँ बोलना पड़ा वहाँ 'बिहारी' ने मौन द्वारा सारा कार्य कर लिया। काव्य में इसी मौन का महत्व है। यदि 'ग़ालिब' रुकते और ज़ाहिद के मुख पर एक क्षण दृष्टि जमाकर अवाक् रह जाते तो व्यंग्य की काट कितनी पैनी हो जाती ?

हिन्दी-रीतिकविता का अंगीरस शृंगार है और हास्य उसका सहायक बनकर आया है। इसीलिए ऐसे हास्य में प्रेम की चाशनी रहती है। हिन्दी-रीतिकाव्य में ऐसे मधुर हास्य की कई शैलियाँ हैं। मीमांस्य हिन्दी-कविता में शाब्दिक हास्य की एक शैली ही बन गई थी—

ठोंकत को पट ? हौं घनश्याम, तौ दामिनी को तुम जाइ निहारो।
आलिहुँ मैं बनमाली, खरे, कहुँ, बेचिये फूलन को रुचि हारो।
बंसी धरे हम, तौ झख मारिये, हौं हरि, तौ बनकुंज सिधारो।
खोलहु देहु खिझावत क्यौं कहि 'तोष' मैं कान्हर दास तिहारो।

उर्दू-कविता में ऐसा हास्य प्रचलित नहीं हुआ। इस प्रकार का हास्य उद्देश्य-गर्भित नहीं होता। ऐसा हास्य परिहास कहलाता है। यह हास्य प्रेम-समुद्र की

चंचल तरंग है। हिन्दी-कविता में परिहास ही नहीं, व्यंग्य भी शृंगार का संचारी बनकर आया है। परकीया खंडिता का यह व्यंग्य द्रष्टव्य है—

ए हो व्रज ठाकुर ठगौरी डारि कीन्हीं तबै
बौरी विन काज अब ताकी लाज मरिए।
कहै 'पदमाकर' इतै पै ये रँगीलो रूप
देखे बिन देखे कहौ कैसे धीर धरिए।
अंक हू न लागी पै कलंकिन कहाई यातें
अरज हमारी एक ये ही अनुसरिए।
साँझ कै सबेरे दिन दसयें दिवारी फाग
कबहूँ भले जु भले आइबो तौ करिए।

इस व्यंग्य का संधान करने में नायिका सावधान है। लेकिन एक और उदाहरण लीजिए। कृष्ण सबेरा होने पर नायिका के घर पधारे, परन्तु धोखे से पीताम्बर के स्थान पर राधा की नीली साड़ी लपेटे हुए आए। नायिका मुग्धा है। उसके मासूम कथन से हास्य किस प्रकार टपक रहा है—

भोरहिं आवत नौलकिसोर विलोकत ही ललना उठि दौरी।
'बेनी प्रबीन' दोऊ कर सों गहि गाढ़े कै लागि गई लड़बौरी।
जाने कहा ये अजाने सबै मैं देखाइ हौं (?) सखियान को औरी।
साँवरो रंग लगे हरि रावरो साँवरी ह्वै गई पीत पिछौरी।

पूर्वोक्त 'पदमाकर' के उद्धरण में व्यंग्य है। यहाँ पाठक के हास्यालम्बन कृष्ण हैं। परन्तु 'बेनी प्रवीन' के उदाहरण में नायिका आलम्बन है, जिसकी मासूमियत पर हम हँसते हैं। 'बेनी प्रवीन' ने एक अन्य छंद में हास्य का अत्यंत कुशल निदर्शन प्रस्तुत किया है। नायिका राधा सुरतिलक्षिता है। कोई सखी कहती है —

नैन बड़े बड़े बाँकी चितौनि चलाँको पढ़ी कछु भू परखी है।
जाके विलोकत 'बेनी प्रवीन' कहैं दुति मेनका हू की नखी है।
आई कहाँ ते है राधे कहौ अब लौं व्रज मंडल मैं न लखी है।
भाँवरी सी मत देत फिरै सँग साँवरी-सी यह कौन सखी है।

यह व्यंग्य है कि मधुर चिकोटी ? सखी कनखियों से प्रहार कर रही है या मुस्करा रही है ? यहाँ यदि व्यंग्य है तो उसकी काट बहुत महीन है और यदि परिहास है तो उसमें पर्याप्त तरलता है। हिन्दी-हास्य-व्यंग्य प्रेम-प्रसूत है। उर्दू-शाइरी में प्रेम की स्थिति का अभाव होने से ऐसे हास्य-व्यंग्य अप्राप्त हैं।

कभी-कभी शब्दों का विनियोग इस प्रकार किया जाता है कि लय के आरोह अवरोह से जो ध्वनि निकलती है, वह हास्योत्पादक होती है। 'सौदा' के निम्न-

लिखित शेर में हास्य इसी काकु के आश्रित है। शाइर कहता है कि 'ज़ाहिक' की स्त्री ने अपने घर में ढोल बजाना शुरू किया—

ज़ाहिक की अहलिया ने ढोल अपने घर धराया
बेवज्ह रात सारी हम सायों को जगाया।
बैठक में बैठ बूढ़े चोन्डे को जब हिलाया।
तब शेख सद्दू उस पर ग़ुस्से को खाके आया।
बोला कि क्यों बे ज़ाहिक बकरा कोई मँगाया ?

यह काकु है। काकु द्वारा हास्योत्पादन हिन्दी-रीतिकविता में बहुत हुआ है। पूर्वोद्धृत 'ठोंकत को पट' कबित्त में काकु का प्रयोग है। ऐसे प्रयोग तो आम हो गए थे। परन्तु कहीं-कहीं काकु के प्रयोग बड़े विलक्षण हैं—

फाग के भीरे अभीरन तें, गहि गोविद लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पदमाकर' ऊपर नाई अबीर की झोरी।
छीन पितंबर कंमर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय लला फिरि आइयो खेलन होरी।

इस काकु का चमत्कार देखिए। गोपी ने नेत्र नचाकर मुस्कराते हुए कहा 'लला होली खेलने फिर आना' अथवा 'लौट आना'। इसमें होली खेलने का निमंत्रण है। शब्द-योजना से गोपी यह भी कहती प्रतीत होती है कि 'लला क्या होली खेलने अब फिर आओगे ?' इसमें वर्जन है। और वास्तविक बात कुछ ऐसी है कि उसे गोपी तथा कन्हाई ही जानते हैं। हास्य के ऐसे दो-ध्वनीय मधुर प्रयोग उर्दू-शाइरी में अलभ्य हैं।

आलोच्यकालीन हिन्दी-हास्य का एक निश्चित पैटर्न यह भी है कि नायक को नायिका की वेशभूषा में उपस्थित किया जाता है। ऐसा करने से कृष्ण को चोली तक पहना दी जाती है। यों तो ऐसी वेश-रचना मात्र परिहासार्थ होती है, परन्तु कभी-कभी वह हास्य-निष्पत्ति के साथ-साथ रूठे को मनाने का कार्य भी करती है—

रूठि के सोइ रहे अँगना पिय चौपरि चूकि तिया गहरानी।
सोवत बंदन बेंदी दई गुँदि 'बेनी प्रबीन' सखी बहरानी।
भोर ही आय उठे अलसात वै आरसी सामुहे लै ठहरानी।
कान्ह कछू सकुचे मुसकाय, हँसी लखि मंदिर मैं महरानी।

अधिकतर हास्य अतिशयोक्त्याश्रित रहता है। अतिशयोक्ति-जन्य-हास्य, विमर्श्य हिन्दी तथा उर्दू, दोनों काव्यों में मिलता है। 'सौदा' की कविता 'हज्व अमीर दौलतमंद बख़ील' में एक धनी कंजूस का वर्णन है। उस कंजूस के पुत्र ने

अपने किसी परिचित को एक रकाबी भोजन खिलाने के लिए आमंत्रित कर दिया। बस फिर क्या था कंजूस पिता उबल पड़ा। वह अपने नूरे-चश्म को घर से निकालने तथा अपनी पत्नी को तलाक़ देने के लिए तैयार हो गया। कहने लगा 'हाय तूने पुत्र की जगह पत्थर क्यों नहीं जना ? इस पुत्र से तो ईंट-पत्थर भले। मेरा पुत्र और ऐसा निकम्मा ? हालाँकि इसका दादा भी बड़ा अय्याश था, लेकिन अपना जीविकोपार्जन बड़े सलीक़े से करता था'—

इसका दादा भी गर्चे था अय्याश।
इस सलीक़े से पर करे था मआश।
जो कोई उसके घर में नौकर था।
रात को उस प ये मुक़र्रर था।
फिरता वो टुकड़े माँगता घर-घर।
लाता आक़ा के आगे झोली भर।
अच्छे चुन-चुन के आप खाते थे।
बुरे तनख़्वाह में लगाते थे।

यद्यपि मिर्ज़ा 'सौदा' की कल्पना ग़ज़ब की है, फिर भी हास्य का आधार अतिशयोक्ति ही है। आलोच्यकालीन हिन्दी-कविता में अतिशयोक्ति-जन्य-हास्य बहुत मिलता है। 'बेनी' कवि-लिखित भड़ौओं में सारी करामत इसी अतिशयोक्ति की है—

माछी की चलावै को मसा के मुँह आप जाँय
साँस की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारै जायँ
अणु परमाणु की समानता खगत है।
'बेनी कवि' कहै हाल कहाँ लौ बखान करौं
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद भरि
जाके आगे सरसों सुमेरु सो लगत है।

अतिशयोक्ति का नितांत विरोधी तथ्य-चित्रण है। कभी-कभी एक घटना का सीधा-सादा वर्णन कर देने में भी कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि हँसी आ जाती है। 'इंशा' की निम्नांकित रचना में इसी तरह का हास्य है—

कल एक घर में ख़ूब से छोटे-बड़े लड़े।
हाथों से हाथ और कड़ों से कड़े लड़े।
चलनी से छाज छाज से चलनी उलझ गई

मटकों से मटके टूटे घड़ों से घड़े लड़े।
लड़कों से लड़के चिपटे जवानों से जब जवाँ
बुड्ढों से बुड्ढे कड़बड़ों से कड़बड़े लड़े।
झोटों से झोटे गुथ पड़े जूतों से जूतियाँ
बैठों से बैठे लिपटे खड़ों से खड़े लड़े।
हुक़्क़ों से हुक़्के चिलमों से चिलमें भी टूटियाँ
नेचों से नेचे गुड्गुडों से गुड्गुडे लड़े।
जब तुल गई लड़ाई तराजू के तोल में
बाँटों से बाँट टूटे घड़ों से घड़े लड़े।

शाइर ने यहाँ लड़ाई में भी हास्य उत्पन्न किया है। इस हास्य का कारण बिम्ब-योजना में निहित है। हम छोटे-बड़ों को लड़ता देखकर नहीं, चलनी से चलनी, सूप से सूप, मटकों से मटके तथा घड़ों से घड़े लड़ते देखकर हँसते हैं। हास्य का एक और उदाहरण 'नज़ीर' अकबराबादी की पंचपदी से लीजिए। इसमें भी तथ्य-चित्रण है, लेकिन हास्य बिम्बगत है, तथ्यगत नहीं—

फुंसी किसी के तन में सर पर किसी के फोड़े।
छाती प गर्मी दाने और पीठ में ददोड़े।
खा पूरियाँ किसी को हैं लग रहे मरोड़े।
आते हैं दस्त जैसे दौड़ें इराक़ी घोड़े।
क्या-क्या मची है यारो बरसात की बहारें।

ऐसी सीधी-सादी और तथ्य-चित्रण-जन्य हास्य-योजना रीतिकालीन हिन्दी-कविता के अन्तर्गत देखने को नहीं मिलती। लेकिन इसी से मिलती-जुलती अन्योक्ति के ढंग पर सिद्धान्त-कथन करके हिन्दी-कवियों ने हास्य के निदर्शन सामने रक्खे हैं—

आम नीबुआ बानियाँ गर चापें रस देत।
कायथ कौआ करटहा मुरदाहू सों लेत। —'भ० सं०'

यहाँ कथन मात्र है। परन्तु कभी-कभी कवि पहले विवरण देता है फिर अपना निर्णय प्रस्तुत करता हुआ सिद्धान्त बनाता है, जैसे—

भात में लोन पहीती में पाथर डार करैं सब छूति ही छूकर।
माँगेहु ते परसें न कछू खल मैले महा मल को मनो सूकर।
व्यंजन या विधि के हैं रचे मुख रौहैं किये मन आवत थूकर।
ये कबहूँ नहि दूबरे होत रसोई के विप्र कसाई के कूकर। —'भ० सं०'

हास्य का आलम्बन प्रायः अन्य व्यक्ति होता है, परन्तु जब स्वयं को आलम्बन बनाकर अन्य के सम्मुख पेश किया जाता है तो हास्य का माधुर्य अमृतोपम हो जाता है। ऐसा आत्मपरक हास्य 'ग़ालिब' के काव्य की विशेषता है। 'ग़ालिब' दूसरे पर नहीं, खुद अपने ऊपर हँसते हैं—

चाहते हैं खूब-रूओं को 'असद'
आपकी सूरत तो देखा चाहिए।

उपर्युक्त उदाहरण में असंगति व्यंग्य है। इसमें करुणा प्रच्छन्न है। अभी तक हास्य के जितने प्रकार बताए गए, उन सभी में किसी न किसी भाव की क्षीण धारा अवश्य मिली हुई है। अमिश्रित हास्य हेतूत्प्रेक्षा से उत्पन्न होता है। हिन्दी-कवि अलीमुहिब खाँ 'प्रीतम' ने 'खटमल बाईसी' में खटमल को लेकर अनेक कल्पनाएँ की हैं—

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि
सांपन पै गयो ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो धूल डारत हैं सीस पर
बैदन पै गयो काहू दारू न बताई है।
जब हहराय हम हरि के निकट गए
हरि मोसों कही तेरो मति बौराई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै सुन
खाट के नगर खटमल की दुहाई है।

रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता में प्रयुक्त हास्य-व्यंग्य का आकलन करने पर ज्ञात होता है कि उर्दू शाइरी व्यंग्य-विशिष्ट शाइरी है और हिन्दी में परिहास-प्रवृत्ति अधिक है। हिन्दी-रीतिकाव्य का यह परिहास प्रायः शृंगार का अन्यथा-भाव है, परन्तु उर्दू-कविता में शत-प्रतिशत उसका अन्यथापन प्रकट हुआ है। हास्य-व्यंग्य जिस सावधानी तथा व्यवस्था से उर्दू में लिखा गया वैसा हिन्दी में नहीं, लेकिन हिन्दी-कविता में द्वेषादि-रहित जो विशुद्ध हास्य मिलता है, उसका उर्दू में अभाव है।

वीररस

विवेच्य हिन्दी-उर्दू-काव्यान्तर्गत रचना-परिमाण पर ध्यान देने से रस-सन्दर्भ में तीसरा स्थान वीररस को प्राप्त है। रीतिकाल का प्रारम्भ सन् १६४३ से माना जाता है। इस समय से ही केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़की, जो औरंगज़ेब के राज्य-काल में बुरी तरह धधकने लगी। तत्कालीन सम्राट् के लिए साम्राज्य-विस्तार की कल्पना तो हिरन का सींग थी, इतना ही बहुत था कि

वह अपने पैतृक राज्य की रक्षा कर ले। इस समय शिवाजी तथा छत्रसाल मुग़ल-सेना के छक्के छुड़ा रहे थे, अतः इन राजाओं के आश्रित कवियों ने जो वर्णन किए हैं, उनमें वीररस की व्यंजना हुई है। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उस विद्रोहाग्नि ने मुग़ल-शासन को भस्मीभूत ही कर दिया। मुग़ल-साम्राज्य के पतन-काल में जाटों के राजा बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह की वीरता इतिहास-प्रसिद्ध है। कवि 'सूदन' ने 'सुजान चरित्र' में उनके युद्धों का उल्लेख किया है। सुजानसिंह (सूरजमल) का पुत्र जवाहर सिंह भी बहुत वीर था। अहमदशाह अब्दाली की नृशंस सेना का जिस साहस एवं धैर्य के साथ जवाहर सिंह ने मुक़ाबला किया था, उसकी इतिहास ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अनूपगिरि (हिम्मतबहादुर) की वीरता के विषय में भी इतिहासकार एकमत हैं। तात्पर्य यह कि केन्द्रीय शासन अशक्त तथा निर्बल था। लेकिन देशी राजाओं तथा सामंतों में वीरता की कमी नहीं थी, इसलिए हिन्दी में वीररस-भरे अनेक काव्य लिखे गए हैं। यह बात अवश्य है कि रीतिकविता के प्रवाह में ये काव्य भी स्वतंत्र ढंग से रचित नहीं हैं, उनमें आलंकारिकता अथवा रूढ़िपोषण की प्रवृत्ति बराबर मिलती है। रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में हिन्दी-वीरकाव्यों के समान रचनाएं तो नहीं मिलतीं, लेकिन शाइरों ने मर्सिया-काव्यान्तर्गत वीररस की व्यंजना की है। यह व्यंजना भी स्वतन्त्र न होकर रीतिबद्ध-सी है।

वीररस का स्थायी भाव उत्साह है। काव्य-शास्त्र में वीर के दयावीर, दानवीर, धर्मवीर, सत्यवीर, क्षमावीर आदि भेद किए जाते हैं। परन्तु यह विभाजन दोषमुक्त नहीं है। वीररस का स्थायीभाव उत्साह है और उसके शुद्ध स्वरूप का दर्शन युद्धवीर के अन्तर्गत ही होता है।

उत्साह प्रायः दो ओर प्रवृत्त भाव कहा गया है। एक ओर तो वह व्यक्ति (आलंबन) की ओर देखता है और दूसरी ओर उसकी दृष्टि में उसका साध्य (यश, लोकोपकार आदि) कोई विचार या भावादि रहता है। यह भी कहा जाता कि चरम साध्य अव्यक्त आलम्बन ही होता है, इसलिए उत्साह का आलम्बन वही है। इस प्रकार युद्धवीर के साथ दयावीर, दानवीर आदि का निर्वाह भी हो जाता है, परन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर ये सभी वीर एक स्थायी भाव पर आधारित नहीं प्रतीत होते।

इन वीरों का समाज के सम्बन्ध से विवेचन करने पर विदित होगा कि दानवीर और दयावीर आदि में हमारा लक्ष्य नायक का उत्साह नहीं होता, लक्ष्य होता है, नायक का दान देकर या दया दिखाकर स्वयं कष्ट सहना। ऐसा नायक भले ही उत्साहपूर्वक स्वकार्यनिरत रहे, पर यदि उसे कोई कष्ट नहीं मिलता तो हम उसकी क्या प्रशंसा करेंगे? अतः हमारे लक्ष्य में उसकी

सहन-शक्ति या धीरता रहती है। अर्थात् वह दयाधीर, दानधीर, धर्मधीर, सत्य-धीर अथवा क्षमाधीर होने पर भी श्लाघ्य है। युद्धवीर में हमारा लक्ष्य केवल उत्साह होता है। नायक उत्साहपूर्वक लड़े बस; चाहे उसकी जीत हो, चाहे वह मारा जाय और चाहे पकड़कर बंदी ही क्यों न बना लिया जाय। यानी उसकी पराजय हो जाय तो भी वह वीर ही रहेगा—उदाहरणार्थ पृथ्वीराज चौहान। परन्तु दानवीर यदि दान देने में उत्साह दिखाकर अपना सब कुछ दे दे और अभाव में पीड़ा का अनुभव करे तो वह श्लाघ्य नहीं है। अर्थात् यहाँ दानोत्साह के बाद की मनोदशा हमारे लक्ष्य में हैं। यदि वह पीड़ा को शान्त रहकर सह लेता है तो प्रशंस्य है। युद्धवीर यदि शत्रु-प्रहार धैर्य से सहता रहे तो इसी से हम उसे वीर नहीं कहेंगे—वह धीर है। वीर तो वह तभी कहलाएगा जब शत्रु पर प्रहार करता हुआ अपने मन का उल्लास अभिव्यक्त करे। इसलिए युद्धवीर में हमारी दृष्टि उत्साह पर रहती है, अन्य वीरों में उनकी धीरता पर। उत्साह की इस अनाविल अभिव्यंजना के कारण वीररस के आलंबन के रूप में युद्धवीर को ही सर्वोच्च माना जाता रहा है। इस प्रकार उत्साह शुद्ध एकोन्मुखी भाव है और उसका आलंबन व्यक्ति है।

आलोच्यकाल की हिन्दी-कविता में वीररस पूर्ण रचनाएँ प्रबंध और मुक्तक दोनों रूपों में उपलब्ध हैं। समकालीन उर्दू-शाइरी के भीतर मर्सियों में युद्ध का चित्रण हुआ है और मर्सिए प्रायः प्रबंध-रूप में हैं।

हिन्दी-युद्ध-काव्य से मर्सिया-काव्य की तुलना करने पर कई बातों में असमानता मिलती है। युद्ध दोनों में है, परन्तु उर्दू-कविता में प्रतिपक्षी अपार है, इसलिए उसके आगे इमाम हुसैन तथा उनका परिवार कब तक ठहर सकता था? अतः मर्सियों की पृष्ठभूमि करुण रसात्मक है। वीरता उसमें स्थित है, लेकिन पर्यवसान भी करुण रस में हुआ है। हिन्दी युद्धकाव्यों की स्थिति भिन्न है। उनमें नायक की विजय दिखाई गई है और अन्त में उल्लासपूर्ण वातावरण है। हाँ, चन्द्रशेखर वाजपेयी रचित 'हमीर हठ' (सन् १८४५) का अंत और तरह का है। यद्यपि इस काव्य में अलाउद्दीन की सेना पराजित होकर पलायन कर जाती है, परन्तु विजयोन्मत्त राजपूत सैनिक छीने हुए शाही झंडों को लेकर दुर्ग की ओर चल पड़ते हैं और जब रानियाँ झंडे देखती हैं तो अलाउद्दीन की जीत का अनुमान करके जौहर कर लेती हैं। इस घटना के प्रहार से संतप्त होकर हमीरदेव अपना शीश शिवजी को समर्पित कर देते है। मर्सियों में करुण रस पूर्व-स्पष्ट है 'हमीरहठ' में वह अचानक आ पड़ता है। वीर हमीरदेव अपना शीश स्वयं उतार देते हैं—

साजि के राज को साज सबै सुत के सिर आप दियो करि टीको।
गंग के नीर कियो असनान दियो बहु दान दुजातिन ही को।
लै अपने कर मैं करबाल नरेस हमीर हठी अति नीको।
काटि दियो सिर ईस के हाथ भयो सुरलोक मैं नाथ सची को।

मासिए के अन्त में रोना-पीटना शेष रह जाता है, परन्तु 'हमीर हठ' की समाप्ति वृत्युपशम एवं शांतरस में हुई है। हमीरदेव की अंतिम झाँकी का रूप यह है—

शीश चढ़ाय दयो नरनाथ हमीर हठी जग जानत सारे।
देववधू बरषें बर फूल बजैं नभ नौबत ढोल नगारे।
जात विमान चढ्यो चहुआन ढुरै सिर चौंर दुहूँ दिसि भारे।
आनि गही उठि श्रीपति बाँह भये हरि सेवक सेवन हारे।

मर्सियों में धर्म और सत्य पर प्राण देने वालों को असहाय, लाचार तथा निरालम्ब दिखाकर काव्य-न्याय नहीं किया गया। यदि नायक 'मरता क्या न करता' के आदर्श पर प्राण देता है और उसे पहले ही मालूम है कि मैं मारा जाऊँगा तो उसमें उस उमंग-उछाह का अभाव रहेगा जो विजय की आशा से भरे युयुत्स के अंग-अंग से झलकता है और जिसे वीररस के लिए अनिवार्य माना गया है। 'हमीर हठ' में कवि ने हमीरदेव के भीतर उस उत्साह का आद्यन्त निर्वाह किया है। मर्सियों में इमाम हुसैन की बड़ी कारुणिक तस्वीर खींची गई है। यही नहीं, उनके द्वारा उच्चरित वाक्यों से भी उनकी बेकसी तथा विवशता का इज़हार होता है—

मैं क्या लड़ूं की ग़म से लहू है मेरा जिगर।
आँखों के आगे खाक प हैं लाशा-ए-पिसर।
बाज़ू के ग़म में टूट गई है मेरी कमर।
सर हो ये मरहला जो कटे तन से जल्द सर।
हसरत है ये कि तेग़ों से तन पाश-पाश हो।
जब ज़बह हूँ तो पहलुए-अकबर में लाश हो। —अनीस

यहाँ मृत्यु की कामना ग़म के कारण की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्र तथा भाई के शोक में वह हिम्मत हार बैठे या मृतवत् हो गये हैं। अतः वीररस के स्थायी भाव उत्साह की स्थिति न होने से शुद्ध वीररस नहीं है। सच्चे वीर को उत्साह कभी नहीं छोड़ता, निराशा उसे छू नहीं सकती। प्राण लेने या देने में उसकी समदृष्टि होती है। वीर हमीरदेव ने जिस निर्भयता से युद्ध किया, उसी

निःसंकोच से अपना शीश काटकर शंकरजी पर चढ़ा दिया। अतः हमीरदेव प्रारंभ से अंत तक एकरस वीर हैं।

मर्सियों में प्रतिनायक का एक प्रकार से अभाव है। शत्रु का उल्लेख तो है, परन्तु उसका व्यक्तित्व कहीं भी उभरा नहीं है। 'हमीरहठ' में कवि ने अलाउद्दीन का चरित्र-चित्रण परम्परा मुक्त शैली में किया है। कवि ने अलाउद्दीन को रावण, कर्ण, भीम तथा दुर्योधन से उपमित किया है—

भयो जुद्ध अति घोर राम रावन रन जुज्झे।
पुनि पारथ अरु करन कोपि कुरषेत अरुज्झे।
लर्‌यो भीम गहि गदा गाजि दुरजोधन मार्‌यो।
पुहुमिराय सों जुद्ध काल चहुआन सँहार्‌यो।
भारथ के पारथ औ भीषम समान ये
हमीर और अलाउद्दीन दोऊ सरसत हैं।

यही नहीं, हमीरदेव तथा अलाउद्दीन का जन्म एक ही ज्योति से माना गया है। काव्य में अलाउद्दीन की वीरता तथा आतंक का यथोचित विन्यास करके उसे नायक के समान ही शक्ति-सम्पन्न दिखाया गया है। इस प्रकार वह सही अर्थों में प्रतिनायक है। प्रतिनायक के वीरत्व-वर्णन से नायक की शक्ति-व्यंजना हुई है।

मर्सिए के सामान्यतः चेहरा, माजरा, सरापा, रुख्सत, रजज़, जंग, शहादत एवं बैन नौ अंग बँधे-बँधाए हैं। इन वर्णनों की विषयवस्तु निश्चित हो जाने से मर्सियों में न घटना-नाविन्य मिलता है, न व्यक्ति-संबंधों के माध्यम से किसी नए मोड़ के दर्शन होते हैं। विवेच्य काल की हिन्दी-रचनाओं में घटना की विविधता तथा पारिवारिक सम्बन्धों के माध्यम से भावनाओं की भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। मर्सियों में पारिवारिक संबंधों का चित्रण है अवश्य, परन्तु सारे संबंध मृत्यु-मंच पर घटित होती हुई घटनाओं के संदर्भ में व्याख्यायित हैं, अतः वहाँ वैविध्याभाव है।

इस प्रकार आलोच्यकालीन हिन्दी तथा उर्दू के युद्ध-काव्यों के परिवेशादि में काफ़ी अन्तर है, फिर भी युद्ध-क्षेत्रगत नायक के शौर्य-चित्रण को कसौटी मानकर दोनों की तुलना की जा सकती है।

युद्धवीर नायक के चरित्र की पूर्ण व्यंजना उसके आतंक की शत्रुओं पर छाप एवं संग्राम-क्षेत्र में उसकी अनवरत युद्ध-संलग्नता द्वारा होती है। इन दोनों व्यापारों को ध्यान में रखकर इस काल के हिन्दी-उर्दू-युद्ध-काव्य की तुलना करना समीचीन होगा।

नायक का आतंक

नायक का आतंक-प्रकाशन सामान्यतया दो तरह से किया जाता है—(१) सारी सृष्टि पर उसका प्रभाव दिखाना (२) शत्रु-पक्ष के भय का वर्णन करना। आलोच्यकाल के हिन्दी तथा उर्दू-काव्य में प्रथम प्रकार के वर्णन एक-से हैं। हिन्दी-रीतिकविता में नायक का आतंक नदी-नद, शैल तथा समुद्र आदि पर प्रदर्शित किया गया है—

साजि चतुरंग-सैन अंग में उमंग धारि
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं।
'भूषन' भनत नाद बिहद नगारन के
नदी नद मद गैबरन के रलत हैं।
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल
गजन की ठैल पैल सैल उसलत हैं।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत है।

हाथियों की ठेल से शैल उखड़ जाते हैं और सेना से उड़ी धूल मे सूर्य तारा-सा टिमटिमाता है। समुद्र ऐसे हिलता है जैसे थाल में रक्खा हुआ पारा। यही नहीं, आदि-कच्छप की कठोर पीठ के भी फूटने और शेषनाग के फणों के कदली-पत्र-सा फट जाने का कथन भी हुआ है—

दलके दरारन तें कमठ करारे फूटे
केरा के से पात बिहराने फन सेस के। —भूषण

रीतिकालीन उर्दू-काव्य में भी इस प्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण उल्लेख हैं। हजरत अब्बास जब रणक्षेत्र में आए तो एक अजब दहशत छा गई। 'अनीस' लिखते हैं कि भय के कारण हवा विदीर्ण हो गई। फलस्वरूप हवा एक तरफ़ थी और गर्द दूसरी तरफ़। इमाम हुसैन के आतंक से सृष्टि के आधार विचलित होते हुए वर्णन किए गए हैं—

नेज़ा ज़मीं प आपने गाड़ा जो यक-बयक।
माही से दब के गावे-ज़मीं ने कहा सरक।
शायद क़यामत आई ज़मीं पर गिरा फ़लक।
बस या हफ़ीज़ कहके लरज़ने लगी समक।

हुसैन ने जमीन पर भाला गाड़ा तो उसकी धमक से आदि-मत्स्य एवं गाय दोनों कलमला उठे। मत्स्य ने गाय से कहा ज़रा उधर सरक। ऐसा प्रतीत हुआ कि

प्रलय होने को है और आसमान ज़मीन पर टूट पड़ा है। 'त्राहिमाम् त्राहिमाम्' कहता हुआ आदिमत्स्य थर-थर काँपने लगा। 'भूषण' ने हिन्दू-पुराख्यान के अनुसार कच्छप तथा शेष को लिया है और 'अनीस' ने इस्लामी संस्कृति के अनुरूप मत्स्य एवं गाय को। प्रतीकों की भिन्नता के बावजूद कथ्य एक ही है।

आतंक-प्रदर्शनार्थ शत्रु-पक्ष के भय-वर्णन की एक रूढ़ि-सी बँध गई है। प्रायः शस्त्रास्त्रों का गिरना तथा वीरों का भागना अंकित कर कवि नायक के वीरत्व की अभिव्यक्ति करता है। समीक्ष्यकालीन उर्दू-शाइरों ने इस तरकीब से बहुत काम लिया है—

टूटे वो मोरचे जो बँधे थे पए-जिदाल।
बर्छी गिरी किसी की ज़मीं पर किसी की ढाल। —अनीस

भागे थे नेज़ाबाज़ लड़ाई को छोड़ के।
ज़ैग़म निकल गए थे तराई को छोड़ के। —अनीस

हिन्दी-कविता में भी ऐसे अभिधात्मक कथनों के अम्बार लगे हुए हैं। अधिकांश वर्णन नीरस हैं, परन्तु कुछ कवियों ने इन परम्परित वर्णनों में चारुता उत्पन्न कर दी है। चन्द्रशेखर वाजपेयी अलाउद्दीन के दल पर वीर हमीर का आतंक दिखाते हैं—

सारे डर मारे राह बसन हथ्यार डारे
बाहन सभारै कौन भरे परेसानी के।
भाजे जात दिल्ली के अलाउद्दीन वारे दल
जैसे मीन जाल तें परत दिसि पानी के।

वीरों ने मारे डर के रास्ते में वस्त्र तथा हथियार फेंक दिए हैं। ऐसी परेशानी में सवारियों को कौन सँभाले ? अलाउद्दीन के वीर इस तरह भागे जा रहे हैं, जैसे जाल से छूटी हुई मछलियाँ पानी की ओर भागती हैं। अंतिम चरण के बिम्ब ने हमीर के आतंक को कितनी गम्भीरता दे दी है यह स्पष्ट है।

उपर्युक्त उदाहरण में आतंक-वैशद्य-प्रतिपादन अभिधात्मक है। अब निम्नांकित उद्धरण में गोपन-शैली द्वारा उत्सुकता बढ़ाकर अन्त में व्यंजना से आतंक प्रस्तुत करने का नमूना देखिए—

अहमदनगर के थान किरवान लैकै
नवसेरीखान सों खुमान भिर्‌यो बल तें।
प्यादन सों प्यादे पखरैत पखरैत जुरे
बकतरवारे बकतरवारे हल तें।

'भूषन' भनत एते मान घमसान भयौ
जान्यौ न परत कौन आयौ कौन दल तें।
समवेष ताके तहाँ सरजा सिवा के बाँके
बीर जाने हाँके देत मीर जाने चलतें।

इस छन्द में विशेषता यह है कि प्रथम छह पंक्तियों तक दोनों दलों की घमासान लड़ाई का वर्णन करते हुए कवि उन्हें समान बल-वीरत्ववाला बताता है। दोनों एक वेष के हैं, अतः कौन किस दल का है यह कैसे जाना जाय? परन्तु अंतिम चरण में कवि कहता है कि दोनों दलों का पता सिर्फ़ इस बात से चलता था कि जो बाँके वीर गर्जन कर रहे थे वे शिवाजी के थे और जो चल रहे थे (विचलित थे या भाग रहे थे) वे अलाउद्दीन के वीर थे।

आलोच्य हिन्दी-काव्य में नायक की धाक, त्रास और दबदबे का वर्णन अनेक प्रकार से हुआ है। इन वर्णनों में 'भूषण' की कविता सर्वोत्कृष्ट है। 'भूषण' ने शिवाजी की धाक पाँच शैलियों द्वारा अभिव्यक्त की है—

(१) घण्टा तथा नगाड़ों के शब्द

'भूषण' शिवाजी के हाथियों के घन्टों की ध्वनि सुनकर बड़े-बड़े राजाओं को भागता दिखाते हैं, कभी उनके नगाड़ों की आवाज़ से गज-दल में भगदड़ पड़ जाने का उल्लेख करते हैं। कभी उनके धौंसे की धुकार से बादशाहों के चौंकने, बिलाने, बिलखाने, काँपने, कभी उनकी छाती फटने और कभी शत्रु-नगरों में अश्रु-सरित् प्रवाहित होने का वर्णन हुआ है—

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के
नाहीं ठहराने राव-राने देस देस के।
नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि
बाजत निसाने सिवराज जू नरेश के।
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के
भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के।
दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे
केरा के से पात बिहराने फन सेस के। —भूषण
रावरे नगारे सुनि वैरवारे नगरनि
नैनवारे-नदन निवारे चाहियतु है। —भूषण

(२) शत्रुदल की स्त्रियों की दयनीय दशा

'भूषण' ने शत्रु-पत्नियों को बेतहाशा दौड़ते हुए चित्रित किया है। उनके मुखकमल कुम्हला गए हैं। बाल बिथुरे हुए हैं। महलों के प्राचीर फाँदती हुई

प्रलय होने को है और आसमान ज़मीन पर टूट पड़ा है। 'त्राहिमाम् त्राहिमाम्' कहता हुआ आदिमत्स्य थर-थर काँपने लगा। 'भूषण' ने हिन्दू-पुराख्यान के अनुसार कच्छप तथा शेष को लिया है और 'अनीस' ने इस्लामी संस्कृति के अनुरूप मत्स्य एवं गाय को। प्रतीकों की भिन्नता के बावजूद कथ्य एक ही है।

आतंक-प्रदर्शनार्थ शत्रु-पक्ष के भय-वर्णन की एक रूढ़ि-सी बँध गई है। प्रायः शस्त्रास्त्रों का गिरना तथा वीरों का भागना अंकित कर कवि नायक के वीरत्व की अभिव्यक्ति करता है। समीक्ष्यकालीन उर्दू-शाइरों ने इस तरकीब से बहुत काम लिया है—

टूटे वो मोरचे जो बँधे थे पए-जिदाल।
बर्छी गिरी किसी की ज़मीं पर किसी की ढाल। —अनीस

भागे थे नेज़ाबाज लड़ाई को छोड़ के।
ज़ैग़म निकल गए थे तराई को छोड़ के। —अनीस

हिन्दी-कविता में भी ऐसे अभिधात्मक कथनों के अम्बार लगे हुए हैं। अधिकांश वर्णन नीरस हैं, परन्तु कुछ कवियों ने इन परम्परित वर्णनों में चारुता उत्पन्न कर दी है। चन्द्रशेखर वाजपेयी अलाउद्दीन के दल पर वीर हमीर का आतंक दिखाते हैं—

सारे डर मारे राह बसन हथ्यार डारे
बाहन सभारै कौन भरे परेसानी के।
भाजे जात दिल्ली के अलाउद्दीन वारे दल
जैसे मीन जाल तें परत दिसि पानी के।

वीरों ने मारे डर के रास्ते में वस्त्र तथा हथियार फेंक दिए हैं। ऐसी परेशानी में सवारियों को कौन सँभाले? अलाउद्दीन के वीर इस तरह भागे जा रहे हैं, जैसे जाल से छूटी हुई मछलियाँ पानी की ओर भागती हैं। अंतिम चरण के बिम्ब ने हमीर के आतंक को कितनी गम्भीरता दे दी है यह स्पष्ट है।

उपर्युक्त उदाहरण में आतंक-वैशद्य-प्रतिपादन अभिधात्मक है। अब निम्नांकित उद्धरण में गोपन-शैली द्वारा उत्सुकता बढ़ाकर अन्त में व्यंजना से आतंक प्रस्तुत करने का नमूना देखिए—

अहमदनगर के थान किरवान लैकै
नवसेरीखान सों खुमान भिर्‌यो बल तें।
प्यादन सों प्यादे पखरैत पखरैत जुरे
बकतरवारे बकतरवारे हल तें।

'भूषन' भनत एते मान घमसान भयौ
जान्यौ न परत कौन आयौ कौन दल तें ।
समवेष ताके तहाँ सरजा सिवा के बाँके
बीर जाने हाँके देत मीर जाने चलतें ।

इस छन्द में विशेषता यह है कि प्रथम छह पंक्तियों तक दोनों दलों की घमासान लड़ाई का वर्णन करते हुए कवि उन्हें समान बल-वीरत्ववाला बताता है । दोनों एक वेष के हैं, अतः कौन किस दल का है यह कैसे जाना जाय ? परन्तु अंतिम चरण में कवि कहता है कि दोनों दलों का पता सिर्फ़ इस बात से चलता था कि जो बाँके वीर गर्जन कर रहे थे वे शिवाजी के थे और जो चल रहे थे (विचलित थे या भाग रहे थे) वे अलाउद्दीन के वीर थे ।

आलोच्य हिन्दी-काव्य में नायक की धाक, त्रास और दबदबे का वर्णन अनेक प्रकार से हुआ है । इन वर्णनों में 'भूषण' की कविता सर्वोत्कृष्ट है । 'भूषण' ने शिवाजी की धाक पाँच शैलियों द्वारा अभिव्यक्त की है—

(१) घण्टा तथा नगाड़ों के शब्द

'भूषण' शिवाजी के हाथियों के घन्टों की ध्वनि सुनकर बड़े-बड़े राजाओं को भागता दिखाते हैं, कभी उनके नगाड़ों की आवाज़ से गज-दल में भगदड़ पड़ जाने का उल्लेख करते हैं । कभी उनके धौंसे की धुकार से बादशाहों के चौंकने, बिलाने, बिलखाने, काँपने, कभी उनकी छाती फटने और कभी शत्रु-नगरों में अश्रु-सरित् प्रवाहित होने का वर्णन हुआ है—

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के
नाहीं ठहराने राव-राने देस देस के ।
नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि
बाजत निसाने सिवराज जू नरेश के ।
हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के
भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के ।
दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे
केरा के से पात बिहराने फन सेस के । —भूषण

रावरे नगारे सुनि वैरवारे नगरनि
नैनवारे-नदन निवारे चाहियतु है । —भूषण

(२) शत्रुदल की स्त्रियों की दयनीय दशा

'भूषण' ने शत्रु-पत्नियों को बेतहाशा दौड़ते हुए चित्रित किया है । उनके मुखकमल कुम्हला गए हैं । बाल बिथुरे हुए हैं । महलों के प्राचीर फाँदती हुई

बेगमें अपने पायजामे तथा रानियाँ अपनी नीवी पकड़े भाग रही हैं—

आगरे-अगारन की नाँघती पगारन
सँभारती न बारन बदन कुम्हलानियाँ।
कीबी कहैं कहा औ ग़रीबी गहे भागी जाहिं
बीबी गहे सूथनी सुनीवी गहे रानियाँ।

वे बेगमें जो ऊँचे-ऊँचे महलों में रहती थीं, अब गुफाओं में निवास करने लगी हैं। जो सुन्दर स्वादिष्ट क़ंद खाती थीं, अब जंगली जड़ों को खा-खाकर पेट भरती हैं। जो तीन बार खाती थीं उन्हें अब केवल तीन बेर (फल) खाने को मिलते हैं। जो इतने आभूषण पहनती थीं कि उनके अंग शिथिल रहते थे वे अब भूख के कारण शिथिलांग हो रही हैं। जिन पर पंखे झले जाते थे वे निर्जनों में मारी-मारी फिर रही हैं। जिनका शरीर नगीनों से जड़ा रहता था वे अब नग्न हैं और जाड़े में ठिठुर रही हैं। उनकी पूर्वावस्था के साथ विपरीत वर्तमानावस्था दिखाकर शिवाजी के भय का अनेक छंदों में अंकन हुआ है। कहीं-कहीं विपन्नता के फलक पर उनकी मासूमियत का चित्र उरेह कर कवि ने करुणा के मिश्रण से उस भय को और गहरा बनाया है—

सोंधे को अधार किसमिस जिनको अहार
चार अंक लंक मुख चंद के समानी हैं।
ऐसी अरि नारि सिवराज वीर तेरे त्रास
पायन मैं छाले परे काय कुम्हलानी हैं।
ग्रीषम की तपती की विपती न कान सुनी
कंज की कली सी बिनु पानी मुरझानी हैं।
तोरि कै छरा सों अच्छरा-सी यों निचोरि कहैं।
तुमने कहे ते कंत मुकतों में पानी हैं। —भूषण

अप्सरा-सी उन सुंदरियों को पानी नहीं मिल रहा है। बेचारियों ने अपने पतियों के मुख से मोतियों को 'आबदार' सुना था। अतएव अपने मोतियों-जड़े इज़ारबंद बारम्बार निचोड़कर कहती हैं कि "आपने तो कहा था, कि मोतियों में आब होता है, किन्तु इनमें तो एक बूंद भी नहीं निकलता।"

(३) शत्रु-पक्ष में शून्यता या असंगत विनियोग

कवि ने शत्रु के फ़ीलखाने में छाये भय, पलँगखाने में रेंग रहे कीड़ों, वज़ीर-खाने में व्याप्त आफ़त, मोदखाने के फ़ाक़ों, द्रव्यशाला की दरिद्रता, मालखाने में उड़ रही ख़ाक, खसखाने में ख़बीस, बारूदख़ाने की सरदी, सैनिक-निवासों की

मौसमी बीमारी, अंतःपुर के शूकर-विहार, घोड़ाख़ाने के घुग्घुओं, किताब-ख़ाने और दीवानख़ाने में लगी दीमक तथा तोपख़ाने में छाए मौन आदि के द्वारा ख़ाने-ख़ाने में विराज रही आपत्ति को ध्वनित किया है। उनके घरों के ताक़ों में उल्लू बैठे हैं, अटारियों में मन्दार उग आया है। उनके सुन्दर आँगनों में बाघ घूम रहे हैं। घर के भीतर भुजंग और भूत फैले हैं। ड्योढ़ी पर प्रेतों के पुंज प्रवेश करते ही निगल लेते हैं। उनकी चित्रसारियों में चुड़ैलें चौंकतीं फिरती हैं और आमख़ासों में राक्षस अट्टहास कर रहे हैं—

हैबत ही फीलखाने पिलुआ पलंगखाने
आफ़त वज़ीरखाने फाका मोदखाने में।
हुँगवा हरमखाने दारिद दरवखाने
खाक मालखाने औ खवीस खसखाने में।
सरदी बरूदखाने फसली सिपाहखाने
घुर्रा बाजखाने और सुस्ती जंगखाने में।
'भूषन' किताब खाने दीमक दिवान खाने
खाने खाने आफ़त नाऽवाज तोपखाने में। —भूषण
चारु चित्रसारिन मैं चौंकत चुरैल फिरैं
खासे आमखासन में राकस हँसत हैं। —भूषण

(४) शत्रुपक्षीय वीरों के नम्र निवेदन

इस निवेदन में 'भूषण' ने दो तरह से त्रास-व्यंजना की है। एक ढंग तो यह है कि शिवाजी का मुक़ाबला तभी किया जा सकता है, जब प्रतिद्वन्द्वी को अनेक जयदायक उपकरण सुलभ हों—

लोमस की ऐसी आउ होइ कौन हू उपाउ
तापर कवच जौ करन वारो धरियै।
तापर जौ हूजियै सहसबाहु तापर
सहस-गुन साहस जौ भीमहुँ तें करियै।
'भूषन' कहै यौं अवरंगजू सों उमराउ
नाहक कहौ तौ जाय दच्छिन में मरियै।
चलै न कछू इलाज न जियत वे ही काज
ऐसी होइ साज तौ सिवा सों जाय लरियै।

उमराव औरंगज़ेब से कहता है "यदि हुज़ूर नाहक़ ही कहते हैं तो दक्षिण में जाकर मरेंगे, क्योंकि शिवाजी से तभी लड़ा जा सकता है जब लोमष ऋषि की आयु मिल जाय, कर्ण का कवच प्राप्त हो जाय। उस पर भी लड़ने वाला सहस्र

भुजाएँ रखता हो (अथवा सहस्रबाहु-सा वीर हो) और उसमें भीम से भी सौगुना साहस हो।'' इस छंद में कवि ने शत्रु पक्षीय वीर की कायरता को, छिपाने के बहाने किस तरह उजागर कर दिया है, यह द्रष्टव्य है। पूरे कबित्त में शिवाजी के भय की स्पष्ट व्यंजना है।

'भूषण' ने इसी भय की व्यंजना एक अन्य कबित्त में इतरथा की है, जिससे उनके काव्य-शिल्प का अद्भुत चमत्कार प्रकट होता है। कवि औरंगज़ेब के वज़ीर की वीरता के प्रकाश में शिवाजी के विराट् व्यक्तित्व की झलक इस कौशल से देता है—

पूरब के उत्तर के प्रबल पछाँह हू के
सब पातसाहन के गढ कोट हरते।
'भूषन' कहै यौं अवरंग सों उजीर, जीति
लेवै कौं पुरतगाल सागर उतरते।
सरजा सिवा पर पठावत मुहीम काज
हजरत हम मरिबे को नाहिं डरते।
चाकर ह्वै उजर कियौ न जाइ नेक, पै
कछू दिन उबरते तौ घने काम करते।

वज़ीर कहता है—''आप हमें शिवाजी पर आक्रमण करने के लिए भेज रहे हैं, ठीक है। हज़रत हम मृत्यु से नहीं डरते। आपके किंकर हैं, अतः आपके आदेश में हम आपत्ति नहीं उठा सकते। लेकिन अगर चंदरोज़ की मुहलत मिल जाती तो बहुत बड़े-बड़े काम कर दिखाते—पूरब के, उत्तर के तथा पश्चिम के प्रबल बादशाहों के क़िलों को छीन लेते और पुर्तगाल को जीत लेने के लिए समुद्र को भी पार कर जाते।'' कवि वज़ीर की वीरता, वफ़ादारी एवं आज्ञाकारिता के माध्यम से शिवाजी के आतंक को कैसी सफलता से व्यक्त कर रहा है! वज़ीर को मृत्यु-भय नहीं है, लेकिन उसी से यह व्यंजना भी है कि उसकी मृत्यु निश्चित है और वज़ीर की वीरता से वस्तुतः शिवाजी की वीरता प्रकाशित होती है।

(५) मारे गये शत्रुओं का चित्रण

मृत शत्रुओं के माध्यम से शिवाजी के त्रास का वर्णन 'भूषण' ने जिस प्रावण्य एवं चातुर्य से किया है, वैसा वर्णन किसी हिन्दी-कवि ने नहीं किया। शिवाजी ने सलहेरि के भयंकर समर में भी विजय प्राप्त की। उस विजय का प्रभाव कवि शिवाजी के आतंक को छह गुना बनाकर प्रस्तुत करता है—

जीत्यो सिवराज सहलेरि को समर सुनि
नर काह सुरन के सीने धरकत हैं।

देवलोक हूँ मैं अजौं मुगल पठानन के
सरजा के सूरन के खग्ग-खरकत हैं।
'भूषन' भनत भारी भूतन के भौनन में
टाँगी चंदावतन की लोथैं लरकत हैं।
कोऊ ना लपेटे अधफारे रन लेटे अजौं
रुधिर लपेटे पठनेटे फरकत हैं।

शिवाजी ने सलहेरि का युद्ध जीत लिया इसे सुनकर मनुष्य क्या देवताओं के भी सीने धड़क रहे हैं। देवता क्यों डर रहे हैं? शायद इसलिए कि कहीं शिवाजी देवलोक पर भी आक्रमण न कर दें। लेकिन इससे भी सुन्दर व्यंजना यह है कि जो मुग़ल-पठान वीरगति को प्राप्त हुए हैं, वे देवलोक में हैं। उनके हृदय में शिवा जी के शूरों के खड्ग आज भी खरक रहे हैं। अतएव यह विजय सुनकर उनकी छाती धड़क उठी है। भूतों के घरों में टँगी हुई चंदावत राजपूतों की भारी-भारी लोथें लरक रही हैं। भारी-भारी लोथों से व्यंजना है कि राजपूत वीर मामूली नहीं थे, बड़े हृष्ट-पुष्ट तथा विशाल शरीर वाले थे। उनके मन में शिवाजी के वीरों की ऐसी दहशत घुस गई है कि मरने के बाद उनकी लोथ तक थरथरा रही है। रणभूमि में जो पठान युवक अधफाड़े लेटे हैं उन्हें किसी ने कफ़न तक नहीं दिया। शिवाजी के आतंक की व्यंजना है कि किसी की हिम्मत नहीं पड़ी जो उन्हें कफ़न में लपेटता। यदि सभंग-पद श्लेष माना जाय तो वे नाल-पेटे हैं, क्योंकि पेट अधफटा होने से नाल की आकृति का हो गया है। वे रुधिर-प्रदिग्ध पठनेटे अब भी फड़क रहे हैं। फड़कने में उनकी घबड़ाहट की व्यंजना है। इस छंद में शिवाजी का आतंक मर्त्यलोक, स्वर्गलोक तथा प्रेतलोक में बताने के साथ ही नर, वीरगति-प्राप्त स्वर्गस्थ शत्रुओं, शत्रुओं के शवों, जीवित शत्रुओं और क्षत-विक्षत शत्रुओं पर भी दिखाया गया है

संदिष्ट उदाहरणों से सिद्ध होता है कि शत्रु-पक्ष में छाए भय, निराशा, पस्ती एवं आतंक के विविध वर्णन जिस दक्षता से 'भूषण' ने किए हैं, वैसे वर्णन परत्र दुर्लभ हैं।

लड़ाई

आतंक का परोक्ष-युयुत्सु जब प्रत्यक्ष होता है तो युद्ध की भूमिका प्रस्तुत होती है। युद्ध-क्षेत्र में सेनाओं की घमासान लड़ाई का वर्णन उर्दू-शाइरी में नहीं मिलता। मर्सियों में इमाम हुसैन के परिवार में गिनती के बाईस प्राणी थे और यज़ीद की सेना हज़ारों की संख्या में थी। ऐसी स्थिति में शाइरों को सैन्य-मुठ-भेड़-वर्णन करने के लिए स्थान ही नहीं था। हिन्दी-कवियों ने अपने-अपने काव्यों

में सेनाओं की भिड़न्त का पर्याप्त वर्णन किया है, परन्तु इन वर्णनों में अधिकांश पिष्ट-पेषित तथा निर्जीव हैं। 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में 'पदमाकर' लिखते हैं—

तहँ ढुक्का-ढुक्की मुक्का-मुक्की डुक्का डुक्की होन लगी।
रन इक्का-इक्की झिक्का-झिक्की फिक्का-फिक्की होन लगी।
हत्थिन सों हत्थी मत्था-मत्थी रारि अकत्थी करन लगे।

दूसरी तरह के वर्णन वे हैं, जिनमें कवि वस्तु-वर्णन के स्थान पर अलंकार-योजना के चक्कर में पड़ जाता है। 'सुजान चरित्र' में 'सूदन' ने युद्ध को लेकर वर्षा, सरोवर, उद्यान, मेघ, सरिता आदि अनेक रूपक बाँधे हैं। प्रस्तुत भाव या वस्तु को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए उपमा या उत्प्रेक्षा अत्यंत उपकारी होती है, उदाहरणार्थ युद्ध में चल रही गोलियों का यह वर्णन कि 'गोली भौंर-सी भननात' गोली के रूप-नाद-साम्य के कारण अत्यंत प्रभावशाली है, लेकिन जब कवि सायास आगे बढ़कर वर्णन को ऋतुराज में परिवर्तित करता है तो प्रस्तुत तिरोहित हो जाता है—

गोली भौंर सी भननात।
पिक ज्यों गोल कुहकत जात।
घूँवा ज्यों पराग उड़ात।
गंधक गंध सौरभ गात।
टुट्टत तरवरन की डार।
सोई होत है पतझार।
देखैं ए उदीपन साज।
गढ़ ज्यौं सदन है रितुराज।

'सूदन' के युद्ध-अंकन या तो इस रूपक-दोष के कारण निष्प्राण हो गए हैं या कोरे वस्तु-वर्णन ने उन्हें उपहासास्पद बना दिया है, जैसे—

रबक्कि रबक्कि इतै रु उतै धकपेल।
बबक्कि बबक्कि भये घमसेल।
हबक्कि हबक्कि चलाइय साँग।
जबक्किय बीर बियैं दुहूँ आँग।

यहाँ तो छंद की गति ही वीररस विरोधिनी है, परन्तु जहाँ छन्द का चुनाव ठीक भी है, वहाँ कवि की भाषा और भावों का यह हाल है—

अर ररंरं अर ररंरं। सर ररंरं सर ररंरं
धर ररंरं धर ररंरं। ढर ररंरं ढर ररंरं

खर रर्रं खर रर्रं। फर रर्रं फर रर्रं
कड़ डड्डड़ं कड़ डड्डड़ं। सड़डड्ड़ं सड़डड्डड़ं

लेकिन चन्द्रशेखर वाजपेयी ने युद्ध की भयानकता को उपमा, उत्प्रेक्षा एवं सन्देहालंकार के सहारे बड़े कौशल से छंद-बद्ध किया है—

मार परी दुहूँ ओर विषम विरुद्द घोर
ठौर ठौर गोली बान गोला बरसत हैं।
जैसे प्रलै काल मैं फनी के फनामंडल तें
फैले फूतकारनि फुलिगैं सरसत हैं।
बरसैं अँगारे कैंधौं टूटैं आसमान तारे
कोठिन कतारे केतुवारे दरसत हैं।
तोपैं औनि अम्बर कों कठिन कराल मानौं
रुद्र नैन ज्वालन के जाल भरसत हैं।

कवि ने बाण और गोली लगने से गिरते हुए योद्धाओं का विवरण इन शब्दों में दिया है—

लगें बान गोली गिरैं सूर ऐसें।
गिरह खात पंछी गिरह बाज जैसें।

कवि द्वारा विनियुक्त इस उपमा में वीरों का चक्कर खाना, पृथ्वी पर लोटना तथा तड़फड़ाना आदि सभी चेष्टाएँ विवृत हो जाती हैं। कवि 'भूषण' ने भी एक कबित्त में चोट खाकर धराशायी हुए शत्रुओं पर तलवार के खटाकों को भी चित्रित कर दिया है—

एक कहैं मारु मारु सम्हारु सम्हारु एकै
म्लेच्छ गिरे मार बीच बेसुमार तन के।
कुंडन के ऊपर कराके उठैं ठौर ठौर
जिरह के ऊपर खराके खरगन के।

आलोच्यकाल के हिन्दी-कवियों ने हाथी-घोड़ों के सजने का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। सैनिक प्रायः अस्त्र-शस्त्र कसे मूँछों पर ताव देते हुए अंकित किए गए हैं—

गुरदा बगुरदा छुरी जमधर दम तमंचे कटि कसे।
बर विविध तीरन सों भरे तहँ द्वै तुनीर महा लसे।
फिरि द्वै कमानैं बाँधि करि किरवान करि कर में लई।
बहु विधि बँदूखनि के जु वृंदन की अमित आभा भई।

—पदमाकर

देत डंके चढ़े ह्वै निसके बढ़े, सबै आयुध मढे तेह तत्ते।
मुच्छ पर हत्थ तन सुच्छ अंबर धरे तुच्छ नहिं बीर रसरंग रत्ते।

—सूदन

उर्दू-शाइर 'अनीस' ने क़तार ब क़तार तथा क़दम से क़दम मिलाकर चल रहे सैनिकों का चित्र प्रस्तुत किया है। समीक्ष्यकाल की हिन्दी-कविता में सैनिकों की उमंग एवं उपर्युल्लिखित व्यापारों के चित्रण तो हैं, परन्तु कवियों ने युद्ध के लिए तैयारी करते हुए सैनिकों के अन्य व्यापारों पर दृष्टि नहीं डाली है। 'अनीस' ने वीरत्व-ओज से देदीप्यमान-मुख सैनिकों के वर्म्म ठीक करने, धनुष्कोटि से प्रत्यंचा जोड़ने, भाला सँभालने तथा तेग़ का क़ब्ज़ा चूमने का तो वर्णन किया ही है, इसके अालावा उन्होंने एक ऐसे व्यापार को भी देखा है, जो उनके सूक्ष्म निरीक्षण का प्रमाण है—

रुख़ है किसी का जोशे-शुजाअत से लाला रंग।
कोई सँवारता है बदन पर सिलाहे-जंग।
झुक-झुक के चुस्त करता है कोई फ़रस का तंग।
चिल्ले से जोड़ता है कोई फ़ाक़ाकश ख़दंग।

'झुक झुक के चुस्त करता है कोई फ़रस का तंग' अत्यन्त सामान्य किन्तु एक अनिवार्य व्यापार है। युयुत्सुओं के घोड़े सेवकों द्वारा चाहे जैसे उपस्कृत कर दिए जायँ, लेकिन चढ़ने से पहले सवार तंग को अपने हाथ से कसेगा ज़रूर। तंग कसते समय झुकना स्वाभाविक है। रीतिकालीन समाज में कवियों के लिए घुड़-सवारी एक आम बात थी, परन्तु न मालूम क्यों हिन्दी-कवियों ने इस व्यापार का वर्णन नहीं किया!

घोड़ा

इस उपक्रम के पश्चात् संग्राम प्रारम्भ होता है। युद्ध-क्षेत्र में नायक की वीरताभिव्यक्ति के साधन घोड़े तथा तलवार हैं। हिन्दी-रीतिकाव्य में घोड़े के इस रूप से सम्बद्ध वर्णन अत्यल्प हैं। यों कवि जब घोड़ों के विषय में बताना शुरू करता तो सुनने वाले को थका देता है, परन्तु उस वर्णन में घोड़ों की प्रकार-सूची मात्र रहती है। रीतिकालीन हिन्दी-कवियों में 'सूदन' ऐसे वर्णनों में सर्वोपरि है। 'सुजान चरित्र' में कवि न केवल घोड़ों एवं शस्त्रों की, अपितु पशु-पक्षियों, फलों, मिष्ठान्नों, एवं अनाजों आदि की भी क़िस्में गिनाने में दत्तचित्त हो गया है। यह प्रवृत्ति-परम्परा 'पदमाकर' में भी मिलती है। 'पदमाकर' ने 'प्रतापसिंह विरुदावली' में अरबी, ईराक़ी, ईरानी, तूरानी, इस्फ़ानी, शीराज़ी, कंधारी, विलायती (जो सूर्य के रथ के घोड़ों से भी तेज़ हैं), बुख़ारी, रूमानी, ख़ुरासानी, तुरकी, जंगली

(जांगल देश के), सिंधी, भीमरा, दरियारी, उत्तरी, भूटानी, मोरगी आदि देशगत तथा सिरगा, सुरंग, सुरखा, संदली, संजाबी, नुकरन सुख्खकरन, गुर्रा, अबलख, चौधर, बिल्लौरी, कुमैत, मुस्की, सबजी कपतपिलंग, पंचकल्यान, चंपाहय, करहरिया आदि वर्णगत-प्रकारों की अच्छी-खासी फ़िहरिस्त दी है। जोधराज के 'हम्मीर रासो' में इन घोड़ों के अलावा कुम्मैत, कुमुद, मोती, मगसी, चीनी, गरडा, हंसा, तीतरी एवं ताँबी आदि का उल्लेख है, और 'ग्वाल' ने भी "चलीं कोतलों की कतारै घनी हैं"[२] कहकर वैसी ही एक लिस्ट 'हमीर हठ' काव्य में प्रस्तुत की है।

यह प्रवृत्ति प्रशस्ति-काव्य में इतनी बुरी नहीं लगती जितनी कि युद्ध-काव्य में। युद्ध काव्य में ऐसे वर्णन कार्य की गति रोककर आलंबन को हमारे आगे से अदृश्य कर देते हैं। दुःख है कि आलोच्यकालीन हिन्दी-काव्य में नायक के घोड़े पर कवियों ने दृष्टि नहीं रक्खी। समीक्ष्यकाल की उर्दू-शाइरी में मर्सिया-लेखकों ने घोड़े के चित्रण में कमाल की कला प्रदर्शित की है। 'अनीस' इस मैदान में अपना जवाब नहीं रखते। उर्दू-शाइर घोड़े की साज-सज्जा, उसके अंगों की मनोहारिता आदि का वर्णन युद्ध के संदर्भ में ही करता है। घोड़े का मैदाने-जंग में आना हो ऐसा है कि दृष्टि उससे हटाए नहीं हटती। वह थम-थमकर इस अदा से आता है मानो दुल्हन आ रही हो या जैसे रह-रहकर किसी उद्यान से सुगंध आ रही हो। वह सिमटकर इस तरह अपना शरीर साधे हुए हैं, मानो हिरन की तस्वीर हो और उसके आते समय ऐसी दीप्ति फैल रही है जैसे शमा अंजुमन की ओर लाई जा रही हो।

इसके पश्चात् शाइर उसकी रकाब, नाल तथा उसके सुघड़ अंगांगों का चित्रण करता है। उसकी कोताह कनौती, गोल कमर, साफ़ पुट्ठे और चौड़े सीनाओ-बग़ल इस बात के उद्घोषक हैं कि यह घोड़ा ऐसा है जो "पामाल कर दे शेरों को टापों से मार के।"

लेकिन उसकी चाल की शाइस्तगी को सवार ही जानता है। एक तरफ़ तो ऐसा खूँख्वार कि शेर का शिकार कर डाले, दूसरी तरफ़ ऐसा सभ्य तथा संस्कृत कि एक बच्चा भी बिना लगाम सवारी कर ले। यही नहीं—

रख दे क़दम तो रंग न मैला हो फूल का —अनीस

घोड़े के अंगों की शोभा युद्ध-निरत-दशा में भी अंकित की गई है। घोड़ा जब अपनी टाप ज़मीन पर गिराता है तो उसके नालों की प्रभा पृथ्वी पर फैल जाती है और जब ऊपर उठाता है तो उनकी कीलें नक्षत्रों की तरह चमक उठती हैं—

वो उनके अश्हवों की रवा-रौ इधर-उधर।
काबे में पिस के मरे गए सौ-सौ इधर-उधर।
ताबिंदा थे जो आठ महे-नौ इधर-उधर।
फैली हुई ज़मीन पर थी ज़ौ इधर-उधर।

कीलों से आश्कार थे जल्वे नुजूम के।
परियाँ थी दो कि फिर रही थीं झूम-झूम के। —अनीस

समरांगण-मध्य घोड़े का एक वृत्त में आवर्तन, संकोचन, उसका सीने से थूथनी जोड़कर शरीर मोड़ना तथा स्फूर्ति से भरकर दुम को चँवर बनाना आदि चेष्टाएँ शाइर ने शब्दों में उतार कर रख दी हैं।

घोड़े के आंतरिक उद्वेगों की अभिव्यक्ति उसके आंगिक विकारों या आंगिक चेष्टाओं से होती है। आलोच्यकाल की उर्दू-शाइरी में उसकी क्रोधाविष्ट आँखों के परिवर्तन, उसके झूम-झूम कर चुनौती देते हुए-से चलने एवं थमकर कनौतियाँ बदलने को विशेषता के साथ प्रस्तुत किया गया है—

गुस्से में अँखड़ियों के बदलने को देखिए।
बन-बन के झूम-झूम के चलने को देखिए।
साँचे में जोड़ बंद के ढलने को देखिए।
थमकर कनौतियों के बदलने को देखिए। —अनीस

रण-क्षेत्र में प्रदर्शित उसके औसाफ़ देखकर दंग रह जाना पड़ता है। चाल ऐसी तेज़ मानो बिजली हो "बिजली सा हर जगह फ़रसे-तेज़ गाम था।" उसमें हिरन की तेज़ी, शेर की झपट तथा परी की गति है। चकोर और मयूर उसकी गति देखकर लज्जित हैं। जो क़दम के तले आ गया वह मिट्टी में मिल गया। उसकी गति में वह छलबल है कि उसके आगे छलावा झख मारता है—

जो आ गया क़दम के तले गर्द-बर्द था।
छलबल ग़ज़ब की थी कि छलावा भी गर्द था। —अनीस

और उसकी संवेदनशीलता? कुछ न पूछिए। पारे-सा शाश्वत बेचैन, अनुक्षण इधर से उधर फिरने वाला, जैसे कोई मशीन घूम रही हो। ऐसा नाज़ुक-मिज़ाज कि सवार की साँस को कशाघात समझकर कोसों भाग जाय—

राकिब ने साँस ली कि वो कोसों रवाना था।
तारे-नफ़स भी उसके लिए ताज़ियाना था। —अनीस

ऐसा संवेदनशील कि यदि हवा से भी बाग हिल जाय तो उड़ने लगे, लेकिन इंगिताकार-भेदी और आज्ञाकारी ऐसा कि सवार की पुतली फिरते ही मुड़ जाता है—

गर हिल गई हवा से ज़रा बाग उड़ गया।
पुतली सवार की न फिरी थी कि मुड़ गया। —अनीस

हिन्दी-रीतिकवियों के वर्णन प्रायः परम्परीण एवं रूढ़ हैं। इन वर्णनों में

सजीवता नहीं है। चन्द्रशेखर वाजपेयी कृत 'हमीर हठ' में अश्व-संबंधी एक छन्द अवश्य दर्शनीय है—

चंचल चलाँके वेगवंत वर बाँके बंक
ताकैं आसमान जो कसत करि तंग के।
सोहत असीले हेम हीरनि सजीले
गरबीले गुन आगर सजीले अंग अंग के।
माखैं मन समर सपूती अभिलाखैं लाल
आँखैं करि लखत उमंग अंग जंग के।
ताजी तेज लच्छी पौन पच्छी से उड़ात सजे
कच्छी पातसाह के सुलच्छी रंग रंग के।

इस कबित्त के प्रथम भाग में घोड़ों की स्पन्दनशीलता तथा नाजुक मिज़ाजी, द्वितीय भाग में उनकी साज-सज्जा, तीसरे में उनके अंतस्थ भावावेगों की अभिव्यक्ति-सूचक चंचलता, उमंग तथा सुडौल अंगों का वर्णन है। एक कबित्त 'पदमाकर' का भी पठनीय है—

मौजी मानसिंहावत रीझत जगतसिंह
बकसे तुरंग तुंग वै उठत अक्का से।
कहै 'पदमाकर' सुपुट्ठन पनारी परी
कमर के कोता पिट्ठ पिट्ठत पलक्का से।
बाँके समसेर से सुमेर से उतंग सूम
स्यारन पै सेर टुनहाइन के टुक्का से।
हुलक हुलक्का से सुतुक्का से तरारनि में
ललित ललाम जे लगाम लेत लक्का से।

ये घोड़े उमंग में उल्का से हैं और लगाम लेते ही लक्का कबूतर बन जाते हैं, अर्थात् लक्का कतूबर-सी गिरह काटने लगते हैं। इन दो-एक वर्णनों के अतिरिक्त हिन्दी-कविता में घोड़े के वर्णन नगण्य ही हैं। इस मैदान में उर्दू-शाइरों ने जो दौड़ लगाई है, वहाँ तक हिन्दी-कवियों की पहुँच नहीं हो सकी।

तलवार

तलवार के वर्णन भी रीतिकालीन उर्दू-कविता में बड़े विस्तृत और योजनाबद्ध ढंग से हुए हैं। उसका म्यान से निकलना, चमकना, गति, काट आदि के इतने विवरण पेश किए गए हैं कि पाठक अपने अन्तःपट पर तलवार का चलचित्र स्पष्टता से देख सकता है। उसके म्यान छोड़कर बाहर आने को शाइर ने मालो-

पमा द्वारा प्रस्तुत किया है। अग्नि-प्रकृति वाली वह तलवार कोश से इस तरह पृथक् हुई जैसे सुंदरी नायिका प्रेमांक से पृथक् होती है, जैसे चन्द्रमा से किरण और फूल से गंध अलग होती है—

काठी से इस तरह हुई वो शोला-ख़ू जुदा।
जैसे कनारे-शौक़ से हो ख़ूबरू जुदा।
महताब से शुआअ् जुदा गुल से बू जुदा।
सीने से दम जुदा रगे-जाँ से लहू जुदा। —अनीस

तलवार की चमक, उसकी धार की कौंध तथा सूर्य-प्रकाश में विकीर्ण होती हुई उसकी ज्योति आदि को शाइरों ने वैभवपूर्ण अप्रस्तुतों से स्पष्ट करने का प्रकृष्ट प्रयास किया है—

धार ऐसी कि रवाँ होता है धारा जैसे
घाट वो घाट कि दरया का कनारा जैसे।
चमक ऐसी कि हसीनों का इशारा जैसे
रौशनी वो कि गिरे टूट के तारा जैसे।
कौंदना बर्क़ का शम्शीर की ज़ौ में देखा।
कभी ऐसा तो न दमख़म महे-नौ में देखा। —अनीस

चमक ऐसी प्राणघातक थी जैसे हसीनों का इशारा। रोशनी ऐसी जैसे उल्का-पात। उसकी ज्योति में बिजली की कौंध के दर्शन होते थे। उसकी चमक में जो शक्ति-सामर्थ्य थी वह द्वितीया के चन्द्र में कहाँ? और यह चमक अखंड थी। चमकी तो बराबर चमकती गई। कभी नीचे तो कभी ऊपर, कभी भीड़ में तो कभी उसके बाहर उसकी चमक सर्वत्र दिखाई पड़ती थी।

उसकी गति के अनेक गत्वर चित्र उर्दू-काव्य में अंकित हुए हैं। सन्-सन् करते हुए उसका शत्रु-शीश पर पहुँचना अथवा हर दल की तरफ़ सन् से जाना आदि क्रियाओं को 'अनीस' ने वैसे ही शब्दों में चित्रित किया है—

इस ग़ोल पर कभी थी कभी उस क़तार पर।
पड़ता था एक तेग़ का साया हज़ार पर। —अनीस

जाती थी हर परे की तरफ़ सन् से बार-बार।
चढ़कर सवार गिरते थे तौसन् से बार-बार। —अनीस

अब उसकी काट पर दृष्टि डालिए। काट का कमाल कई ढंग से दिखाया गया है। पहला और सीधा तरीक़ा तो यह है कि उसने क्या-क्या काटा इसे बता दिया जाय—

कभी चेहरा कभी शाना कभी पैकर काटा।
कभी दर आई जिगर में तो कभी सर काटा।
कभी मिग़्फ़र कभी जौशन कभी बक्तर काटा।
तूल में राकिबो-मरकब को बराबर काटा। —अनीस

दूसरी विधि यह है कि उसके चलने के क्षेत्र की माप की जाय अर्थात् वह चली तो एक झपट में कहाँ तक गई और फिर कहाँ रुकी—

न रुकी खोद प वो और न सर पर ठहरी।
न किसी तेग़ प दम भर न सिपर पर ठहरी।
न जबीं पर न गले पर न जिगर पर ठहरी।
काट कर ज़ीन को घोड़े की कमर पर ठहरी। —अनीस

तीसरे तरीक़े में तलवार का विवरण प्रस्तुत किया जाता है, अर्थात् जिस पर वह तलवार चली उसकी क्या दशा हुई—

जिस पर चली वो तेग़ दोपारा किया उसे।
खिंचते ही चार टुकड़े दोबारा किया उसे। —अनीस

इस प्रकार चमक और काट के वर्णन पृथक्-पृथक् मिलते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि जब तलवार चलती है तो गति, चमक और काट एकत्र होती हैं, उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए शाइर ने उनको एक साथ रखकर लिखा—

चमकी गिरी उठी इधर आई उधर गई।
ख़ाली किए परे तो सफ़ें ख़ूँ में भर गई। —अनीस

परन्तु उसके चलने की गति इतनी तेज़ थी कि वह सर्वत्र प्रतीत होती थी अथवा यहाँ चमकती मालूम पड़ती थी, लेकिन वार दूसरी जगह होता था। शाइर ने तलवार के प्रतिबिम्ब तथा चमक के माध्यम से उसकी गति व्यंजित की है। किन्तु वह गति-व्यंजना तक ही नहीं रहा, वरन् उसने शत्रु पर तलवार के प्रतिबिम्ब एवं चमक को लेकर तीन-तीन प्रहार किए हैं। प्रतिबिम्ब, तलवार, और चमक के कारण शत्रु-सेना पर एक साथ तीन-तीन बिजलियाँ गिर रही थीं—

साया कहीं था तेग़ कहीं थी चमक कहीं।

तलवार के ये वर्णन 'अनीस' के सैकड़ों छंदों में हैं, लेकिन उन वर्णनों में कहीं भी शैथिल्य या यातयामत्व नहीं प्रतीत होता।

समीक्ष्यकालीन हिन्दी-कवियों ने भी तलवार का वर्णन किया है, परन्तु उनकी दृष्टि में तलवार उतनी नहीं है जितना कि तलवार का लक्ष्य। फिर उनके लिए

लक्ष्य से भी अधिक महत्व अलंकार-योजना का है। फलतः इन कवियों के वर्णन रंगीन चित्र बनकर रह जाते हैं, तलवार की गत्यादि के दर्पण नहीं बन पाते। उदाहरणार्थ जोधराज के 'हम्मीर रासो' की अधोलिखित पंक्तियाँ देखिए—

कढ़ी तेग बेगं लपट्टं सु जानौ।
मनौ ग्रीषमं लाय लग्गी सुमानौ।
कटारी लगैं अंग दीसंत पारं।
मनो नारि मुग्धा कढ्यौ पानि वारं।

हिन्दी-रीतिकविता में वीररस के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'भूषण' के कबित्तों में हैं। 'भूषण' के मुक्तक काव्य में तलवार की उर्दू-शाइरी वाली आनुपूर्वी तो नहीं मिलती, परन्तु उनके चित्रण इस बात की निस्संदिग्ध घोषणा करते हैं कि कवि को ये सारे व्यापार प्रत्यक्ष हैं। असंख्य शत्रु-सेना में चमकती हुई बुंदेलों की तलवारों का चित्र उन्होंने इस तरह प्रस्तुत किया है—

समद लौं समद की सेना त्यों बुँदेलन की
सेलैं समसेरैं भई बाडव की लपटैं।

तलवार कब कोश-निष्काषित हुई और कब शत्रु पर गिरी, इसका पृथक्-पृथक् निर्देश करना युद्ध क्षेत्र में संभव नहीं होता। म्यान से निकली कि शत्रु पर पड़ी। इसलिए उसकी चमक ही प्रहार है। 'भूषण' ने इस तथ्य को अत्यंत सूक्ष्मता से सामने रक्खा है—

निकसत म्यान तें मयूखैं प्रलै भानु जैसी
फारैं तम तोम से गयंदन के जाल कों।
लागति लपकि कंठ बैरिन के नागिन सी
रुद्रहिं रिझावै दै दै मुंडन की माल कों।
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करबाल कों।
प्रति-भट-कटक कटीले केते काटि-काटि
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल कों।

'भूषण' के इस छंद में तललार की चमक, उसका प्रहार, उसकी प्रहार-शैली, उसकी गति एवं उसके भयंकर स्वरूप का इस कुशलता से चित्रण हुआ है कि उसकी तुलना नहीं हो सकती। म्यान से निकलने पर उसकी चमक प्रलयकालीन सूर्य की तरह होती है। सूर्य का काम है अंधकार को विदीर्ण करना, इसलिए वह निबिड़ अंधकाररूप गज-जाल को फाड़ देती है। यहाँ तलवार का चमकना ही हाथियों का विदीर्ण हो जाना है। चमक और काट अलग-अलग नहीं हैं। 'अनीस' ने

'चमकी गिरी उठी' में चमकने तथा गिरने को इकट्ठा ज़रूर किया, लेकिन वे दोनों एक नहीं हो सके। चमकी तब गिरी, गिरी फिर उठी। परन्तु 'भूषण' के वर्णन में चमकना ही काटना सिद्ध किया गया है। तलवार चलते समय लपकती है। 'लागति लपकि कंठ' में यही व्यापार बिम्बित है। ऊपर-नीचे इधर-उधर काटती हुई तलवार की गति एक विचित्र सम में बँध जाती है, जैसे नृत्य-सा कर रही हो। नाच में कूदना तथा आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ चलना होता है। तलवार का ऊपर से नीचे, फिर नीचे से ऊपर जाना नर्तकी का कूदना है और इधर-उधर जाना नर्तकी की दाएँ-बाएँ की गति है। "प्रति-भट-कटक कटीले केते काटि-काटि" शब्दों में नृत्य की ध्वन्यर्थ व्यंजना भी है। इस नृत्य की भयंकरता प्रकट करने के लिए रुधिराक्त काली का उपमान लाया गया है। कवि ने कितने व्यापार समेट कर पिंडित कर दिए हैं ?

उर्दू-शाइर 'अनीस' ने तलवार की बेरोक-टोक गति को एक शेर में बड़ी ख़ूबी के साथ यह कहकर चित्रित किया है कि—

चार आइने से यूँ निकल जाती थी जुल्फ़िक़ार।
ऐनक के पार होता है जैसे नज़र का तार।

इसी व्यापार को कविवर 'भूषण' निम्नांकित शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—

बखतर पाखरन बीच धँसि जाति
मीन पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के !

'अनीस' का कथन है कि तलवार कवच में घुसकर इस तरह पार निकल जाती थी जिस प्रकार नज़र का तार ऐनक के पार हो जाता है। ऐनक पारदर्शी होती है। दृष्टि ऐनक के पार बिना किसी अवरोध के अनायास चली जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्णन मे चमत्कार हैं, लेकिन तलवार का स्वरूप तथा उसकी हरकत स्पष्ट नहीं होती। 'भूषण' ने "मीन पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के" कहकर तलवार की आकृति एवं हरकत तो चित्रित की ही, इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ बताया है। वह मीन है, इससे तलवार की बनावट, मछली के पैरने में उसका प्रयत्न तथा 'जलन' शब्द से लक्ष्य-वैविध्य की सूचना मिलती है। कवि ने 'जल' शब्द न रखकर बहुवचन 'जलन' से यह व्यंजित किया कि जिस प्रकार मछली का एक प्रकार के जल से दूसरे प्रकार के जल में पैर जाती है, उसी प्रकार तलवार भिन्न-भिन्न प्रकार के बक्तरों और पाखरों में प्रविष्ट होकर हरकत करती हुई निकल जाती थी। दोनों वर्णनों का अन्तर स्पष्ट है—एक में सूचना है, दूसरे में चित्र।

उर्दू-शाइरों ने तलवार को कभी बिजली, कभी गर्म लू, कभी हवा कभी

नागिन आदि का रूप प्रदान किया है। ये उपमान हिन्दी-कविता में भी उपलब्ध हैं, परन्तु 'भूषण' तलवार के क्षण-क्षण बदलते रूप के लिए कहते हैं—

सिवाजी खुमान तेरो खग्गु बढ़े मान बढ़े
मानस लौं रूप बदलत उछ्छाह तें।

हे शिवराज! तुम्हारे खड्ग का सम्मान बढ़ा हुआ है।(अथवा उसका सम्मान बढ़े) क्योंकि वह इस प्रकार नए-नए रूप धारण करता है, जिस प्रकार उत्साह में बढ़ा हुआ मन क्षण-क्षण परिवर्तित होकर नवीन रूप ग्रहण कर लेता है। तलवार की अनुक्षण बदलती गति जिस खूबी के साथ 'भूषण' ने प्रस्तुत की है वैसी न तो उर्दू-शाइरी में उपलब्ध है और न हिन्दी-काव्य में।

ये सारे वर्णन तलवार के विविध-व्यापार-[illegible] या उसे चित्रित करने वाले हैं। इसमें एक-एक व्यापार का विवरण दिया गया है, परन्तु कवि बनवारी (सन् १६२३ में विद्यमान) ने वर्णन न करके जो वर्णन कर दिया है, वह भी द्रष्टव्य है। शाहजहाँ के सेनापति सलाबतखाँ ने अमरसिंह को गँवार कह दिया था, जिससे क्रोधित होकर उन्होंने भरे दरबार में सलाबत खाँ का सिर धड़ से अलग कर दिया था। कवि बनवारी उस घटना का वर्णन करते हैं—

आनि कै सलाबत खाँ जोरि कै जनाई बात
तोरि धर पंजर करेजे जाय करकी।
दिल्लीपति साह को चलन चलिबो को भयो
गाज्यो गजसिंह को सुनी है बात बरकी।
कहै 'बनवारी' बादसाहि के तखत पास
फरकि फरकि लोथ लोथन सों अरकी।
कर की बड़ाई कै बड़ाई बाहिबे ही करौं
बाढ़ि की बड़ाई कै बड़ाई जमधर की।

'तलवार धड़-पंजर को तोड़ कर सलाबतखाँ के कलेजे में जाकर करकी' कहकर तलवार की गति एवं प्रहार का वर्णन किया गया, परन्तु अंतिम चरणों में कवि कहता है कि मैं हाथ की प्रशंसा करूँ कि तलवार उठाने और चलाने की प्रशंसा करूँ, तलवार की धार की प्रशंसा करूँ या उस भारी खड्ग की प्रशंसा करूँ। कवि का शिल्प-कौशल देखिए कि वर्णन न करने पर भी सभी का ऐसा वर्णन कर दिया, जिसमें यद्यपि न अतिशयोक्ति है, न कल्पना का रंग; फिर भी यह वर्णन अतिशयोक्ति और कल्पना पर आधारित सभी वर्णनों से अधिक सजीव, सशक्त और चित्रात्मक हो गया है। इस प्रकार हिन्दी-काव्य के इन चित्रणों में भाव-व्यंजना पर ध्यान अधिक है, जब कि उर्दू-शाइरी में गत्यात्मक वर्णनों की प्रचुरता है।

अध्याय | ८

प्रेम-निरूपण

हिन्दी-रीतिकवियों ने शृंगार रस के अन्तर्गत प्रेम एवं सौन्दर्य का वर्णन किया है, इसलिए प्रेम तथा सौन्दर्य शृंगार रस के ही भीतर उल्लेख्य हैं। लेकिन उर्दू-शाइरी मे प्रेम को लेकर इतने परिमाण में रचनाएँ हुई हैं कि यह विषय स्वतन्त्र-सा बन गया है। हिन्दी-रीतिकाव्य में नख-शिख-वर्णन-परम्परा अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। इन दोनों दृष्टिकोणों के कारण तथा प्रेम-सौन्दर्य-सम्बद्ध रचनाओं के मात्रा-प्राचुर्य को देखते हुए भी उनका विवेचन अलग-अलग करना समीचीन है, अतः प्रेम और सौन्दर्य पर अलग-अलग अध्यायों में विशेष रूप से विचार किया गया है।

रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता प्रेम की कविता है। वहाँ जीवन का अर्थ है प्रेम। बिना प्रेम का हृदय निःसत्व है। 'रसनिधि' प्रेम-चिह्न-रहित हृदय को बिना मोहर की सनद कहते हैं जो रसिकों द्वारा मंजूर नहीं की जाती—

प्रेम चिह्न बिनु जो हियौ सो यों रसिक हजूर।
बिना मुहर की सनद ज्यौं दफतर नहिं मंजूर।

उर्दू-शाइर 'ज़ौक़' ने भी प्रेम के सम्बन्ध में ऐसे ही भाव प्रकट किए हैं। उनके विचार से जिस आँख में प्रेमाश्रु नहीं उसका अंधा हो जाना बेहतर है और जिस दिल में प्रेम के दाग़ नहीं वह जल जाय तो अच्छा है—

जो चश्म कि बेनम हो वो हो कोर तो बेहतर।
जो दिल कि हो बे-दाग़ वो जल जाय तो अच्छा।

लेकिन 'आतश' तथा 'नासिख' ने प्रेम को अखाड़े का रूपक दिया है, जहाँ आशिक़ का शक्ति-परीक्षण किया जाता है—

ज़ोर मर्दाना अखाड़ा है अखाड़ा इश्क़ का —आतश
लड़ते हैं परियों से कुश्ती पहलवाने-इश्क़ हैं —नासिख

बात यह है कि उर्दू-शाइरी का प्रेम सम-विषम नहीं, एकपक्षीय प्रेम है, इसलिए आशिक़ प्रेम प्राप्त करने के लिए ज़ोर लगाता रहता है और माशूक़ अपने दाँव-पेचों से उसे मुँह की खिलाता रहता है। यह हार-जीत प्रेमी और प्रिय को अलग-अलग रखती है और प्रेम को अखाड़े का रूप प्रदान करती है।

हिन्दी-रीतिकविता में प्रेम की 'अति साँकरी गली' प्रसिद्ध रही है। किन्तु विवेच्यकाल के कवि 'बोधा' ने प्रेम को सुई के छेद से भी अधिक संकीर्ण बताया है, जिसमें दो की समाई हो ही नहीं सकती अर्थात् प्रेम का स्वरूप है अद्वैत। इसलिए उसका निर्वाह बहुत कठिन है, क्योंकि अभेद-दर्शन-साधना उतनी ही कराल है जितना तलवार की धार पर दौड़ना—

अति छीन मृनाल के तारहू ते तिहि ऊपर पाँव कै धावने है।
सुई बेह के द्वार सखी हैं ? (सकीन) तहाँ परतीत को टाँडो लदावने है।
कवि 'बोधा' अनी घनी नेजहू तैं चढ़ि तापै न चित्त डुगावने है।
यह प्रेम को पंथ कराल है जू तरवार की धार पै धावने है।

रीतिकाल के उर्दू-काव्य तथा हिन्दी-रीतिकविता के प्रेम में दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ उर्दू-शाइरी में प्रेम प्राप्त करना असंभव-सा है, वहाँ हिन्दी-रीतिकाव्य के अन्तर्गत प्रेम करने में कोई प्रयास ही नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह तो हृदय-हृदय का आकर्षण है। वहाँ प्रेम करने में कुछ नहीं लगता, परन्तु उसको बराबर निभा पाना सरल नहीं है—

एक ही सो चित्त चाहिए ओर लों बीच दगा कौ परै नहिं डाँको।
मानिक सो मन बेंचि के मोहन फेर कहा परखाइबो ताको।
'ठाकुर' काम न या सब कौ अब लाखन में परवान है जाको।
प्रीति करै मैं लगै है कहा करिकै इक ओर निबाहिबो बाँको।

विवेचनाधीन काल की उर्दू-शाइरी में लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक प्रेम का सोपान कहा गया है, अर्थात् सांसारिक प्रेम एक प्रकार का 'क ख ग' है जिसे सीखकर व्यक्ति प्रेम-काव्य पढ़ने के योग्य होता है और तब उसे सत्योन्मुखता प्राप्त होती है—

रसा औजे-हक़ीक़त पर करूँ अब इश्क़ बाज़ी को।
बजाए-नर्दबाँ समझा हूँ मैं इश्क़े-मजाज़ी को। —नासिख़

लेकिन काव्यगत प्रेम के जो चित्रण हैं, उनमें आध्यात्मिकता के साथ लौकिकता का जोड़ स्थान-स्थान पर अनफ़िट लगता है और आध्यात्मिक थिगलियाँ लगने पर भी लौकिकता का रंग अलग चमचमाता रहता है। इसके विपरीत हिन्दी-रीतिकाव्य में प्रेम का धरातल लौकिक है, लेकिन उस प्रेम में इतनी प्रगा-

ढ़ता उत्पन्न की गयी है कि धीरे-धीरे प्रेमी और प्रिय एक हो जाते हैं। उदाहरणार्थ नीचे उद्धृत दोहे में लौकिक-अलौकिक का एकत्व द्रष्टव्य है—

अपनी गरजनु बोलियतु कहा निहोरौं तोहिं।
तू प्यारौ मो जीय कौं मो ज्यौ प्यारो मोहिं। —बिहारी

नायिका (अपराधी नायक से) कहती है "मैं अपने स्वार्थवश तुझसे बोलती हूँ, तेरी खुशामद नहीं करती, क्योंकि तू मेरे प्राणों को प्यारा है और मेरे प्राण मुझे प्यारे हैं।" मतलब यह है कि नायिका अपने प्राणों को रखना चाहती है। चूँकि प्राण नायक के अधीन हैं, इसलिए नायक का संयोग बना रहना ज़रूरी है। इस कारण उसे नायक की खुशामद करनी पड़ती है। अतः इसमें उसका स्वार्थ है। परन्तु नायिका के कथन से साफ़ ज़ाहिर होता है कि नायक उसे प्राणों के समान प्यारा है। फलतः वह अपने प्राणों की रक्षा मात्र करती है, प्रियतम भी उसे प्रेम करे, इसकी अपेक्षा नायिका को नहीं है। इस प्रकार उसका प्रेम प्रतिदान-रहित, निःस्वार्थ एवं आदर्श है।

लौकिक-अलौकिक-प्रेम का एकीकरण व्यापकत्व का पर्याय बन जाता है। प्रेम का यह निश्शंक एवं अभय रूप है। जब प्रेम इस स्थिति पर पहुँच जाय तो प्रेमी संसार को यथावत् स्वीकार करता है, उसमें अपने अनुकूल कोई परिवर्तन करने की इच्छा नहीं करता। उसके लिए जो जहाँ है, वहीं ठीक है—

दस बार बीस बार बरज दई है याहि
एतै पै न मानै जौ तौ जरन-बरन देव।
कैसो कहा कीजै कछू आपनो करो न होइ
जाकै जैसे दिन ताहि तैसेई भरन देव।
'ठाकुर' कहत मन आपनो मगन राखौ
प्रेम निरसंक रस रंग विहरन देव।
विधि के बनाए जीव जेते हैं, जहाँ के तहाँ
खेलत फिरत तिन्हैं खेलन फिरन देव।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रीतिकालीन उर्दू-कविता में लौकिकता-अलौकिकता की एकरसता नहीं है, लेकिन प्रेम की निरपेक्षता तथा वफ़ा की ओर उसमें भूरिशः संकेत किए गए हैं—

सैयद हो या चमार हो इस जा वफ़ा है शर्त
कब आशिक़ी में पूछते हैं ज़ात के तईं। —मीर

परन्तु सिद्धान्त-रूप में नैरपेक्ष्य एवं निष्ठा का इतस्ततः कथन होने पर भी चित्रणों मे उसकी पुष्टि नहीं होती। हिन्दी-रीतिकाव्य में यद्यपि प्रेम भोग-वृत्ति

से अन्वित दिखाई पड़ता है, फिर भी उसमें संभोग की ही प्रबल अभिव्यक्ति हो, ऐसी बात नहीं है। प्रेम निष्ठा हिन्दी-कविता का प्रमुख गुण है। जिससे एक बार मन लग गया, लग गया। यह भाव हिन्दी-रीतिकविता में बराबर अभिव्यक्त हुआ है—

जब तैं दरसे मनमोहन जू तब तैं अँखियाँ ये लगीं सो लगीं।
कुल कानि गई भगि वाही घरी ब्रजराज के प्रेम पगीं सो पगीं।
कवि 'ठाकुर' नेह के नेजन की उर मैं अनी आनि खगीं सो खगीं।
अब गांव रे नाव रे कोई धरौ हम साँवरे रंग रँगीं सो रँगीं।

प्रेमनिष्ठा के सम्बन्ध में क्रिया पर भी विचार करना चाहिए। परन्तु प्रेम का भाव ऐसा है जो न क्रिया से प्रकट होता है, न वाणी से। क्रिया समान होने पर भी एक में प्रेम हो सकता है, दूसरे में नहीं। 'घनानन्द' के एक सवैए में मिलन के समय छाती का हार पहाड़-सा कथन किया गया है, क्योंकि वह प्रेयसी और प्रिय के शरीरों के मध्य अन्तर डालता है 'तब हार पहार से लागत हे।' यही बात 'देव' के सवैए की निम्नांकित पंक्ति में कही गई है—

प्यारे हमैं तुम्हें अंतर पारत
हार उतार इतै धरि राखौ।

लेकिन यह कथन सामान्या का है, अतः यह क्रिया लोभवश है, प्रेमवश नहीं।

तब देखना यह है कि क्रिया का प्रेरक भाव क्या है? हिन्दी-रीतिकाव्य में नायिका की सारी क्रियाएँ प्रेम-प्रसूत होती हैं। उन क्रियाओं से नायिका नहीं, नायक सम्बद्ध होता है। उदाहरणार्थ नायिका एक ज्योतिषी से अपना भाग्य-फल इन शब्दों में पूछ रही है—

को हौ, ज्योतिषी हैं, कछू ज्योतिष विचारत हौ
ये ही शुभ धाम काम जाहिर हमारो तो।
आओ बैठ जाओ पानी पियौ पान खावौ फेर
होय के सुचित नेक गणित निकारो तो।
'ठाकुर' कहत प्रेम नेम को परेखो देखि
इच्छा की परिच्छा भली-भाँति निरधारो तो।
मेरो मन मोहन सों लागत है भली भाँति
मोहन को मन मोसों लगिहै विचारो तो।

नायिका का अपना भाग्यफल भी नायकगर्भित है। इस प्रकार हिन्दी-रीतिकवि नायिका का आचार-व्यवहार नायक से जोड़ देता है। उर्दू-शाइरी में भी ज्योतिषी से आशिक़ ने वर्ष-फल पूछा है, परन्तु उसने क्या ग्रहण किया यह ध्यातव्य है—

देखिए पाते हैं उश्शाक़ बुतों से क्या फ़ैज़ ?
इक बरहमन ने कहा है कि ये साल अच्छा है। —ग़ालिब

ज्योतिषी ने वर्ष-फल निकाला कि यह साल अच्छा है। अब आशिक़ को फ़िक्र हुई कि देखिए मुझे माशूक़ से क्या फ़ैज़ प्राप्त हो ? उद्धृत शेर में आशिक़ माशूक़ का प्रेम चाहता है और उपर्युक्त कबित्त में नायिका भी यही पूछती है कि क्या मोहन का मन मुझसे लगेगा ? लेकिन अन्तर यह है कि नायिका का मन अपने मोहन से भली-भाँति लगता है। अर्थात् वह मोहन को सौ दिल से और विविध प्रकारों से प्रेम करती है, परन्तु आशिक़ के कथन में इस व्यंजना का अभाव है। फलतः आशिक़ के वचन आत्मतृप्त्याभिलाषा की अभिव्यक्ति मात्र बनकर रह गए हैं। मीमांस्य उर्दू-शाइरी में प्रेमी को अधिकतर अपनी तृप्ति की आकांक्षा रहती है, जब कि हिन्दी-रीतिकविता की प्रेमिका पहले प्रिय की चिन्ता करती है तब कहीं उससे अपने को जोड़ती है।

हिन्दी-रीतिकाव्य के प्रेम की चौथी विशेषता है दर्शन मात्र से तृप्ति। यह बात दूसरी है कि मन मिल जाने पर शरीर-संयोग का चित्रण भी हो जाय, लेकिन केवल दर्शनानन्द भी प्रिय या प्रिया को तृप्त करने में सक्षम है—

वा निरमोहिन रूप की रासि जोऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बारहूँ बार बिलोकि घरी-घरी सूरति तौ पहचानति ह्वै है।
'ठाकुर' या मन की परतीत है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिए इतनो तो विशेष कै जानति ह्वै है।

प्रेम वस्तुतः ज्ञान का ही दूसरा नाम है। प्रमी प्रिय को चाहता है, इसका अर्थ है कि वह उसे जानता है। परन्तु उसके प्रेम को यदि प्रिय नहीं जानता तो वह उसे ज्ञात करा देना चाहता है। 'ठाकुर' ने ऊपर उल्लिखित छन्द में प्रेम की इस गति पर प्रकाश डाला है। परन्तु यहाँ ध्यातव्य यह है कि प्रेमी यह अभिलाषा नहीं करता कि प्रेयसी उससे प्रेम करे ही बस इतना भर जान ले कि वह नित्य आता उसी के लिए है। यह मानसिक तृप्ति है। लेकिन दर्शन-जनित यह तृप्ति भी नित्य नहीं चाहिए और चाहिए भी तो केवल इसलिए कि प्राण प्रियतम के अधीन है, देखे बिना जीवन रह नहीं सकता—

रोज न आइये जो मनमोहन तो यह नेक मतौ सुन लीजिये।
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन तुम्हें बिन देखे सु कैसे कै जीजिये।
'ठाकुर' लालन प्यारे सुनौ विनती इतनी पै अहो चित दीजिये।
दूसरे तीसरे पाँचये सातयें आठयें तो भला आइबो कीजिये।

रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में पहले तो गले लगना, और बोसा लेना ज़रूरी है,

सिर्फ़ दर्शनों से वहाँ काम नहीं चलता। फिर यदि इन हसरतों को छोड़कर केवल दर्शनाभिलाषा की ही बात हो तब भी आशिक़ उसमें नैरन्तर्य चाहता है—

आते जाते तुझे देखूँ न मिले ग़ैर को यार
काश हो जाऊँ मैं नौकर तेरी दरबानी पर। —नासिख़

हिन्दी-रीतिकविता में प्रेम उत्पन्न होने की एक निश्चित प्रणाली है। वह प्रत्यक्ष-दर्शन, स्वप्न दर्शन या गुण श्रवण से उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष-दर्शनजनित अनुराग आलम्बन के सौन्दर्य का फल होता है, स्वप्न-दर्शन आश्रय की तन्मयता, आलम्बन की सुन्दरता एवं दैवी प्रेरणा की ओर संकेत करता है और गुण-श्रवण प्रेम को कोरी सौन्दर्योपासना से पृथक् करता है।

समीक्ष्यकाल की उर्दू-शाइरी का प्रेम प्रत्यक्ष-दर्शन से पैदा होता है। स्वप्न में माशूक़ के दर्शन होते ज़रूर हैं, लेकिन मुहब्बत होने से पहले नहीं। मुहब्बत की आग आशिक़ को जलाती है और उसके प्रकाश मे वह अपने महबूब को देखता है। गुण-श्रवण को उर्दू-शाइरी में कोई स्थान नहीं है। इसलिए अन्ततः रीति-कालीन उर्दू-काव्य सौन्दर्योपासना का काव्य ही सिद्ध होता है। लक्ष्य का यह भेद तत्तत्काव्यान्तर्गत प्रेमियों द्वारा अभिव्यक्त 'अभिलाष' से प्रकट हुआ है। हिन्दी-रीतिकविता की नायिका अपने प्रियतम के शरीर का प्रसाधन है—

पीत पटी लै कटी लपटी रहे छैल छरी लै खरी पकरी है।
कान्ह के कंठ की कंठी भई वनमाल ह्वै बाल हिये पसरी है।
'देवजू' कुंडल ह्वै लगी कानन बाँसुरी लै अधरान धरी है।
मूड़ चढ़ी शिरमौर ह्वै री गहनो सब ग्वारि गुपाल करी है।

और उसने भी प्रियतम को अपने शरीर का आभूषण बना रक्खा है—"देव मैं शीश चढ़ायो सनेह कै भाल मृगंमद बिन्दु कै राख्यौ।" परन्तु समकालीन उर्दू-शाइरी का आशिक़ किसी माशूक़ विशेष का नहीं, अपितु सुन्दरियों के कानों का मोती बनना चाहता है—

गोशे-ख़ूबाँ में लटकता मैं जो गौहर होता।
ज़र जो होता तो हसीनों ही का ज़ेवर होता। —आतश

संभोग

आलोच्य उर्दू-शाइरी में संभोग के वर्णन यद्यपि मसनवियों में मिलते हैं और 'नज़ीर' ने अपनी नज़्मों में उसके चित्रण किए हैं, परन्तु ग़ज़लों में संभोग-उल्लेख की रीति नहीं है। आशिक़-माशूक़ की परिक्रमा करके परिरंभण-सुख का धोखा खा लेता है या वहाँ अधिक से अधिक कमर पकड़ना तक विहित है, लेकिन "इससे बढ़ो आगे तो शरारत की बात है"—

पड़ चुके थे दस्ते-गुस्ताख़ उस कमर के दर्मियाँ
शौक़े-वस्ले-यार दिल को गुदगुदाकर रह गया। —आतश

उर्दू-मसनवियों में नायक-नायिका-मिलन-वर्णन संभोग-चित्रण-युक्त होता है। मीर हसन की मसनवी में उल्लेख है कि बेनज़ीर और बद्रेमुनीर शय्या पर आलिंगनबद्ध होकर लेटे। ओठों से ओठ, मुँह से मुँह, दिलों से दिल और बदन से बदन मिल गए। आँखों से आँखें, छाती से छाती मिलने तथा चोली फटने का वर्णन भी है। और इन सबका उपसंहार शाइर ने इस तरह किया है—

लिया खैंच उन्होंने जो पर्दा शिताब
छिपे एकजा वह महो-आफ़ताब।
लगी होने बेपर्दा जो छेड़छाड़
दरे हुस्न के खुल गए दो किवाड़।

लेकिन हिन्दी-रीतिकाव्य मे संभोग के वर्णन बहुत अधिक हैं। हर ऋतु मानो संभोग के लिए ही आती है। कवियों ने रतिकेलि को ऐसा उधेड़-उधेड़ कर चित्रित किया है कि वर्णन बहुत अश्लील हो गए हैं। कवि रतिकेलि के विविध प्रकार तथा छीना-झपटी के ऐसे ध्वनि-चित्र पेश करता है, मानो रतिक्रीड़ा का कोई प्रदर्शन डंके की चोट हो रहा है—

कुच के छुवत झुक झहरात
तकिया ओट सरकत जात।
× × ×
माधो गही बाल रिसाय
जंघा भुजा ऊपर नाय। —बोधा

और फिर उसके पश्चात्—

उझकि चलत झुकि सरकि उसीसे ही को
तरक करक भौहैं होत अलबेली की।
सरकि सरकि सारी खरकि खरकि चूरी
मुरकि मुरकि कटि जात यों नवेली की। —बोधा

घने घोर घुँघरून के शोर छाये।
छटा से चटाके उमड़ मैन आये। —बोधा

कितनी ही 'दचक्क मचक्क' हुई, अन्त में—

अति अनखोहें लोचन कीन्हों।
चरन खैंचि कंधन तै लीन्हों।

चरन उठाय अतिहि अनखाई।
पिय को सौंह अनेक दिवाई। —बोधा

विमर्श्यकाल के बेलौस उर्दू-शाइर 'नज़ीर' अकबराबादी ने भी रतिकेलि का उल्लेख स्थान-स्थान पर किया है। उनका एक चित्रण द्रष्टव्य है—

आया वहीं छपरखट माची पलँग खटोले।
दिलबर कहीं बग़ल में अम्रद कहीं हयोले।
चूलों की चरचराहट बौछार के झकोले।

इसी दृश्य को ऋत्वनुकूल परिवेश तथा उपस्करण के मध्य रखकर भी प्रस्तुत किया गया है—

शीशा कहीं गुलाबी बोतल झमक रही है।
राबेल मोतिया की खुशबू महक रही है।
छाती से छाती लगती इशरत झलक रही है।
पाए खटक रहे हैं पट्टी चटक रही है।
क्या क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें।

परन्तु 'नज़ीर' के ये उल्लेख हिन्दी-रीतिकविता के वर्णनों को नहीं पहुँचते। रति-केलि-सम्बन्धी चित्रणों में विपरीत रति के वर्णनों की एक अच्छी-खासी मात्रा हिन्दी-रीतिकाव्य में उपलब्ध है। हिन्दी-रीतिकवियों ने इन विपरीत-रत्यात्मक चित्रों को बड़े आकर्षक बिम्बों में प्रस्तुत किया है, लेकिन ये वर्णन मानसिक सौष्ठव के परिचायक नहीं कहे जा सकते। उर्दू-शाइरी में ऐसे चित्रणों का सर्वथा अभाव है।

प्रेम-चिह्न

प्रेम-चिह्नों में नखक्षत का हिन्दी-रीतिकाव्य में बहुत उल्लेख हुआ है। प्रिय संसर्ग-जनित नखक्षत नायिका को इतने प्रिय हैं कि वह उन्हें हरा रखने के लिए खुरन्ट को बार-बार खोंट डालती है—

पिय-तिय हिय जु लगी चलत पिय-नख-रेख खरौंट।
सूखन देति न सरसई खौंटि खौंटि खत खौंट। —बिहारी

उर्दू-शाइरी में प्रियदत्त नखक्षतों का वर्णन नहीं मिलता। जो नखक्षत उल्लिखित हैं वे स्वयं आशिक़ द्वारा उन्मत्तावस्था में बनाये गये हैं। आशिक़ अपने बाल नोचता है, सर खरोंचता है, जिससे नाखून लग जाते हैं और घाव हो जाते हैं। आशिक़ उन घावों को हरा रखने के लिए बराबर नोचता रहता है—

हम सरे-उरयाँ से नोचें दाग़े-सौदा के खुरंड
फ़स्ले-गुल में है सरे हर शाख़ पर दस्तार सुर्ख़। —नासिख

'मीर' ने एक शेर में आशिक़ के माथे पर नाखून का खराश दिखाया है, जिस पर हिन्दी-रीतिकविता का प्रभाव प्रतीत होता है—

कभू आशिक़ के तेरे जब्हे से नाखुन का खराश
खते-तक़दीर के मानिन्द मिटाया न गया।

'तेरे आशिक़' शब्दों से ध्वनि निकलती है कि यह नखक्षत संयोग में माशूक़ द्वारा चापल्यवश प्रदान किया गया है, अतः वह आशिक़ की भाग्य-लिपि के समान अमिट है।

प्रिय-सम्पर्क का नखक्षत ही क्या, कोई वस्तु हो वह रत्यालम्बन बन जाती है। हिन्दी-रीतिकविता के अन्तर्गत नायिका अपने आँगन मे प्रियतम की पतंग की छाया देखकर उसे छूती हुई इधर-उधर दौड़ती फिरती है। उर्दू-शाइरी में आशिक़ माशूक़ की गली के कुत्तों तक पर दीवाने दिखाई पड़ते हैं, फिर माशूक़ के द्वारा दी गई वस्तु के बारे में क्या कहना ?

प्रिय द्वारा दी गई कोई भी वस्तु प्रिय की निशानी है, इसलिए वह उसी के समान प्रिय होती है। आलोच्य उर्दू-शाइरी में छल्लों के दाग़ खाने के वर्णन हुए हैं। ये दाग़ भी आशिक़ को बहुत प्रिय होते हैं। हिन्दी-रीतिकाव्य में छल्ले या अँगूठी के दाग़ों का उल्लेख नहीं है, लेकिन छल्ले को निशानी रूप पाकर नायिका उसे कभी चूमती, कभी देखती, कभी हृदय से लगाती, कभी पहन लेती और कभी उतार कर रख लेती है। वह छल्ला उसके प्रेम को निरन्तर नया बनाए रखता है—

छला छबीले लाल कौ नवल नेह लहि नारि।
चूँबति, चाहति, लाइ उर पहिरति, धरति उतारि। —बिहारी

हिन्दी-कविता में तो प्रियतम द्वारा प्रदत्त छल्ला प्रेम-प्रवर्तक है, परन्तु उर्दू-शाइरी छल्ला न मिलने को भी निशानी-रूप वर्णन करती है। प्रयाण के समय आशिक़ ने माशूक़ से निशानी के तौर पर छल्ला माँगा तो उस शोख़ ने उँगली दिखा दी। लेकिन आशिक़ के लिए यही निशानी काफ़ी है—

काफ़ी है निशानी तेरी छल्ले का न देना
खाली मुझे दिखलाके बवक़्ते-सफ़र अंगुश्त। —ग़ालिब

ये समस्त चिह्न या वस्तुएँ प्रिय-सम्पर्कज-रति भाव का प्रदर्शन करने के साधन हैं और स्वाभाविक होने के कारण इन्होंने एक प्रकार की काव्य-रूढ़ि का स्थान ले लिया है। लेकिन सम्पर्क को बहुत दूर तक खींचना अस्वाभाविक हो जाता है, जैसे माशूक़ की गली के कुत्ते पर दीवाना होना या प्रियतम

की पतंग की छाया छूने के लिए दौड़ते फिरना। उर्दू-शाइरी में ऐसी उक्तियाँ प्रचुर मात्रा में हैं, उदाहरणार्थ—

और तख़्तों की हमारी क़ब्र को हाजत नहीं
ख़ानाए-महबूब का कोई किवाड़ा चाहिये। —नासिख़

इस शेर में 'नासिख़' साहब क़ब्र के लिए माशूक़ के घर का किवाड़ चाहते हैं, लेकिन उन्हें यह ख्याल नहीं है कि किवाड़ निकाल लेने से उस महबूब के घर का क्या हाल होगा ? हिन्दी-रीतिकाव्य में आलम्बन को विपत्ति में डालकर निशानी नहीं ली जाती।

रुचि-पतन

संभोगकालीन शारीरिक अद्वयाभिलाषा स्वाभाविक है और हिन्दी-रीतिकविता में उसके चित्रण हैं, जैसा निम्नांकित पंक्तियों के 'अभिलाष' से प्रकट है—

(क) गायहौ मलारैं भुज नाइहौं हिये में छकि
छाइहौं छिगुन कुंज कंज ही के कोरे में।
कहै 'पदमाकर' पियायहौं पियाला, मुख
मुख सों मिलाइहौं सुगंध के झकोरे में।

(ख) नहिं हरि लौं हियरा धरौ, नहिं हर लौं अरधंग।
एकत ही करि राखियै अंग अंग प्रति अंग। —बिहारी

लेकिन इस अवसर के अतिरिक्त बैठकर मुँह से मुँह या जीभ से जीभ मिलाना अरुचिकर प्रतीत होता है। मीमांस्य उर्दू-शाइरी में न केवल जीभ से जीभ मिलाने की अभिलाषा प्रकट की गई है, अपितु आशिक़ माशूक़ परस्पर जीभें लड़ाते भी हैं—

जब लड़ीं बाहम ज़बानें वस्ल में बोला सनम
नातवाँ है तू मगर तेरी ज़बाँ में ज़ोर है। —नासिख़

हिन्दी-रीतिकवि 'बिहारी' ने भी जूठन के माध्यम से प्रेम प्रकट किया है, जैसे—

बिहँसि बुलाइ, बिलोकि उत प्रौढ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति, पूत कों पिय-चूम्यौ मुँह चूमि।

परन्तु इस दोहे में माध्यम पुत्र है, इसलिए नायिका की यह चेष्टा जुगुप्सामयी होने से बच गई, अन्यथा इस तरह की क्रियाएँ अस्वस्थ मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों का फल हैं।

संभोग-काल में जीभ से जीभ छुआना ग्राह्य हो सकता है, परन्तु आलोच्य-

कालीन उर्दू-शाइरी में आशिक़ माशूक़ से उसके मुँह का उगाल अपने मुँह में प्राप्त करने की प्रार्थना करता है और पा जाने पर उसे खाकर आनंदित होता है—

एक दिन पान वे चबाते थे।
सुर्ख़ लब उनके मुझको भाते थे।
कह उठा मैं अगर उगाल मुझे
मुँह से दो तो करो निहाल मुझे।

× × ×

हँस के उस वक़्त मुझे टाल दिया।
फिर उसी रंग से उगाल दिया। —मीर

हिन्दी-रीतिकवि मुँह से मुँह मिलाने के नीचे नहीं गए। इन कवियों ने नायक या नायिका के मुँह को उगालदान नहीं बनने दिया। विवेच्य उर्दू-शाइरी की रुचि-विकृति के ऐसे बहुत से नमूने हैं। आशिक़ माशूक़ के पसीने में इत्र सूँघते हैं, उसके पसीने-भरे कपड़े उनका दिमाग़ तरोताज़ा रखने की ओषधि हैं, उसके शरीर के मैल की बत्ती पूरी अगरबत्ती है और मैल का एक-एक कण संदल का खुशबूदार बुरादा है—

बत्ती उसके मैल की बत्ती अगर की बन गई
रेज़ा रेज़ा मैल संदन का बुरादा हो गया। —नासिख़

कहने की ज़रूरत नहीं कि ऐसे चित्रण मानसिक कुंठा से उत्पन्न हैं और काव्य में अस्वस्थ परम्पराओं को जन्म देकर समाज पर कुप्रभाव डालते हैं। उर्दू-शाइरी के इन चित्रणों ने जो असर डाला, उसका नमूना नवाब वाजिदअली शाह उपनाम 'अख़्तर' (रा० का० सन् १८४७–१८५६) की दिनचर्या में मिलता है। नवाब साहब को सन् १८५६ मे अंग्रेज़ों ने गद्दी से उतार कर कलकत्ते भेज दिया था। लेकिन वहाँ भी वह लखनऊ से बेगमों का उगाल अपने लिए मँगवाते थे और अपना उगाल उनको भेजते थे—

कहा जाफ़री से कि ऐ खुश जमाल।
मुझे चाहिए तेरे मुँह का उगाल
कि आगे भी भेजा था तूने उगाल।
मँगाकर मेरा खुश हुई थी कमाल।
इस 'अख़्तर' का तू खा चुकी है उगाल।
न कर भेजने में तू अब क़ीलो क़ाल।

इस काल की उर्दू-शाइरी के रुचि-पतन का इससे भी गिरा हुआ नमूना

'चिरकीन' के शेरों में मिलेगा, जिनमें माशूक़ के पेशाब-पाख़ाने को भी नेमत बताया गया है और उसे प्राप्त करने की लालसा बारम्बार प्रदर्शित की गई है।

प्रणय-क्रीडा

जहाँ पारस्परिकता है, वहाँ रति के संचारी रूप में हास, विनोद क्रीडा आदि अनेक वृत्तियाँ आ जाती हैं। प्रेम-क्रीडा में प्रेमी-प्रेमिका एक-दूसरे को छेड़ते और थोड़ा परेशान भी करते हैं। हिन्दी-रीतिकवि 'बिहारी' ने प्रेम-क्रीडा-सन्दर्भ में एक अत्यन्त मनोहर चित्र प्रस्तुत किया है। नायक झूठे ही गुलाल की मुट्ठी ताने हुए है, जिससे नायिका का चौंकना, मुख ढाँपना तथा खीझना बार-बार देखने का सुयोग प्राप्त हो। नायक उसकी आँखों में गुलाल डालना नहीं चाहता, क्योंकि उससे प्रियतमा को कष्ट होगा। अलावा इसके, गुलाल पड़ जाने से उसका वह डर छूट जाएगा, जिससे यह प्रेम-क्रीडा समाप्त हो जाएगी। इसलिए वह अपनी झूठी मुट्ठी को इस प्रकार झझकाता है, जिससे मालूम पड़े कि गुलाल अब गिरा, तब गिरा—

जज्यौं उझकि झाँपति बदनु झुकति बिहँसि, सतराइ।
तत्यौं गुलाल-मुठी झुठी झझकावत प्यौ जाइ।

संदिष्ट उदाहरण में नायक ने नायिका को स्वल्प कष्ट देकर उसकी रमणीय चेष्टाओं से आनंद उठाया। निम्नलिखित उद्धरण में वह स्वयं कष्ट सहकर नायिका की चेष्टाओं से रसाप्लावित होता है—

नाँक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि फिरि भूलि वहै गहै प्यौ कँकरीली गैल। —बिहारी

हिन्दी-रीतिकाव्य के नायक-नायिका परस्पर अनेक प्रकार के राग-रंग करके आनन्दित होते हैं। 'देव' ने पारस्परिक विनोद का एक अछूता शब्द-चित्र खींचा है। प्रेम-सूत्र-बद्ध नायक-नायिका एक सँकरी गली में आमने-सामने मिले। नायक ने पूछा,—"तुम कहाँ से आई हो और तुम कौन हो ? हमें तो तुम कोई जानी-पहचानी-सी मालूम पड़ती हो।" नायिका ने मुँह फेर कर (या नायक के मुख पर दृष्टि डालकर) कहा, "अजी चले ही जाइए, हमें तुम जानते हो और हम भी तुम्हें जानती हैं"—

लागी प्रेम डोरि खोरि साँकरी ह्वै कढ़ी आइ
नेह सों निहोरि जोरि आली मन मानतीं।
उतते उताल 'देव' आए नंदलाल इतै
सौहैं भई बाल नव लाल सुख सानतीं।

कान्ह कह्यौ टेरि कै कहाँ ते आई को हौ तुम
लागती हमारे जान कोई पहिचानतीं।
प्यारी कह्यो फेरि मुख हेरिजू चलेई जाहु
हमैं तुम जानत तुम्हैं हू हम जानतीं।

कितने मधुर भाव हैं इन प्रश्नोत्तरों में ? 'हमैं तुम जानत तुम्हैं हूँ हम जानतीं' की व्यंग्य-गति, प्रेम-व्यंजना और मानसिक उमड़न विवेचनीय है।

हिन्दी-रीतिकविता में नायक नायिका का स्पर्श करने के लिए तरह-तरह के मक्रो-फ़न बनाता है। कवियों ने प्रायः छाती छूने का वर्णन किया है। कभी मेले की ठेला-ठेली में वह छलिया छबीला छैल नायिका को छाँह तथा छिगुनी छूकर छरा-छोर स्पर्श करके छाती छूता हुआ चला जाता है। और कभी लड़का गोद में लेने के बहाने छाती में उँगली छुआ देता है।

छाती के अतिरिक्त कपोल-स्पर्श के वर्णन भी हैं। होली के अवसर पर नायक की चतुराई उल्लेखनीय है। नायिका की सहेलियाँ नायक को पकड़ने गईं। नायक बड़े भोलेपन से जान-बूझकर पकड़ में आ गया। एक सखी ने उसकी कमर लचा दी, दूसरे ने गले में बाँह डाल दी और नायिका उसके मुँह पर गुलाल मलने लगी। लेकिन जब तक उसने गुलाल मला तब तक वह छैला नायक उसका कपोल छूकर नौ दो ग्यारह हो गया—

होरी आज चोरी की कहो री वहा मोरी दई
लाड़िली पठाई भुज गहन सहेली को।
भोरो भाय भावतो गहाय गयो जानि बूझि
आय गयो संग में मचाय रंग रेली को।
ललिता लचायो लंक बाँह दै विशाखा गरे
डारि हिय हार हरि आनँद चमेली को।
प्यारी लै गुलाल नंदलाल मुख मीड़ै जौ लौं
तौ लौं छैल छ्वै गयो कपोल अलबेली को।—'षट्०का०

प्रणय-क्रीडा-स्पर्द्धा में कभी-कभी 'तुम डाल-डाल हम पात-पात' के सुन्दर नमूने भी देखने को मिलते हैं। प्रणय-मान भी एक ऐसी क्रिया है, जिसमें आश्रय को छकाने का भाव रहता है। नायिका ने कुछ प्रणय-मान किया और मनाने पर भी जब नहीं मानी तो नायक सोने का बहाना करके लेट रहा। नायिका ने समझा कि वह वास्तव में सो गया है। अब नायिका के मन में बेचैनी हुई कि मेरे न मानने से नायक रूठ गया है, जिससे मुझे चुंबन-सुख न मिल सकेगा, अतः क्यों न मैं सोते में इसका चुंबन ले लूँ। नायिका ने ज्यों ही उसका मुँह चूमा, नायक

हँस पड़ा, जिससे नायिका खिसिया गई। नायिका के लज्जित होने पर नायक ने गलबाहें डाल दीं, तब नायिका भी अपनी झेंप मिटाने को नायक के गले से लिपट गई—

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही गरैं लपटाइ। —बिहारी

ये केलि-क्रीडाएँ मिथः विश्रब्ध प्रेमी-प्रेमिकाओं के बीच ही सम्भव हो सकती हैं, शंकालु तथा निष्ठुर माशूक़ आशिक़ के आपसी सम्बन्ध इन्हें जन्म नहीं दे सकते। अतः रीतिकालीन उर्दू-कविता इस प्रकार के मधुर, रस-सिक्त एवं रमणीय चित्रणों से रहित दिखाई पड़ती है और उसका प्रेम-काव्य एक ऐसे विशाल रेगिस्तान-सा प्रतीत होता है जिसमें दुख के झाड़-झंखाड़ तो असंख्य हैं, लेकिन प्रेम-विलास के मधुर रस से पूर्ण नख़लिस्तान नहीं हैं।

विरह

कृशता

वियोग का फल है विरह। विरह में मनुष्य एकांत-प्रिय हो जाता है। हिन्दी-रीतिकाव्य में नायिका समाज की एक इकाई के रूप में चित्रित होने से नितांत एकांत-सेवन-निरत नहीं दिखाई गई, परन्तु उर्दू-शाइरी का आशिक़ संसार से अलग एकाकी दिखाया जाता है। उर्दू-शाइरों का तो यहाँ तक कहना है कि आशिक़ जन्म से लेकर बुढ़ापे तक सूर्योदय के दर्शन ही नहीं कर पाता और बुढ़ापे में भी सुबह के जो दर्शन होते हैं, वह केशों की श्वेतता है, प्रातःकालीन श्वेतता नहीं। मतलब यह कि न केवल यौवन, अपितु सारी उम्र एकांत में गुजर जाती है—

पीरी बग़ैर हमने न देखा तुलूए-सुब्ह
गुज़रा शबे-फ़िराक़ में मौसम शबाब का। —नासिख़

एकांतवास या प्रिय-चिन्तन-जन्य-उपरामावस्था के कारण अनेक व्यक्तियों के बीच रहने पर भी वह अपने को एकाकी ही पाता है। अपने कष्ट का भार अकेले झेलता हुआ मनुष्य भीतर-भीतर घुलने लगता है। अतः विरह दो रूपों में अपना प्रभाव डालता है। आंतरिक रूप में वह मानसिक पीड़ा एवं संताप देता है और बाह्य रूप में शरीर को कृश तथा दुर्बल बनाता है।

जो प्रभाव शरीर पर पड़ता है, वह दृष्टिगोचर होने वाला स्थूल प्रभाव है। इस प्रभाव के दो परिणाम होते हैं—कृशता तथा दुर्बलता। आलोच्यकाल की हिन्दी-उर्दू-कविता में विरह-जनित कृशता एवं दुर्बलता के वर्णन अच्छी मात्रा में

उपलब्ध हैं। हिन्दी-रीतिकाव्य में ये चित्रण विरह की एकादश दशाओं के भीतर हुए हैं और उर्दू-शाइरी में इसके लिए विभिन्न कल्पनाएँ की गई हैं।

कृशता के वर्णन व्यंग्य भी हैं और स्पष्ट शब्दों में कथित भी। जहाँ व्यंजना के सहारे कृशता पर प्रकाश डाला गया है वहाँ विरहिणी के हृदय की दशा भी कुछ-कुछ अनुभव होने लगती है, जैसे अधोलिखित दोहे मे—

करके मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाय।
सदा समीपिनि सखिन हू नीठि पिछानी जाय। —बिहारी

विरहहता सुकुमार नायिका हाथ से मले फूल की तरह ऐसी कुम्हला गई है कि सदा समीप रहने वाली सखियों द्वारा भी मुश्किल से पहचानी जाती है। उर्दू-शाइर 'नासिख' ने भी लिखा है कि आशिक़ को उसका पत्रवाहक नहीं पहचान पाता—

ज़ार इंतजारे-खत ने किया इस क़दर मुझे।
पहचानता नहीं है मेरा नामाबर मुझे।

व्यंग्य-चित्रणों के अलावा कृशता का निरूपण करते समय कवियों और शाइरों ने प्रायः शरीर की नाप-तोल की है। कृशता की नाप के पैमाने आभूषण या हाथ-कमर आदि अंग हैं। 'देव' कवि की नायिका इतनी कृश हो गई है कि उसके हाथ से चूड़ियाँ अपने आप बाहर आ जाती हैं। उस बेचारी ने कौआ उड़ाने के लिए हाथ उठाया तो हाथ से निकल कर चार-एक चूड़ियाँ काग के गले में पड़ गई—

लाल बिना विरहाकुल बाल वियोग की आग भई झुरि झूरी।
पानी सों पौन सों प्रेम कहानी सों पान ज्यों प्रानन पोषत हूरी।
'देव जू' आज मिलाप की औधि सु बीतत देखि विशेष विसूरी।
हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि काग गरे परीं चारिक चूरी।

'देव' ने चूड़ी तथा हाथ का मानदंड प्रस्तुत करके शरीर की कृशता का अनुमान कराया तो कवि 'सोमनाथ' ने घुँघरू और कमर के माध्यम से कृश शरीर नापा है। विरह कातरा नायिका इतनी दुबली है कि उसके टखने की घूँघरी अब कमर की करधनी बन गई है—

पिय वियोग तैं तरुनि की पियरानी मुख जोति।
मृदु मुरवा की घूँघरी कटि में किंकिन होति।

'नज़ीर' अकबराबादी ने मजनूँ के शरीर को नापने के लिए लैला की कमर पैमाना बनाई है।

कृशता का वर्णन उर्दू-शाइरों ने बहुत अतिरंजना से किया है। आशिक़ इतना दुबला हो गया कि शय्या पर लेटा होते हुए भी दिखाई नहीं पड़ता। उसका पता लगाने के लिए बिस्तर झाड़ना पड़ता है।

कृशता की भाँति ही रीतिकालीन कवियों तथा शाइरों ने वियोग-ग्रस्त-शरीर की लघुता पर भी प्रकाश डाला है। 'नासिख़' साहब फरमाते हैं कि ऐ संदेश-वाहक यह पत्र भारी है तो लेखक हलका है, इसलिए तू ख़त को फेंक और हमारा क्षीण शरीर अपने हाथ में ले चल—

हैं गराँ मक्तूब तो कातिब सुबुक है क़ासिदा
फेंक ख़त ले चल हमारा जिस्मे-लाग़र हाथ में।

'मोमिन' ने शरीर की क्षीणता इस दरजे दिखाई है कि आशिक़ का शरीर अत्यन्त हल्का हो जाने से बालुका-कण के घोड़े पर विचरण करता है और मिर्ज़ा 'सौदा' के शरीर को हवा सुगंध की तरह इधर-उधर लिए फिरती है।

हिन्दी-रीतिकविता में क्षीणता के ऐसे चित्रण प्रायः नहीं हैं। हाँ उन कवियों ने शरीर तोला से लेकर राई तक अवश्य तोला है, यथा—

नीठि कै पीठ परै पलका मैं पलोपल ऐसी बढ़ै दुबराई।
पीर गँभीर को बूझत को केहि हेरत हेरत जात हेराई।
बेगि विदेश ते 'बेनी प्रबीन' कहूँ बरसाने गये जदुराई।
तोलन तोलन ते तरुनी तब तोलिहौ ताहि तुला धरि राई।

कवि ने प्रतिपल बढ़ती हुई क्षीणता का संकेत देकर बताया है कि पहले वह नायिका तोलों से तोली जाती थी, लेकिन शरीर इस सीमा तक क्षीण होता जा रहा है कि अब वह राई रखकर तौली जाएगी।

कृशता से दुर्बलता आ जाती है। दौर्बल्य को लेकर उर्दू-शाइरी ने बहुत ऊहाएँ की हैं। लेकिन हिन्दी-रीतिकाव्य की अत्युक्तियाँ उन ऊहाओं से पीछे नहीं है। 'बिहारी' ने नायिका के क्षीण शरीर की कमज़ोरी का जो ऊहापरक चित्र प्रस्तुत किया है, वह द्रष्टव्य है—

इत आवति चलि, जाति उत चली छसातक हाथ!
चढ़ीं हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ।

तन्वंगी नायिका की उसासें इतनी तीव्र हैं कि वह कभी छह-सात हाथ इधर चलकर आती है और कभी छह-सात हाथ उधर चली जाती है। 'मोमिन' का समलक्षी शेर उद्धृत है—

हम रंग लाग़री से हूँ गुल की शमीम का।
तूफ़ाने-बाद है मुझे झोंका नसीम का।

'बिहारी' तथा 'मोमिन' के कथन यद्यपि हवा और शरीर के संयोग का ही वर्णन करते है, पर व्यंजनाओं में अन्तर है। 'मोमिन' का भाव यह है कि मैं क्षीणता में पुष्पगंध के समकक्ष हूँ, इसलिए मेरे लिए मन्द समीरण का झोंका भी प्रबल झंझा-वात है। लेकिन 'बिहारी' की नायिका अपने श्वासोच्छ्‌वास के धक्कों से ही कभी छह-सात हाथ इधर कभी छह-सात हाथ उधर चली जाती है। अपनी साँस का धक्का न सह सकना अशक्यता की निशानी है। अतः 'बिहारी' का दोहा शरीर की घोर कमज़ोरी का अभिव्यंजक है, लेकिन 'मोमिन' का शेर सिर्फ़ कृशता एवं क्षीणता पर प्रकाश डालता है।

क्षीण शरीर की कमज़ोरी का चित्रण करने में उर्दू-शाइरों ने विचित्र कल्पनाएँ की हैं। विरही की कमज़ोरी इतनी बढ़ गई है कि चाँदनी भी संगमर्मर-सी भारी और सख्त लगती है—

हो गया हूँ नातवाँ ऐसा शबे-फ़ुर्क़त में मैं
जिस्मे-लाग़र पर है मिस्ले-संगमर्मर चाँदनी। —नासिख

शेख़ इमामबख़्श 'नासिख' ने न केवल जीवित अवस्था में, अपितु मरने के बाद भी आशिक़ को भार-वहन-अशक्य चित्रित किया है। अतिशय कमज़ोरी के कारण वह मोटे कपड़े का कफ़न नहीं सह सकता, इसलिए मलमल का महीन दुपट्टा चाहता है—

दे दुपट्टा तू अपना मलमल का
नातवाँ हूँ कफ़न भी हो हलका।

और 'मीर' की कमज़ोरी तो यहाँ तक बढ़ गई है कि पलक उठाने में एक पहर लग जाता है। फलतः उपालंभ हृदय से मुँह तक एक उम्र में आ पाता है—

इतना हूँ नातवाँ कि दरे-दिल से अब गिला
आता है एक उम्र में मेरा ज़बाँ तलक।

अत्यंत क्षीणता एवं दुर्बलता के ऐसे वर्णनों के अलावा कमज़ोरी की व्यंजनाएँ भी दोनों काव्यों में प्राप्त हैं। इस सन्दर्भ में उर्दू-काव्य-मर्मज्ञों ने 'ग़ालिब' के निम्नांकित शेर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है—

उनके देखे से जो आ जाती है मुँह पर रौनक़
वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है।

लेकिन इस शेर में मुँह पर रौनक़ आ जाने का कारण बता देने से व्यंजना नहीं रही। कार्श्य एवं दौर्बल्याधिक्य की जैसी व्यंजना 'बिहारी' ने की है वैसी

उर्दू के किसी शाइर के काव्य में नहीं मिलती। 'बिहारी' का निम्नांकित दोहा द्रष्टव्य है—

जौ वाके तन की दसा देख्यौ चाहत आपु।
तौ बलि नैकँ बिलोकिए चलि अचकाँ चुपचापु।

दूती का नायक के प्रति कथन है कि यदि आप नायिका के शरीर की वास्तविक दशा देखना चाहते हैं तो मैं बलि जाती हूँ कि कृपया चुपचाप चलकर एकाएक देखिए। यह कथन 'ग़ालिब' का पूरा भाव तो अन्तर्निहित किए ही हुए है, उसके अतिरिक्त इसमें न मालूम कितनी कल्पनाओं के लिए और अवकाश है। 'ग़ालिब' ने तो साफ़ कह दिया कि देखने से मुँह पर रौनक़ आ जाती है, लेकिन 'बिहारी' की नायिका आने का समाचार पाकर ही उमँगने लगेगी या नायक की पदचाप की आहट से ही उसकी दशा परिवर्तित हो जाएगी।

इतनी व्याधि एवं ऐसी कमज़ोरी में बिरही या विरहिणी जीवित कैसे है ? बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने कृशता को ही प्राण-रक्षिका बताया है, क्योंकि मौत ने कोना-कोना खोज डाला मगर विरही अपनी क्षीण काया के कारण उसकी नज़र में नहीं आया—

नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में
कोने-कोने ढूँढ़ती फिरती क़ज़ा थी मैं न था।

'बिहारी' इस कल्पना से और आगे हैं। नायिका को विरह ने घुला-घुलाकर ऐसा कर दिया कि मृत्यु आँखों में चश्मा लगाकर उसे खोज रही है (देख रही है) परन्तु पा नहीं पाती—

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं हूँ चसमा चखन चाहै लहै न मीचु।

'शृंगार सतसई' के रचयिता रामसहायदास ने कृशता के साथ यह कारण भी बताया है कि हेमवर्णा नायिका हेमपर्यंक की पाटी से लिपटी है, इसलिए मौत न पहचान पाने से सका गई है—

जातरूप परजंक की पाटी रहि लपटाइ।
मीच बीच ही चहि सकी तनु न पिछानी जाइ।

मौत को चरका देने की परिपाटी के कारण एतादृशी रचनाएँ नीरस तथा उपहासास्पद प्रतीत होती हैं, फिर भी स्वर्णवर्ण की नायिका का सोने के पलँग में अदृश्य हो जाना कुछ नवीनता लिए हुए अवश्य है।

पीड़ा

विरह की पीड़ा अनिर्वचनीय होती है। उसका न वर्णन हो सकता है और न उसे किसी दूसरे को दिखाया जा सकता है। इसीलिए विरह से पीड़ित होने पर भी 'बिहारी' की नायिका पत्र में कुछ संदेश न लिखकर केवल इतना अंकित कर देती है कि—

कागद पर लिखत न बनत कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सब तेरौ हियो मेरे हिय की बात।

लीलावती माधवानल को पत्र में लिखती है कि यह पीड़ा मेरे शरीर को पेरे डालती है। हृदय से निकलकर गले तक आती है फिर मन में वापस जाकर दब जाती है—

कबहूँ मिलिहौ कबहूँ मिलिहौ यह धीरज जी में धरावो करै।
उरते कढ़ि आवै गरे तें फिरै मन की मन ही में सिरावो करै।
कवि 'बोधा' न चाटि सरै कबहूँ नितहूँ हरि वासों हिरावो करै।
मुँह ते ही बनै कहते न बनै तन में यह पीर पिरावो करै।

विरह-व्यथा की अधिकता एवं उसके दंश का वर्णन करने पर भी हिन्दी-रीतिकवि उस पीड़ा की ओषधि (संयोग) चाहता है, परन्तु उर्दू-शाइरी में पीड़ा ही जीवन है। आशिक़ को माशूक़ का वियोग गवारा है, लेकिन पीड़ा का वियोग वह नहीं सह सकता, क्योंकि दर्द प्राणों की भाँति उसके सारे शरीर में व्याप्त है। यदि दर्द खत्म हुआ तो जान ही ख़त्म हो जाएगी—

दर्द है जाँ के एवज़ हर रगो-पै में सारी
चारागर हम नहीं होने के जो दरमाँ होगा। —मोमिन

पीड़ा को उर्दू-शाइर संयोग में भी नहीं छोड़ना चाहते। संयोग में भी उन्हें विरह के कष्टों का ही स्मरण रहेगा—

याद आएँगे फ़िराक़ के सदमे विसाल में —आतश

विरह-कष्ट का वास्तविक कारण संयोग है। संयोग में मनुष्य सुख का अनुभव करता है, वियोग में उस सुख का अभाव हो जाता है, इसलिए प्रतिकूल-वेदनीयता मन को दुखी बनाती है। यदि वैसा संयोग-सुख पहले न हुआ होता तो वियोग-दुख भी ऐसा न व्यापता। विरह के इस मनोविज्ञान पर 'पदमाकर' ने प्रकाश डाला है—

रैन दिन नैनन तें बहतो न नीर कहा
करतो अनंग को उमंग सर चापतो।

कहै 'पदमाकर' पराग राग बागन तें
कैसे तन ताय ताय तारापति तापतो ।
कीबै जो वियोग तौ सँयोग हू न देतो दई
देतो जौ सँयोग तौ वियोग हू न थापतो ।
होतो जौ न प्रथम सँजोग सुख वैसो वह
ऐसो अब यो न तौ वियोग दुख व्यापतो ।

लेकिन प्रेम का मनोविज्ञान सरल नहीं । उसकी गति अत्यन्त वक्र और दुर्बोध है । वियोग-जन्य-पीड़ा दूरस्थ-प्रिय की स्मृति का फल है, इसलिए उसकी ओषधि हुई प्रिय की विस्मृति । लेकिन विरहिणी वह स्मृति छोड़ना नहीं चाहती । यह स्मृति ही रोग की जड़ और यह स्मृति ही रोग का निदान है । हिन्दी-रीति-काव्य ने इस तथ्य का उद्घाटन बड़ी मार्मिकता से किया है—

क्यों हूँ द्यौस बीते इते गिनत घरीहू घरी
'रंगपाल' त्यों ही मग आवन की जोही की ।
आवत वसंत क्यों रहेंगे प्रान कंत बिन
तो ही सों कही ती यह बात दिन दो ही की ।
चलत न प्राणहिं पठाई प्राण प्यारे संग
हूक हियरे में रही चूक इतनो ही की ।
चाहत जिवाइयो घरीकत अरी तौ फेरि
चरचा चलावै कछु ओ ही निरमोही की ।

वियोग में सुख-भोग दो प्रकार से हो सकता है—भावी संयोग की कल्पना से या अतीत के स्मरण से । भावी संयोग-कल्पना एक प्रकार का विशदाकाश है, जिसमें विरही या विरहिणी का मन-खग उन्मुक्त विचरण कर सकता है । फिर भी प्रायः यह कल्पना पूर्वानुभव पर ही आधारित होती है । हिन्दी-रीतिकविता में भावी संयोग-जनित सुख का चित्रण हुआ है—

गौन की भामिनी भौन में पेखि हिये कबधौं अभिलाख बढ़ैगी ।
केलि थली तन ल्यावत 'तोष' सरोष सहेलिनी को दपटैगी ।
अंक भरे परजंक मैं धौं कब छूटि लटैं पटिया लपटैगी ।
कै रस की बतियाँ बहुरो रति मानि तिया छतियाँ लपटैगी ।

नायक कल्पना कर रहा है कि नायिका गौने में कब घर आएगी और मैं उसके साथ कब केलि करूँगा । सहेली उसे जब केलिस्थली की ओर लाएगी तो वह सखी को दपटेगी, फिर जब पर्यंक पर उसे अँकवार भरूँगा तो अपने को मुक्त करने के प्रयत्न में उसकी अलकें बिखर जाएँगी (जिससे वह और भी सुन्दर लगने

लगेगी) और मेरी बाँहों से छूटकर पलँग की पाटी से लिपट जाएगी। तब मैं रस-भरी बातें करके उसे राज़ी करूँगा जिससे वह प्रेमासक्त होकर मेरी छाती से लिपट जाएगी। यह कल्पना चाहे शेखचिल्ली की कल्पना ही क्यों न हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी कल्पनामग्नता वास्तविक संयोग से कहीं अधिक सुखकर है।

अतीत स्मरण भी प्रिय-संयोगानुभव कराता है, परन्तु उसमें तन्मयता से पूर्व तक कुछ-कुछ दुख का मिश्रण भी रहता है, क्योंकि मानव मन में अतीत और वर्तमान के भेद का चिन्तन भी होता रहता है, उदाहरणार्थ—

स्याम-सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीरु।
अँसुवन करति तरौंस कौ खिनकु खरौहौं नीरु। —बिहारी

उर्दू-काव्य में भावी-संयोग-कल्पना-जनित सुख का उल्लेख नहीं होता, परन्तु अतीत-स्मरण के वर्णन कभी-कभी मिल जाते हैं, जैसे—

अब्र का साया व सब्ज़ा राह का
जानमन ! रथ की सवारी याद है।
कोयलाँ के नाले अमराई के बीच
उस समै को बेक़रारी याद है। —फ़ायज़

परन्तु हिन्दी तथा उर्दू के इन वर्णनों में अन्तर यह है कि हिन्दी-रीतिकाव्य की विरहिणी अतीत की घटनाओं का स्मरण स्वयं करती है, जब कि रीतिकालीन उर्दू-शाइरी का विरही आशिक़ उन पूर्व-घटनाओं का स्मरण माशूक़ को कराता है।

पीड़ा अभिव्यक्त करने के अनेक साधन हैं। पत्र तथा संदेशवाहक भेजकर उर्दू-शाइरी में मनोव्यथा की अभिव्यक्ति की गई है। हिन्दी-रीतिकविता में भी यही साधन गृहीत हैं, परन्तु इन साधनों के अतिरिक्त 'पदमाकर' ने जो एक नया साधन ईजाद किया है, वह उल्लेखनीय है—

फागुन में का गुन विचारि न दिखाई देत
ए ही बानि गाइ उन कानन में नाइ आउ।
कहै 'पदमाकर' हितू है जो हमारी तौ
हमारे कहैं बीर वहै धाम लगि धाइ आउ।
जोरि जौ धरी है वाही बेदरद द्वारैं तौन
होरी बिरहागि की सु लूकन लै लाइ आउ।
ए री इन नैनन कै नीर मैं अबीर घोरि
बोरि पिचकारी चितचोर पै चलाइ आउ।

नायिका दूती से कहती है कि हे सखी तू मेरे आँसुओं में अबीर घोर कर पिचकारी भर ले और जाकर उस प्रियतम पर चला आ। होली की रंगीनी को अश्रुमय बनाकर प्रियतम तक भेजने की कल्पना कैसी अपूर्व है ?

संताप

संताप वियोग का आंतरिक प्रभाव है। लेकिन हृदय की जलन का चित्रण हो पाना संभव नहीं है। अतएव उस संताप का आभास शारीरिक ताप का वर्णन करके दिया जाता है। मानसिक जलन की तेज़ी दिखाने के लिए शारीरिक ताप-मान का आधिक्य दिखाना पड़ता है और ऐसा करने में कथन प्रायः अत्युक्ति बन जाते हैं। विमर्श्यकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में संताप के अधिकतर वर्णन अत्युक्ति-पूर्ण ही हैं। उक्तियों की संख्या को छोड़ दें और ऊहा के वैविध्य या प्रकारों को ध्यान में रक्खें तो उर्दू और हिन्दी-काव्यों की तुलना के सम्बन्ध में 'को बड़ छोट कहत अपराधू' ही कहना पड़ता है। लेकिन यदि उस संताप के फैलाव तथा तज्जन्य उथल-पुथल को दृष्टि में रक्खें तो उर्दू-शाइरी की ऊहाएँ आगे हैं।

हिन्दी-रीतिकवियों ने इस विरह-संताप का प्रभाव हृदय से ही प्रारम्भ किया है। हृदय में विरहाग्नि ऐसी प्रचण्डता से जल रही है कि जो गज-मुक्ताहार छाती पर धारण किया जाता है, वह चटक जाता है—

हिये विरहानल की तपन अपार उर—
हार गजमोतिन को चटकि चटकि जात। —'षट्० का०'

उर्दू-शाइरों ने हार्दिक तपिश का वर्णन ज़्यादातर ज़बान पर पड़े उसके प्रभाव को दिखाकर किया है। 'मीर' ने अपना दर्दे-दिल क्या कहा, मानो आग उगल दी, जिससे उनकी जिह्वा पर फफोले पड़ गए—

कहा मैं दर्दे-दिल या आग उगली
फफोले पड गए मेरी ज़बाँ में।

और मिर्ज़ा 'सौदा' के सीने में शम्मा की तरह न मालूम क्या जलता रहता है, जिसके कारण बात करते समय उनके जिह्वाग्र से धुवाँ निकलता है—

नहीं मालूम इस सीने में क्या जूँ शम्मा जलता है।
धुवाँ नोके ज़बाँ से बात करने में निकलता है।

जब विरहाग्नि अधिक धधकती है तो दिल जल जाता है और मुँह से लू-सी गर्म-गर्म हवा निकलने लगती है। भीतरी आग ऐसी तेज़ है कि उस ताप को शब्द द्वारा जब पत्र पर अंकित कर दिया गया तो पत्रवाहक का हाथ जल गया—

अज़बस कि सब्तनामा है सोज़े-तपे-दरूँ
क़ासिद का हाथ है यदे-बेज़ा कलीम का। —मोमिन

उर्दू-शाइरी की यह वस्तु-चित्रण-शैली है। हिन्दी-रीतिकाव्य ने नायिका के विरह-ताप से पत्रिका को झुलसा या जला चित्रित ज़रूर किया, लेकिन उसे हाथ में लेने से दूती का हाथ नहीं जलाया। हाँ दूती के शरीर को छूकर नायिका के शरीर-ताप का अनुमान ज़रूर कराया गया है। दूती का नायक के प्रति कथन है कि मैं उसकी वियोगाग्नि दूर से ही देखकर भाग आई, पास जाकर खड़ी न रह सकी। उसके तन-ताप की बात क्या कहूँ ? मेरे शरीर का यदि तुम स्पर्श करोगे तो तुम्हें बुखार आ जाएगा—

ताके तन ताप की कहौं मैं कहा बात मेरे
गातहिँ छुवौ तौ तुम्हैं ताप चढ़ि आवैगी। —पदमाकर

हिन्दी-रीतिकविता के विरह-वर्णन का विषय यद्यपि वही है, फिर भी तापाधिक्य उर्दू-काव्य से कहीं बढ़कर है। उर्दू-शाइरों ने तापातिरेक की व्यंजना प्रायः सम्भावना दिखाकर की है, जैसे—

करूँ जो आह ज़मीनो-ज़मान जल जावे।
सिपह्‌रे नीली का ये सायबान जल जावे। —मीर

यहाँ यद्यपि तपिश का असर वक्ता-श्रोता पर ही नहीं, ज़मीन-आसमान पर भी बताया गया है, परन्तु यह एक सम्भावना मात्र है। इस प्रभाव को वर्तमान या घटित होता नहीं दिखाया गया। इसके विपरीत हिन्दी-रीतिकवि प्रायः विरह-तापोत्पन्न ज्वाला से आस-पास की वस्तुओं को वास्तव में दग्ध चित्रित करते हैं—

पूछे परै तेज परहेज हम हूँ सों कियो
तनु पर्‌यो सैज मनु झूलत हिंडोला है।
कीन्हों क्यों सनेह नैन रहैं मेह बरसत
परसत देह कर परत फफोला है। —बेनी प्रबीन

हिन्दी-रीतिकाव्य में यद्यपि विरहिणी द्वारा लू-जैसी संतप्त आहें निकालने का उल्लेख है, यथा—

सुनत पथिक-मुँह माह-निसि चलति लुवैं उहिँ गाम।
बिनु बूझैं बिनु हीं कहैं जियति बिचारी बाम। —बिहारी

परन्तु अधिकतर चित्रण पूरे शरीर के ताप का ही हुआ है। विरह-ताप से नायिका का शरीर ऐसा तप्त है कि उसे शांत करने के लिए जब शीशी झुकाकर गुलाबजल डाला, तो पूरी शीशी उलट दी, लेकिन उसके शरीर पर एक बूँद भी न गिरी। सारा गुलाबजल बीच में ही सूख गया।

यही नहीं, नायिका के शरीर की गर्मी के कारण पड़ोसियों का रहना दुश्वार हो गया है। हिन्दी-रीतिकविता में इस प्रकार के कथन भूरिशः मिलेंगे। न केवल गुलाब जल सूखा, अपितु विरहिणी गोपियों के गर्म आँसुओं के प्रवाह ने यमुना-जल के माध्यम से समुद्र में पहुँचकर बडवानल को भी जला डाला और कृष्ण का द्वारका-वास मुश्किल कर दिया—

द्वारिका वसतु हरि 'सुन्दर' समुद ही में
इही मैं (? इहौ) परवाह जाइ सिंधु में परतु है।
जानिहैं वे जमुना के जल ही तें ह्याँ की ज्वाल
जलधि में पर्‌यो बडवानल जरतु है।

हिन्दी-उर्दू-काव्यों में ऐसी ऊहाओं की समानता होने पर भी एक बड़ा अंतर यह है कि उर्दू-शाइरी के वर्णन साधारण कोटि के है, जबकि हिन्दी-कवियों ने समय अथवा ऋतु का उल्लेख करके उस ताप को अधिक प्रचण्ड, सजीव और मानस-ग्राह्य बना दिया है उदाहरणार्थ—

जिहिं निदाघ-दुपहर रहै भई माघ की राति।
तिहिं उशीर की रावटी खरी आवटी जाति। —बिहारी

घन घमंड पावस निसा सरवर लग्यो सुखान।
परखि प्रान पति जानि गो तज्यो मानिनी मान। —पदमाकर

इन दोहों में दोपहर और रात का समय निर्दिष्ट है, साथ ही ऋतु-संकेत भी है। विरोधी ऋतु की पृष्ठभूमि पर विरह-ताप चित्रित करने से चित्रण का रंग गहरा हो जाता है—

सीरे जतननु सिसिरि-रितु सहि बिरहिनि तन-ताप।
बसिबे कौं ग्रीषम दिननु परयौ परौसिनि पापु। —बिहारी

इन कवियों ने इन विरोधी ऋतुओं में भी शीतोपचार का वर्णन करके ताप की तेजी और भी बढ़ा दी है—

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति। —बिहारी

जाड़े की रात में गीले कपड़े अपने चारों ओर लपेट-लपेट कर नायिका की सखी स्नेह के कारण बहुत साहस करके उसके समीप पहुँच पाती है। जाड़े की ऋतु स्वयं ठंडी, फिर रात का समय, उसके ऊपर गीले कपड़े लपेटना, शीत पर शीत। इतना शीत, लेकिन इतना होने पर भी किसी की हिम्मत नहीं कि नायिका का शरीर-ताप सह सके। बेचारी सखी जैसे-तैसे उसके समीप प्रेम के कारण जाती

है, अन्यथा वह भी न जाती। इस प्रकार के सयुक्तिक वर्णन उर्दू-शाइरी में उपलब्ध नहीं होते।

रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में संभावना के अलावा भी ताप-प्रसार चित्रित है, यथा "मेरी आहे-आतशीं से बाले-अनक़ा जल गया।"[1] लेकिन जितना संश्लिष्ट एवं विवरणपूर्ण वर्णन हिन्दी-रीतिकवि करते हैं, उतना उर्दू-शाइर नहीं करते। हिन्दी-कवि ताप का चित्र प्रस्तुत करने के लिए पूरे परिवेश को व्यथित, व्याकुल या दग्ध दिखाते हैं। जैसे—

बैठी थी सखिन संग, पिय को गमन सुन्यो
सुख के समूह में बियोग-आगि भरकी।
'गंग' कहै त्रिविध सुगंध लै पवन बह्यौ
लागत ही ताके तन भई बिथा जुर की।
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर कहँ
लागत ही औरै गति भई मानसर की।
जलचर जरै औ सेवार जरि छार भयौ
तल जरि गयो, पंक सूख्यो भूमि दरकी।

नायिका की आह से हवा में जो गर्मी पैदा हो गई उसका विशद प्रभाव द्रष्टव्य है। पवन वहाँ से चलकर मानसरोवर पहुँचा, परन्तु इतना लम्बा मार्ग तय करने तथा मानसरोवर जैसे घोर शीतल स्थान पर पहुँच जाने पर भी उस पवन की गर्मी का अनुमान कीजिए, जिसका स्पर्श पाकर मानसरोवर के जलचर जल गए, और सेवार भस्मीभूत हो गया। गर्मी ने अपना प्रभाव तल तक दिखाया, पंक सूख गया और भूमि चटख गई। कहने का आशय यह कि आलोच्यकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में विरह-ताप के वर्णन बहुत अत्युक्तिपूर्ण है। किंबहुना 'आलम' कवि ने विरहिणी की संतप्त छाती से 'लाइटर' का काम तक ले लिया है—

कंचन में आँच गई चूनी चिनगारी भई
भूषन भये हैं सब दूषन उतारि लै।
बालम बिदेस ऐसी बैस मैन आगि लागै
जागि जागि उठै हियौ बिरह बयारि लै।
अब कत पर घर माँगन है जाति आगि
आँगन में चाँदु चिनगारी चारि झारि लै।
साँझ भई भौन संझवाती क्यों न देति है री
छाती सौं छुवाय दिया बाती आनि बारि लै।

उर्दू-शाइरी के अन्तर्गत आहोज़ारी के वर्णन प्रभूत मात्रा में मिलते हैं।

आशिक़ की चीख़-पुकार से माशूक़ की गली गूँजती है। उर्दू-काव्य में आहें भरना चीखना या दर्द भरे नालों द्वारा विरह-वेदनाभिव्यक्ति इश्क़ की मर्यादा में शामिल है। इसके लिए शाइरों ने अनेक कल्पित हेतु दिए हैं। 'ग़ालिब' का कथन है—

न आई सतबते क़ातिल भी माने मेरे नालों को
लिया दाँतों में जो तिनका हुआ रेशा नयस्ताँ का।

'नासिख़' का तर्क यह है कि मैं उन्मत्त प्रेमी हूँ। प्रेम का तकाज़ा है आहो-फ़ुग़ाँ करना और पागल को जो रट लग गई वह लगी ही रह जाती है। ऐसी हालत में आहो-फ़ुग़ाँ को ज़ब्त करने का मतलब हुआ सदा के लिए चुप्पी, क्योंकि पागल जो काम करता है करता ही रहता है। यही कारण है कि मैं आह एवं चीख़ को रोकता नहीं हूँ—

हूँ मैं दीवाना हुआ गर चुप तो चुप ही रह गया
इसलिए मैं एकदम ज़ब्ते-फ़ुग़ाँ करता नहीं।

हिन्दी-रीतिकाव्य में ऐसी कोई अवरोध-रेखा नहीं है, बल्कि वहाँ तो कष्ट को चुपचाप सहते हुए मरणासन्न पड़ा रहना अधिक प्रशंसनीय है और विरह-दशाओं में वह अंतिम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट दशा मानी गई है। इसलिए हिन्दी-रीतिकविता आह या चीख़-पुकार के नैरन्तर्य के लिए हेतुओं की कल्पना या ऐसे तर्कों की प्रस्तुति नहीं करती। हाँ उर्दू-शाइरों के कथनों की देखा-देखी कभी कहीं किसी-किसी हिन्दी-कवि ने भी एतादृश भाव प्रकट कर दिए हैं, जैसे कि निम्नोद्धृत कबित्त में द्रष्टव्य हैं—

शीतल पनारी जानि डारी पंचनारिन मैं
पानी की पनारी चहूँ ओर भरी पूरि है।
ओस मैं पसारि कै उसीर आनी सीरी करि
तैसीये तुषार घनसार हू की धूरि है।
'आलम' कहै हो एहू जतन जुड़ै न बाल
जीय की कठिन जीबो जुंबती को दूरि है।
आस यहै एक है उसास जो न रुँधे
छिनु नेह के निबाहिबे को आहि बड़ी मूरि है।

संताप-चित्रणार्थ जिस प्रकार कवि लोग आहों का वर्णन करते हैं उसी प्रकार रुदन का भी। हिन्दी-रीतिकाव्य में रुदन के लिए नदी अप्रस्तुत लाया गया है—

गोपिनु कैं अँसुवनु भरी सदा असोस अपार।
डगर-डगर नै ह्वै रही बगर-बगर कै बार। —बिहारी

रीतिकालीन उर्दू-शाइरी इस दिशा में हिन्दी-काव्य से आढ्यतर है। उर्दू-

शाइरों ने आँसुओं के वैविध्यपूर्ण चित्रण प्रस्तुत किए हैं। एक तरफ़ के पलक से टपकते आँसुओं ने 'तूफ़ाने नूह' का दृश्य दिखा दिया "कल इक मज़्हह निचोड़े तूफ़ाने नूह आया।"[२] इन शाइरों ने आशिक़ के रूमाल को 'अब्र-दरयाबार' सा चित्रित कर रोदनाधिक्य व्यंजित किया है। उर्दू-शाइरी में आँसुओं से न केवल नदी बहाई गई है, अपितु जल-थल आपूरित और सूखे जंगल तक हरे-भरे दिखाए गए हैं—

जल थल फ़क़त नहीं मेरे रोने से भर गए
जंगल पड़े थे सूखे सो वो भी हुए हरे। —मीर

विरहजनित अश्रु-प्रवाह से झील भर जाना या शहरों की नहरों में पानी आ जाना एक ऐसी बात है जो उर्दू-शाइरी में बारम्बार कही गई है। कुछ शाइरों ने यदि आशिक़ को रुला-रुलाकर प्रलय दृश्य उपस्थित नहीं किया तो उसकी सम्भावना दिखा दी है—

रोवेंगे हम जो देखियो कूचा मे अपने यार
पानी ही पानी होगा हर इक घर के आस-पास। —नज़ीर

इन वर्णनों से पृथक् वे वर्णन विशिष्ट कहे जाएँगे जिनमें रोदन-तारतम्य दिखाकर विरह-व्यथा की निरन्तर वृद्धि पर प्रकाश डाला गया है, यथा—

वे दिन गए कि अश्क से छिड़काव सा हुआ।
अब रोने लग गए हैं तो तालाब सा हुआ। —मीर

उद्दीपन

उद्दीपन का वर्णन दोनों काव्यों में लगभग एक समान हैं। हिन्दी-रीतिकविता में चन्द्रिका संतापक, कष्टदायक, एवं प्रजारक चित्रित की गई है। विरहिणी पर अग्निवर्षा करके क़साई की भाँति परम दुख देने वाले चन्द्रमा को हिन्दी-रीति-कवियों ने 'मतिमंद' संज्ञा दी है—

सिंधु के सपूत सुत सिंधु तनया के बंधु
मंदिर अमंद सुभ सुन्दर सुधाई के।
कहै 'पदमाकर' गिरीस के बसे हौ सीस
तारन के ईस कुलकारन कन्हाई के।
हाल ही के विरह विचारी ब्रजबाल ही पै
जाल से जगावत जुआल सी जुन्हाई के।
ए रे मतिमंद चंद आवत न लाज तोहिं
ह्वै कै द्विजराज काज करत कसाई के।

पूर्णिमा की रात महाभयंकर हो गई है। चन्द्र किरणें लाल-लाल शलाकाओं-

सी हैं, चन्द्रिका देखकर शरीर में चिनगारियाँ उठने लगती हैं। यह चाँदनी नहीं है, अपितु चाँद चूना वमन कर रहा है—

'आलम' सुकवि राती किरनि सलाका सी है
राका ही डरौंहीं राति कहा धौं स्रवतु है।
चन्द्रिका चितौत तनु चिनगैं उठत हैं री
चाँदनि न होइ चाँद चूनो सो बँबतु है।

हिन्दी-रीतिकवियों के समान ही समकालीन उर्दू-शाइर भी प्रिय-वियोग में चाँदनी को साये के मानिन्द काला चित्रित करते हैं। आकाश-गंगा अजगर और तारे बिच्छू की तरह प्राणलेवा प्रतीत होते हैं—

अज़्दहा थी कहकशाँ अक़्रब हर इक सैयारा था —नासिख़

हिन्दी-रीतिकविता में नायिका को फूलों-भरी डालियाँ यमज्वाला, एवं यमुना-कूल कृपाण-सा प्रतीत होता है। उस बेचारी को "घेरि मारे बादर दरेरि मारै दामिनी"[1]। हवा साँप की फुफकार तथा यमुना की लहरें यम के चाबुक-सी लगती हैं। उर्दू-शाइर 'नासिख़' का कथन है कि माशूक़ के विरह में वर्षा नहीं हो रही है, अपितु गोलियाँ बरस रही हैं—"तेरी फ़ुर्क़त में मुझ पर गोलियों का मेंह बरसता है।" और सुन्दर कवि ने चातक के बोल को गुलेल-प्रहार कहा है "चातक बोल कि श्रौन गिलोल कि इन्द्रवधू कि चकोर को चारो"?

दोनों ही काव्यों में चारपाई पर करवटें बदलने तथा फूलों के काँटों-से चुभने का वर्णन है। हिन्दी-रीतिकाव्यान्तर्गत आभूषणों एवं वस्त्रों को लपट-तुल्य बताया गया है। उद्दीपनरूप वर्णन हिन्दी-काव्य में योजनाबद्ध और प्रचुर हैं, उर्दू-कविता में वे यत्र-तत्र विकीर्णावस्था में हैं। बस इस अन्तर के अतिरिक्त रीतिकालीन उर्दू-शाइरी तथा हिन्दी-रीतिकविता के इन चित्रणों में कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। हाँ, यह फ़र्क़ अवश्य है कि उर्दू-शाइर रश्क को भी उद्दीपन का कारण दिखाते हैं, परन्तु हिन्दी-रीतिकविता में उद्दीपन के वर्णन अनेकविध हैं। जो चीज़ रक़ीब और माशूक़ का सम्बन्ध स्थापित करती है उसे उर्दू-शाइरी के अन्तर्गत उद्दीपन-रूप ही माना गया है—

पहुँचाए है रक़ीब तलक बूए-ज़ुल्फ़े-यार
डसती है साँप-सी ये नसीमे-सहर मुझे। —सौदा

हिन्दी-काव्य-परम्परा में प्रिय के अंगांगोपमान भी दुख दायक हैं, क्योंकि उन्हें देखकर विरह-कष्ट और बढ़ जाता है—

हरि छबि सुधि बुधि हरि लई बीर भयो यह हाल।
परिरंभन लागी करन जमुना तीर तमाल। —रामसहायदास

उर्दू-शाइरों ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। आशिक़ ने जब 'सर्व' का लम्बा वृक्ष देखा तो उसे माशूक़ के सुन्दर क़द की याद आ गई और वह उससे लिपट कर रोने लगा—

याद आ गया तेरा क़दे-राना जो बाग़ में
क्या-क्या लिपट के रोए हैं सर्व-चमन के साथ। —ज़ौक़

लेकिन अन्तर यह है कि हिन्दी-रीतिकविता में इन उद्दीपनों का प्रयोग मान-मोचनार्थ भी किया गया है "चातिक के बैन सुने बैन भये चातिक से देखि जलधर भये नैन जलधर से"[४] परन्तु उर्दू-काव्य में उद्दीपन आशिक़ की कोई सहायता नहीं करते हैं।

उपालंभ

उद्दीपन के अन्तर्गत हिन्दी-रीतिकाव्य में उपालंभ का विधान है। समकालीन उर्दू-शाइरी में भी उपालंभ मिलते हैं। नायक से वियुक्त होने पर नायिका तड़पती है और विभिन्न उद्दीपनों को भला-बुरा कहकर कभी-कभी यह कल्पना भी करती है कि शायद नायक को विरह-दुख नहीं सताता। यदि उसे दुख होता तो वह भी तड़पता। इसे लेकर हिन्दी-रीतिकविता तथा उर्दू-शाइरी मे सैकड़ों उक्तियाँ मिलती हैं। परन्तु दोनों काव्यों की उन उपालंभाभिव्यक्तियों का निष्कर्ष 'बिहारी' तथा 'मोमिन' के निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है—

बिरह बिथा जल परस बिन बसियत मो मन ताल।
कछु जानत जल थंभ विधि दुर्जोधन लौं लाल।

क्या रोऊँ ख़ीरा चश्मीए-बख़्ते-सियाह को।
वाँ शग़ले-सुर्मा है अभी याँ नील ढल गया।

'मोमिन' के शेर में बेचारा आशिक़ अपना दुखड़ा रो रहा है "मैं अपने दुर्भाग्य का क्या शिकवा करूँ। माशूक़ अभी सुर्मा लगाने में ही व्यस्त है और यहाँ आँखें निस्तेज हो गई हैं।" व्यंजना यह है कि आशिक़ के दुख का माशूक़ को रंचक खयाल नहीं है। 'बिहारी' की नायिका को भी वही शिकायत है कि नायक को विरह-व्यथा नहीं सताती। उसका कथन है "हे प्रिय तुम विरह-व्यथाजल का स्पर्श किए बिना मेरे हृदय में बसते हो। कदाचित् तुम्हें दुर्योधन की भाँति जल-स्तंभन-विद्या ज्ञात है।" दुर्योधन को ऐसी विद्या मालूम थी कि वह जब जल मे घुसता था तो जल हटकर उसे जगह दे देता था, इसलिए जल के भीतर निवास करने पर भी वह जल से भीगता नहीं था। नायिका का हृदय विरह-दुख से भरा है और नायक उसके हृदय में निवास करने के कारण विरह-दुख से परिवेष्टित है, परन्तु वह दुखी नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वह संयोगार्थ कृतोद्यम नहीं है।

इसलिए अवश्य उसे ऐसी कोई तरकीब मालूम है कि जिससे विरह-दुख उसको छू नहीं पाता। नायिका नायक को विरह-दुःख-मध्य-स्थित मानती है जब कि आशिक़ ने माशूक़ को बेफ़िक्र, लापरवाह, मस्त और कौतुकप्रिय बताया है—

मैं अह्वाले-दिल मर गया कहते कहते।
थके तुम न बस बस सुना कहते कहते। —मोमिन

तन्मयता

तन्मयता प्रेम की चरम स्थिति है। यह तन्मयता विरह में ही प्राप्त होती है। तन्मयता-संबंधी कथन रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू दोनों काव्यों में मिलते हैं, परन्तु वे तन्मयताएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। हिन्दी-रीतिकाव्यान्तर्गत-चित्रित-तन्मयता सम्पूर्ण तन्मयता है—

बैननि सतोषे श्रौन नास घ्रान हू अघानी
अति हूँ अनूप ओप रूप तोषै नैन द्वै।
अधर मधुर परसत रसना सरस
काम केलि मिलि सुख साँचे अंग अंग छ्वै।
अब कवि 'आलम' बिछोहै छिनु छिनु तिय
पिय पीय कहि कहि कहे कहो कहाँ स्वै।
सुरति समानी मन तन ही मैं देखि बोलै
मोरे जान पाँचहू समाने पाँच रूप ह्वै।

कबित्त का भाव बहुत गहरा है। नायिका के कान नायक के वचनों से, नासिका उसकी गंध से, नेत्र उसकी अनूप रूप-ज्योति से, रसना अधर-माधुरी से और अंग काम-केलि में अंग-स्पर्श-सुख से संतुष्ट हो चुके हैं। अब वियोग में वह क्षण-क्षण पी-पी रटकर कह रही है कि वह प्रियतम कहाँ है, वह प्रियतम कहाँ है? प्रिय की स्मृति मन में समा गई है। नायिका अपने मन तथा शरीर में यह सब देखकर कहती है कि मेरी समझ में पाँचों तत्व पाँच रूप होकर (अर्थात् पाँच विषय बनकर) मुझमें समा गए हैं। स्मृति स्वतः कालगत होती है, लेकिन उसका विषय देश से सम्बद्ध होता है। 'आलम' ने देशोपहित-तन्मयता का चित्रण करके तन्मयता की पराकाष्ठा प्रस्तुत की है।

उर्दू-शाइरी में भी तन्मयता का वर्णन है, लेकिन वह तन्मयता अत्याचार के माध्यम से प्राप्त की गई है—

महवे-इश्क़ ऐसा हूँ, करते हैं अगर आदा भी ज़ुल्म।
शुबह होता है मुझे महबूब की बेदाद का। —नासिख़

प्रियतम निष्ठुरता का प्रतीक है, अतः प्रेमी को सर्वत्र निष्ठुरता के ही दर्शन होते

हैं। यह तन्मयता की अवस्था प्रतीत होती है, लेकिन इस शेर में शाइर को माशूक़ के दर्शन नही होते, दर्शनों का शुबह होता है। यदि संदेह की गुंजाइश न होती तो यह तन्मय कही जाती, किन्तु संदेह के कारण प्रतीत होता है कि आशिक़ अभी तन्मयता हुआ नहीं है, वह तन्मयता प्राप्त करने के रास्ते में है।

हिन्दी-रीतिकविता की नायिका विरह को वरदान कहती है, क्योंकि विरह में प्रियतम की छबि क्षण भर के लिए भी दृष्टि से ओझल नहीं होती—

विरह दयौ सुभली करी हमैं छबीले लाल।
टरैं न छिन भरि दृगन तैं उनके रूप रसाल। —सोमनाथ

तद्रूपता

तन्मयता की पराकाष्ठा है तद्रूपता। 'बिहारी' की नायिका को तन्मय देखकर सखी को डर है कि कहीं वह भृंगी-कीट-न्याय से नायक ही न बन जाय—

कब की ध्यान लगी लखौं यह घरु लगि है काहि।
डरियतु भृंगी कीट लौं मति वहई ह्वै जाय।

और आगे चलकर यह तन्मयता तद्रूपता बन जाती है। फलस्वरूप नायिका अपने को नायक समझकर स्वयं पर आसक्त हो जाती है—

पिय के ध्यान गही गही वही वही ह्वै नारि।
आपु आपुहीं आरसी लखि रीझति रिझवारि।

आलोच्यकाल की उर्दू-शाइरी में भी वक़्तन-फ़वक़्तन तद्रूपता-जैसा उदाहरण मिल जाता है, परन्तु वह वास्तविक तद्रूपता नहीं कही जा सकती, यथा—

गुम हुआ मैं जैसे तेरा रू नज़र आया मुझे।
आईना जब मैंने देखा तू नज़र आया मुझे। —नासिख़

आशिक़ ने माशूक़ का चेहरा देखा तो वह आत्मविस्मृत हो गया। इसे हम तन्मयता की स्थिति मान सकते हैं। दूसरे मिसरे में कहा गया है कि जब आईना देखा तो उसे माशूक़ नज़र आया। इसमें अनेक सँभावनाएँ हैं—आईना उसी समय देखा कि बाद में देखा ? और उसके उत्तर तथा निष्कर्ष भी भिन्न-भिन्न हैं। लेकिन ख़ास अन्तर जो इस शेर के भाव और 'बिहारी' के उपर्युक्त दोहे के भाव में है, वह यह कि जिस प्रकार 'बिहारी' की नायिका शीशा देख-देखकर रीझती है उस तरह 'नासिख़' का आशिक़ रीझता नहीं। अतः आशिक़ की स्थिति तद्रूपता की नहीं है, उसे अधिक-से-अधिक तन्मय कहा जा सकता है, नहीं तो वह मुख-दर्शन भ्रान्तिमात्र है, जिसे प्रेमोन्माद का परिणाम कहना चाहिए।

तद्रूपता में आलम्बन-स्वरूप-आश्रय की समस्त चेष्टाएँ उसी प्रकार की हो जाती हैं। यथा—

> कान्हमयी वृषभानु सुता भई प्रीति नई उनई जिय जैसी।
> जानै को 'देव' बिकानी सी डोलै लगै गुरु लोगन देखि अनैसी।
> ज्यों ज्यों सखी बहरावति बातन त्यों-त्यों बकै वह बावरी ऐसी।
> राधिका प्यारी हमारी सौं तू कहि काल्हि की बेन बजाई मैं कैसी।

राधा कृष्णमयी हो गई, यह तन्मता हुई। बिकी हुई सी डोलने लगीं, यह आत्म-विस्मृति की अवस्था है। लेकिन फिर उस दशा में यह कहना कि 'हे प्यारी राधा तुझे मेरी सौगंध, बता मैंने कल बाँसुरी कैसी बजाई थी' तद्रूपता की अवस्था है।

सयोग में तन्मयता

विरह में ध्यानगत-तन्मयता का वर्णन किया जा चुका है। संयोग में प्रेम-प्रतिदान से तृप्त नायक-नायिका को हर्ष-कलित-मन की स्थिरता के कारण मानस में एक-दूसरे के स्वरूप का ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। आश्रय के चित्त पर आलम्बन के रूप, गुण, क्रिया आदि ऐसे छा जाते हैं कि उसे अपनी सुध-बुध नहीं रहती—

> रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै
> साँसैं भरि आँसू भरि कहत दई दई।
> चौंकि-चौंकि चकि चकि औचकि उचकि 'देव'
> छकि छकि बकि बकि उठत बई बई।
> दोउन को गुण रूप दोऊ वर्णत फिरैं
> घर न थिरात रीति नेह की नई नई।
> मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय
> राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई।

यह तन्मयता पारस्परिकता के बिना नहीं आ सकती। हिन्दी-रीतिकविता में नायक-नायिका दोनों चन्द्र-चकोर हैं—

> दोऊ चंद चकोर से ह्वै हैं अली फिरिहैं दोऊ आनँद में भटके।
> दुनहूँन की बाढि हैं प्रीतिलता लहि प्रेम पियूष दुहूँ घट के। —द्विजदेव

अतः प्रेम सम होने से तन्मयता में पर्यवसित होता है। परन्तु परस्पर आश्रया-लम्बन न होने से उर्दू-शाइरी के आशिक़-माशूक़ में प्रेम को संयोगोद्भूत ऐसी तन्मयता नहीं मिलती।

संयोग में विरह

जिस प्रकार तद्रूपता विरह की पूर्णावस्था है, उसी प्रकार संयोग में विरह की अनुभूति संयोग की पूर्णावस्था है। 'सेख' के निम्नांकित कवित्त में उस दशा को कुशलता से चित्रित किया गया है—

समुद को पारु है सु भूमि हू को वार है पै
प्रीति को न पार वार कौन विधि कीजिए।
'सेख' कहै देखे अनदेखेई करत कैहूँ
अंक भरि भेटे हूँ वियोग रस भीजिए।
मेरे कहे वारी तू निहारी जो बिहारी तन
हेरे ज्यो हठलु हेतु एतो कत छीजिए।
जाकी वास बेधै मन फूल देख्यौ चाहै जनु
हेरे ते कुसुम जानि केहूँ कर लीजिए।

रीतिकालीन उर्दू-शाइरी के अन्तर्गत तो उसकी परम्परा के कारण ऐसा सुयोग घट ही नहीं सकता, हिन्दी-रीतिकाव्य में भी संयोग में विरहानुभूति के उदाहरण गिने-चुने हैं। हाँ कवियों ने हेतुओं का उल्लेख करते हुए संयोग मे वियोग का चित्रण किया है।

संयोग में वियोग का एक हेतु है सुकुमारता। समीक्ष्य हिन्दी-उर्दू दोनों काव्यों में इसका वर्णन है—

घर बाहर पास पड़ोस के बैर अकेले कबै घर पैयत है।
मग माँझ कजात मिले सजनी तो बिलोकत चित्त डरैयत है।
कह 'ठाकुर' भेटबे के उपचार विचारत द्यौस बितैयत है।
बतियाँ न बनै जिनसों कबहूँ छतियाँ तिन्हें कैसे लगैयत है।

नायिका कहती है "घर-बाट पास-पड़ोस में नायक को यदि कभी अकेला पाती हूँ या दैवात् वह मार्ग में कभी मिल जाय तो उसे पूरी दृष्टि से देखने में चित्त डरता है। समझ में नहीं आता कि भेटने की क्या तरकीब करूँ, क्यों कि जो (सुकुमारता-वश) बात भी नहीं कर पाते या जिनसे (उनका सौकुमार्य देखकर) बात करने में भी मन झिझकता है उन्हें छाती से कैसे लगाया जाय ?" व्यंजना यह है कि छाती की कठोरता उस कुसुमादपि सुकुमार नायक को कैसे सह्य होगी ? उर्दू-शाइर 'ग़ालिब' के माशूक़ की नज़ाकत भी इसी प्रकार मिलन में बाधा डालती है—

इस नज़ाकत का बुरा हो वो भले हैं तो क्या
हाथ आवें तो उन्हें हाथ लगाए न बने।

हिन्दी-रीतिकविता में प्रेम-प्रेरित लघु मान को भी वियोग का एक कारण बताया गया है। प्रियतम परदेश से आ गया है और नायिका के पास आ रहा है, परन्तु उसके आने के पहले ही नायिका मान करके बैठ गई कि वह आकर मनावे—

पिय आगम तें अगमनहि करि बैठी तिय मान।
कब धौं आइ मनाइहै यहै रही धरि ध्यान। —पदमाकर

संयोग को और मधुर बनाने वाला यह वियोग उर्दू-शाइरी में अप्राप्य है।

नितांत समीप अवस्थित नायक-नायिका को हिन्दी-रीतिकवियों ने वियुक्त दिखाकर उनके हृदय की वेदना-विवृति बड़े मार्मिक शब्दों में की है। नायक-नायिका पास-पास हैं, दोनों मिलनोत्सुक हैं, फिर भी मिल नहीं पाते। इस प्रकार के वियोग में एक तो परकीया विषयक वियोग है, यथा—

चितु तरसतु, मिलत न बनतु बसि परोस के बास।
छाती फाटी जाति सुनि टाटी ओट उसास। —बिहारी

पड़ोसियों (नायक-नायिका) के घरों के बीच एक टटिया का अन्तर है, इसलिए उन्हें रात के सन्नाटे में एक-दूसरे के उच्छ्वास सुनाई पड़ रहे है। इतने पास रहते हुए भी मिलते नहीं बनता और हृदय तरसता है।

दूसरे प्रकार का वियोग स्वकीया विषयक है, जिसमें एक टटिया का अन्तर भी नहीं है। दोनों पास-पास बैठे हैं फिर भी कुलकानि-वश मिल नहीं पाते। ऐसा वियोग दूना कष्टप्रद हो जाता है—

कैसे कुमार सुहात कहूँ बिन देखे दिखात दसौ दिसि सूनौ।
लेत उसासन होत उदास तपै तन जैसे परै जल चूनौ।
दूर विदेस के वास वियोग सबै सहिये लहिये हिय ऊनौ।
भेट की आस में पास निवास में दाहत है विरहानल दूनौ।
—कुमारमणि

इन व्यवधानों के अतिरिक्त एक व्यवधान पिशुनों की क्रियाशीलता भी है। प्रेम के भीतर इस प्रकार के विरोधों के कारण 'ठाकुर' ने प्रेम-रीति का उल्लेख करते हुए बताया है कि प्रेमी को मौन रहकर दुख सहना, अपने मन को समझाते हुए, प्रिय की मर्ज़ी के अनुसार चलना और अपवाद-प्रचारकों के बीच रहकर समय बराते हुए प्रियतम-दर्शनार्थ कोई-न-कोई उपाय सोचते रहना चाहिए—

कहबे सुनिबे की कछू नहियाँ लटी औ भली को दुख पावने हैं।
इनकी मरजी की सबै करने अपने मन को समझावने हैं।
कवि 'ठाकुर' लाल के देखिबे कौं अब मंत्र कोई उर ल्यावने हैं।
इन चौंचदहाइन में परिकै समयो यह बीर बरावने हैं।

अपवाद-प्रचार तथा ऐसे ही अनेक कारणों से परेशान होकर प्रेमी कहीं दूर एकांत में रहना चाहता है। विवेच्य उर्दू-शाइरी में "रहिए अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो"[५] सदृश भाव-व्यंजना करने वाले प्रभूत अश्आर मिलते हैं। इन शेरों में संसार के प्रति विरक्ति, ज़माने का कमीनापन या आसमान की गर्दिश-सम्बन्धी विचार प्रकट किए गए हैं। लेकिन इन्हें प्रगाढ़ प्रेमाभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर हिन्दी-रीतिकाव्य ने प्रस्तुत किया है। यथा—

गोकुल के कुल कों तजिकै भजि कै बन बीथिन में बढ़ि जैये।
त्यौं 'पदमाकर' कुंज कछार विहार महारन में चढ़ि जैये।
है नँदनन्द गुबिन्द जहाँ तहाँ नन्द के मंदिर में मढ़ि जैये।
यों चित चाहत ए री भटू मनमोहनै लैके कहूँ कढ़ि जैये।

इस छन्द में नायिका के चित्त की जैसी व्याकुलता, एकात्मकता और परवशता दिखाई गई है, वैसी रीतिकाल की उर्दू-शाइरी में नहीं प्राप्त होती। नायिका गोकुल के समाज से परेशान है, इसलिए उसके मन में बार-बार यह अभिलाषा उठती है कि वह वन में चली जाय, पहाड़ों पर या कुंजो, कछारों में कहीं एकांतवास करे। उसके मन में ऐसी हौंस उठती है कि जहाँ गोविन्द का निवास है, नन्द के उस भवन में जाकर छा जाय। चूँकि ऐसा हो नहीं सकता तब यह चाह उठती है कि मनमोहन को लेकर कहीं दूर निकल जाय।

सन्दर्भगत उर्दू-कविता के भीतर आशिक़ माशूक़ का हृदय जीतने में सफल न होने के कारण ऐसे एकात्मकताधिकार-व्यंजक भाव प्रकट नहीं करता। माशूक़-प्राप्ति में सर्वथा निराश होने पर उसके मन में माशूक़ को प्रसह्य उठवा लेने का अभिलाष भी उत्पन्न हो जाता है—

गर बस हो मेरा तो मैं किसी चोर से कह दूँ,
जा आज पलँग उसके तू सोने का उठा ला। —नज़ीर

ईर्ष्या

समीक्ष्यकाल की उर्दू-शाइरी में प्रेम के साथ रश्क (ईर्ष्या) का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा नाखून के साथ मांस का। हिन्दी-रीतिकाव्य में नायिका भी अपनी सपत्नियों से ईर्ष्या करती है, परन्तु वहाँ प्रेम और ईर्ष्या अनिवार्यतः सम्बद्ध नहीं है।

उर्दू-कविता का यह रश्क इतना व्यापक है कि उसकी परिधि में सभी आ जाते हैं। आशिक़ पत्रवाहक के द्वारा पत्र भेजता है, मगर उसमे लिख देता है कि उत्तर मत देना। क्यों ? इसलिए कि वह उत्तर पत्रवाहक के हाथ लगेगा। रश्क के सम्बन्ध में इससे भी अधिक ऐतिहात बरतने वाला आशिक़ पत्रवाहक को माशूक़

की गली का पता-निशान ही नहीं बताता। परिणामतः वह ग़रीब इधर-उधर दौड़ते-दौड़ते मर मिटता है—

क़ासिदों के पाँव तोड़े बदगुमानी ने मेरी
ख़त दिया लेकिन न बतलाया निशाने-कूए-दोस्त।—आतश

जब संभावना में यह हालत, तो माशूक़ को प्रत्यक्ष स्पर्श करने वाले व्यक्ति के प्रति आशिक़ का क्या भाव होगा यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। स्नानागार में माशूक़ के शरीर का मैल छुटाने के लिए देह रगड़ने वाले दास को उस्ताद 'नासिख़' भट्ठी में झोंक देना चाहते हैं—

क्या लिपट जाता है मेरे सामने हम्माम में
डाल दूँ गुलख़न में ऐ ज़ालिम तेरे दल्लाक को।

हिन्दी-रीतिकाव्य में भी ईर्ष्या के वर्णन हैं, क्योंकि नायिका की अनेक सपत्नियाँ होती हैं। लेकिन यह ईर्ष्या तथा उर्दू-शाइरी का रश्क कुछ बिन्दुओं पर समान होते हुए भी एक-दूसरे से काफ़ी भिन्न हैं। विमर्श्य उर्दू-कविता में रश्क के साथ क्रोध एवं निराशा की अभिव्यक्ति ही हुई है। उदाहरणार्थ 'सहरुलबयान' में माहेरुख़ जब देव की ज़बानी बेनज़ीर और बद्रेमुनीर के प्रेम का वर्णन सुनती है तो आपे से बाहर हो जाती है—

ये उड़ती-सी उसको ख़बर सुन पड़ी।
कहा देखने जाऊँ उसको ज़री।
तो खा जाऊँ कच्चा उसे मौत हो।
लगी है मेरी अब तो वो सौत हो।

यह क्रोध का उदाहरण है। लेकिन जब आशिक़ का वश नहीं चलता तब रश्क निराशा को जन्म देता है और उसका फल होता है असह्य दुख—

मरते हैं रश्क के मारे पसे-दीवार रक़ीब
शोर करता है जो पाज़ेब का दाना शबे-वस्ल। —आतश

हिन्दी-रीतिकविता में खंडिता के प्रसंग क्रोध की व्यंजना प्रायः करते हैं। निराशा एवं दुखजन्य-ईर्ष्या के वर्णनों की भी कमी नहीं है। उद्धृत शेर में तो संयोग-रात्रि में पाज़ेब के घुँघरू बजने से रश्क उत्पन्न हुआ, लेकिन हिन्दी-रीतिकविता में नायक-नायिका की उत्सव-क्रीड़ा से ही सौतों की छाती फट जाती है—

आई अति आदर सों फाग की बधाई जब
धाई सखी सहित पठाई प्रेम पातियाँ।
संग लै युवति जाल अंग रंग पीले लाल
लाल को गुलाल भरिबे की लेत घतियाँ।

रंगमँगे अधर नयन अनुराग भरे
भाग भरी हँसनि सुहाग भरी बतियाँ।
झोरी भरे रोरी होरी होरी कहै गोरी 'देव'
देखति दरकि गई सौतिन की छतियाँ।

परन्तु हिन्दी-कवियों ने सौतिया डाह के सहजात जिन-जिन स्वाभाविक भावों को अपनी रचनाओं में रक्खा है, उनसे कवियों की भावगम्यता एवं काव्यकुशलता का पता चलता है।

रश्क के कई कार्य हैं। प्रेमी कभी-कभी अपने प्रतिस्पर्द्धी का दिल जलाने के लिए प्रेम-प्रदर्शन करके ईर्ष्या उत्पन्न करता है, जैसे—

ताकि मैं जानूँ कि है उसकी रसाई वाँ तलक
मुझको देता है पयामे-वादए-दीदारे-दोस्त। —ग़ालिब

परन्तु एक स्थिति ऐसी भी होती है, जहाँ प्रेम और रश्क का अन्तर बताना असम्भव हो जाता है। कविवर 'बिहारी' ने उस स्थिति का चित्रण किया है—

पिय सौतिनु देखत दई अपने हिय तैं लाल।
फिरति सबनु में डहडही उहै मरगजी माल।

नायक ने नायिका को अपने वक्ष से उतार कर माला दी। देते समय अन्य सपत्नियाँ भी देख रही थीं। नायिका उस मरगजी माला को पहने फूली फिर रही है। नायिका ईर्ष्यावश फूली-फूली फिर रही है या 'नायक ने आज मुझ पर कृपा की,' यह सोचकर फूली नहीं समाती अथवा 'अन्य नायिकाओं में उसने मुझे ही योग्य समझा' इस गर्व से फूल गई है? इस प्रसंग में 'बिहारी' का एक अन्य दोहा भी द्रष्टव्य है—

सुघर-सौति-बस पिउ सुनत दुलहिनि दुगुन हुलास।
लखी सखी तन दीठि करि सगरब सलज सहास।

नई दुलहिन ने प्रियतम को रूपवती सौत के वश में सुनकर दूनी प्रसन्नता से अपने शरीर पर सगर्व दृष्टि डाली, फिर लजाकर हँसते हुए सखी की तरफ़ देखा। नायिका को सपत्नी के प्रति ईर्ष्या है, लेकिन कवि ने उसे क्रोध या निराशा द्वारा प्रकट नहीं किया। ईर्ष्या-अभिव्यक्ति का ढंग देखिए। शरीर पर सगर्व दृष्टि डालना सौन्दर्य की, दृष्टि की सलज्जता यौवनोदय की, और हँसी (सपत्नी के प्रति) उपहास की व्यंजना करती है। इन सारी चेष्टाओं से ईर्ष्या व्यक्त होती है साथ ही ये सारी चेष्टाएँ ईर्ष्या की वजह से उत्पन्न हुई हैं।

प्रतिस्पर्द्धियों में परस्पर ईर्ष्या होती है। कभी-कभी प्रतिक्रिया-प्राकट्य साधन

का अभाव होने से वह ईर्ष्या असह्य पीड़ा देती है। परन्तु ऐसी दशा में सदैव निराशा या दुःख ही हो यह जरूरी नहीं है। 'बिहारी' ने उस भाव को भी चित्रित किया है, जब प्रेमी अपने प्रतिस्पर्द्धी से ईर्ष्या करता हुआ भी प्रसन्न होता है—

नये बिरह बढ़ती बिथा खरी बिकल जिय बाल।
बिलखी देखि परोसिन्यौ हरखि हँसी तिहिं काल।

दोहे का अर्थ यह है—वह बाला नए बिरह में बढ़ती व्यथा के कारण अत्यन्त व्याकुल हुई, लेकिन उसी समय पड़ोसिन को भी बिखलता देख हर्षित होकर हँस पड़ी। इस प्रसंग की विवृत्ति करते हुए बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' लिखते है— "नायिका को नया विरह हुआ है, जिसके कारण वह अत्यंत विकल हो रही है। पर अपनी बाल्यावस्था तथा पूर्वानुभव-शून्यता के वश एवं लज्जा तथा अज्ञानता के कारण वह संदेश भेजकर अथवा पत्र द्वारा अपना विरह निवेदित करके, नायक को बुलाने का उपाय करने में हिचकती है, और सोच रही है कि किस प्रकार विरह दुःख दूर हो। इतने ही में वह, अपनी प्रवीण पड़ोसिन को भी दुखी देखकर अनुमान करती है कि इसे भी मेरे ही पति का वियोग व्यथित कर रहा है और यह चतुर होने के कारण अवश्य ही नायक को बुला लेगी। इस विचार से विरह-व्यथा मिटने की सम्भावना मानकर, उसको हर्ष होता है और वह अपना दुःख भूलकर, पड़ोसिन की चोरी खुल जाने तथा संयोग-संभावना पर प्रसन्न होकर हँस देती है।"

यह भाव तो नायिका का सपत्नी के प्रति हुआ, अब सपत्नी का नायिका के देखिए—

प्रिय-प्राननु की पाहरू, करति जतन अति आपु।
जाकी दुसह दसा पर्‌यौ सौतिनिहूँ संतापु। —बिहारी

नायिका विरह में मरणासन्न है। उसे विरह का इतना कष्ट है कि सौत भी उसकी व्यथा से संतप्त है और स्वयं उपाय कर रही है कि वह ठीक हो जाय। क्यों ? इसलिए कि वह प्रियतम के प्राणों की रक्षक है। यदि उसका देहांत हो गया तो प्रियतम उसके विरह में जीवित नहीं रहेगा। 'सौतिनिहूँ संताप' में कितनी व्यंजना है। इच्छा विरुद्ध कार्य करना पड़ रहा है, लेकिन न करे तो क्या करे ? ईर्ष्या का कैसा दुरूह रूप है ?

'बिहारी' ने एक दोहे में सुख, दुख, क्रोध, क्रीडा, रीझ तथा खीझ को एक साथ दिखाकर ईर्ष्या का विचित्र किन्तु स्वाभाविक रूप प्रत्यक्ष किया है—

बालम बारै सौति कै सुनि परनारि-विहार।
भो रसु अनरसु, रिस रली, रीझ खीझ इक बार।

मीमांस्यकालीन उर्दू-शाइरी में माशूक़ का एक रक़ीब के घर जाने का वादा वफ़ा न करके दूसरे रक़ीब के यहाँ पहुँचना आशिक़ की मनोदशा मे कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। वहाँ ईर्ष्या ज्यों की त्यों रहेगी। लेकिन उपर्युद्धृत दोहे में सौत की पारी पर पर नारि-विहार सुनकर नायिका को सुख-दुख, क्रोध-क्रीड़ा, रीझ-खीज एक साथ हुए। लाला भगवानदीन ने इसके हेतुओं का अनुसन्धान इस प्रकार किया है, "सुख ईर्ष्याजन्य कि अच्छा हुआ सौति को दुःख हुआ। दुःख इस बात का कि एक सौत तो थी ही अब एक और हुई। रिस इस बात की कि नायक मेरे यहाँ क्यों न चला आया। रली (क्रीड़ा या मज़ाक़) इस बात पर कि सौत ऐसी गुणवती नहीं है कि प्रीतम को अपने वश मे करके अपने पास रख सके। रीझ इस बात की कि नायक मेरे ऊपर अनुरक्त है, क्योंकि मेरी पारी पर कहीं नहीं जाता। खीझ इस बात की कि बुरी आदत पड़ो, संभव है कहीं मेरी पारी के दिन भी नायक परस्त्री के पास जाय।"

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि रश्क नितांत पृथक् एवं विशुद्ध वृत्ति नहीं है, उसके साथ आशा, निराशा, क्रोध, घृणा, गर्व, लज्जा, हास, रीझ, खीझ आदि न मालूम कितनी वृत्तियाँ जुड़ सकती है। उर्दू-शाइर रश्क को लेकर परम्परीण रूढ़ भावों का ही चर्वित-चर्वण करते रहे। उनके रश्क का रूप पर्युपित एवं कहीं-कहीं अरुचिकर भी है, किन्तु हिन्दी-रीति-रचनाएँ इस रश्क के विविध पार्श्वों पर प्रकाश डालकर अनेक भावच्छवियों का उद्‌घाटन करती हैं।

पत्र

रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता में प्रेम के प्राधान्य के कारण पत्र-लेखन का भी बार-बार वर्णन हुआ है। पत्र या तो संयोग-संकेत-सूचक होता है अथवा वियोग में स्वकष्ट-निवेदनार्थ लिखा जाता है, जिसमे आकर दर्शन देने या मिलने की प्रार्थना रहती है। हिन्दी-रीतिकाव्य में प्रथम कार्य तो दूतियाँ करती हैं, लेकिन द्वितीय कार्य प्रायः पत्र द्वारा ही सम्पन्न होता है। हिन्दी-कविता मे पत्र के अन्तर्गत नायिका अन्य स्त्रियों के उल्लास तथा अपनी विपन्नावस्था दिखाकर ऋतु-जनित व्यथा का उल्लेख करती है—

कर कागद लै कै वियोगिनि नारि लिखै इमि प्रीतम को पतियाँ।
यहि पावस में परदेश छये बलिहारी तुम्हारी शिला छतियाँ।
सखियाँ पिय संग हिंडोरे चढ़ीं कहै गीत मे गाभी भरी बतियाँ।
अति कारी डरावनी साँपिनि सी मोहिं सालति सावन की रतियाँ।-पा० क० र०

पत्र मे सम्बोधन एवं सरनामा आदि सभी का यथोचित न्यास मिलता है।

नायिका नायक को 'स्वस्ति श्री सकल उपमा के धाम' कहकर पत्र प्रारम्भ करती है—

प्यारी प्रान प्यारे को लिख्यो है एक पाती आजु
ताके बिरतांत हो कहति हौं कि सुनि लेहु।
स्वस्ति श्री सकल उपमा के धाम स्याम ये तो
लिखित प्रणाम ही के भरो अति गरो नेहु।
जेती बतकही और रही ते बिसरि गई
'रघुनाथ' कागद में लिख्यौ बारबार येहु।
बीति गए बरसन लागै नैन तरसन
झरसन लागो गात अब दरसन देहु।

आलोच्य उर्दू-शाइरी में आशिक़ को अपने खत का जवाब प्राप्त नहीं हो पाता। उत्तर तो दूर, माशूक़ उसका पत्र या तो देखता ही नहीं या फिर हाथ में लेकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालता अथवा जला देता है।

ऐसी दशा में आशिक़ तरह-तरह की तरकीबें करता है, जिससे माशूक़ पर उसकी व्यथा प्रकट हो जाय और माशूक़ ऐसे उपाय करता है जिससे आशिक़ को उसकी नाराजगी का पता चल जाय। उर्दू-शाइरों ने इस उद्देश्य की पूर्ति निम्न-लिखित युक्तियों से की है—

(१) आशिक़ अपना मनोभिलाष विशेष लिखावट द्वारा व्यक्त करता है। वह कभी गुम्फित अक्षर लिखता है, जिससे उसकी माशूक़ से संयुक्त होने की कामना प्रकट होती है—

खते-त्वौअम में लिखा है यार को मक्तूबे-शौक़
आरज़ूए-वस्ल का ता मुद्दआ मालूम हो। —आतश

'ज़ौक़' की रचना में आशिक़ द्वारा खते-ग़ुबार से लिफ़ाफ़ा लिखने का वर्णन है। ख़ते-ग़ुबार से लिखने पर माशूक़ समझ जाएगा कि यह खत किसी खाकसार का है।

माशूक़ अव्वल तो पत्र लिखता ही नहीं और यदि कभी भूलकर लिख भी देता है तो उसके अक्षर टेढ़े-मेढ़े बनते हैं जो उसकी पराङ्मुखता अथवा अवहेलना के परिचायक हैं। केवल लिखावट से ही माशूक़ का क्रोध व्यंजित नहीं होता, अपितु उसके द्वारा किसी क़लम विशेष का प्रयोग भी इसी उद्देश्य से किया जाता है कि पढ़कर आशिक़ पुनः पत्र लिखने या बोलने का दुस्साहस न करे। 'ज़ौक़' के माशूक़ ने अपना पत्र क़लमे-सुर्मा से लिखकर भेजा है "उसने ख़त जो क़लमे-सुर्मा से लिक्खा हमको।"

(२) माशूक़ न केवल विशेष प्रकार की लेखनी का, अपितु भेजने के लिए विशेष माध्यम का सहारा भी लेता है। वह अपना पत्र बाण में बाँधकर भेजता है। भला बाणबद्ध पत्र का आशिक़ क्या उत्तर दे—"क्या दीजिए जवाब अजल के पयाम का।"[६]

(३) उर्दू-शाइरी के भीतर पत्र लिखने में प्रयुक्त विशिष्ट काग़ज़ किसी विशेष भाव की अभिव्यंजना करता है। माशूक़ कभी काग़ज़े-अबरी पर पत्र लिखता है, जिससे अवगत हो जाय कि आँसू-भरी आँख ने उथल-पुथल मचा रक्खी है। कभी पत्र के लिए काग़ज़े-अफ़्शानी लिया जाता है। लाल काग़ज़ पर चमकते कण सूचित करते हैं कि आशिक़ ने लहू रो-रोकर लिखा है। लेकिन माशूक़ का पत्र ख़ताई काग़ज़ पर लिखा हुआ आता है, जिसका मतलब यह है कि वह आशिक़ को ख़तावार मानता है। वह अपनी अकृपा दिखाने के लिए काग़ज़े-कश्मीर का प्रयोग करता है—

इसी मज़मून से मालूम उनकी सर्द-मेहरी है।
मेरा नामा जो उसने काग़ज़े-कश्मीर पर लिक्खा। —सौदा

इंतज़ार करते-करते आँखें सफ़ेद पड़ गईं, इसलिए आशिक़ सादा (सफ़ेद) काग़ज भेजकर अपनी आँखों का सफ़ेद हो जाना बताना चाहता है। माशूक़ यदि काग़ज़ का सफ़ेद पुर्ज़ा ही भेज दे तो आशिक़ समझ लेगा कि माशूक़ का दिल अब आशिक़ की तरफ़ से साफ़ हो गया है—

दिल की तस्कीन को मैं पैग़ाम सफ़ा का समझूँ
पुर्ज़ा काग़ज़ का जो भेजे वो गुल अंदाम सफ़ेद। —आतश

(४) पत्र में कुछ संकेत बनाकर मनोभावों का आभास दिया जाता है। 'ग़ालिब' ने अपने पत्र में सरनामे पर आँख की तस्वीर खींच दी है, जिससे माशूक़ को उनकी दर्शन-लालसा मालूम हो जाय—

आँख की तस्वीर सरनामे प खैंची है कि ता
तुझ प खुल जावे कि इसको हसरते-दीदार है।

निष्कर्ष यह कि आलोच्यकालीन उर्दू-कविता में अनेक युक्तियों का आश्रय लेकर ख़त लिखे गए हैं। हिन्दी-रीतिकाव्य के अन्तर्गत पत्र लिखते समय इतनी तरकीबें तो नहीं अपनाई गईं, परन्तु कुछ उक्तियों का उल्लेख 'बिहारी' के निम्नांकित दोहे में हुआ है—

तर झरसी, ऊपर गरी, कज्जल-जल छिरकाइ।
पिय पाती बिनहीं लिखी बाँची बिरह-बलाइ।

नायिका-भेद-विशारद तो 'तर झरसी' का अर्थ वियोग-संताप से जल रहे शरीर

के स्पर्श से (अर्थात् उँगलियों में पकड़ने के कारण) झुलसी हुई आदि करेंगे, परन्तु 'छिरकाइ' क्रियापद से साफ़ प्रकट होता है कि पाती पर कज्जल-जल छिड़का गया है, जिससे वह ऊपर गल गई है। यदि आँसुओं से भीगी होती तो कवि कज्जल-जल गिरने, चूने अथवा टपकने आदि शब्दों का प्रयोग करता, न कि छिड़काने का। इससे अनुमान होता है कि पाती नीचे आँच देकर कुछ झुलसा दी गई है और ऊपर कज्जल-मिश्रित जल छिड़ककर कुछ गला दी गई है, जिससे नायक को नायिका के विरह-ज्वर तथा रोदन का आभास हो जाय और उसकी यह युक्ति सफल भी हुई, क्योंकि नायक ने पाती में न लिखी हुई विरह-व्यथा बाँच ली।

पत्र वस्तुतः प्रेषक की मनोदशा का अभिव्यंजक होता है। अपने हृदय का हाल पत्र में अंकित किया जाता है और उस हाल से पत्र-प्रापक को अवगत कराने के लिए ही सारी तरकीबें इस्तैमाल की जाती हैं। लेकिन हिन्दी-रीतिकवि 'बिहारी' ने एक ऐसे पत्र का भी उल्लेख किया है जो अंक विहीन है—

बिरह-बिकल बिनु ही लिखी पाती दई पठाइ।
आँक-बिहूनीयौ सुचित सूनैं बाँचत जाइ।

इधर विरह-विकल नायिका की तो यह दशा कि उससे पत्र लिखा ही नहीं गया। बेचारी ने बिना-लिखी (कोरी) पत्रिका भेज दी और उधर प्रेम-विकल नायक की वह दशा कि वह उस कोरी पत्रिका को भी सूने स्थान में बड़े ध्यान से बाँचता चला जा रहा है।

जिस प्रकार नायक के हृदय की दशा उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट हुई उसी प्रकार अधोलिखित दोहे में नायिका की प्रेम-दशा का वर्णन है—

कर लै, चूमि, चढ़ाइ सिर, उर लगाइ, भुज भेटि।
लहि पाती पिय की, लखति, बाँचति, धरति समेटि। —बिहारी

कहने का आशय यह कि उर्दू-शाइरी में वर्णित पत्र प्रेषक की मनोदशा के व्यंजक हैं, परन्तु 'बिहारी' का पत्र प्रेषक के स्थान पर प्रापक के हृदय का दर्पण बनकर सामने आया है। पत्र-लेखन में जिस युक्ति का प्रयोग कविवर बिहारीलाल ने किया है, वैसी युक्ति का प्रयोग उर्दू-शाइरी में नहीं हुआ।

पत्रवाहक

रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में मनुष्यों के अतिरिक्त पत्र ले जाने का काम पक्षियों को सौंपा गया है। उर्दू-कविता प्रायः 'मुर्ग़े नामाबर' कहकर इसका संकेत देती है। लेकिन जहाँ उसकी व्यावृत्ति है, वहाँ केवल कबूतर का ज़िक्र मिलता है—

किस तरह मालूम हो हाले-दिले-गुमगमश्ता-हाय
जो कबूतर ले गया वाँ नामा अनका हो गया। —मोमिन

हिन्दी-रीतिकाव्य में पत्र ले जाने का कार्य शुक द्वारा सम्पन्न होता है। यह शुक नायिका की दीनदशा देखकर या उसके करुण विलाप से द्रवित होकर स्वतः ही उसके पास आ जाता है। यही नहीं, वह शुक आदमी की भाषा समझकर तदनुसार उत्तर भी देता है—

सुनि शुक वचन बाल उठि धाई।
चलि दरवा दरख्त तर आई।
अहो परवते पिय के धावन।
मेरे पास उतरि किन आव न?

उड़ि बाला के बाँह पर बैठो सुआ प्रवीन।
माधोनल के दरद को रुक्का ताको दीन। —बोधा

उर्दू-काव्य में कबूतर पत्र ले तो जाता है, मगर फिर वापस नहीं आता। हिन्दी-कविता में इसके विपरीत सुआ लम्बी-लम्बी यात्राएँ करके पत्र पहुँचाता और उत्तर लेकर वापस आता है। उपर्युक्त उदाहरण में माधवानल का संदेश सुआ ने उज्जैन से कामावती पहुँचाया, फिर जवाब में कंदला का खत लेकर कामावती से उज्जैन के लिये प्रस्थित हुआ—

पाती लिखि कंदला प्रवीनी।
बाँधि गरे शुक के वह दीन्ही।
बहुतक खबरि जबानी गाई।
करि प्रणाम शुक चल्यो उड़ाई।

सुआ ने पत्रिका ली, ज़बानी खबर भी सुनी, फिर प्रणाम किया और तब उड़ा। कितना शिष्ट और सभ्य है यह सुआ? अफ़सोस है कि उर्दू-शाइरी के मुर्ग़-नामावर ने यह तहज़ीब नहीं सीखी।

अध्याय | ९

सौन्दर्य-चित्रण

'सौन्दर्य' शब्द सुन्दर की भाववाचक संज्ञा है। सुन्दर शब्द 'उन्द' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है आर्द्र करना। जो हमारे हृदय को आर्द्र कर दे वह सुन्दर है। दूसरे शब्दों में, जिस वस्तु को देखकर हमारा मन उसमें रम जाय, डूब जाय, सिक्त हो जाय उसे सुन्दर कहा जाएगा। इस प्रकार सौन्दर्य की स्थिति न केवल विषयीगत, अपितु विषगत भी है। विषयीगत इसलिए कि एक ही आलम्बन सभी को सुन्दर नहीं लगता और विषयगत इसलिए कि सुन्दर वस्तुएँ सामान्यतः सभी को सुन्दर लगती हैं। तात्पर्य यह कि बिना सरस हृदय के सौन्दर्य की कल्पना नहीं हो सकती, लेकिन बिना किसी मानदंड के किसी वस्तु को सुन्दर सिद्ध नहीं किया जा सकता।

आलोच्यकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य मानवीय सौन्दर्य का काव्य है, अतः उसमें मानवीय कलेवर तथा मन के उस वैशिष्ट्य पर पुनः पुनः प्रकाश डाला गया है, जिसके कारण दर्शक का चित्त स्वतः आकृष्ट हो जाता है। लाला भिखारीदास ने उस नायिका को सुन्दरी माना है जो युवती हो और जिसमें शोभा, कान्ति तथा सुदीप्ति-युत नख-शिख-प्रभा हो—

युवा सुन्दरी गुनभरी तीन नायिका लेखि।
सोभा, कान्ति, सुदीप्ति युत नख शिख प्रभा विसेखि।

रीतिकालीन उर्दू-शाइर सौन्दर्य के लिए नाज़ो-अन्दाज़, अदा और लावण्य का होना अनिवार्य समझते हैं—"हुस्न को चाहिए अन्दाज़ो-अदा-नाज़ो-नखरा।"[1] नाज़ो-अंदाज़ आलम्बन की चेष्टाओं से सम्बद्ध हैं। ये उद्दीपन हैं, सौन्दर्य के मूलभूत तत्व नहीं कहे जा सकते। हाँ लावण्य अवश्य सौन्दर्य का अभिन्न अंग है। भिखारीदास ने जिन तीन तत्वों का उल्लेख किया है, वे सौन्दर्य के अनिवार्य तत्व हैं, परन्तु बिना रूप के कान्ति और दीप्ति शोभा-संभार जुटाने में सफल नहीं हो सकतीं।

सौन्दर्य से सम्बद्ध कलेवर में प्रायः वर्ण, दीप्ति, आभा, लावण्य, कान्ति, मृदुलता, कृशता, सुकुमारता, यौवन-छटा, पारदर्शिकता, प्रफुल्लता, सुगंधि और विकास आदि की खोज की जाती है। लेकिन ये भाव पुनरुक्ति-दोष-युक्त हैं। उदाहरणार्थ सुकुमारता का भाव मृदुलता तथा कृशता को अन्तर्निहित किए हुए है। दीप्ति, आभा और कान्ति मात्र स्तर-भेद हैं, वस्तु-भेद नहीं। लावण्य वर्ण तथा दीप्ति की रूपगत उमड़न है। यहाँ मन स्थिर हो जाता है। जब मन रूप-वर्ण से आकृष्ट होकर उसमें सिक्त हो जाय तो उसे माधुर्य कहेंगे। सौन्दर्य में लावण्य और माधुर्य दोनों का स्वाद मिलता है—

नैन सलोने अधर मधु कहु रहीम घटि कौन ?
मीठो भावै लोन पर ज्यों मीठे पर लौन। —रहीम

अतएव सौन्दर्य वस्तुतः रूप, रंग, उज्ज्वलता, दीप्ति, गंध तथा सुकुमारता का मिश्र रूप है। विवेच्य हिन्दी-उर्दू-कविता ने मानवीय सौन्दर्य के इन सभी अंगों पर दृष्टि केन्द्रित की है।

रूप

रूप का सम्बन्ध आकृति से है। अंगांग की बनावट दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है। रूप को विभिन्न कोणों तथा विभिन्न परिवेशों में रखना रीतिकालीन उर्दू-हिन्दी-कवियों का महत्वपूर्ण काम था। हिन्दी-रीतिकाव्य में नायिका के मुख को अनेक स्थितियों में चित्रित किया गया है, जैसे घूंघट के भीतर झलकता मुँह अथवा साड़ी की चमचमाती किनारी से परिवेष्टित मुँह। राधा-कृष्ण पलँग पर लेटे हुए हैं। राधा ने कृष्ण की अंजलि जोड़ी और उस पर अपना मुख रख दिया। कवि उस मुख की शोभा वर्णन कर रहा है—

राधिका स्याम लसे पलका पर का पर जाति कही छवि हाल की।
आपने हाथ से भावती लैकर प्रीति से आँजुरी जोरी गोपाल की।
'ठाकुर' तापै धरौ मुख बाल नै को बरनै उपमा वहि काल की।
पानन मैं तिय आनन यों दिपै चंद चढ़ो मनो कंज की नालकी।

नायिका के ढले हुए अंगों का सौष्ठव, उसके शीतल स्पर्श का तापनाशक प्रभाव, उसके शरीर की दिव्यगंध, सभी का वर्णन कवि 'आलम' ने एक सवैए में करके उसके रूप का चित्र खींचा है—

सौरभ सकेलि मेलि केलि ही की बेलि कीन्ही
शोभा की सहेली सु अकेली करतार की।
जित ढरकैं हो कान्ह तितही ढरकि जाय
साँची ही सुढारी सब अंगनि सुढार सी।

तपनि हरति कवि 'आलम' परस सीरो
अति ही रसिक रीति जानै रस-चार की।
ससि हूँ को रस सानि सोने को सरूप लैकै
अति ही सरस सो सँवारी घनसार की।

समस्त सौरभ को इकट्ठा करके चन्द्ररस में सुवर्ण को सानकर कपूर से उसके शरीर का निर्माण किया गया है। अंग-अंग साँचे में ढले हुए हैं।

'रघुनाथ' कवि ने कृष्ण द्वारा ग्रहीत आभूषण-भूपित नायिका को "मूरतिवन्त बलाहक हाथ जरी मनि मानो छरी चपला की" कहकर चित्रित किया है और कृष्ण-सान्निध्य में उसे समुद्र में स्थिर बिजली बताया है "ऐसी लसै विधि ने थिरा कै मनो राखि है बारिधि में बिजुरी भरि।"

उर्दू-काव्य में शरीर को 'सर्व' और मुख या कपोल को 'गुलाब' कहा जाता है। 'नासिख़' ने माशूक़ के कपोल के आगे चन्द्रमा को जुगनू बना दिया है—

जल्वा फ़र्मा बाम पर जो आरिज़े जानाँ हुआ
चाँद उसके सामने इक किर्मके-शब-ताब था।

अपने रूप पर आसक्त होने के उदाहरण दोनों काव्यों में हैं। 'बिहारी' ने एक नायिका का चित्र प्रस्तुत किया है, जो अपने रूप को आरसी में देखकर रीझ गई है—"आपु आपु हीं आरसी लखि रीझति रिझवारि।" 'आतश' का माशूक़ भी स्वयं पर आशिक़ है। उसने शीशे में जो अपनी सूरत देखी तो अपनी गर्दन में हाथ डाल दिए—

आईने ने किया है जो सूरत से आश्ना
गर्दन में उनकी हाथ है उनके पड़े हुए।

नायिका का रूप अतुलनीय है। उसे तौलने के लिए सुरैया के बटखरे आकाशगंगा की डाँड़ी और सूर्य-चन्द्र के पलड़े चाहिए—

सुधन के रूप कों तोले सुरैया के बटाँ घाले
दँडी सो कहकशाँ की कर चंदर सूरिज हुए थाले।
—अली आदिलशाह द्वितीय

रंग

उर्दू-शाइरी में माशूक़ को गुल-अंदाम कहा जाता है, लेकिन उसका रंग लाल दिखाते हैं। यह लाल रंग इतना गहरा है कि चेहरे पर पड़ी पसीने की बूंदे लाल रंग बन जाती हैं—"रंग इसे कहते हैं बनता है अरक़ मुँह पर शहाब।"[२]

माशूक़ के बदन का रंग न पूछिए। वह जो वस्त्र पहनता है,

उसी पर रंग की तह जम जाती है—"क्या बदन का रंग है तह जिसकी पैराहन प है।"[3]

हिन्दी-रीतिकाव्य में भी नायिका के लाल रंग का उल्लेख है। यौवनोदय के कारण नायिका के शरीर का रंग ऐसा हो गया है जैसे क्षीर-परात में सिन्दूर पड़ गया हो "ईंगुर क्षीर-परात में परे होत जो रंग"।[४] पैर की लालिमा का यह आलम है कि वह जहाँ-जहाँ पैर रखती है, वहाँ-वहाँ मजीठ की मटकी ढलक पड़ती है, दुपहरिया के फूल खिल जाते हैं—

धरति जहाँइ जहाँ पग है सुप्यारी तहाँ
मंजुल मजीठ ही के माठ से ढरत जात। —पदमाकर

पग पग मग अगमन परत चरन अरुनदुति भूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया से फूलि। —बिहारी

रीतिकालीन उर्दू-शाइरों ने आशिक़ के मनोहर रंग पर दृष्टि नहीं डाली है, लेकिन हिन्दी-रीतिकविता में नायक की उपेक्षा नहीं है। 'मीर' ने माशूक़ के रंग की तह पैराहन पर जमाई है तो 'बिहारी' ने नायक के ओठ से रंग-वर्षा की है—

सुदुति दुराई दुरति नहिं प्रकट करति रति-रूप।
छुटै पीक औरै उठी लाली ओठ अनूप।

हिन्दी-रीतिकाव्य में यह लाल रंग यौवनोदयोपहित रंग है। नायिका का स्वाभाविक रंग गोरा माना गया है। लेकिन उस गौर वर्ण को रीति-कवि हेम रंग का मानते हैं। इस प्रकार नायिका के शरीर को प्रायः हलके पोले रंग का कहा जाता है। कवि 'देव' ने इसीलिए उस गोराई की लीक को पुतली-कसौटी पर खिंची कंचन-लकीर के समान बताया है—

जब लगि आँखिन की पूतरी कसौटिन मैं
लागी रहे लीक वाकी सोने की गुराई की।

हेमवर्णा नायिका के रंग में जब तारुण्य की अरुणाभा मिल जाती है तो उसकी छबि ऐसी हो जाती है—

जगर मगर जोति ऐसी अंग अंग होति
कंचन की छरी मानौ आगि मैं तपाई है। —सुन्दर

उसके शरीर के ऊपर सुवर्णाभूषण पहचाने ही नहीं जाते। समानद्युति होने से छिप जाते हैं। ज्ञान तब होता है, जब नायिका के शरीर का स्पर्श करते हैं। जो स्थान कर्कश मालूम पड़ता है वहाँ आभूषण है और जो स्थान कोमल है वह शरीर है—

डीठि न परतु समान दुति कनकु-कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात। —बिहारी

'बिहारी' ने सरिता-स्नान करती हुई नायिका की देहद्युति के कारण जल को केसर-घुले-जल-सा दिखाया है—

लै चुभकी चलि जाति जित जित जल केलि अधीर।
कीजत केसरि नीर से तित तिति के सरि-नीर।

हिन्दी-रीतिकवियों के रंग-वर्णन में एक विशेषता है। उन्होंने नायिका के मुख को तो चन्द्रकला के समान बताया है, किन्तु उसकी शरीर-यष्टि को सोने की शलाका-सा चित्रित किया है—

सुघरी सुशीली सुयशीली सुरसीली अति
लंक लचकीली काम धनुष हलाका सी।
कहै कवि 'तोष' होती सारी ते निनारी जब
कारी बदरी ते बढ़ै चन्द्र की कलाका सी।
लोने लोने लोयन पै खंजन भमक बारौं
दंतन चमक चारु चंचला चलाका सी।
साँवरे सुजान कान्ह तुमसे छपाऊँ कहा
सेज पै सोवाऊँ आनि सोने की शलाका सी।

उर्दू-शाइरी में माशूक़ को पीतवर्णी चित्रित करने की रीति नहीं है। हाँ, उसे श्वेतवर्ण वाला ज़रूर दिखाया जाता है। उर्दू-कविता में माशूक़ के लाल तथा श्वेत यही दो रंग हैं। हिन्दी-रीतिकाव्य में नायक-नायिका दोनों के शरीरों के रंग उल्लिखित हैं। नायक का रंग साँवला और नायिका का गोरा। रंगों के इस मंजुल वैपरीत्य से कवियों ने अत्यन्त नेत्रोत्फुल्लकारी दृश्य-विधान किए हैं। कृष्ण और राधा अपने-अपने घरों में हैं, लेकिन प्रेम की आकर्षण-शक्ति का चमत्कार देखिए—

अपने अपने निज गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भीजत प्रेम भरे समयो लखि मैं बलि जाऊँ पै री।
कह 'ठाकुर' दोउन की रुचि सों रँग ह्वै उमड़े दोउ ठाँव पै री।
सखी कारी घटा बरसै बरसाने पै गोरी घटा नँदगाँव पै री।

रंग अपने स्थान पर उमड़ा, परन्तु बरसा अन्य जगह। यानी उसकी स्थिति यहाँ है और उसका प्रभाव वहाँ प्रकट हो रहा है। लेकिन सवैए की व्यंजना इतनी मात्र नहीं है। छंद का रंग-संजीवन जिस शब्द में है वह शब्द है 'रुचि'। काले-गोरे रंग कृष्ण एवं राधा को शरीर-रुचि के कारण उमड़े। कृष्ण के शरीर की रुचि

(प्रभा) से काले रंग की घटा उमड़ी, राधा की शरीर-रुचि से गोरी घटा उमड़ी। स्व-स्व-शरीर-रुचि से तत्तद्वर्णी बादल अपने-अपने घरों में उमड़े। परन्तु अब रुचि शब्द का परिवर्तन-प्रभाव देखिए। चूँकि कृष्ण की रुचि गोरे रंग (राधा) में थी, अतः नन्दगाँव में गोरा रंग बरसा, राधा की रुचि कृष्ण-रंग में थी, इसलिए काला रंग बरसाने में बरसा।

आलम्बन को पृथक् रूप से लाल, श्वेत तथा श्याम रंग का दिखाने के अलावा काले, लाल एवं श्वेत रंगों के मिश्रण में हिन्दी-रीतिकवियों की रुझान अक्सर मालूम पड़ती है। उन्होंने नायिका की छवि में त्रिवेणी के दर्शन प्रायः किए हैं—

जाहिरै जागत सी जमुना जब बूड़ै बहै उमहै वह बैनी।
त्यों 'पदमाकर' हीर के हारन गंग तरंगन कों सुख दैनी।
पाइन के रंग सों रँगि जाति सो भाँति ही भाँति सरस्वती सैनी।
पैरे जहाई जहाँ ब्रजबाल तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिबेनी।

नायिका तालाब मे पैर रही है। उसकी वेणी जल में डूब जाती है, बहती है फिर उछर जाती है। काले रंग की वेणी का यह लहरीला रूप स्पष्टतया यमुना-सा प्रतीत होता है। हीरों के हारों की शोभा गंग-तरंगों-सी है। पैरों का लाल रंग सरस्वती-सा है। अतः जहाँ-जहाँ वह बाला पैरती है तालाब में वहाँ वहाँ त्रिवेणी उत्पन्न हो जाती है। इस उद्धरण मे रूप और रंग का सुन्दर सामंजस्य घटित हुआ है।

रंग की झलक के दो प्रभाव पड़ते हैं—(१) माशूक़ का लाल रंग गुलाब के फूल को लाला का फूल और सेवती के फूल को गुलाब का फूल बना देता है—

पड़ा अक्स उसका जो तर्फ़े-चमन
हुआ लाला गुल और गुल नस्तरन। —मीर हसन

यह तद्गुणता रीतिकालीन उर्दू-हिन्दी-काव्यों में समान रूप से उपलब्ध है, लेकिन हिन्दी-रीतिकविता में अज्ञातयौवना नायिका की मासूमियत के मेल से इस रंग में अद्भुत माधुर्य आ गया है—

काल्हि हि गूँदि बबा कि सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ ते इहाँ पुषराज की संग गई जमुना तट बाला।
न्हात उतारी मैं 'बेनी प्रबीन' हँसैं सुनि बैननि नैन बसाला।
जानति ना अँग की बदली सबसों बदली बदली कहै माला।

नायिका के गौरवर्ण में पीतिमा स्फुटित होने लगी है। गजमुक्ता-माल को वह पुखराज की माला समझकर सबसे कहती फिरती है कि मेरी माला बदल गई

है, मेरी माला बदल गई है। सखियाँ हँस रही हैं कि यह बेचारी नहीं जानती। माला नहीं बदली, उसके अंग बदल गए हैं।

(२) रंग की झलक का दूसरा प्रभाव यह है कि वस्तु का सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता है, यथा—

दरख़्तों पर उसकी पड़ी जो झलक।
ज़मुर्रुद को दी और उसने चमक। —मीर हसन

इस प्रभाव को 'पदमाकर' ने अद्वितीय ढंग से दिखाया है। नायिका की अंग-द्युति न केवल एक रंग की वस्तु को, वरन् विभिन्न रंगों की वस्तुओं को दिव्यता प्रदान करती है—

रीझै सखी लखि राधिका को रंग जा अंग जो गहनो पहरावै।
होत यों भूषन भूषित गात ज्यों डाँक पै जोति जवाहर पावै।

जैसे डाँग पर रत्नों की चमक एवं रंग बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार नायिका के अंगों पर पहने आभूषण चमकदार तथा द्योतितवर्णी हो जाते हैं।

उज्ज्वलता

आलम्बन के शरीर की उज्ज्वलता-अभिव्यक्ति रीतिकालीन हिन्दी-कविता में कई तरह से हुई है। उर्दू-शाइर औज्ज्वल्य-व्यंजना प्रायः दो ढंगों से करते हैं—(१) स्पर्शादि से माशूक़ के रंग का मैला होना दिखाकर (२) शरीर को दर्पण-सा पारदर्शी वर्णन करके।

प्रथम प्रकार के चित्रण हिन्दी-रीतिकाव्य में प्रारम्भ से ही प्राप्त हैं। कवि 'आलम' (र० का० सन् १६८३-१७०३) का कथन है कि नायिका की निकाई हाथ लगते ही मैली हो जाती है, अतः कमलपत्र हाथ में लेकर उसके शरीर का स्पर्श करना चाहिए। मुँह के सामने आँचल करके उससे बात करनी चाहिए, नहीं तो उसका शरीर वैसे ही मलिन पड़ जाएगा जैसे उसाँस लगने से दर्पण—

कमल को पात लै लै हाथु याको गात छूजै
हाथ लाये मैली होय गात की निकाई है।
आँचर दै मुख सनमुख तासों बात कीजै
ना तरु उसाँस लागे मुकुर की हाई है।

[उ]र्दू-शाइरी में ऐसे भावों का प्राचुर्य है। माशूक़ के कपोल हवा लगने से मैले [हो]ते हैं। माशूक़ इतना नाजुको-लतीफ़ है कि सूंघने से कुम्हला जाता है और [छू]ने से मैला हो जाता है—

बू किए कुम्हलाए जाते हो नज़ाकत हाय रे।
हाथ लगते मैले होते हो लताफ़त हाय रे। —मीर

उपर्युक्त उदाहरणों में स्पर्श करने से रंग मैला होता है, लेकिन उर्दू-शाइरी में सुकुमारता का स्तर और भी ऊँचा है। स्पर्श ही नहीं, स्पर्श का विचार भी माशूक़ के रंग को मैला कर देता है। उर्दू-शाइरी में आशिक़ चुंबन की कल्पना करता है तो माशूक़ के होठों का रंग बदल जाता है—

हूँ दाग़े नाज़ुकी कि किया था ख़याले-बोस
गुलबर्ग-सा वो होठ जो था नीलगूँ हुआ। —मीर

औज्ज्वल्याभिव्यक्ति का दूसरा ढंग उर्दू-कविता में अपनी विशेषता रखता है। हिन्दी-कवि 'बिहारी' ने भी नायिका के अंगों को दर्पण-सा व्यंजित किया है—

अंग अंग प्रतिबिम्ब परि, दरपन सैं सब गात।
दुहरे तिहरे चौहरे भूषन जाने जात।

लेकिन उर्दू-शाइर उन्हें पारदर्शी दिखाते हैं। यद्यपि 'बिहारी' ने पान खाने पर उसकी पीक नायिका के गले के पार झलकती चित्रित की है, फिर भी उसे उर्दू-काव्य के ढंग की औज्ज्वल्याभिव्यंजना नहीं कह सकते। उर्दू-शाइरी में औज्ज्वल्य-व्यंजना के स्थान पर औज्ज्वल्य का ऊहात्मक चित्रण मिलता है। माशूक़ के गातौज्ज्वल्य को अभिव्यक्त करने के लिए उर्दू-शाइरों ने उसके पैर को ऊपर से देखकर तलवे तक का हाल बयान कर दिया है। यहीं तक नहीं, देह-यष्टि इतनी साफ़ एवं सूक्ष्म है कि दिल में छिपी हुई बात स्पष्टतः दिखाई पड़ जाती है—

ये सफ़ाई ये लताफ़त जिस्म में होती नहीं
तुमने जो दिल में छुपाया आशकारा हो गया। —नासिख

इस प्रकार उर्दू-शाइरी में उज्ज्वलता के वर्णन ऊहापरक अधिक हैं। हिन्दी-रीतिकविता में ऊहा के ऐसे प्रयोग नहीं मिलते। 'बिहारी' ने उज्ज्वलता की व्यंजना इस ढंग से की है कि उसके आगे फूल, चाँदनी तथा शीशा सभी असमर्थ हो गए हैं—

कहा कुसुम कह कौमुदी कितक आरसी जोति।
जाकी उजराई लखैं आँखि ऊजरी होति।

उसकी उज्ज्वलता के सामने फूल, चाँदनी एवं दर्पण की ज्योति की क्या बिसात? उसकी उज्ज्वलता तो ऐसी है कि जिसे देखने से आँख उजली हो जाती है। इस व्यंजना तक उर्दू-शाइरी की पहुँच नहीं हो सकी। वह उज्ज्वलता कैसी जो छूने से धूमिल पड़ जाय? जो उज्ज्वलता अन्य को छूकर उज्ज्वल बना दे वही तो वास्तविक उज्ज्वलता है। सौन्दर्य-दीप्ति का यह एक लासानी नमूना है।

उपर्युक्त दोहे में शरीर की सफ़ाई का निस्संग चित्रण है। 'बिहारी' ने एक अन्य दोहे में उज्ज्वलता का वर्णन सापेक्षिकता से किया है। नायिका आभूषण पहने हुए है। आभूषण-भूषित उसके शरीर की स्वच्छता और भी दीप्त हो उठी है। कवि का कथन है कि नायिका की सुन्दर छवि को स्वच्छ रखने के लिए ब्रह्मा ने आभूषणों को पाअंदाज़ बना दिया है—

मानहुँ बिधि तन-अच्छ-छबि स्वच्छ राखिबे काज।
दृग-पग-पोंछन कौं करे भूषन पायंदाज।

जिस तरह पाअंदाज पर पैर रगड़कर पोंछते है, फिर कमरे के अन्दर घुसते हैं, जिससे कमरे में बिछा फ़र्श मैला न हो, उसी प्रकार नज़र पहले आभूषणों पर अपने पैर रगड़कर साफ़ कर ले तब नायिका के शरीर पर पड़े, जिससे उसकी उज्ज्वलता ज्यों की त्यों बनी रहे। जब पाअंदाज़ इतने क़ीमती हों तो फ़र्श कितना मूल्यवान् एवं साफ़ होगा ? शारीरिक औज्ज्वल्यातिशय की कैसी गूढ़ व्यंजना है ?

'बिहारी' ने सापेक्षता के माध्यम से शरीर की स्वच्छता एक अन्य दोहे में और भी कौशल से प्रस्तुत की है। पहले आरोप, फिर आरोप की असंगति दिखाकर अथवा उसका निराकरण करके कवि उज्ज्वलता की झलक और बढ़ा देता है। अंगराग नायिका की छवि के लिए ह्रासकर है, जैसे दर्पण को साँस मलिन कर देती है। आभूषण उसके शरीर पर ऐसे लगते हैं, जैसे दर्पण पर मोरचा लग गया हो—

पहिरि न भूषन कनक के कहि आवत इहिँ हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत।

दीप्ति

सौन्दर्य में रूप और रंग को ओप प्रदान करने वाली है दीप्ति। हिन्दी-रीतिकाव्य में दीप्ति का सौन्दर्य-सँवार में बहुत बड़ा हाथ है। नायिका परम कृश है, परन्तु अंग-अंग में लपट के समान उभरती हुई छवि के कारण उसकी देह भरी-सी मालूम पड़ती है—

अंग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी-सी देह। —बिहारी

'बिहारी' ने एक अन्य दोहे में बाला को दूसरी स्त्रियों में फ़ानूस-सा अलग प्रकट दिखाया है—

बाल छबीली तियनु मैं बैठी आपु छिपाइ।
अरगट हीं फानूस सी परगट होति लखाइ।

यहाँ नायिका मोमबत्ती है। छबीली तियाँ फ़ानूस का घेरा हैं। जिस प्रकार मोमबत्ती की चमक से फ़ानूस के शीशे चमक उठते हैं, उसी प्रकार नायिका के सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब अन्य स्त्रियों में पड़ रहा है और उनकी शोभा बढ़ गई है। साथ ही, जैसे बाहर से देखने पर दृष्टि फ़ानूस के शीशे को पार कर मोमबत्ती पर ठहरती है, उसी प्रकार अन्य स्त्रियों के सौन्दर्य को भेदकर दर्शक की दृष्टि अंततः शमअए-फ़ानूम (नायिका) पर ही ठहरती है।

यह दीप्ति हिन्दी-रीतिकवियों ने मुख-ज्योति तथा अंगकान्ति के माध्यम से चित्रित की है। नायिका की मुख-ज्योति के सामने चन्द्रमा द्युतिहीन दिखाया गया है। उसका मुख इतना दीप्त है कि उसने ऊपर की ओर देख दिया तो चन्द्र-मंडल छिप गया, केवल कलंक ही शेष रह गया—

जानिबे को निशि दिशि ऊरध को देख्यो ज्यों ही
त्यों ही फैल्यो आनन-प्रकाश ऐसे अंक को।
भोर लौं उड़त एक रहिगो कलंक बाकी
छपि गयो व्योम बीच मंडल मयंक को। —रघुनाथ

नायिका का शरीर इतना ज्योतिष्मान है कि उसके शरीर की छाँह के आगे चाँदनी छाँह-सी प्रतीत होती है—

वाहि लखैं लोइन लगै कौन जुवति की जोति।
जाकैं तन की छाँह-ढिग जोन्ह छाँह-सी होति। —बिहारी

भाव यह है कि उसके शरीर की कान्ति ऐसी है कि उसकी छाया में भी प्रकाश है और वह प्रकाश ऐसा है कि जिसके आगे चन्द्रिका फीकी पड़कर छाया जैसी लगती है।

शरीर की इस कान्तिमत्ता की व्यंजना के लिए कवियों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं। उर्दू-शाइर 'मीर' की कल्पना है कि माशूक़ के ज्योतिर्मय शरीर के धोवन से चाँद-तारे बने हैं। शरीर-प्रक्षालन-जल जम गया तो चन्द्रमा बन गया, मुँह धोने के छींटों से तारे बन गए—

शुस्तो-शू का उसका पानी जमअ होकर मह बना
और मुँह धोने के छींटों-से सितारे देखिए।

इसी प्रकार की कल्पना हिन्दी-कवि ने भी की है। लेकिन अन्तर बस इतना है कि 'मीर' ने चाँद-तारे माशूक़ के शरीर के धोवन से बने बताए हैं, परन्तु हिन्दी-रीतिकवि उसके सम्पर्क से ब्रह्मा के हाथों में आ गए गुण की ओर संकेत करता है। नायिका को बनाकर ब्रह्मा ने अपने हाथ धोए, तो जो रंग जम गया, उससे चन्द्रमा बना और जब हाथ झाड़े तो उन छींटों से तारे बन गए—

प्यारी को बनाय विधि हाथ धोयो ताको रंग
जमि भयो चंद हाथ झारे भये तारे हैं। —'शृं० सु०'

हिन्दी-रीतिकवियों ने नायिका की देह-दीप्ति को लेकर बड़ी ऊँची-ऊँची उड़ानें भरी हैं। नायिका दीपकों के प्रकाश में छिपी बैठी थी। इतने में वहाँ नायक आ गया। नायिका ने डर कर दीपकों को बुझा दिया, जिससे उसकी उपस्थिति का पता न चले। लेकिन दीपक बुझाना गले का गाहक हो गया, क्योंकि अँधेरे में चमचमाती उसकी देह अलग दिखाई पड़ गई—

बैठी हुती आज दुरि दीपन में आयो तहाँ
जाहि तू कह्यो करति बीर हलधर को।
भाजी हौं डेराइ करि भवन अँधेरो लागे
निपट छवान कान्ह अति गह्यो कर को।
दीपति हमारी ये हमारे साथ कीन्हों छल
दीन्हों जीव गहि ताहि वाहि भेव घर घर को।
दौरि दूरिबे के काज दीपन बुझायो सो तौ
गाहक भयो री आली आपने ही गर को। —द्विजदेव

कृष्णाभिसारिका को हिन्दी-रीतिकवियों ने प्रायः अग्नि-शिखा कहकर सम्बोधित किया है। वह कुंजों में चलती है तो मानो धधकती दावाग्नि की लपट दौड़ रही हो—

दव कैसी धधरि धधकि धाई कुंजन मैं
मानो धूम पुंजन मैं लपट लपेटी है। —बेनी प्रबीन

हिन्दी-रीतिकाव्य में नायिका की अंग-कान्ति तथा मुखदीप्ति-चित्रण द्वारा शरीर-ज्योति-स्फुरण का वर्णन किया गया है। कवियों ने मुख के चारों ओर प्रकाश फैला दिखाया है, उदाहरणार्थ—

टटकी धोई धोवती चटकीली मुख जोति।
लसति रसोई कैं बगर जगर मगर दुति होति। —बिहारी

विवेच्य हिन्दी-कविता में मुख-प्रभा को चन्द्रिका बताकर अनेक चित्रण हुए हैं। नायिका का मुख अपनी ओप से ऐसा प्रकाश फैलाए रहता है कि वहाँ के निवासी बिना पत्रा देखे तिथि का पता नहीं लगा पाते। रात में नायिका मुँह से आँचल हटाती है तो प्रकाश हो जाता है। नायिका की मुख-मरीचियों से दिशाएँ ऐसी मढ़ जाती है कि चकोर चकाचौंध हो जाते हैं और चाँदनी अधिक चटकीली हो जाती है—

'रघुनाथ' पिय बस करिबे को चली बाल
मुख की मरीची जाल दिसि मढ़ि कै लई।
चाव चढ़े चखनि चकोरन के चकाचौंधी
चंद गयो चढ़ि चटकीली चाँदनी भई।

रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में माशूक़ के 'रूए-रंगीं' तथा 'नूरे-आरिज़' का चित्रण बार-बार हुआ है। माशूक़ की कपोल-रश्मियों का यह हाल है कि उसके मुँह पर पड़ा नक़ाब सूर्य-सा प्रतीत होता है—

शुआए-आरिज़े-दिलदार का य आलम है
कि आफ़ताब है गोया नक़ाब के बदले। —नासिख़

उपर्युक्त उद्धरणों मे आलम्बन की दीप्ति से उत्पन्न भ्रम का उल्लेख भी प्रकारान्तरेण प्राप्त है। हिन्दी-रीतिकवि विभा की भराभर के कारण चक्रवाकों को चमत्कृत दिखाते है "आनन विलोकि चित चक्रत से चक्रवाक।"[५] उर्दू-कविता में भी आकाश-गंगा एवं चन्द्रमा को देखकर माशूक़ की पिंडलियों तथा जानु-पिधानों का धोखा खाया गया है—

कहकशाँ ने साक़े-नाज़ुक-यार का धोका दिया।
माहे-तावाँ कासाए-ज़ानूँ नज़र आया मुझे। —आतश

लेकिन भ्रम की जैसी कल्पना 'नासिख़' ने की है वैसी न हिन्दी-रीतिकविता में उपलब्ध है और न रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में। माशूक़ बाल काढ़ रहा है। उसके हाथ में कंघा है और उसके सामने शीशा है जिसमें उसके कपोल, पलक एवं कंघा प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। मुख की ज्योति ने शीशा, पलक तथा कंघे के स्वरूप में जो परिवर्तन उपस्थित किया है, वह द्रष्टव्य है—

नूरे-रुख़सारे-सनम से और मिज़ा के अक्स से
शाना है सो आईना है आईना सो शाना है।

कपोल-ज्योति से चमचमाता कंघा शीशा बन गया और पलकों के प्रतिबिम्ब ने दर्पण को कंघा बना दिया।

गंध

हिन्दी-रीतिकाव्य में पद्मिनी नायिका के शरीर की दिव्य गंध का वर्णन आमतौर से मिलता है। उर्दू-कविता में भी खुशबू का उल्लेख है। 'आतश' ने माशूक़ की आनन-सुवास का वर्णन अधोलिखित उद्धरण में किया है—

लिया है अपने गुंचे-दहन में तूने जो उसको
शमीमे - गुल हुई है रेशा-ए-मिस्वाक से पैदा। —आतश

माशूक़ के मुँह में ऐसी खुशबू है कि दन्तधानव के रेशे से गुलाब के फूल की खुशबू पैदा हो रही है। 'पदमाकर' की नायिका जब घाँघरा झकोरती हुई चलती है तो गलियों में खुशबू के ख़ज़ाने खुलते जाते हैं—

भूना की झकोरन चहूँघा खोरि खोरिन में
खूब खुसबोइ के खजाने से खुलत जात।

हिन्दी-रीतिकवियों ने रूप, रंग, दीप्ति, गंध तथा सुकुमारता के युगपत् चित्रण से सौन्दर्य में मनोहर आकर्षण उत्पन्न किया है। रंग, गंध, और सुकुमारता का निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है—

बरन बास सुकुमारता सब विधि रही समाइ।
पँखुरी लगी गुलाब की गात न जानी जाइ। —बिहारी

नायिका के शरीर में चिपकी गुलाब की पंखड़ी का पता ही नहीं चलता, क्योंकि वर्ण, गंध, एवं सुकुमारता सभी तरह वह शरीर में समा गई (एक हो गई) है। व्यंजना यह है कि नायिका का रंग और गंध गुलाब के फूलकी तरह हैं और उसके अंग गुलाब-से कोमल हैं।

नायिका की दीप्ति, रूप, रंग, सुकुमारता तथा गंध ने अपने प्रभाव से जो गुल खिलाए हैं उनका उल्लेख 'देव' ने एक घनाक्षरी में किया है—

आई बरसाने ते बुलाई वृषभानुसुता
निरखि प्रभाव प्रभा भानु की अथै गई।
चक चकवान के चुकाये चक चोट नाहिं
चौकत चकोर चकचौंधी मैं चकै गईं।
नंदजू के नंदजू के नैनन अनंद भई
नंदजू के मंदिरन चंदमई छै गई।
कंचन कलिनमई कुंजन अलिनमई
गोकुल की गलिन नलिनमई कै गईं।

राधा की शरीर-प्रभा का प्रभाव देखिए। सूर्य-प्रभा अस्त हो गई, चक्रवाक चकाचौंध के कारण चकित हो गए और नन्द के प्रासाद में चंद्रिका छा गई। राधिका देह के रंग की किरणें पड़ने से कुंजों की कलियाँ कंचन-वर्ण की हो गईं, कुंजों (देह-गंध के कारण) भौरों की भीड़ लग गई और चरणों से सुकुमारता, रूप रंग इस अधिकता के साथ झड़े कि गोकुल की गलियाँ कमलमयी हो गईं।

राधा के शरीर के इस अनेकधा वर्णन की तरह ही कृष्ण का सौन्दर्य-चित्रण भी है। कवि ने रूप की ऐसी धूपछाहीं झलक दिखाई है कि प्रति पार्श्व से वह

दूसरा तत्व प्रतीत होने लगता है। इसलिए पता ही नहीं चलता कि वह रूप है कि कान्ति; गुण है कि रंग, राग है कि रस—

तेज है कि तप है कि शील है कि सम्पत्ति है
राग है कि रंग है कि रस है कि रूप है। —देव

सुकुमारता

सुकुमारता चित्रण के दो तरीक़े हैं—(१) भार-सहन-अक्षमता दिखाना (२) अंग-मार्दव वर्णन करना। आलोच्यकाल के हिन्दी-उर्दू-काव्य में इन दोनों उपायों से काम लिया गया है।

हिन्दी-रीतिकाव्य में नायिका इतनी सुकुमार चित्रित की गई है कि कच-भार और कुच-भार से उसकी कमर बराबर लचकती रहती है। उर्दू-शाइरी में भी शृंगार-प्रसाधिका को हिदायत की गई है कि माशूक़ के ऊपर कंघी का बोझ न पड़ने पाए अन्यथा उसकी कमर की खैर नहीं। एक फूल का बोझ भी उससे उठता नहीं, कलाई सैकड़ों बल खाकर मुरक जाती है। कपड़े की कंचुकी का भार उससे सँभल पाना संभव नहीं है। कपड़े के स्थान पर उसके लिए बुद्‌बुद की अंगिका होनी चाहिए—

अँगिया को चाहिए है कटोरी हबाब की —नासिख़

मेंहदी के बोझ का वर्णन भी उर्दू-कविता में पुनः पुनः हुआ है—

क्या नज़ाकत है कि बूए-इत्र से है बेदमाग़
रंग-मेंहदी का कफ़े-नाज़ुक-बदन पर बार है। —नासिख़

हिन्दी-कवियों ने सुकुमारता के सन्दर्भ में न केवल जावक-भार और गंध-भार का, अपितु शोभा-भार का उल्लेख भी किया है—

जावक के भार पग धरत धरा में मंद
गंध भार कुचन परी हैं छूटि अलकैं।
'द्विजदेव' तैसियै विचित्र बरुनी के भार
आधे आधे दृगन परी हैं अध पलकैं।
ऐसी छबि देखि अंग अंग की अपार, बार-
बार लोल लोचन सु कौन के न ललकैं।
पानिप के भारन सँभारत न गात, लंक
लचि लचि जाति कच भारन के हलकैं।

उपर्युक्त उद्धरणों में मेंहदी या महावर के संभावित भार का उल्लेख करके सौकुमार्य-व्यंजना हुई है। लेकिन 'रघुनाथ' कवि ने एक सवैए में उसे यथार्थतया

दिखाकर सुकुमारता का चित्रण अद्भुत ढंग से किया है। नाइन ठकुराइन के एक पैर में महावर लगा पाई थी कि ठकुराइन के पतिदेव आ गए। वह शरमाकर अन्दर चली गई। जब पतिदेव बाहर गए तब महावर लगवाने फिर बैठी। परन्तु पैरों का रंग इतना लाल था कि नाइन को जावक-रंजित पैर तथा जावक-विहीन पैर को पहचानना कठिन हो गया। इतने में ठकुराइन ने कहा कि यह पैर मुझे बोझिल मालूम पड़ता है—

पायो हो जावक एक में देन सो आइ गए 'रघुनाथ' सुभाइनि।
बेगि दुरी, जब जात रहे तब आइकै बैठी देवैबे को चाइनि।
दीन्है है कौन में दीबै है कौन सो देख्यो की देखि जकी यह नाइनि।
बोझिल सो यह पाउँ लगै तब यौं मुसकाइ कह्यो ठकुराइनि।

शरीर की कोमलता भी सुकुमारता का लक्षण है। मखमल से अधिक मृदुल पैरों का वर्णन हिन्दी-उर्दू दोनों काव्यों में हुआ है। 'नासिख़' ने माशूक़ के तलवों की नज़ाकत निम्नांकित शेर में चित्रित की है—

उसके तलवों की नज़ाकत का करूँ मैं क्या बयाँ
रोएँ हैं क़ालीन के मानिन्द सोज़न ज़ेरे-पा।

माशूक़ के तलवों में क़ालीन के रोएँ सुई की तरह चुभते हैं। इसी तरह का भाव हिन्दी-रीतिकविता में भी अभिव्यक्त किया गया है—

सीसी कै उझकै झुकै चलत रुकै जदुराय।
नव मखमल के पामड़े हाय गड़े ये पाय। —रामसहायदास

'नासिख़' के शेर में सिर्फ़ चुभन का वर्णन है, परन्तु उपर्युक्त दोहे में मखमल तथा चुभन का विवरण देकर नायिका के देह-मार्दव को गहरी व्यंजना के साथ प्रस्तुत किया गया है। नायिका चुभन के कारण सी-सी करती है, पीड़ा निवारणार्थ पंजों के बल चलती है, कष्ट का अनुभव कर बार-बार रुक जाती है। पाँवड़े नए मख-मल के हैं, पुराने के नहीं जो सख़्त हो जायँ। जब नए मखमल के अत्यंत मृदु पाँवड़े भी चुभते हैं तो पैरों की कोमलता कैसी है, यह अनुमेय है।

हिन्दी-रीतिकवियों की नायिका कुसुमादपि कोमल है। 'देव' ने चिन्ता व्यक्त की है कि राधा के पैर में फूल की पंखड़ी न गड़ जाय, परन्तु 'बिहारी' अपनी नायिका को शरीर पर पंखड़ी की खरोंच पड़ जाने के भय से करवट लेने से भी रोक देते हैं—

मैं बरजी कै बार तूं इत कित लेति करौट।
पँखुरी लगैं गुलाब की, परिहैं गात खरौट।

'आतश' का माशूक़ भी इतना कोमल है कि फूलों पर सोने से उसके शरीर में पंखड़ी के रेशों का निशान बन जाता है—

फ़र्शे-गुल पर वो नज़ाकत से नहीं सो सकते
तने-नाज़ुक में रगे-गुल का निशाँ होता है।

नायिका के शरीर-मार्दव की भाँति ही हिन्दी-रीतिकाव्य में नायक की अंग-कोमलता का चित्रण हुआ है। नायक नायिका का परिरंभण करना चाहता है, परन्तु नायिका अलग हट जाती है, क्योंकि नायक का वक्षःस्थल प्रसून से भी मृदु है और नायिका को चिन्ता है कि कहीं कुच कोर उसके गड़ न जाय—

ज्यों ज्यों प्राणपति परिरंभन करत त्यों त्यों
भावती भुरत इहै शोच के झकोरना।
सरस प्रसून हू ते कोमल किशोर उर
कठिन कठोर मति गड़ै कुच कोर ना।—'पा० क०'

वर्धमानता

आलम्बन के सौन्दर्य की प्रतिक्षण वर्धमानता का चित्रण रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता में समान रूप से हुआ है, लेकिन इसकी व्यंजना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'बिहारी' के निम्नांकित दोहे में मिलता है—

लिखन बैठि ताकी सबी गहि-गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।

इसी तरह का भाव 'आतश' ने भी अपने एक शेर में अभिव्यक्त किया है, यथा—

तरक़्क़ी हुस्न की खिंचने नहीं देती शबीह उसकी
इधर बिहज़ाद आजिज़ है उधर मजबूर मानी है।

बात एक है, परन्तु कहने के ढंग ने भाव में बहुत अन्तर कर दिया है। नायिका की तस्वीर क्यों नहीं खिंच पाती, इसका कारण खोजने के लिए 'बिहारी' ने पाठक के कल्पनार्थ असीम मैदान छोड़ दिया है, लेकिन 'आतश' ने उसका कारण बता दिया, जिससे अनुमान-क्षेत्र सीमित तथा औत्सुक्य-निःशेष हो गया। 'आतश' के माशूक़ की तस्वीर खींचने की कोशिश सिर्फ़ दो चित्रकारों ने की, परन्तु 'बिहारी' की नायिका का छवि-अंकन करने में न मालूम संसार के कितने चतुर चितेरों का घमंड चूर हो गया। 'आतश' के माशूक़ के चित्र में संभावना के लिए स्थान है, लेकिन 'बिहारी' की नायिका की तस्वीर बन ही नहीं सकती।

सौन्दर्य के प्रति उपर्युक्त दृष्टिकोणों के अन्तर के कारण सौन्दर्य का स्वरूप उर्दू

में हिन्दी से भिन्न चित्रित हुआ है। उर्दू-शाइरी के अन्तर्गत सौन्दर्य का रूप शांत नहीं है। उसे अत्याचारी, उपद्रवी, फ़सादी या प्राणलेवा-सा निरूपित किया जाता है—

तुझ हुस्न ने दिया न कभू मुफ़्सिदे को चैन
फ़ित्ना न तेरे दौर में भर नींद सो सका। —सौदा

हिन्दी-रीतिकाव्य में सौन्दर्य का मादक प्रभाव भले ही दिखाया जाय, परन्तु वह दर्शक को तृप्ति अवश्य देता है। सौन्दर्य का रूप शांत तथा पवित्र है। उर्दू-आशिक़ कामोपभोगार्थ विह्वल रहता है, लेकिन हिन्दी-रीतिकविता का नायक सौन्दर्य को देखना भर चाहता है, स्पर्श नहीं करना चाहता—

रूप अनूप दियो करतार तो मान किए न सयान कहावै।
और सुनौ यह रूप जवाहिर भाग बड़े बिरले कोउ पावै।
'ठाकुर' सूम के जात न कोऊ उदार सुने सबही उठि धावै।
दीजिए ताहि दिखाय कृपाकर जो कोऊ दूर ते देखन आवै।

नख-शिख और सरापा

मानवीय सौन्दर्य-चित्रण के सभी तत्वों का आधार शरीर है, अतः उस शरीर के वर्णन का सदा से महत्व चला आ रहा है। हिन्दी-रीतिकाव्य में शरीर के एक-एक अंग को लेकर उसका सौन्दर्य वर्णन करने की एक परिपाटी आचार्य केशवदास से प्राप्त होती है। केशवदास (सन् १५५५-१६१७) ने 'नखशिख' तथा 'शिखनख' नामक ग्रन्थों की रचना की है और दोनों के सम्बन्ध में उन्होंने यह नियम भी बताया है—

नखतें सिख लौं बरनिये देवी दीपति देखि।
सिख तें नख लौं मानुषी केशवदास विशेखि।

संस्कृत के 'अलंकार शेखर', 'कवि कल्पतरुलता', 'वृहत्संहिता' तथा 'गरुड पुराण' ग्रन्थों में नख-शिख पर विचार हुआ है। आचार्य केशवदास ने यह 'नख-शिख' परम्परा रीतिकाल को दी। 'नखशिख' की भाँति ही उनकी योजना 'शिख-नख' वर्णन को चलाने की भी थी, परन्तु हिन्दी-रीतिकाव्य में उसका प्रचार नहीं हो सका। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। पहला कारण तो यह था कि 'नख-शिख' की रचना पहले हुई थी और वह 'कविप्रिया' (सन् १६०१) में सम्मिलित था, जिससे उसे कवि-शिक्षा का अंग मानकर परवर्ती कवियों ने 'नखशिख' वर्णन किया। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के कथनानुसार 'शिखनख' अभी हाल

की खोज में प्राप्त हुआ है और पृथक् रूपेण मिला है। 'कविप्रिया' से पृथक् रहने से शिखनख को महत्व प्राप्त नहीं हो सका।

संस्कृत-साहित्य में आराध्य के सौन्दर्य-चित्रण के प्रसंग में नखशिख का वर्णन बहुत पहले से होता आया है। भागवत में उपासना-पद्धति का उल्लेख करते समय 'नखशिख'-ध्यान का निर्देश हुआ है—

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः ।

सम्भवतः इसी परिपाटी का अनुसरण करके केशवदास ने नखशिख-पद्धति में देवी तथा उसके विपरीत शिखनख-पद्धति में मानुषी के वर्णन का उल्लेख किया है। लेकिन भागवत में इष्टदेव के प्रति ध्यान का कथन है और केशवदास देवी की बात करते हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने श्रीराधिका जी को ही इष्टदेव माना है—

जग के देवीदेव के श्री हरिदेव बखान ।
तिन हरि की श्रीराधिका इष्टदेवता जान ।

'नखशिख' के अन्तर्गत केशवदास ने जावक, पद, अँगुली, नूपुर, जेहरि, उरु, नितंब, कटि, रोमराजि, कुच, भुज, करभूषण, नखांगुलि (मुद्रिका), मेंहदीरंजित पाणि, ग्रीवा, ग्रीवाभूषण, पीठ, चिबुक, अधर, दसन, हाथ, मुखराग, रसना, वाणी, कपोल, नासिका, नकमोती, लोचन, अंजन, भ्रूयुग, कर्ण, कर्णफूल, खुटिला, लिलार, अलक, मुखमंडल, केशपाश, शिरशोभा, वेणी, बेंदा, शिरोभूषण, अंगवास, बसन, समस्त भूषण, अंगदीप्ति, गति और सम्पूर्ण मूर्ति का वर्णन किया है। इस वर्णन में अंगों के साथ आभूषणों के वर्णन भी है।

'नखशिख' दिव्य व्यक्तित्व से सम्बद्ध होने से कवि ने कुचांत और कुचाग्र का वर्णन उचित नहीं समझा। 'शिखनख' में कुचांत एवं कुचाग्र के अतिरिक्त त्रिबली, नाभि, उदर...., भुजमूल, मुख, तारे, पाटी, माँग और नख को भी शामिल कर लिया गया है। हिन्दी-रीतिकाव्य में आगे चलकर नखशिख-पद्धति में ये अंग तथा उपांग भी स्वीकार कर लिए गए। 'रसलीन' के 'अंगदर्पण' तथा बलभद्रकृत 'नखशिख' से ज्ञात होता है कि कवि लोग कहते तो इसे नखशिख वर्णन थे, किन्तु अंगों का क्रम इस प्रकार रखते थे—केश, वेणी, जूड़ा, लट, पाटी, माँग, भाल, श्रवण, भौंह, मरोर, पलक, बरुनी, नेत्र, डोरे, पुतली, कोये, चितवन, कटाक्ष, कपोल, कपोलगाड़, कपोल तिल, नासा, नासाबेध, पनारी, अधर, दसन, मुसुकान, हास, रसना, वाणी, मुखवास, चिबुक, तिल, चिबुक गाड़, मुखमंडल, ग्रीवा, कंठत्रय रेखा, बाँह, कर, अँगुरी पोर, नखयुत अँगुरी, कुच, रोमावली,

नाभि, त्रिवली, पीठ पनारी, कटि, नितंब, जंघ, उरु, पद, एडी और पद अँगुरी। वर्णन-क्रम देखकर इसे शिखनख कहा जाय नखशिख नहीं। रीतिकाल ने शृंगार के आलम्बन राधा-कृष्ण माने, इसलिए शिखनख-वर्णन-पद्धति की जरूरत ही नहीं पड़ी।

कहने का तात्पर्य यह कि नखशिख एवं शिखनख-वर्णन-पद्धति हिन्दी-रीति-कवियों को मालूम थी, क्योंकि रीतिकाल के प्रवर्त्तक आचार्य केशवदास उसे सोलहवीं शताब्दी में ही प्रचलित कर चुके थे, लेकिन नखशिख-वर्णन-पद्धति का प्रचार अधिक हुआ और वह हिन्दी-रीतिकाव्य की एक सर्वस्वीकृत परिपाटी बन गया।

जिस समय हिन्दी-रीतिकाव्य में नखशिख-वर्णन-पद्धति का खूब ज़ोर से प्रचार हो चुका था, उस समय उर्दू में इस प्रकार की वर्णन-पद्धति का कोई अस्तित्व न था। उर्दू-काव्य में सरापा (शिखनख)-वर्णन अठारहवीं शती से प्रारम्भ हुआ। सरापा की परम्परा फ़ारसी-काव्य में थी, अतः उर्दू-शाइरी के सरापा को फ़ारसी की देन कहा जाता है। लेकिन हम उर्दू-शाइरी के सरापा-वर्णन के विकास का अध्ययन करके अपना मत देना उचित समझते हैं।

उत्तर भारत में उर्दू के प्रथम शाइर सद्रुद्दीन खाँ 'फ़ायज़' (मृत्यु सन् १७३८) ने रौप्यवर्णी सुन्दरियों का वर्णन हिन्दी-शैली पर किया है। शुभ्र नदी पर ये गौरांगी सुन्दरियाँ इस प्रकार विलसित हो रही हैं, जैसे रूपे की थाली में रत्न ढल रहे हों। उनकी मुख-कान्ति के आगे सूर्य-चन्द्र लज्जित हैं। उनके नवल जोबना (उरोज) क्या हैं, मानो सोने-रूपे के कलश प्रकट हुए हों। सभी खत-रानियाँ परियों-सी सुन्दर हैं। जमाव क्या है, मानो इन्द्र की सभा लगी हो। प्रत्येक नारी रंभा अप्सरा से श्रेष्ठ (वर) है। इस नज़्म में कान, ज़ुल्फ़, नयन, गाल, नाक, सीना, रोमावली तथा नाभि का वर्णन करके शाइर कहता है—

कहूँ आगे क्या शर्म की बात है।
कि अमृत का चश्मा बज़ुल्मात है।

'फ़ायज़' के इस वर्णन में अंगांगों के उपमान हिन्दी-परम्परा के हैं, जैसे नेत्रकमल, चंपे की नाक और अमृतफल से उरोज।

हिन्दी-रीतिकाव्य में नायिका का नखशिख वर्णन करने की परिपाटी थी। उपर्युक्त कविता में नारी-अंगांग का ही वर्णन है। नारी के अंगों का शिख से पद तक वर्णन मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी 'सौदा' (सन् १७१२-१७८१) ने भी अपने क़सीदे 'दर मदहे-नवाब इमादुलमुल्क आसफ़ जाह बनिज़ामुलमुल्क बहादुर गाज़ीउद्दीने जाँ' में किया है। मिर्ज़ा का यह क़सीदा स्वप्न की पृष्ठभूमि से प्रारम्भ होता है। शाइर की आँख झपक गई तो उसने देखा—

आँखें मलकर के जो देखूँ हूँ तो इक बादलापोश
सर से ले ग़र्क़ जवाहर में वो है पाँव तलक।

यह बादलापोश सुन्दरी ख़ुशी थी। शाइर ने ख़ुशी को नायिका का रूपक देकर उसके एक-एक अंग पर दृष्टि डाली है। वह रूप-वैभव की सजीव प्रतिमा जवाहर में ग़र्क़ थी। उसके चेहरे, बरौनी, बाल, कबरी, मस्तक, भ्रू, आँख, कान, नाक, मुँह, अधर, दाँत, कपोल, चिबुक, गर्दन, कलाई, कुच, इठलाती चाल, नाभि और कमर का वर्णन करके शाइर कहता है—

आगे तो कह नहीं सकता मैं कुछ उसकी तारीफ़
यूँ हया कहती है मुझसे कि बस अब ज्यादा न बक।

तत्पश्चात् जाँघ, पिंडली, तलवा, पैर, शरीर, पादक्रम तथा उसके विद्युत्वर्णी वस्त्र का चित्रण है—

ज़र्क़ बर्क़ ऐसी है पोशाक में उसकी कि जिसे
कौंद बिजली की कहूँ या कहूँ शोले की चमक।

'सौदा' ने यह सरापा फ़ारसी से प्रभावित होकर लिखा है या हिन्दी-कविता की नखशिख-परम्परा से प्रेरणा ग्रहण की है, यह प्रश्न उठाना बेकार है, क्योंकि न केवल शब्द-शय्या, अपितु उपमान तक हिन्दी-काव्य के हैं। फ़ारसी-काव्य से प्रेरित कवि माशूक़ का सरापा वर्णन करते हुए कुचों का उल्लेख नहीं कर सकता, लेकिन मिर्ज़ा 'सौदा' लिखते हैं—

देखे जो उसके कुचों को ये यक़ीनन हो उसे
तंबू य तान के याँ काम का उतरा है कनक।

हिन्दी-रीतिकाव्य-परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण संपादकों अथवा संग्रहकारों ने 'कनक' शब्द के प्रतिलिपि-प्रमाद पर ध्यान ही नहीं दिया है और अभी तक यही पाठ चला आ रहा है। 'इंतखाबे-क़सायदे उर्दू' में भी 'कनक' ही है। 'काम का कनक' अर्थहीन कथन है। होना चाहिए 'कटक' जिसका अर्थ होता है 'सेना' अर्थात् कामदेव की सेना तंबू तानकर यहाँ उतरी है। 'सौदा' ने जो वर्णन किया है, वह स्त्री का वर्णन है और यह वर्णन हिन्दी-रीतिकाव्य के नायिका-नखशिख-वर्णन से प्रभावित है। लेकिन मिर्ज़ा 'सौदा' के पश्चात् जिन उर्दू-शाइरों ने सरापा वर्णन किया, उन्होंने फ़ारसी-पद्धति पर माशूक़ को पुरुष मानकर अंगों का चित्रण किया है।

'आतश' (सन् १७६७-१८४६) की एक ग़जल में आँख, पलक, ज़ुल्फ़, दाँत भ्रू, चिबुक, चेहरा, नाक, कान, पिंडली, जंघा, गर्दन, नाभि, हाथ, बाजू और पैर

का क्रम देकर अंगों का वर्णन है। इस वर्णन से सम्बद्ध दो शेर नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

क़ामते मौज़ूँ तसव्वुर में क़यामत हो गया
चश्म की गर्दिश ने कारे-फ़ित्नए-दौराँ किया।
दस्तो-बाज़ू के तसव्वुर में हुआ 'आतश' मैं क़त्ल
पा के बोसे की हवस ने ख़ाक़ से यकसाँ किया।

लेकिन 'आतश' के समकालीन मुज़फ़्फ़रहुसैन 'ज़मीर' (सन् १७८२-१८५५) ने अली अकबर के मर्सिए में नायक का सरापा वर्णन करते हुए सारे उपमान फ़ारसी से ग्रहण किए हैं जैसे—

पेशानी तो आईनाए-लबरेज़-सफ़ा है
अब्रू है कि ख़ुद क़िब्ला है और क़िब्लानुमा है। —'उ० म० र०'

'आतश' के सरापा में नाम परिगणन मात्र था, मगर 'ज़मीर' के मर्सिए में अंगों का सौन्दर्य-चित्रण करने पर पूरी दृष्टि रक्खी गई है—

मानिन्द दुआए-सहरी क़द्दे रसा है
माथा है कि दीबाचाए-अनवारे-ख़ुदा है।
दो ज़ुल्फ़ ने इक चाँद सा मुँह घेर लिया है
वस्ले-[illegible] हुआ है।
दो ज़ुल्फ़ें हैं रुख़सारे-दिल-अफ़रोज़ भी दो है।
याँ शाम भी दो हैं बख़ुदा रोज़ भी दो हैं। '—उ० म० र०'

इस मर्सिए में अंगांगों का बिल्कुल यथाक्रमेण वर्णन तो नहीं है, क्योंकि गर्दन, सीना, पुश्त के बाद सर का और सर के बाद तलवे का उल्लेख है, फिर भी कुछ पुनरुक्तियों को छोड़ देने पर इसे वर्णन-संक्रम ही कहा जाएगा। इस मर्सिए में नायक के शस्त्रों तथा घोड़े आदि का चित्रण भी विवरण देकर किया गया है। मर्सिए के क्षेत्र में यह एक नाविन्य-आविष्कार था, इसीलिए मर्सिए के आख़िर में समाप्ति से पहले शाइर यह दावा करता है कि इस नई तर्ज़ का आविष्कर्ता वह स्वयं है—

जिस साल कहे वस्फ़ ये हमशक्ले-नबी के
सन् बारह सै उनचास थे हिजरी नबवी के।
आगे तो ये अंदाज-सुख़न थे न किसी के
अब सब य मुक़ल्लिद हुए इस तर्ज़े-नवी के।
दस में कहूँ सौ में कहूँ ये विर्द है मेरा
जो जो कहे इस तर्ज़ में शागिर्द है मेरा। —'उ० म० र०'

इस मर्सिए के बाद से उर्दू-मर्सियों में सरापा वर्णन करना एक परम्परा ही बन गई है। मीर 'ज़मीर' ने जिस प्रकार फ़ारसी-अप्रस्तुत लेकर वर्णन किया था उसी प्रकार के उपमान परवर्ती मर्सियागो भी जुटाते गए। इस प्रकार मीर 'ज़मीर' और 'आतश' मे सरापा फ़ारसी-प्रणाली पर चला, लेकिन उनके पूर्ववर्ती मिर्ज़ा 'सौदा' और 'फ़ायज़' का सरापा हिन्दी-काव्य-परम्परा मे न केवल प्रेरणा लेकर लिखा गया था, अपितु उसका चेतना-स्रोत भी हिन्दी-काव्य ही था।

नखशिख अथवा सरापा की संक्रमता आलोच्य-काव्य में प्राप्त ज़रूर है, परन्तु हिन्दी-नखशिख-परम्परा की भाँति उर्दू-ग़ज़ल में कोई परिपाटी नहीं है. बस मर्सियों में उसकी एक प्रणाली बराबर मिलती है। हाँ उर्दू के समकालीन ग़ज़लगो शाइर सौन्दर्य-चित्रणान्तर्गत अंगों का वर्णन करते अवश्य हैं। यों तो वर्णन सभी अंगों के प्राप्त हैं, लेकिन हिन्दी-रीतिकविता मे जिस प्रकार आनुक्रमिक ढंग से सभी अंगों के वर्णन समान संख्या मे मिलेंगे, वैसे उर्दू-शाइरी में नहीं मिलते। विवेच्यकाल की उर्दू-कविता मे आँख, मुँह, बाल और कमर के वर्णनों का बाहुल्य है। हिन्दी-रीतिकाव्य में भी इन अंगों के वर्णनों में कवियों ने बहुत रुचि दिखाई है। अतः इन अंगों के वर्णनों का तुलनात्मक अध्ययन करके हम इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि कल्पना की उड़ान तथा निरीक्षण के क्षेत्र में हिन्दी और उर्दू के कवि कितना प्रयत्न करते थे?

मुख

हिन्दी-कवियों ने मुख की निसर्ग-श्री-अभिव्यंजनार्थ चन्द्र का उपमान स्वीकार किया है। उर्दू-शाइरी में क्वचित्कदाचित् यह उपमान भी मिल जाता है, जैसे कि 'ग़ालिब' के निम्नलिखित शेर में—

मीखे हैं महरुखों के लिए हम मुसव्वरी
तक़रीब कुछ तो बहरे-मुलाक़ात चाहिए।

परन्तु उर्दू में सामान्यरूपेण मुख को सूर्य से उपमित किया जाता है, और सूर्य के सम्बन्ध से उसे प्रभात भी कहते हैं—"वो मुख सुब्ह, ज़ुल्फ़ाँ अँधेरी रयन।"[1] किसी-किसी शाइर ने उसे अग्न्यालय खयाल किया—"चेहरे को आतशकदा समझा दिले दीवाना ने", और उसकी रोशनी ने शाइर को मोहित कर लिया है—

सौदाए-ज़ुल्फ़ में मुझे आया खयाले-रुख़
मुश्ताक रौशनी का शबे-तार ने किया। —आतश

उर्दू-काव्य का माशूक़ एक तो अत्याचारी, क्रोधी तथा संताप देने वाला है, दूसरे वह पुरुष है। इन दोनों ही दृष्टियों से उसके मुख को सूर्य से उपमित करना उचित है। हिन्दी-कविता के नायक-नायिका परस्पर दर्शन करके रसमग्न

होते हैं, मन में आह्लाद एवं शीतलता का अनुभव करते हैं, अतः उनके मुख को चन्द्र कहना युक्तियुक्त है।

उर्दू शाइरी में एक विचित्र रूढ़ि है कि माशूक़ को तो चन्द्र कहा जाता है, परन्तु उसके मुख की उपमा सूर्य से दी जाती है—

मेरे उस चाँद के टुकड़े से भला क्या निस्बत —नासिख़

देखा है तूने सामने रखकर जो उसमें मुँह
आईना बुर्ज बन गया है आफ़ताब का। —आतश

उर्दू-शाइर मुख को गुलाब के फूल से भी उपमित करते हैं। हिन्दी-कवियों का प्रिय उपमान कमल है, परन्तु आलोच्यकालीन हिन्दी-कवि सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' (र० काल १७९४-९८) के एक दोहे में मुख के लिए गुलाब उपमान आया है—

तौ बसंत कोऊ नहीं अनित खेल हैं लाल।
मुख गुलाब कुच अरगजा जो गहि लावो बाल।

उर्दू-कविता में चेहरे के लिए एक विशेषण 'किताबी' भी आता है। 'आतश' का एक मिसरा है—"मुँह किताबे-क़ुत्बी है ख़त हाशिया है मीर का"। हिन्दी-रीतिकविता में मुँह के लिए पुस्तक का उपमान कहीं भी नहीं मिलता। शायद कवि 'रघुनाथ' ने कुछ प्रभावित होकर नायिका की उपमा 'पोथी' से दी है—

तंत्र की सी पोथी तोहि कर तै बनाई सोहैं
जंत्र ऐसे अंग तेरे मंत्र से वचन हैं।

माशूक़ के मुख का रंग उर्दू-शाइरी में सुर्ख़ माना गया है। हमारे ख्याल से यह वर्णन अरबी लोगों के रंग के कारण फ़ारसी-शाइरी में आया और उसके प्रभावस्वरूप उर्दू-शाइरी ने उसे ग्रहण किया। उर्दू-शाइरी ने इस रंग की प्रगाढ़ता व सुर्ख़ी का ऐसा वर्णन किया है कि अगर वह मुँह पोछे तो रूमाल सुर्ख़ हो जाय—

मुँह वो पोछे तो अभी सुर्ख़ हो रूमाल-सफ़ेद —नासिख़

उर्दू में मुखमण्डल को चेहरा और मुँह को मुँह या दहन् कहते हैं। पता नहीं 'आतश' ने 'मुँह किताबी' लिखकर क्यों भ्रमात्मक प्रयोग कर दिया, अन्यथा उर्दू-शाइरों ने यह अन्तर बराबर ध्यान में रक्खा है। हिन्दी-कवि 'मुख' शब्द को दोनों अर्थों में व्यवहृत करते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों में मुखमण्डल की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी-काव्य में मुखमण्डल का जैसा महत्व है, वैसा मुख का नहीं है। उर्दू-शाइर जैसे चेहरे के आशिक़ हैं वैसे ही मुँह पर भी न्योछावर हैं।

मुँह जितना छोटा हो उतना ही आकर्षक है . उर्दू-शाइरी में मुख की संकीर्णता व्यंजित करने के लिए उसे कलिका से उपमित किया जाता है। माशूक़ के मुख की यह संकीर्णता इतनी बढ़ी कि जन्म के समय सब लोग कहने लगे 'यह लड़का मुख रहित है'—

सब लगे कहने ये लड़का बेदहाँ पैदा हुआ —नासिख

महाकवि 'देव' ने भी एक सवैए में नायिका के संकीर्ण मुख का वर्णन किया है। उन्होंने उस संकीर्णता का कारण 'लाज की साँकरें' बताया है—

ओट ही ओट सखीन के जोट में धोख धसी सुख सेज के सोहैं।
लालहि बाल मिलाइकै आली विलाय गई अपनी गति गोहैं।
लीनी लपेटि भुजान सुजान सुजान दै मोंहि कहै तिरछौहैं।
या मुख साकरे लाज की साकरै नाकरै नैनन साकरै भौहैं।

लज्जा की शृंखला पड़ी हुई है, अतः कस जाने से मुँह संकीर्ण हो गया है, अथवा मुँह संकीर्ण है और उस पर लज्जा की साँकल लगी हुई है। दोनों ही स्थितियों में ज़ंजीर की कड़ी मुँह का उपमान सिद्ध होती है। 'ग़ालिब' ने भी माशूक़ के मुँह को ज़ंजीर बनाया है, परन्तु 'देव' की 'लाज की साँकर' के स्थान पर उनके शेर में माशूक़ के 'अपयश की ज़ंजीर' तैयार की गई है—

दहाने-हर बुते-पैग़ाराज़ू ज़ंजीरे-रुस्वाई
अदम तक बेवफ़ा चर्चा है तेरी बेवफ़ाई का।

इसके अतिरिक्त उर्दू-कविता में 'अँगूठी' को भी मुँह के उपमान-स्वरूप प्रयोग किया जाता है—

सुलैमानी है ज़ेबा उस परी को मुल्के-खूबी में
तबस्सुम नक़्शे-ख़ातम है दहन हल्क़ा है ख़ातम का। —नासिख

नेत्र

आलोच्यकालीन हिन्दी-कविता में नेत्रों को लेकर सैकड़ों रूपक बाँधे गए हैं। 'रसनिधि' के 'रतन हजारा' में आँखों के भीतर जासूस, दलाल, शिशु, जौहरी, किलकिला, कामारथी, दर्जी, बाज, दिवालिया, नगरसेठ, कबूतर, सुआ, तथा बया आदि रूपों के दर्शन होते हैं। कवियों ने घोड़ा, हाथी, बादशाह, नवाब, दीवान, सिपाही आदि से भी उन्हें उपमित किया है। खंजन, कमल, भ्रमर, मीन, चकोर जैसे परम्परा से चले आ रहे उपमान भी छोड़े नहीं गए। 'रहीम' ने उन्हें मथानी बनाया और अन्य कवियों ने 'मैन के खिलौना', 'अमृत के दोना' ही नहीं, 'कामदेव के बेड़े' कहकर भी सम्बोधित किया—

अँखियाँ न होइँ ये तो काम के निबारे हैं —'शृं० सु०'

उर्दू-शाइरी में भी नेत्रों के लिए भ्रमर, खंजन, कमल तथा मृग आदि मान प्राप्त हैं, लेकिन उर्दू-काव्य में खंजन एवं कमल को अधिक गृहीत नहीं आ गया। कमल के स्थान पर वहाँ नर्गिस का बोल बाला है। आँख की बनावट साम्य से शाइरों ने परम्परीण उपमान बादाम का प्रयोग भी बहुत किया है। मानों की दृष्टि से उर्दू-शाइरी का मैदान तंग है। हिन्दी-काव्य का उपमान-ध्य उर्दू-शाइरी में नहीं मिलता।

रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता के नेत्र-वर्णन में दो दृष्टियाँ काम करती ाई पड़ती हैं—एक दृष्टि सौन्दर्य की है, दूसरी प्रेम की। सौन्दर्य का सम्बन्ध म्बन से है, प्रेम का आश्रय से। उर्दू-काव्य में सौन्दर्य माशूक़ की चीज़ है और आशिक़ की। इस प्रकार नेत्रों को दो वर्गों में रक्खा जा सकता है—(१) म्बन या माशूक़ के नेत्र, (२) आश्रय या आशिक़ के नेत्र।

लम्बन के नेत्र

आलम्बन के नेत्रों की चंचलता प्रायः खंजन या भ्रमर के माध्यम से अभि-त की गई है "कैधों कौल पाँखुरी मैं डोलत भँवर हैं।" इसी आशय से उन्हें ा भी कहा गया है। हिन्दी-रीति-कवि ने गोरे मुख में स्थित चंचल नेत्रों के न्ध में कितनी सुन्दर कल्पना की है—

नाचें मुख कंचन की थारी में सुभारी अति
प्यारी तेरे नैन मैन भूपति के बाजी हैं। —'शृं० सु०'

राजा कामदेव के घोड़े बताए गए हैं। हैं तो बहुत भारी (मस्ती या लज्जा-फिर भी उनकी कला देखिए कि मुख-रूपी कंचन की थाली पर नृत्य कर हैं। उर्दू-शाइर 'मीर' ने शोख़ आँखों का इस तरह वर्णन किया है—

पड़ती हैं ईधर ऊधर वे शोख़ आँखें ऐसी
दो तुर्क मस्त जैसे हों राह में भटकते।

चंचलता के विपरीत उनकी मस्ती दिखाने के लिए उन्हें हाथी से उपमित हैं "नैना तेरे दोऊ गज माते मनमथ के।"[३] परन्तु उर्दू-कविता में मस्ती-आँख को शराब का प्याला कहकर पुकारते हैं।

आँखों का तीसरा गुण उनकी तेज़ मार है। उर्दू में निगाह को बरछी, र, तेग़ आदि कहा जाता है। हिन्दी-रीतिकाव्य में भी उर्दू-काव्य के समान खों के लिए तेग़ा, कटारी, सैफ़, बरछी आदि का उल्लेख हुआ है।

'बिहारी' ने नेत्रों को क़ज़्ज़ाक़ी करते हुए प्रस्तुत किया है "करत कजाकी" क़ज़्ज़ाक़ बड़े नृशंस थे। उन्होंने ईराक़ पर आक्रमण करके बड़े अत्याचार थे। भारत पर तुर्कों ने उसी हिंसात्मक कठोरता का परिचय दिया। ये तुर्क

लोग न हिन्दुओं को छोड़ते थे न मुसलमानों को। इसलिए जहाँ क़ातिल, अत्याचारी तथा हिंसक का उदाहरण देना होता है, वहाँ उर्दू-शाइर उसे तुर्क कहते हैं। आँखें भी तुर्क हैं, क्योंकि वे आशिक़ को क़त्ल करती हैं। 'सौदा' का कथन है कि—

क्योंकर न चश्मो अब्रू से हो क़त्ल दिल मेरा
दो तुर्क मस्त लेके जो तेग़ें पिला करें।

यह तो नेत्रों की काट हुई। उनकी बेधकता के भी बहुत वर्णन किये गये हैं। हिन्दी-कवि बिहारीलाल ने तिरछी दृष्टि को बिच्छू का डंक कहकर नेत्रों के दंश की अभिव्यक्ति की है—

ते तव होत दिखा दिखी भई अमी इक आँक।
दगै तिरीछी डीठि अब ह्वै बीछी कौ डाँक।

सामान्यता आँखों की बंकता के लिए बाण या तीर उपमान लाया गया है। उर्दू-शाइर इस सम्बन्ध में ऊहा कर बैठते हैं। उन्होंने दृष्टि-बाण का बहिर्गत प्रभाव दिखाते हुए लिखा है कि घूँघट में सैकड़ों छेद हो गए हैं—

हज़ारों पड़ गए तीरे-निगाह से सूराख़
हमारे उस बुते नावकफ़िगन के पर्दे मे। —नासिख़

लेकिन हिन्दी-कवियों ने "बाँके नैन बान मारि घायल कियो री मोहि" का विवरण "ठाकुर कहत कहूँ चोट को न चिह्न कछू" कहकर पेश किया है। चोट ऐसी करते हैं जो अलक्षित है और मार का क्षेत्र इतना विशद् कि क्या बताएँ? कोई घाट हो, कोई बाट हो, चौराहे, चौपाल, घर, द्वार, गली सभी जगह सभी के ऊपर (वयस्क हो, किशोर हो, जन्मा हो या जन्म लेने वाला हो) वार करते हैं—

मरद मुछारे गभुआरे जौन होनहार
तेऊ झूमि झूमि मतवारे से परे रहैं।
कोऊ घाट बाट कोऊ चौहट अथाइन में
कोऊ पौर खोरिन में ऊसई धरे रहैं।
लागत न दारू उपचार करि हारे वैद
'ठाकुर' कहत ऐसे हिय में अरे रहैं।
एक दस सौ लौं औ सहस्र लौं कहाँ लौं कहौं
आँखिन के मारे कैयौ लाखन डरे रहैं।

जिस प्रकार नेत्रों का बाँकपन अतुलनीय है वैसे ही कटाक्षों की तीक्ष्णता भी

अनुपमेय है। कटाक्ष ऐसे तीक्ष्ण हैं कि रीतिकवियों ने नायिका को हिदायत कर दी है "जोर न अंजन देउ सखी अँगुरी कटि जैहैं कटाक्ष की कोरन।"[८]

कटाक्ष अधखुली आँख से किए जाते हैं। उर्दू-काव्य में अधखुली आँख का वर्णन बहुत हुआ है। माशूक़ की अधखुली आँखों में शराब की मस्ती भरी रहती है। अधखुली आँख का प्रभाव दिखाने के लिए 'ग़ालिब' की एक उक्ति बहुत सुन्दर है—

कोई मेरे दिल से पूछे, तेरे तीरे नीमकश को
ये ख़लिश कहाँ से होती, जो जिगर के पार होता।

अधखुली आँख का तीर अर्द्धाकृष्ट बाण है, जो पूरा लक्ष्य-बेध न कर सका अर्थात् जिगर के पार न होकर बीच में अटका है जिससे ख़लिश होती है। बाण की नोंक कसकती है। यदि पूरी तरह खींचकर यह तीर छोड़ा गया होता तो जिगर का काम तमाम हो जाता और यह कष्ट न होता।

इन अधखुली आँखों ने हिन्दी-कविता में जो ग़ज़ब ढाहा है, उसे 'द्विजदेव' के सवैया में पढ़िए। राधा ने जरा आधी आँखों देख लिया तो कृष्ण की क्या दशा हुई—

आधी लै उसास मुख आँसुन सों धोवै कहूँ
जोवै कहूँ आधे आधे पलनि पसारि कै।
नींद भूख प्यास ताहि आधी हू रही न तन
आधे हू न आखर सकत अनुसारि कै।
'द्विजदेव' की सों ऐसी आधि अधिकानी जासों
नेक हू न तन मन राखत सँभारि कै।
जा दिन तें जोरि मनमोहन लला पै दीठि
राधे आधै नयन ते आई तू निहारि कै।

नायक आधी उसास लेने लगा, आधे पलक पसार कर इधर-उधर देखने लगा, नींद भूख-प्यास आधी भी न रही, बोलता है तो अक्षर आधे निकलते हैं। ये सारी आधियाँ उसे आधे नेत्रों ने दे दी हैं।

रीतिकाल के हिन्दी-उर्दू-रचनाकारों ने दृष्टि-बाण के प्रभाव का पुनः पुनः कथन किया है। किन्तु इस पुराने उपमान को महाकवि 'देव' ने एक नई ओप दे दी है। उनका निम्नांकित आकर्षक चित्र देखिए—

दिन द्वैक तें सासुरे आई बधू मन में मनु लाज को बीज बयो।
कवि 'देव' सखी के सिखाये मरू कैं नह्यो हिय नाह को नेह नयो।

चितबावत चैत की चंद्रिका और चितै पति को चित चोरि लयो।
दुलही के बिलोचन बानन कौं ससि आज को सान समान भयो।

नायिका नवोढा है, इसलिए लजाती है। उसका पति सामने खड़ा है। सखी नायिका के हृदय में पति-प्रेम उद्बुद्ध करती है। सखी के सिखाने पर बड़ी मुश्किल से उसके हृदय में कुछ प्रेम उत्पन्न हुआ। सखी ने उसे चैत्र मास की उस चन्द्रिका को देखने के लिए प्रेरित किया। नायिका ने चाँदनी क्या देखी, पति का चित्त ही चुरा लिया। नायक उसके दृष्टि डालते ही उसके वश में हो गया अर्थात् उसके दृष्टि-बाण से घायल हो गया। 'विलोचन बानन' शब्द पर ध्यान जमाकर पाठक यही भाव हृदयंगम करते हैं।

परन्तु छंद का सौन्दर्य बाण की तीक्ष्णता व्यंजित करने मात्र में नहीं है। पहली बात तो चन्द्रमा के आकार की है। यदि पूर्णिमा का चन्द्र है तो शाण का अर्थ गोल शाणोपल हुआ और यदि चन्द्रमा आधा या उससे कम है तो शाण से तात्पर्य पत्थर की वह सिल्ली है जो शस्त्र (क्षुर आदि) रगड़ने से बीच में खाली वक्राकार हो जाती है। 'विलोचन बानन को' से स्पष्ट है कि नेत्र बाण तो पहले ही थे, चन्द्रमा ने उनमें शाण रख दी। सान पर चढ़ाने से धार तेज़ हो जाने के साथ-साथ हथियार में चमक आ जाती है। 'देव' का आशय यहाँ उसी दीप्ति से है। वधू की बेधक दृष्टि में चाँदनी की चमक से जो चमक आई उसने नायक का मन चुरा लिया। बाणत्व ने घायल करके निश्चेष्ट बनाया और दीप्ति ने चित्त चुराया। बेचारा नायक कहीं का न रहा।

उर्दू-शाइरी में कटाक्षों को आशिक़ों पर ज़ुल्म ढाने का हथियार बताया गया है जो आशिक़ के मर जाने पर ही छूटता है—

हुस्न ग़म्ज़े की कशाकश से छुटा मेरे बाद —ग़ालिब

हिन्दी में भी कवियों ने इन कटाक्षों के कारण 'लाल' को बेहाल ही चित्रित किया है, लेकिन 'शृङ्गार मंजरी' में कटाक्षों की अन्तर्मुखता के सहारे उनके कारण की खोज हुई—

केलि कला गुन आगर नागर रूप मनोजहु तें सरसाये।
प्रीति प्रवीन बड़े-बड़े साहिब तेरे कटाच्छ विलास लुभाए।
तैं जु कही सो सुनी सखि हूँ लखि मेरी दसा के सुभाव सुहाए।
प्रेम-समुद्र-उमंग तरंग ये नैननि के मग ह्वै कढ़ि आए।

कटाक्ष क्या हैं? ये प्रेम-समुद्र में उमंग-तरंगें हैं जो नेत्र मार्ग से निकल कर बाहर आती हैं। अर्थात् कटाक्ष प्रेम की उमंग का ही दूसरा नाम है। उर्दू-शाइरी में कटाक्षों का यह रूप इकतरफ़ा प्रेम के कारण नहीं मिलता।

निगाह

समीक्ष्य उर्दू-शाइरी में सीधी-तिरछी नज़रों के वर्णनों की कमी नहीं है। हिन्दी-रीतिकविता में भी इस प्रकार के चित्रण उपलब्ध हैं, मगर उर्दू-शाइरी में निगाह ने जो गुल खिलाए हैं, उनका ज़िक्र हिन्दी-काव्य में नहीं मिलता। एक शेर द्रष्टव्य है—

मक़्तल को किस निशात से जाता हूँ मैं कि है।
पुरगुल ख़याले-ज़ख़्म से दामन निगाह का। —ग़ालिब

आशिक़ कहता है कि मैं बध-स्थल की ओर किस प्रसन्नता के साथ जा रहा हूँ, क्योंकि मेरी दृष्टि का अंचल ज़ख़्म के ख़याल के कारण फूलों से भरा हुआ है।

रीतिकालीन उर्दू-काव्य में निगाह की बहुत सूक्ष्म माप की गई है। हिन्दी-कविता में अधखुली आँखों का वर्णन है या नेत्र-कोर से देख लेने का कथन है, परन्तु उर्दू-शाइरी के समान निगाह का गणित नहीं मिलता। एक स्वाभाविक (प्रकृत) दृष्टि होती है और एक विस्फारित। इन दोनों दृष्टियों का प्रभाव देखिए—

सामने जो पड़ गया दीवान-ए-बेबाक था।
फाड़कर आँखें जिसे देखा गरेबाँ चाक था। —आतश

'ग़ालिब' ने निगाह के कई भेद दिखाए हैं। एक निगाह अपरिचय-सूचिका होती है। प्रेमी के लिए प्रिय की ऐसी निगाह विष-स्वरूपा है। अतएव शाइर कहता है—

जान कर कीजै तग़ाफ़ुल कि कुछ उम्मीद भी हो!
ये निगाहे-ग़लत-अंदाज तो सम है हमको।

आशिक़ का निवेदन है कि मुझे अपना प्रेमी जानकर उपेक्षा-भाव दिखाइए तो कुछ आशा बँधे, लेकिन यह 'निगाहे ग़लत अंदाज' तो हमारे लिए ज़हर है।

'निगाहे ग़लत अंदाज' से पृथक् वह निगाह है जो आशिक़ के प्रति माशूक़ के उपेक्षा-भाव से उत्पन्न हुई है और जो सुप्रकट निगाह से कम है अर्थात् वह निगाह जो 'निगाह से कम' है—

बहुत दिनों में तग़ाफ़ुल ने तेरे पैदा की
वो इक निगह जो बज़ाहिर निगाह से कम है। —ग़ालिब

इस शेर में कई चमत्कार हैं। एक व्यंजना तो उपेक्षा-भाव की है। अब माशूक़ की वह निगाह नहीं रही। यह निगाह पहली निगाह से कम है। दूसरा अर्थ यह है कि माशूक़ अब पूरी खुली आँख से न देखकर कुछ दबी आँख से देखता है,

अतः आकर्षक है। तीसरा कौशल निगाह तथा निगह शब्दों के प्रयोग में है। 'निगाह' से 'निगह' प्रत्यक्षतः कम है।

'ग़ालिब' के माशूक़ की नज़र तो आँखों के बाहर भी निकलती है, लेकिन 'मीर' के माशूक़ की नज़रों की बात ही दूसरी है। वे तो पलकों की छाया ही नहीं छोड़तीं—"फिरती हैं वे निगाहें पलकों के साये-साये।"

आधी निगाह के वर्णन उर्दू-हिन्दी दोनों काव्यों में विद्यमान हैं। शाइरों तथा कवियों ने आधी निगाह के चुभने का चित्रण भी किया है। 'बिहारी' ने इसे 'नटसाल' कहा है अर्थात् यह उसी तरह कसकती है, जैसे बाण की टूटी नोक चुभी रह जाने पर करकती है। इस प्रकार दृष्टि का चुभना प्रेम-व्यवहार मे एक सामान्य बात है, लेकिन जिस प्रकार काँटे से काँटा निकाला जाता है, उस प्रकार नज़र से नज़र को निकालना अछूती कल्पना है। नज़र से नज़र को निकालने वाला 'ग़ालिब' का निम्नलिखित शेर द्रष्टव्य है—

बनीम ग़म्ज़ा अदाकर हक़्क़-वदीयते-नाज़
नियामे पर्दा ए-ज़ख़्मे-जिगर से ख़ंजर खैंच। —ग़ालिब

भाव यह है कि तूने मुझे जो आधी निगाह से देखा है, उसकी स्मृति हृदय में बाक़ी है। तेरी यह अर्द्धदृष्टि, हृद्क्षत-रूपी-कोश में स्थित तलवार है। इसलिए जो अर्द्ध-दृष्टि तेरे पास शेष रह गई है उससे इस तलवार को खींच ले। व्यंजना यह कि आशिक़ कटाक्षानन्द फिर उठाना चाहता है।

निगाह की चोट यों तो गहरी होती है, इसे समीक्ष्यकालीन उर्दू-हिन्दी-कविता ने बारम्बार स्वीकार किया है, लेकिन घूँघट के भीतर से की गई निगाह की चोट का जैसा ग़ज़बनाक प्रभाव हिन्दी-रीतिकवियों ने चित्रित किया है, वैसा उर्दू-शाइरों ने नहीं। केवल निगाह का मारा घायल होता है, परन्तु घूँघट की ओट से आने वाली निगाह का मारा लोट-पोट हो जाता है—

घूँघट की ओट ह्वै कै चितयो कि चोट करी
लालन तौ लोट पोट तब हीं ते भए है। —सुन्दर

विवेच्य काव्य में निगाह के लिए जितने उपमान आए है उनमें सबसे पृथक् और नया उपमान 'बिहारी' ने प्रस्तुत किया है—

मैं हो जान्यौ लोइनतु जुरत बाढ़िहै जोति।
को हो जानतु दीठि कौं दीठि-किरकिटी होति।

दृष्टि क्या है ? दृष्टि की किरकिरी है, क्योंकि नज़र से नज़र मिलते ही आँख कुछ देख न सकी।

नेत्रों द्वारा कटु एवं मधुर दोनों तरह के भाव उदित होते हैं। वे ग़ज़ब भी ढाते हैं और कृपा भी करते हैं। 'नासिख़' ने 'माशूक़' की चश्मे-बादाम के इन गुणों को एक शेर में प्रस्तुत किया है—

एक जा है चश्मे-जानाँ में निगाहे-कह्‌रो-मिह्र।
तल्ख़ो-शीरीं मग़्ज़ दो गोया हैं इक बादाम में।

नेत्रों के इस प्रभाव को 'रसलीन' के सुप्रसिद्ध दोहे में कितनी खूबी से रक्खा गया है। नेत्रों में श्वेतता, अरुणता एवं कालेपन को अमृत, हलाहल तथा विष कल्पित करके कवि कहता है—

अमिय हलाहल विष भरे श्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इक बार।

ये नेत्र जिसे एक बार देख लेते हैं, वह जी उठता है, मर जाता है और झुक-झुककर गिरने लगता है।

उर्दू-शाइरी में नेत्रों की शोख़ी, मस्ती, बेधकता आदि गुणों पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी-कवियों ने भी प्रायः ऐसी ही अभिव्यक्तियाँ की हैं। लेकिन हिन्दी-कवियों में दो-एक ने नेत्रों के गुणों का पर्यालोचन ऐसी शोध-दृष्टि से किया है कि वहाँ तक पहुँचना सरल नहीं है। 'ठाकुर' का मत है कि डीलदार, सीलदार, ललित, ललौहें, कसकोहें तथा चसकौहें नेत्र ही वास्तविक नेत्र हैं—"ऐसे नैन होंइ तब नैन कहियत हैं"। और 'आलम' कवि ने नायिका के नेत्रों में (श्वेतता, ज्योति, अंजन, वक्रता, अरुणता, मस्ती, सोधापन, सौन्दर्य, मान, चापल्य प्रेम, पुतली, सुदृष्टि एवं गति) चौदह रत्नों का अनुसंधान करके कल्पना-चमत्कार प्रदर्शित किया है—

सेत संख बिधु जोति अंजन जहर सजि
वक्र धनु अरुन सुमनि सँग लाए हैं।
प्रेम सुरा सूधे धेनु सुन्दर समान रंभा
'आलम' चपल हय काम के सधाए हैं।
प्रीति मधु पूतरी कलपलच्छी पूरन
धनंतरि सुदिष्टि गज गति पलटाए हैं।
काहे को समुद्र मथि देवतान श्रम कीनो
चौदह रतन तिय नैननि मैं पाए हैं।

आश्रय के नेत्र

हिन्दी-रीतिकाव्य में नायक-नायिका परस्पर आश्रयालंबन होते हैं, इसलिए वहाँ आलम्बन का वर्णन ही प्रधान है। रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में माशूक़ माशूक़

है और आशिक़ आशिक़। इसलिए स्वात्मनिरूपक काव्य ग़ज़ल में उर्दू-शाइर आशिक़ के अश्रुपूर्णाकुल नेत्रों का वर्णन बहुत मनोयोग से करते हैं।

आश्रयात्मक नेत्रों के दो प्रकार कल्पित किए जा सकते हैं—(१) निर्बीज (२) सबीज। निर्बीज आँख शून्य, निष्फल एवं निराश आँख है। उर्दू-काव्य में इस आँख का प्राधान्य है। आशिक़ की आँख बराबर अश्रुमोचन करती रहती है। शाइर उसे नासूर कहता है। 'आतश' ने आँख को परात-रूप चित्रित किया है, क्योंकि उसमें कभी पानी कभी खून भरा दृष्टिगोचर होता है—

लहू है गाह गाह है अश्क अपने दीदा-ए-तर में
कभी पानी कभी इस तश्त में हम रंग भरते हैं।

ये आँखें कभी सफल नहीं हुईं। दर्शनों की भीख उन्हें कभी मिली नहीं, अतएव आँखें क्या हैं, भीख के ठीकरे हैं—

दो आँखें चेहरे पर नहीं तेरे फ़क़ीर के
दो ठीकरे हैं भीक के दीदार के लिए। —आतश

इससे मिलता-जुलता भाव हिन्दी-रीतिकवि 'बिहारी' के एक दोहे में भी है—

कौड़ा आँसू बूँद कसि बरुनी साँकरि सजल
कीने बदन निमूँद दृग मलिंग डारे रहत।

सबीज आँख वह है जिसमे माशूक़ की अवयव-छवि मौजूद है। ऐसी आँख में भी यद्यपि निराशा रहती है, परन्तु वह निराशा निर्बीज आँखों की निराशा नहीं है। आशिक़ की आँखों में असीम व्यथा एवं तारल्य विद्यमान रह सकते हैं, लेकिन उस पीड़ा को आशिक़ अपनी आँखों से जुदा नहीं करना चाहता। उसकी आँख एक-दर्द भरा छाला है, परन्तु उसमें माशूक़ के पक्ष्म-शूल चुभे हैं—

आँख बेलुत्फ़ है पलकें हों जो ऐ यार जुदा
किस तरह आब्ला-ए-पा से करूँ खार जुदा। —नासिख़

उर्दू-शाइरी में आशिक़ की आँख निर्बीज हो चाहे सबीज, निष्फलता उसके भाग्य का अंग है, लेकिन सबीज में कुछ सुखांश भी है। अश्रु-आप्लावित-नेत्र तालाब ज़रूर हैं, परन्तु उनमें यदि माशूक़ के नेत्रों की छवि अंकित है तो समझिए सुन्दर कमल खिले हुए हैं—

चश्मे-जानाँ है तसव्वुर में कँवल के बदले
एवज़ आँखों के खुदा ने दिए तालाब मुझे। —नासिख़

'नासिख़' का विचार है कि यदि आँख-माशूक़ के सौन्दर्य-मधु से पूर्ण है तो उससे बहने वाले आँसू शराब हैं और आँख अंगूर है।

रीतिकालीन उर्दू-शाइरी में आशिक़ की आँख को मुहर, प्याले और जलस्रोत पर रक्खे दीपक से उपमित किया गया है। माशूक़ की तलाश में सतत् चक्रित रहने के कारण 'मीर' ने उसे भँवर कहा है—"हल्क़ा हमारी आँख का गिरदाव सा हुआ।"

हिन्दी-रीतिकविता में प्रेमी की आँख के निर्बीज वर्णन नहीं मिलते। वहाँ तो "प्रियतम छवि नैननि बसी पर कहाँ समाय" सिद्धान्त चरितार्थ होने के कारण सुखांश-राहित्य असिद्ध है। पूर्वानुराग में नेत्र दो काम करते हैं—(१) आलम्बन के सौन्दर्य का मूल्यांकन (२) आलम्बन की छवि का धारण।

'रसलीन' (र० का० सन् १७१४-१७१८) ने नेत्रों को स्फटिक से उपमित किया है। ये स्फटिक ऐसे हैं जिनमें काली कसौटी (पुतली) नगीना की तरह जड़ी हुई है। और इस कसौटी से आलम्बन के सुवर्ण शरीर का मूल्यांकन किया जाता है—

तन सुबरन के कसत यों लसत पूतरी स्याम।
मनो नगीना फटिक में जरी कसौटी काम।

छवि-धारणाभिलाषा 'वली' औरंगाबादी के एक शेर से व्यंजित होती है। शाइर कहता है कि यदि वह माशूक़ मेरे घर आवे तो मैं आँखों को मसनद और पुतली को तकिया बनाकर उसका स्वागत करूँ—

अँखियाँ की करूँ मस्नद पुतली का करूँ बालिश
वो नूरे-नज़र आज अगर मेरे घर आवे।

हिन्दी-रीतिकाव्य में अभिलाष का ऐसा भाव संयोग के पश्चात् हुए वियोग में ही प्रकट किया जाता है, इसलिए वहाँ आश्रय 'अगर मगर' नहीं करता। 'वली' अपनी पुतली को तकिया बनाना चाहते है, परन्तु हिन्दी-काव्य की नायिका की पुतली तो प्रियतम की चरण-पादुका बन चुकी हैं, क्योंकि प्रियतम ने नेत्रों पर अपना मार्ग बनाया है—

नैननि पै ह्वै जु प्यारे पैड़ों करो पाउँ धारि
पूतरीन प्यारी लगैं पाँयनु की पाँवरी। —आलम

उपालम्भ

प्रेम प्रत्यक्ष-दर्शन, स्वप्न-दर्शन या चित्र-दर्शन से होता है, इसलिए नेत्र ही सारी बला की जड़ हैं। प्रत्यक्ष दर्शन हो जाय तो बाद में अकुलाते हैं और स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण हो तब दर्शनार्थ ललकते रहते हैं। प्रिय को बार-बार देखने पर भी उनकी प्यास नहीं बुझती। इसलिए प्रेमी कभी तो नेत्रों के कष्ट का वर्णन करता है—

नेहु न, नैंनतु कौं कछू उपजी बड़ी बलाय।
नीर भरे नितप्रति रहैं तऊ न प्यास बुझाय। —बिहारी

कभी उनकी मुँहजोरी की शिकायत करता है कि ये रोकने पर भी रुकते नहीं। 'बिहारी' नेत्रों के इस रूप के लिए 'मुंहजोर तुरंग' उपमान प्रस्तुत करके कहते हैं कि नेत्र हमारे वश में नहीं हैं—

लाज लगाम न मानही नैना मो बस नाहिं।
ए मुँहजोर तुरंग से ऐंचत हू चलि जाय।

हिन्दी-रीतिकाव्य में नेत्रों द्वारा किये गये विश्वासघात के प्रभूत उल्लेख उपलब्ध हैं। 'ठाकुर' का मन इन नेत्रों पर वि वास करने में ही चला गया। ये नेत्र हृद्द्वार के दरबान थे। कवि इन्हीं के भरोसे था। मगर इन्होंने विश्वासघात किया। बाड़ ने ही खेत खा लिया। भेद देकर उसका मन लुटवा दिया। अब पूछने पर कैसा अभिनय कर रहे हैं—आँसू भर भर कर दिखाते है (जैसे बिल्कुल निर्दोष हैं) और कुछ पता नहीं देते—

येई हियद्वार के कदीम दरबान दोऊ
इनहिं छिपाय कैसे ऊपरी लयो है री।
हौं तो इन दोइन के रहत भरोसे हाय
बारी खेत खायो बड़ो उलट भयो है री।
'ठाकुर' कहत बूझे आँसू भरि भरि देत
नेक हु न सोध देत कौन को दयो है री।
मेरो मन मेरी आली मोंहि यह जानी जात
नैन बटपारने के भेद में गयो है री।

हिन्दी-रीतिकविता में ये उपालंभ निराशा-जन्य या निराशा-जनक नहीं है। उर्दू में नेत्रों को उपालंभ इसलिए दिया गया है कि उनका रोदन निष्फल है। ये नेत्र असमर्थ हैं, प्रेमोत्पादन मे अक्षम है—

ऐ दीदा खानमा तो हमारा डुबो सका।
लेकिन ग़ुबार यार के दिल से न धो सका। —सौदा

लगालगी

हिन्दी-रीतिकविता में [illegible] काफ़ी हुए हैं। इन चित्रणों में भी येन केन प्रकारेण उपालंभ की ही अभिव्यक्ति है। कविवर बिहारीलाल की "लगालगी लोयन करैं नाहक मन बँधि जाँय" उक्ति इसकी दलील है। जब नेत्र दूसरे के नेत्रों से लड़ते है तो विरहाग्नि उत्पन्न होती है। अतएव कवि का अनुमान ठीक ही है कि—

कहत सबै कवि कमल से मो मत नैन पखानु।
नतरुक कत इन बिय लगत उपजतु विरह कृशानु। —बिहारी

आँखें जब परस्पर लग जाती हैं तो फिर उनका छूटना असंभव-सा हो जाता है। लागी छूटती नहीं। उर्दू-शाइरी में आँखें इकतरफ़ा लगती हैं, परस्पर नहीं। अतएव उर्दू-शाइरी में आशिक़ अपनी आँखों के क़सूर का रोना चाहे रोवे, परस्पर लगालगी का वर्णन नहीं करता। लेकिन उर्दू-कविता मे उपदेशक पर व्यंग्य सते समय अपने प्रेम की लगावट और दृढ़ता का कथन बड़ी गंभीरता से किया जाता है—

आँखों से आँखें नासेह हर्गिज़ बँधी न छूटें
ज़ंजीर की कड़ी पर जैसे कड़ी लगाई। —सौदा

'बिहारी' ने आँख लड़ने का और 'सौदा' ने आँख लगने का वर्णन करके उन्हें पाषाण तथा ज़ंजीर की कड़ी से उपमित किया है। रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता में आँखों के लिए कथित उपमानों के अतिरिक्त घरिया, तराज़ू, मधुमक्खी आदि का प्रयोग भी हुआ है। ये उपमान [illegible] पृथक्-पृथक् ढंग से आते हैं। इस उद्देश्य से आलोच्यकालीन हिन्दी-कविता में कमल, खंजन, मीन एवं चकोर के पुराने उपमान परम्परया आए हैं, लेकिन 'रघुनाथ' कवि ने एक ही प्रस्तुत के साथ इन सभी को उपन्यस्त करके अद्भुत भावाभिव्यक्ति की है—

आजु हरि पकरि कदम की ललित डार
 खड़े जमुना पै कलानिधि ऐसे वै रहै।
'रघुनाथ' न्हाइबे को अलिन के साथ आइ
 वृषभान लली पंथ सौरभ सों म्वै रहै।
देखादेखी होत भयो कौतुक उदोत भटू
 राधे के नयन ऐसी भाँति परी ह्वै रहै।
कंजन से ह्वै कै फेरि खंजन से ह्वै कै
 फेरि मीन ऐसे ह्वै कै री चकोर ऐसे ह्वै रहै।

कृष्ण के नेत्रों से जब राधा के नेत्र मिले तो उन नेत्रों की क्या दशा हुई? कवि ने लगालगी का आश्रयगत प्रभाव चित्रित किया है। जब राधा के नेत्रों ने कृष्ण के नेत्रों का सौन्दर्य देखा तो प्रफुल्लित होकर कमल की तरह खिल गये, प्रेमावेग से चंचलता बढ़ी, अतः खंजन की तरह प्रतीत हुए। उस सौन्दर्य-सरोवर में अवगाहन करने लगे, उससे एक क्षण का वियोग भी उनके लिए असह्य हो गया अथवा कृष्ण की छवि जी-भर कर देखने के उद्देश्य से वे विस्फारित हो गए, इस दैर्घ्य के

कारण मीन जैसे मालूम पड़े और अंत में राधा की टकटकी बँधकर रह गई, तब उन नेत्रों की निर्निमेषता में चकोर की निष्ठा प्रकट हुई। इस प्रकार वे नेत्र कंज-से होकर, फिर खंजन-से होकर, फिर मीन-जैसे होकर अंत में चकोर बनकर रह गये।

तात्पर्य यह कि रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में नेत्रों के विविध वर्णन प्राप्त हैं। कवियों ने उनके ऐन्द्रजालिक स्वरूप की अमोघ अभिव्यंजनाएँ की हैं। वे उनके रूप तथा प्रभाव के शतशः वर्णन करते हुए भी उन्हें अगम तथा अपार मानकर कहते हैं—

एक दो हों तो सेहरे-चश्म कहूँ
कारखाना है व्हाँ तो जादू का। —मीर

बाल

सौन्दर्य के मुख्य मापक नेत्र, मुख तथा केश माने जाते हैं। इसलिए रीति-काव्य में इन अंगों पर काफ़ी रचना की गई है। हिन्दी तथा उर्दू-काव्य में काले-काले लम्बे केशों अथवा नायिका की वेणी की उपमा नागिन से दी गई है। उर्दू-शाइरी में बालों के तीन रंग मिलते है काला, पीला और सफ़ेद—

नागिन का उस ज़ुल्फ़ की मुझसे रंग न पूछो क्या हासिल
ख्वाह थी काली ख्वाह थी पीली बिस ने अपना काम किया। —सौदा

पीले रंग के बालों का वर्णन हिन्दी-कविता में अनुपलब्ध है। मुसलमान सफ़ेद बालों में मेंहदी लगाकर उन्हें पीला बना लेते हैं, हिन्दुओं में यह फ़ैशन अप्रचलित है, इसलिए पीले बाल हिन्दी-कवियों की कल्पना में नहीं आए। सफ़ेद बालों पर दोनों काव्यों ने दृष्टि डाली है। हिन्दी-कविता से एक उदाहरण अंकित किया जाता है—

तिय-तरुनाई मलय तरु अहि लपटे येहि हेत।
ये सूखे ये चल बसे डारि केचुली सेत।[१]

नायिका तरुणी से अब वृद्धा हो चली है। उसके जो केश काले थे वे अब श्वेत हो गए हैं। तरुणाई को मलय तरु माना गया है, जिसमें काले केश काले सर्पो की भाँति लिपटे थे। वह मलय तरु अब सूख गया, इसलिए सर्प भी अपनी केंचुली यहाँ डालकर चले गए। यहाँ काले तथा सफ़ेद का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सर्प और केंचुल का प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त उक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्प कहीं चला गया है, केंचुली रह गई है, परन्तु तथ्य यह है कि जो पहले साँप था वही केंचुल बन गया है।

उर्दू-शाइर 'नासिख' ने बालों पर बँधे हुए फ़ीते को केंचुल से उपमित करके बालों के सौन्दर्य को और अधिक हृद्य बना दिया है—

दूर करते हैं नहाने में सनम मूबाफ़ को
केंचुली बरसात में है बार जिस्मे मार पर ।

बालों की सफ़ेदी को 'ज़ौक़' ने सर्प के लिए दूध बताया है । यह दूध वासना-नागिन को और अधिक पुष्ट करता तथा विष को बढ़ाता है—

ज़ियादह होता है पीरी में फ़र्बा नफ़्से-अम्मारा
ये बालों की सफ़ेदी शीर है उस मारे-रहज़न को ।

हिन्दी-रचनाओं में केशों के लिए अंधकार, रात, मेघ आदि अप्रस्तुत लाए जाते हैं । उर्दू-शाइरी में ये सारे उपमान प्राप्त हैं । 'आतश' ने बालों को काली घटा एवं शबे-यल्दा से उपमित किया है । इसके अतिरिक्त हिन्दी-कविता में सिवार, भ्रमर तथा चँवर उपमानों को भी स्थान है—

राजत सेवार बार फैले अलकन के —रघुनाथ

भौंर जो प्यारी पै चौंर भये हैं —रघुनाथ

उर्दू-शाइरी में बालों की उपमा संुबुल, बनफ़्शा तथा ज़ंजीर से तो आमतौर पर दी गई है । कुछ शाइरों ने उन्हें कमंद कहा है तो कुछ ने मछली मारने की बंसी और कुछ ने कल्पना की है कि ये वस्तुतः धनुष से उतरी हुई प्रत्यंचाएँ हैं—

तश्बीह नई दूँ तेरे गेसूए रसा को
उतरा हुआ चिल्ला कहूँ अब्रूए-कमाँ का । —आतश

लेकिन 'नासिख' ने ज़ुल्फ़ों को काली मसि भरी हुई लेखनी बताया है—

ग़लत कहते हैं उस रुख का हुआ खत बेरक़म पैदा ।
कि ज़ुल्फ़ों के हुए थे उसके लिखने को क़लम पैदा ।

हिन्दी-रीतिकवि 'देव' ने काले लहकारे बालों की कामदेव की छड़ी से उपमा दी है "कारे लहकारे कामछरी से छराहे ।" इस प्रकार रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य में बालों के लिए अनेक उपमान आए हैं, जिनमें कुछ समान हैं कुछ परस्पर भिन्न है ।

हिन्दी-कवियों ने केशों के सुलझाने तथा चोटी गूँथने का ज़िक्र तो बार-बार किया है, परन्तु उनके वर्णनों में केश-रचना की किसी शैली विशेष की ओर संकेत नहीं है । अधिक से अधिक लम्बी चोटी या जूड़े का चित्रण मिल जाता है जैसा कि 'बिहारी' के निम्नांकित दोहे में द्रष्टव्य है—

कर समेट कच भुज उलटि खएँ सीस-पटु टारि।
काको मन बाँधत नहीं जूरो-बांधनहारि।

परन्तु इसके अतिरिक्त हिन्दी-रचनाकार केश-कलाप के समाज प्रचलित अन्य प्रकारों पर प्रकाश नहीं डालते। उर्दू-कविता में केश-विन्यास के कई ढंग उपलब्ध हैं। 'फ़ायज़' अपने एक शेर मे जूड़े का वर्णन इस तरह करते हैं—

जूड़ा नहीं गेंद है कन्हैया की।
या सहसनागनी है दरया की।

मीर हसन ने अपनी प्रसिद्ध मसनवी 'सहरुल्बयान' में 'खजूरी चोटी' का उल्लेख किया है—

खजूरी वो चोटी ज़री का मुबाफ़।
कि जूं दूद के बाद शोला हो साफ़।

खजूरी चोटी के ऊपर ज़री का सुनहरा फ़ीता बँधा हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे धुएँ के बाद साफ़ शोला।

आलोच्यकालीन हिन्दी एवं उर्दू दोनों ही काव्यों में माँग का चित्रण हुआ है। हिन्दी-कवियों ने माँग की उपमा खून-भरी तलवार से दी है—

स्याम फरी सुथरी पै सोई मनो खूनभरी तरवार धरो है —रंगपाल

यह माँग सिन्दूरी माँग है। उर्दू-काव्य में इस प्रकार की माँग नहीं मिलती। वहाँ माँग के दो प्रकार हैं। प्रथम सादा, जैसे—

माँग सब कहते हैं जिसको साँप की है वो लकीर —नासिख

'नासिख' ने उसे 'साँप की लकीर' कहा, किन्तु 'रसलीन' उसे शिकार खेलने की टट्टी बताते हैं—

माँग लगी ते अधिक तिय पाटी टाटी ओट
दोऊ दृग पक्षीन को हनत एक ही चोट।

दूसरा प्रकार है अलंकृत माँग का। यह माँग मोती आदि रत्नों की लड़ी से भरी रहती थी। इस माँग की चमचमाहट को शाइर आकाशगंगा से उपमित करते हैं—

हमने दी तेरी माँग से जो मिसाल
रुत्बए कहकशाँ बलंद हुआ। —नासिख

माँग बनाने पर बालों की दो पट्टियाँ बन जाती हैं। उन्हें पीछे की ओर गूँथकर स्त्रियाँ लम्बी चोटी बनाती थीं। हिन्दी-रीतिकवियों ने चोटी गूँथने (गुहने)

के जो चित्रण किए हैं, उनसे एक ही चोटी बनाने का पता चलता है, परन्तु उर्दू-काव्य के वर्णन दो लटों की व्यंजना भी करते हैं—

खातिर अगर जमा हो परेशानी भी निभे
सो दिल तो दो तरफ़ तेरी ज़ुल्फ़ों से बट गया। —मीर

'मीर' ने 'बँट गया' न लिखकर 'बट गया' लिखा है। बट गया जैसे बान या रस्सी बटते हैं। अर्थ यह निकलता है कि जो दो लटें या दो चोटियाँ बनी हुई थीं, उन्हीं के साथ दिल भी बटा जाकर दो भागों में विभक्त हो (बँट) गया है। 'आतश' ने भी 'दो बलाएँ' कहकर इसी ओर संकेत किया है—

सौदा नहीं है गेसुओं का यार के किसी
इन दो बलाओं से है किसी को मफ़र कहाँ।

हिन्दी-रीतिकविता में नायिका की माँग के वर्णन हैं, लेकिन नायक के केशों की माँग का ज़िक्र नहीं है। मुसलमानों में पुरुष भी ज़ुल्फ़ों को बीच से दो भागों में विभक्त कर माँग बनाते थे, इसलिए माशूक़ के केशों के लिए 'दो बलाएँ' कहने से निश्चयपूर्वक दो चोटियों का अर्थ नहीं लिया जा सकता। 'मीर' के उपर्युक्त शेर के सम्बन्ध में भी यही बात है। इन वर्णनों से पता चलता है कि ये दो चोटियाँ सिर के पीछे बाँध ली जाती थीं, लम्बी लटकती नहीं रहती थीं क्योंकि उर्दू-शाइरी में ज़ुल्फ़ के लटकने का नहीं, एक चोटी के लटकने का वर्णन ज़रूर है—

चोटी उस हूर की एड़ी से बढ़ चलने लगी
सुब्हे-महशर भी फिर अब ऐ शबे-यल्दा दिखला। —आतश

उर्दू-शाइरी में माशूक़ के बालों के वर्णन से तत्कालीन सामाजिक वस्त्राभूष पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। रीतिकालीन उर्दू-कविता से ज्ञात होता है कि बालों को पगड़ी के पेचों के साथ लपेट कर भी बाँधा जाता था। 'मीर' का कथन है कि आशिक़ को पछाड़ने के लिए माशूक़ ने यह एक नया पेच सीख लिया है। पगड़ी में उन्हें इस ढंग से बाँधा जाता था जैसे वह घुरसे (खोंसे) या गुँथे हुए से मालूम पड़ते थे—

अगले क्या पेच तुम्हारे न थे बस आशिक़ को
बाल जो और घुरसने लगे दस्तार के बीच। —मीर

बाल बल खाए हुए पेचों से पगड़ी के गुँथे
तर्ज़े-कीं चितवन की पाई सर में शोरे ज़ोर है। —मीर

उर्दू-काव्य के अन्तर्गत माशूक़ द्वारा ज़ुल्फ़ ओठों में दबाकर चलने का वर्णन भी मिलता है। यह व्यापार लज्जा-जन्य होने से स्वाभाविक है—

यूँ न होटों में दबा मारे-सियाहे-ज़ुल्फ़ को
ऐ परीरू चश्मा-ए-हैवाँ में सम हो जाएगा। —नासिख़

रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता में अलकावेष्टित-मुखच्छवि का वर्णन पर्याप्त हुआ है। हिन्दी-कवि 'घनानंद' ने मुख पर बिथुरे हुए बालों में 'भाग-भरे भाल सीस' की शोभा का वर्णन तत्कालीन परिवेश-चित्रण करते हुए कितनी रमणीयता से किया है—

मानो 'घन आनँद' सिंगार रस सों सँवारी
चिक में विलोकति बहनि रजनीश की।

रसमूर्ति 'घनानंद' नायिका के श्याम चिकुरों में श्रृंगार रस की कल्पना करते हुए कहते हैं, मानों श्रृंगार रस से निर्मित चिक के भीतर से चन्द्रमा की बहिन देख रही हो। यहाँ 'चन्द्रमा की बहिन' से प्रभा का बोध होता है। उर्दू-शाइर 'वली' औरंगाबादी ने घुँघराले छल्लों के भीतर से चमकते हुए मुखमंडल की ज्योति को दीपावली बना दिया है—

तेरी ज़ुल्फ़ाँ के हल्क़े में रहे यूँ नक़्शे-रुख़ रौशन
कि जैसे हिन्द के भीतर लगे दीवे दिवाली में।

मुख-ज्योति केशों की कालिमा के बीच अधिक सुन्दर लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि केशों के सम्पर्क से मुखच्छवि विवर्धित हो गई है। इस तथ्य को प्रकट करने के लिए 'नासिख़' ने नई कल्पना की है—

कहते हैं देखके ज़ुल्फ़ उसके रुख़े ताबाँ पर
कभी होता नहीं उस शमा से गुलगीर जुदा।

माशूक़ के प्रदीप्त आनन पर ज़ुल्फ़ देखकर शाइर कहता है कि मोमबत्ती से क़ैंची कभी अलग नहीं होती। क़ैंची का काम जली हुई बत्ती की राख को काट कर लौ को अधिक प्रज्ज्वलित कर देना है। व्यंजना यह है कि ज़ुल्फ़ के कारण मुख की शोभा और ज़्यादा बढ़ गई है मानों उसमें पुरानापन आने ही नहीं पाता।

उपर्युक्त कथन चमत्कारवादी होते हुए भी कुछ न कुछ भाव-संवलित है, लेकिन उर्दू-शाइरी में बहुलांश कोरी चमत्कारोक्तियाँ हैं। स्वेद-बिन्दु-मंडित मुख-मंडल पर सुशोभित अलक उर्दू-शाइर को विषहीन पनिहा सर्प-सी प्रतीत होती है—

है अरक़-आलूदा रुख़ पर ज़ुल्फ़े-जानाँ ग़म नहीं।
साँप पानी का जो हो ज़िनहार उसमें सम नहीं। —नासिख़

इस उद्धरण से न तो बालों का सौन्दर्य और न उनका प्रभाव ही अभिव्यंजित

होता है। हिन्दी-रीतिकविता में इस प्रकार का नीरस कल्पना-विलास नहीं मिलता। 'बोधा' मुख के ऊपर पड़ी एक बंक अलक का चित्र इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

नीकी लसी लसी मुख ऊपर बंक अलक अलबेली।
गई दरार चन्द्र के आनन त्यों मुख चाह नवेली।

दो लटों के मुख पर बिखरने की शोभा भी इन रचनाकारों ने देखी है। मिर्ज़ा 'सौदा' कहते हैं दो ज़ुल्फ़ें चेहरे पर बिखरी हुई इस तरह दिल माँग रही थीं, जैसे एक खिलौने पर दो बालक हठ कर रहे हों—

ज़ुल्फ़ें यूँ चेहरे प बिखरी हुई माँगे थीं दिल
जिस तरह एक खिलौने प हटें दो बालक।

इसी भाव की अभिव्यक्ति रूप एवं धर्म-साम्य पर दृष्टि रखकर हिन्दी-कवि ने निम्नांकित पंक्तियों में की है—

'रंगपाल' आनन अनोखे पै अलक मंजु
लरकी लुरति लोनी मन को अगोटै हैं।
मानो दोय असित भुजंगम के छौना छाम
मचले मयंक पै सुधा के हेतु लोटै हैं।

आलोच्यकालीन सौन्दर्यान्वेषी कवि और शाइर शरीर के अनेक अंगों पर केशप्रसार-छवि अंकित करते हैं। चिबुक पर पड़ी एक अलक को 'वली' ने "नागिनी ज्यों कुएँ प प्यासी है" कहा है। 'आतश' के मुर्ग़े-दिल को बंदी बनाकर ओठों तक ले जाने वाली घुँघराली अलक ही है—

मुर्ग़े-दिल को कुंजे लब तक ज़ुल्फ़े-पेचाँ ले गई
इस तरह से जिस तरह रहबर क़फ़स का दाम हो।

उर्दू-शाइरों ने लम्बी-लम्बी ज़ुल्फ़ों के सीने पर फैलने का वर्णन भी किया है। ज़ुल्फ़ें क्या हैं अँगिया के पान की रगें हैं—

सीने प आज ज़ुल्फ़ को फैला के कहते हैं
हमने रगें बनाई हैं अँगिया के पान में। —'ता० रे०'

इसी व्यापार पर 'ग्वाल' कवि की उत्प्रेक्षा देखिए। सद्यः स्नाता नायिका अभी-अभी तंज़ेब की साड़ी पहने तालाब से बाहर निकली है। उसके खुले हुए केश छाती पर फैल गए हैं। एक लट उरोज के अग्र भाग से लिपट गई है। कवि सौन्दर्य-चित्र प्रस्तुत करता है मानों चन्द्रमा (मुख) कंचन कलशों (उरोजों) को अमृत-भरा जानकर नील रेशम के फाँसे से ऊपर खींच रहा है—

बाल ताल तीर मैं तमाल की तराई तरैं
तन तनजेब सों दुरावै गुन गाँसे मैं ।
न्हाइ के नवेली कढ़ी नाइ कै नुकीले नैन
चैन की चलन मढ़ी मैन प्रेम फाँसे मैं ।
'ग्वाल' कवि ऊँचे के उरोज की अगारनि पै
लिपटी अलक ताके ललित तमासे मैं ।
कंचन के कलस सुधा के भरे जानि ससि
खैंचि रह्यो मानो नील रेसम के फाँसे मैं ।

महाकवि 'देव' ने उरोजों में उलझे केशों को झीने पट में झिलमिलाता देखा है। लेकिन ये केश केवल एक ही अंग पर नहीं हैं। कुछ हाथों पर और कुछ कपोलों पर बिखरे हुए हैं तथा अधिकांश सिर से पृथ्वी तक लहरा रहे हैं। पीछे आगे लम्बायमान चिकने काले केशों के बीच झिलमिलाती नायिका की छवि कवि निम्नलिखित कबित्त में चित्रित करता है—

कारे लहकारे काम छरी से छराहे छरहरे
के पसारे छहरात छिति ही कने ।
झीने पट मिले झिलमिले झुकि आई
ऐसी झींकि झींकि उरझे उरोजन में झीकने ।
कोरे कोरे करन बिथोरे थोरे थोरे चितै
'देव' चित चोरे मुख मोरे हैं शरीकने ।
गोरे गोल कोमल कपोल पर नीके लागैं
चंपावरनी के वै चिकुर चारु चीकने ।

केशों से जल-बिन्दु का चित्रण हिन्दी-रीतिकविता में जिस रसमग्नता के साथ किया गया है, वैसा उर्दू-शाइरी मे उपलब्ध नहीं होता। 'मुबारक' ने स्नान करती हुई रमणी की अलक का चमत्कारी चित्रण किया है। उसकी भीगी अलक नेत्रों पर है जिससे नेत्र-कोर से जल चू रहा है। कवि का कथन है मानो सर्प इधर-उधर से अमृत पोंछ कर खंजन के मुख में निचोड़ देता है—

तिय नहात जल अलक तें चुवत नैन की कोर ।
मनु खंजन मुख देत अहि अम्मृत पोंछि निचोर ।

यहाँ भाल शशिखंड है। भाल का पानी सिमिट कर अलक में पहुँचता है, जैसे सर्प इधर-उधर से अमृत इकट्ठा कर रहा हो। फिर चंचल नेत्रों में पहुँचता है, तो मानो वह सर्प उस अमृत को खंजन के मुँह में निचोड़ देता है। कितना मनोरम बिम्ब है ? उर्दू-शाइर ने भी बालों से बूँद चूने के व्यापार की कल्पना की—

लबे-दरया अगर धोए वो काफ़िर अपनी ज़ुल्फ़ों को
तो साँपों की तरह हर मौजे-दरया में हो सम पैदा। —नासिख़

अर्थात् यदि वह माशूक़ नदी-तट पर अपने केश धोए तो (जलबिन्दु चूने से) नदी की हर लहर (जो सर्प की तरह है) में विष पैदा हो जाय।

प्रस्तुत उद्धरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि हिन्दी-रीतिकाव्य में केश-वर्णन सौन्दर्य-चित्रण के लिए है, चमत्कार मात्र उसका उद्देश्य नहीं है। उर्दू-शाइरी का लक्ष्य चमत्कार है। हिन्दी-कविता सुन्दर दृश्य सामने रखती है, उर्दू-शाइरी हर दृश्य को सुन्दर कह देती है, उसका बिम्ब कैसा बन रहा है, इसकी चिन्ता नहीं करती। उदाहरणार्थ हिन्दी-काव्य में नायक-नायिका के घने लम्बे घुँघराले बालों के ही वर्णन हुए हैं, बालों के मुँड़ाने का कभी ज़िक्र नहीं मिलता। उर्दू-शाइरों ने माशूक़ के बाल मुँडाकर भी सौन्दर्य के दर्शन किए हैं—

आज उस नूरे-मुजस्सम की मुड़ी हैं ज़ुल्फ़ें
सच है ख़ुर्शेद से करती है शबे-तार गुरेज़। —नासिख़

माशूक़ ज्योति-स्वरूप है। उसकी ज़ुल्फ़ें मुड़ी हैं। सच है सूर्य के सामने अँधेरी रात ठहर नहीं सकती। [illegible] चमत्कारी उक्ति उर्दू-शाइरी में उपलब्ध हो सकती है, हिन्दी का रसवादी कवि इस असुन्दर दृश्य की कल्पना भी नहीं कर सकता।

हिन्दी-रीतिकवियों ने नायिका को बाल सुलझाते हुए, नाइन द्वारा वेणी गूँथते हुए या नायक से केश-रचना कराते हुए अक्सर चित्रित किया है, परन्तु बालों के साथ कंघे का संयोग नहीं दिखाया। उर्दू-शाइर लम्बे-लम्बे काले बालों में फँसे हुए हाथी-दाँत के सफ़ेद कंघे की शोभा का वर्णन करता है—

परीरू देर से इस सोच में सारा ज़माना है
दहाने-मार में हैं दाँत या ज़ुल्फ़ों में शाना है। —नासिख़

हे अप्सरामुखी ! सारा ज़माना सोच में पड़कर यह अन्दाज़ लगा रहा है कि तेरी ज़ुल्फ़ों में यह कंघा है या साँप के मुँह में दाँत हैं ?

इस प्रकार की आलम्बन-छवि-निस्संग-उक्तियाँ हिन्दी-कविता की सम्पत्ति नहीं हैं। हिन्दी-कविता के केश-वर्णन या तो आलम्बन के सौन्दर्य से सम्बद्ध हैं या प्रेमाभिव्यंजना के सहायक हैं। अधोलिखित दोहे में 'बिहारी' ने नायिका के बाल सुलझाने का वर्णन किया है—

कंज नयनि मंजनु किए बैठी ब्योरति बार।
कच-अँगुरी-बिच दीठि दै चितवति नंदकुमार।

नायिका स्नान करके बाल सुखा रही है। परन्तु बालों तथा उँगलियों के बीच से दृष्टि डालकर नायक को देखती जाती है। केश-कलाप को प्रियतम-दर्शन-साधन 'बिहारी' जैसा रीतिसिद्ध कवि ही बना सकता था।

कटि

हिन्दी-रीतिकवियों ने कटि को बहुत क्षीण दिखाया है। एक कवि ने हिसाब लगाना शुरू किया कि सिंहिनी की कमर से क्षीण कंजनाल, कंजनाल से घटकर नागबेलि, नागबेलि से अधिक घटकर गुण (तन्तु), गुण से भी क्षीण बाल और बाल से भी क्षीणतर मकड़ी का तार। लेकिन करतार ने तिया की कटि मकड़ी के तार से भी अधिक सुकुमार बनाई है—

मकरी के तार हू तें चारु सुकुमार अति
करी करतार या तिया की छीन कटि है। —'शृं० सु०'

और 'पदमाकर' उसे 'मखतूल ताग' बताते हैं—"लसै लंक मंजु मखतूल ताग सो।"

हिन्दी-रीतिकविता में कटि का अधिकतर अभाव ही सिद्ध किया गया है। केशवदास ने उसे भूत की मिठाई, साधु की झुठाई, स्यार की ढिठाई, धीरा के हास, दासी के सुख, सूर को शंका, रंक के धन, सूम के दान, महामूढ़ के ज्ञान और गौरी-गौरा के मान के समान बतलाया है। वस्तुतः वह कटि कपट के-से प्रेम की तरह है—

कौन है सँवारी वृषभान की कुमारी यह
तेरी कटि निपट कपट कैसो हित है। —'शृं० सु०'

जैसे फूल में गंध, गंगा-यमुना में सरस्वती, प्रतिपदा में इन्दु की कला है भी, और नहीं है; जैसे अनुमान प्रमाण से परब्रह्म जाना जाता है, उसी प्रकार कामिनी की कटि कही जाती है—

जैसे अनुमान तें प्रमाण पर ब्रह्म तैसे
कामिनी की कटि कवि 'मीरन' कहत हैं।

कवि 'देव' के अनुसार वह इतनी सूक्ष्म है कि भूत की चालाकी के समान मालूम ही नहीं पड़ती। उस पर बँधी किंकिणी ऐसी प्रतीत होती है मानो आकाश में पक्षी बोलकर चुप हो गए हों "अम्बर में बोलि किधौं बिरमै बिहंग पाँति।" यहाँ आकाश कहकर कवि ने कटि को शून्य बता दिया है। कवि 'रघुनाथ' ने एक स्थान पर कटि के आगे कटार की अनी को भी तुच्छ सिद्ध किया है "कटि आगे कहा है कटार हू की अनी।" 'अनी' से कवि कमर की सूक्ष्मता व्यंजित करना चाहता है या चुभन, यह समझने की बात है। इस उपमा के अतिरिक्त

'रघुनाथ' कवि भी कटि को 'निदान प्रमाण' ही मानते हैं "प्यारी जू की कटि को निदान परमान है।" इस अवसान-प्रमाण-कटि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कवि ने लिखा है "खाली मध्यदेश ए हो कवि रघुनाथ।"

हिन्दी-कवियों के समान ही उर्दू-शाइरों ने भी कमर की कृशता की ओर संकेत किया है। यद्यपि हिन्दी-रीतिकाव्य की भाँति उर्दू-शाइरी में कटि-सम्बन्धी उक्तियों का बाहुल्य नहीं है, लेकिन उसके अभाव तथा क्षीणता की व्यंजना हुई अवश्य है। 'नासिख़' माशूक़ की कमर के लिए उपमान खोजते-खोजते शिथिल-मति होकर बोले—

दीवान में सादी ही जगह छोड़ दी हमने
मज़्मून ये बाँधा तेरी नाज़ुक कमरी का।

कवि 'रघुनाथ' ने तो कटि-देश को रिक्त कह दिया था, परन्तु 'नासिख़' ने यह नहीं कहा, अपितु अपने काव्य-संग्रह में स्थान रिक्त छोड़ दिया। ऐसा करने से एक तो यह व्यंजना हुई कि रिक्त-स्थान ही कटि का उपमान है, दूसरा संकेत यह मिला कि शाइर उपमानानुसंधान में असफल होकर वह स्थान खाली छोड़ रहा है। शाइर ने किस पाटव से कटि को सत्-असत् से विलक्षण सिद्ध कर दिखाया है। इसी तरह 'फ़ायज़' की उक्ति है कि कमर है तो, लेकिन देखने में नहीं आती—

चाँद सूरज की रख ऐनक कों सदा पीरे-फ़लक
ख़म हो करता है नज़र ताकि दीखे तेरी कमर।

अर्थात् वृद्ध आकाश चाँद-सूरज की ऐनक लगाकर झुका हुआ दृष्टि डाल रहा है ताकि तेरी कमर दिखाई पड़े। व्यंजना यह है कि झुके-झुके देखते-देखते आकाश बूढ़ा हो गया—हज़ारों वर्ष बीत गए। चाँद-सूरज की ऐनक है अर्थात् रात-दिन देखने में संलग्न है। परन्तु माशूक़ की कमर दिखाई नहीं पड़ती।

यह बिम्ब आलम्बन को एक आश्चर्य-सा प्रस्तुत करता है और चित्र के सौन्दर्य में कोई व्याघात नहीं पहुँचाता। परन्तु इसके स्थान पर रूपसी नायिका को बिना कमर के डोलते हुए दिखलाना सौन्दर्यापकर्ष हो जाता है। 'आलम' ने 'रूप की औड़ी' उस बालिका (नायिका) का वर्णन इन शब्दों में किया है—

लाँक बिनु डोले औ निसंक सोत धूप की

'डोलने' क्रिया में केवल चलने का ही नहीं हिलने-डुलने का भाव भी आता है, यथा "वे डोलत रस आपने उनके फाटत अंग।" नायिका बिना लाँक के डोल रही है। ऐसी रुंड-मुंड हिलाती हुई आकृति के दर्शन कर किसे आनंद होगा?

आलोच्यकालीन उर्दू-कविता में कमर को बाल के समान बताया गया है "बहुत तो कमर जैसे मू थी किमू को।"[१०] बाल का रंग प्रायः काला होता है, इसलिए उर्दू-शाइर ने कमर को 'चीनी के बाल' से उपमित किया है—

फबती तेरी कमर प है चीनी के बाल की —नासिख

'चीनी के बाल' में न केवल रंग, अपितु माधुर्य की व्यंजना भी है। हिन्दी-रीति-कवियों का ध्यान कटि-माधुर्य की ओर नहीं मालूम पड़ता।

हिन्दी-रचनाओं में सिवार, मृणाल तथा कंज-तार के समान कहने में भी कृशता की ओर ही दृष्टि है। सिवार एवं मृणाल उपमानों में साधर्म्य है, परन्तु सारूप्य नहीं है। कंज-तार कहने से सुकुमारता अवश्य ध्वनित होती है, लेकिन वर्ण की कोई व्यंजना नहीं होती, क्योंकि कंज तो लाल, पीला, नीला, काला या सफ़ेद किसी भी रंग का हो सकता है। इसके अतिरिक्त कंज-तार कहने से कटि की मोटाई तार-बराबर निश्चित हो जाती है। उर्दू-रचनाकारों ने उसे 'रगे-गुल' सा कहा है—

रगे-गुल कोई कहता है कोई ऐ 'मीर' मू उसको
कमर उस शोख़ की बँधती नहीं इन खुश खयालों से।

इस कथन से कमर की सूक्ष्मता का पता चलता है कि वह फूल के रेशे-सी पतली है और यह संकेत भी मिलता है कि उसका रंग गुलाबी है।

यह तो कमर की नाप हुई। उर्दू-शाइरों ने उसकी तौल नहीं की है। परन्तु हिन्दी-रीतिकवि 'बेनीप्रबीन' ने उसे तौला भी है—

छाम कटि छोटी सी छबीली है छटाँक भरि
छाई छलछंद छितिपालन छलति है।

सामान्या की छबीली कटि छटाँक भर है और ऐसे छलछंदों से भरी हुई है कि बड़े बड़े नरेश धोखा खा जाते हैं अर्थात् उन्हे फँसा लेती है।

सुकुमारता तथा मृदुता की व्यंजना के लिए कमर का लचकना दोनों काव्यों में वर्णन किया गया है। हिन्दी-रीतिकवियों ने बालों के भार से नायिका की गरदन का लचकना दिखाया है—

झूला को झुकाय दई झोक एक बारन सों
बारन के भार कई बार नार लचकी। —'हफ़ी० ह०'

लेकिन मतिराम की नायिका की कटि हवा लगने से लचकती है "विजन बयारि लागे लचकत लंक है।" यही नहीं, रीतिकालीन हिन्दी-कविता में यह व्यंजना भी है कि कटि दृष्टि-भार सहन करने में अक्षम है—

एक प्रान प्यारी जू की कटि लचकीली, पर
ढीली ढीली नजर सँभारे लाल डारिये। —'शृं० सु०'

उर्दू-शाइरी में कमर की ऐसी नाज़ुकी चाहे न प्राप्त हो, मगर फूलहार के भार से उसका लचकना अवश्य चित्रित है। लेकिन 'नासिख़' ने माशूक़ की लचकती कमर देखकर यह अनुमान किया है कि उसमें हड्डी नहीं है—

रफ़्तारे-नाज़ में ये लचक जाती है कि बस
गोया तेरी कमर में सनम उस्तख़्वाँ नहीं।

आलोच्यकालीन काव्य में कटि-सूक्ष्मता-व्यंजनार्थ गणित का सहारा तो कवियों ने प्रायः लिया है, परन्तु वे कथन बिम्बहीन वक्तव्य मात्र हैं। गणित को चित्रमय बनाकर 'बेनी प्रबीन' ने कटि की सूक्ष्मता सामने रक्खी है। कवि ने लंक को 'चार का अंक'-सा बताया है—"बेनी जू प्रबीन लंक होति चारि को सौ अंक।" चार के अंक में गोलाकार भाग क्षीण होता है, किन्तु आगे जो दो रेखाएँ निकलती हैं वे कुछ मोटी होती हैं। कमर की गोलाई तथा क्षीणता चार के अंक की गोलाई से ध्वनित होती है और आगे निकली रेखाएँ जंघाएँ हैं। कवि 'भूषण' ने भी बेगमों की चार के अंक-सी क्षीण कमर पर तरस खाया है।

मीमांस्य उर्दू-शाइरी की दृष्टि कमर की नज़ाकत का चित्रण ही करती है और हिन्दी-रीतिकवियों की दृष्टि भी प्रायः कटि की कृशता एवं सुकुमारता तक ही सीमित है, फिर भी हिन्दी-रीतिकविता में उसके आकार से संबंधित कथन भी यत्र-तत्र उपलब्ध हैं, जिनसे सौन्दर्य-चित्रण एकांगी न रहकर सर्वाङ्गीण हो जाता है।



अध्याय | १०

प्रकृति-वर्णन

मानव-मानव तथा मानव-प्रकृति के सम्पर्क से उत्पन्न मानसिक एवं शारीरिक चेष्टाओं का नाम जीवन है। काव्य जीवन की अभिव्यक्ति होने से इन दोनों का चित्रण करता है। आलोच्यकालीन हिन्दी तथा उर्दू-काव्य में प्रकृति को बहुत अधिक महत्व तो नहीं दिया गया, लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि रीतिकाल में प्रकृति की उपेक्षा हुई है। प्रकृति के वर्णन विवेच्यकाल की हिन्दी-कविता में भी उपलब्ध हैं और उर्दू-शाइरी में भी, परन्तु वे वर्णन अपने-अपने ढंग के हैं और अपने-अपने काव्य की परम्पराओं का पालन करते हैं।

लता-वृक्ष

हिन्दी-रीतिकवियों ने प्रकृति का एकोद्देश्य से चित्रण नहीं किया, फिर भी वह किसी-न-किसी रूप में उनके काव्य में आई अवश्य है। प्रकृति के अन्तर्गत वृक्ष, फूल तथा पशु-पक्षी आते हैं। हिन्दी-रीतिकविता में विविध वृक्ष, फूल एवं पशु-पक्षी उल्लिखित हैं। रीतिकाव्य में लता-वृक्षों की सूची बहुत बड़ी नहीं है, प्रायः चन्दन, लवंग, इला, केतकी, कदली, करौंदा, करवीर, सेव, कटहल, तूत, जंभीर, कदंब, हिंताल, ताल, दाख, तमाल, रसाल, पुन्नाग, नागकेसर, अशोक, बकुल, पाटल और हरसिंगार आदि का वर्णन हुआ है। 'द्विजदेव' की रचनाओं में जयन्ती, जया एवं जाति का उल्लेख है—

जयन्ती जया जाति के वृक्ष नाना।
धरे हैं चहूँ कोद सों मोद बाना।

हिन्दी-रीतिकवियों ने कृष्ण से सम्बद्ध होने के कारण कदम्ब और करील का वर्णन तो बारम्बार किया है, परन्तु झरबेरी आदि कटीले वृक्षों को अपने काव्य में नहीं रक्खा। अन्योक्ति-काव्य में भले ही मिल जाय, किन्तु शृंगार रस-भरे

सौन्दर्यपूर्ण रीतिकाव्यान्तर्गत बेर के पेड़ को स्थान कहाँ ? उर्दू-शाइरी में बेर का एक क़िस्म नाज़ुक बदन से अप्रस्तुत का काम लिया गया है—

देवे ख़राश दिल को न क्योंकर वो नाज़नीं
रखती है ख़ार सैकड़ों नाज़ुक बदन की शाख़। —ज़ौक़

हिन्दी-कवियों ने जिस प्रकार बबूल को लेकर अन्योक्तियाँ लिखी हैं, उसी प्रकार थूहड़ पर भी दृष्टि डाली है। 'सौदा' ने भी थूहड़ के माध्यम से अन्योक्ति की है—

न तबअ-ए जम्द से सरज़द कभू हों मानी-ए-रंगीं
जहाँ में तुख़्म से थूहड़ के कब गुल्ज़ार हो पैदा।

उर्दू-शाइरी में इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विशिष्ट वृक्ष हैं, जिनका हिन्दी-रीतिकाव्य में नाम भी नहीं मिलता। उर्दू-शाइरों ने चनार को विरह में और सर्व, शम्शाद, सिद्रा, तूबा तथा नारवन को माशूक़ के शरीर-सौन्दर्य-वर्णन में प्रस्तुत किया है। 'आतश' के एक शेर में पतंग के पेड़ का ज़िक्र है। परन्तु हिन्दी-कविता में इसका ज़िक्र कहीं भी नहीं है। 'आतश' के वर्णन से प्रतीत होता है कि यह एक रंगीन क़िस्म का पेड़ था—

बादे फ़ना भी रंगे-तबीयत न जाएगा
तुर्बत से मेरी पेड़ उगेगा पतंग का।

फूल

'आईन्-ए-अकबरी' में पचास श्रेष्ठ फूलों का उल्लेख है। लेखक ने सुगंध तथा सुन्दरता की दृष्टि से इन पुष्पों के दो वर्ग बना दिए हैं। सुगंध के लिए प्रसिद्ध फूल हैं सेवती, भलसरी, चवेली, रायबेल, मोगरा, चंपा, केतकी, कूज़ा, पाडल, जूही, निवारी, नर्गिस, केवड़ा, चल्ता, गुलाल, तबीह गुलाल, सिंगार हार, करना, कपूर तथा गुले जाफ़रान। सुन्दरता में श्रेष्ठ फूलों के नाम हैं गुले-आफ़ताब, गुले-कवल, जाफ़री, गुडहल, रतन मंजनी, कसू, सेवल, रतनमाला, सोनज़र्द, गुले-मालती, कर्णफूल, करील, कनेर, कदम, नागकेसर, सुरपन, श्रीखंडी, जैत, चंपल, लाही, गुले करौंदा, धनन्तर, गुलेहिन्ना, दुपहरिया, भूँ चम्पा, सुदर्सन, कँगलाई, सिरस और सन।[१]

रीतिकालीन कवियों ने इन फूलों में से आठ-दस को छोड़कर लगभग सभी का उल्लेख किया है। इन फूलों के अतिरिक्त भी कुछ फूलों के वर्णन हुए हैं। काव्यान्तर्गत प्रयुक्त फूलों में अधिकतर भारतीय हैं, परन्तु कुछ फूल विदेशी भी हैं।

कमल हिन्दी-कविता का सर्वाधिक प्रिय पुष्प है। हिन्दी-कवियों ने उसके

माध्यम से प्रेम तथा सौन्दर्य को अनेकविध रूपायित किया है। उर्दू-कविता भी इसकी सुन्दरता से प्रभावित होकर यत्र-तत्र इसका उल्लेख करती है—

हमेशा जोशे-गिरिया से रहा पानी में ऐ 'आतश'
कभी ताज़ा न लेकिन अपने इस दिल का कँवल पाया।

कमल की भाँति ही प्रसिद्धि शिरीष पुष्प की है, जो कोमलता का प्रतीक है। उर्दू-शाइर भी उसका नाम लेते हैं—

है दवाई इस शजर के वास्ते ताज़ा खिज़ाँ
पत्ते नुचकर रह गईं ख़ाली सिरस की तीलियाँ। —ज़ौक़

हिन्दी-काव्य में उल्लखित पुष्पों में से केतकी, मल्लिका, बकुल, सेवती, केसर, केसू, कदंब, कुरौ, सिरीष, चंपक, बेला, जुही, पिचुमंद, हरसिंगार, करना, कनेर और कचनार का वर्णन 'देव' के सवैए में मिलता है—

हेरत हरि हरि लीनो हियो इन आल रसाल सिरीष जम्हीरनि।
चंपक बेली गुलाब जुही, पिचुमंद मधूक कदंब कुटीरनि।
खोलत काम कथा पिक बोलत, डोलत चंदन मंद समीरनि।
केसर हारसिंगारन हूँ करना कचनार कनेर करीरनि।

कवियों ने मालती, सेमर, अनार, पांडुर, अमलतास, पलाश, माधवी तथा चमेली आदि के उल्लेख भी किए हैं—

फूलेंगे अनार कचनार नहसुत आम
फूलेंगे सिरिस औ पनस फूल शूलैगो।
फूलेंगे सुपांडर औ मालती अमिलतास
सेमर पलाश फूलि आग रूप तूलैगो
फूलेंगे कनेर माधवी चमेली 'रघुनाथ'
फूलेंगे गुलाब जिन्हें देखि चेत भूलैगो।
विरह को विरवा लगायो जौन कंत सखी
आवत वसंत कहौ वहौ अब फूलैगो।

लाल रंग के फूलों में हिन्दी-रीतिकविता टेसू का बार-बार स्मरण करती है, क्योंकि वह अंगार-सा लाल होता है। उर्दू-शाइर 'आतश' ने भी टेसू के फूल का ज़िक्र किया है—

सहरा को भी न पाया बुग़्ज़ो-हसद से ख़ाली
साखू जला है क्या-क्या फूला जो ढाक बन में।

'बिहारी' गुड़हर के फूल का चित्रण करते हैं जो अपने अत्यधिक लाल रंग

के लिए प्रसिद्ध है। दुपहरिया के फूल को भी अपने लाल रंग के कारण नायिका-सौन्दर्य-चित्रणान्तर्गत स्थान प्राप्त है।

हिन्दी-कविता में लाल रंग के फूलों को बहुत तरजीह नहीं दी गई है। अधिकतर श्वेत, पीले तथा नीले रंग के पुष्प कवियों के अधिमान्य पुष्प हैं। उर्दू-शाइरी में लाल फूलों की काफ़ी क़द्र है।

हिन्दी-रीतिकाव्य श्वेतवर्णी पुष्पों में कुंद का दंत-छबि-उपमार्थ बहुत वर्णन करता है। 'देव' ने बेला की प्रशंसा की है, परन्तु 'बिहारी' ने एक दोहे में, द्वितीया की चन्द्रकला की उपमा में अगस्तिया पुष्प का वर्णन किया है—

द्वैज-सुधादीधिति-कला वह लखि दीठि लगाइ।
मनौ अकास, अगस्तिया एकै कली लखाइ।

नायिका के वर्ण-साम्य के कारण सोनजुही की हिन्दी-रीतिकाव्य में बहुत वक़त है—

सोनजुही की जगमगाति अँग अँग जोवन जोति।
सुरँग कुसुंभी कंचुकी दुरँग देह द्युति होति। —बिहारी

चमेली, जूही व जाति पुष्पों का चित्रण अली आदिलशाह द्वितीय ने भी अपनी रचना में किया है—

चँबेली जाई व जूई दिसे उड़गन के नमन
चंपे के झाड़ प फूलाँ यूँ ज्यूँ मिशअल।

इन फूलों के अलावा हिन्दी-कविता में मघा, निवारी, मोगरा एवं रसपगी आदि के नाम भी उपलब्ध हैं—

कुंद मघा की सखि सुभा दसन निवारी जाय।
साँझ कि बेला रसपगी लगी मोगरे आय। —रामसहायदास

बेला, रसपगी तथा मोगरे आदि के श्लिष्ट प्रयोग की तरह कवियों ने 'पिय-बासा' फूल का वर्णन भी किया है। वर्णन चाहे जिस सन्दर्भ में हो, लेकिन यह प्रशंसनीय है कि गाँवों में खाइयों के ऊपर उगने वाले कटैया के पीले तथा बैंजने फूलों के सौन्दर्य को हिन्दी-रीतिकवियों ने उपेक्षा नहीं की है—

होति क्यों दुखित ह्वाँ कदंब है कदंब आली
जहाँ पियवासा है तहाँई पियाबासा है। — बेनी प्रबीन

उपर्युक्त भारतीय फूलों के अलावा हिन्दी-रीतिकाव्य में ऐसे अनेक विदेशी फूलों के उल्लेख हुए हैं जो या तो मुसलमान लोग भारत मे लाए थे अथवा जिनका वर्णन फ़ारसी-साहित्य में होता था और जो परम्परया उर्दू-शाइरी को प्राप्त हो

गए थे। ऐसे फूलों में सबसे अधिक उल्लेख गुलाब का हुआ है। 'बिहारी' के एक दोहे की व्यंजना से प्रतीत होता है कि गुलाब के फूल चतुर्दिक फूले दृष्टिगोचर होते थे और उनकी कलियों की चटकाहट सर्वत्र सुनी जा सकती थी—

कुंज भवनु तजि भवन कौं चलिए नंदकिसोर।
फूलति कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर।

अन्य विदेशी फूलों में हिन्दी-रीतिकवियों की रचनाओं में गुल्लाला, नाफ़रमान, नरगिस, सोसेन और हजारा के उल्लेख हैं—

गुल्लाला नाफरमान रहे नरगिस बाबूना
सौसेन वसंत औ जौ हजारा अनार है।
भूमि ना दिखाई देत ऐसे फूलि रहे फूल
माधुरी देवालन पे घेरे दिसि यार है। —रघुनाथ

इनके अतिरिक्त उर्दू-शाइर बादाम के फूल का ज़िक्र भी करते हैं, परन्तु हिन्दी-रीतिकवियों ने उसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। उर्दू-शाइर 'नासिख़' के निम्नांकित शेर में बादाम के फूल का वर्णन है—

रोते रोते हो गईं आँखें तेरी बिल्कुल सफ़ेद
पाई है बादाम ने सूरत गुले-बादाम की।

पशु

रीतिकालीन काव्य श्रृंगार-प्रधान काव्य है, अतः उसके अन्तर्गत उन्हीं पशु-पक्षियों का प्रायः उल्लेख हुआ है जो श्रृंगार से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध हैं। दरबार में रहने के कारण कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में उनके हाथी-घोड़ों का वर्णन किया है। उर्दू-शाइरी में शिकार-वर्णन-सम्बन्धी प्रबंध रचनाओं में भी कुछ जंगली जानवरों के उल्लेख हो गये हैं, जैसे 'मीर' के निम्नांकित शेरों में—

न चीतल न पाढ़ा न अरना न शेर।
हुए गोलियाँ खाके इक लख्त ढेर।
गया दश्त दर दश्त शोरे-शिकार।
हुए गुर्ग आहू के ऊपर सवार।
निकल शेर जंगल से हैराँ हुए।
अड़ाहे जो थे साफ़ मैदाँ हुए।

परन्तु ये रचनाएँ भी खास ढर्रे की हैं। समीक्ष्य काल की श्रृंगार-सम्बन्धी कविताओं में हिरन के उल्लेख प्रायः मिलते हैं। हिन्दी-रीतिकाव्य में गाय का विशिष्ट

स्थान है। गाय नायक-नायिका-संयोग में बहुत सहायक सिद्ध होती है। वचन-विदग्धा तो प्राय: उसका उल्लेख करती है। उसके अलावा नायक नन्दकिशोर का भी गाय से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

गाय के रूप-रंग-प्रकृति आदि का वर्णन सूरदास के काव्य में हुआ है। हिन्दी-रीतिकविता स्वतंत्ररूपेण गाय का वर्णन नहीं करती, फिर भी 'सेख' के एक छंद में गायों का ऐसा अद्भुत चित्रण है जिसकी समकक्षता का दूसरा चित्रण खोज निकालना कठिन होगा। अधोलिखित कबित्त में न केवल रंगों के विवरण, अपितु पशु-प्रकृति एवं चेष्टादि के चित्रण और उन गायों के मध्य-स्थित कृष्ण की छवि-अंकन में कवयित्री की संतुलित तूलिका के स्पष्ट दर्शन होते हैं—

धौरी आवै धौरी कहे धूमरी धूमरि आवै
ऊँची कै कै पूंछनि बोलावै लाल जाहिनै।
मेढी कैरी काजरी पियरि बौरी भूरी चारु
बलही मँजीठी बनवेला अवगाहिनै।
मध्य स्याम धूर धूसरित भूरी भूरी भौंहैं
बलि बलि 'सेख' उपमा मैं देउँ काहिनै।
गोविंद को मनु कछू गायन में रमि रह्यो
आगे गाय पाछे गाय गाय बाएँ दाहिनै।

हिन्दी-रीतिकाव्य में जुराफा (ज़िराफ़) का वर्णन अजब रूप से किया गया है और यह वर्णन बिहारीलाल के निम्नांकित दोहे से प्रारंभ हुआ—

मिलि बिहरत, बिछुरत मरत दंपति अति रति लीन।
नूतन विधि हेमंत सबु जगत जुराफा कीन।

'जुराफा' शब्द की व्याख्या करते हुए इस दोहे की टीका में 'रत्नाकर' लिखते हैं "ऊँट की आकृति का एक पशु जुराफ़ा अफ़रीका में होता है। इसके विषय में प्रसिद्ध यह है कि यह अपने जोड़े के साथ रहता है और वियोग होने पर शीघ्र ही मर जाता है। प्राचीन टीकाकारों ने जुराफ़ा का अर्थ पक्षी-विशेष लिखा है।" 'रत्नाकर' ने जुराफ़ा का अर्थ ज़िराफ़ किया है। प्राचीन टीकाकार इसे पक्षी मानते रहे हैं। मान्यता चाहे कुछ रही हो, 'जुराफा' का कार्य है जगत् की रतिलीनता प्रकट करना।

'बिहारी' (सन् १५९५-१६६३) के इस प्रयोग से 'जुराफा' संभोग-प्रवृत्ति-प्रतीक बन गया और हिन्दी-रीतिकवियों ने उसका उसी तरह प्रयोग करना प्रारंभ कर दिया—

जगत जुराफा ह्वै जियत तज्यो तेज निज भान।
रूसि रहे तुम पूस में है यह कौन सयान। —पदमाकर

जगत जुराफा भयो आनंद इजाफा यार
बड़ो मजेदार अगहन को महीना है। —रंगपाल

लेकिन 'भूषण' (सन् १६१३-१७१५) ने जुराफ़ा का प्रयोग 'बिहारी' के अर्थ से बिल्कुल भिन्न अर्थ में किया है—

'भूषन' खुमान यहै सोहै जिरफा से डील
लाखन में सायस्तखाँ डार्‌यौ बिन मान कै।

इस उद्धरण में जुराफा शब्द के स्थान पर 'भूषण' ने 'जिरफा' शब्द रक्खा है और उसे बड़े डील के अर्थ में लिया है। ज़िराफ़ ऊँट की तरह ऊँचा लम्बी गर्दन वाला जानवर होता है, अतः 'भूषण' का प्रयोग बिल्कुल उचित है।

'बिहारी' और 'भूषण' समकालीन हैं, लेकिन दोनों ने एक शब्द के दो भिन्न रूप अपनी-अपनी रचनाओं में रक्खे। इससे मालूम पड़ता है कि 'ज़िराफ़' डील-डौल का, लेकिन 'जुराफ़' रतिलीनता का प्रतीक था। हमारी समझ से इसका कारण नाद-संगति है।

अरबी भाषा में इस शब्द के तीन उच्चारण हैं—ज़राफ़, ज़िराफ़ और ज़ुराफ़। निश्चितरूप से तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु शब्द के नाद से अनुमान होता है कि 'जुराफ़ा' के 'जुरा' (जुड़ा) ने कवि के मन में संयोग की कल्पना जगाई होगी। अरबी में एक शब्द 'ज़िराब' है। उस शब्द ने भी संभवतः 'बिहारी' के दिमाग़ में हरकत पैदा की होगी। इस प्रकार दोनों ने मिलकर 'जुराफा' शब्द में संभोग एवं संयोग का भाव भर दिया।

पक्षी

हिन्दी-रीतिकाव्य में कोकिल, कपोत, शुक, चातक, चकोर, मोर तथा पपीहे का पुनः पुनः वर्णन किया गया है—

कोकिल कपोत शुक चातक चकोर मोर
ठौर ठौर कुंजन में पक्षी सब छायो री। —'पा०क०र०'

तेरे ये पपीहा जैसे पीय पीय कहै तैसे
आव आव कहै तौ मढावौं चोंच सोने सों। —'पा०क०र०'

कोयल तथा पपीहे का चित्रण रीतिकालीन उर्दू-शाइर भी करते हैं—

पढ़ना उस तिफ़्ल का दिलाता है याद
बोलना शाखे-गुल से कोयल का। —नासिख

बरसात में जो खावे दवा उसकी दुकाँ से
मानिन्द पपीहे के करे टेरा हवा पर। —सौदा

चक्रवाक का वर्णन हिन्दी तथा उर्दू दोनों काव्यों में परम्परानुसार है। दोनों काव्य उसके जोड़े का रात में वियुक्त होना लिखते हैं—

ज्यों ज्यों बढति विभावरी त्यौं त्यौं बढत अनंत।
ओक ओक सब लोक सुख कोक सोक हेमंत। —बिहारी

मुद्दतें गुज़रीं कि रखता हूँ फ़िराक़े-यार में
दिन को परवाने से सुह्बत रात को सुर्ख़ाब से। —नासिख़

उर्दू-शाइरी में बुलबुल, हुमा, क़ुक़्नुस और हुदहुद के वर्णन हैं। इन पक्षियों का हिन्दी-रीतिकाव्य में कोई उल्लेख नहीं है। रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-कविता में बाज़ के उल्लेख भी मिलते हैं। उर्दू-शाइर 'फ़ायज़' ने मुर्ग़े-दिलका शिकार करने के लिए ज़ुल्फ़ को बाशा बाज़ बनाया है, तो 'बिहारी' ने बाज़ के श्येन, सचान, शाही, फ़तहबाज़ तथा कुही आदि भेद सामने रक्खे हैं—

तेरी ज़ुल्फ़ाँ में मुर्ग़े-दिल है बन्द
ख़ूब बाशा वही कि दामी है। —फ़ायज़

सामाँ सेन सयान की सबै साहि कैं साथ।
बाहुबली जयसाहि जू फतै तिहारै हाथ। —बिहारी

नीचीयै नीची निपट दीठि कुही लौं दौरि।
उठि ऊचैं नीचैं दयौ मनु कलिंग झपि झौरि। —बिहारी

'नज़ीर' अकबराबादी ने 'दर बयाने-ज़िक्रे-मुर्ग़ान' में चिड़ियों की अच्छी-ख़ासी फ़िहरिस्त प्रस्तुत की है। उसमें मुर्ग़, तूतियाँ, सारस, गिद्ध, हवासिल, बगुले, कब्क टिटरी, तीतर, मोर, पपीहे, कोयल, फ़ाख्ता, तेहुर, बूम, चुग़द, सब्ज़क, अबाबील चकोरें, श्याम चिड़ी, खंजन, छपान, बूए कलंक, गोग़ाई के अतिरिक्त अनक़ा एवं क़ुमरी भी है। अन्य रचनाओं में बया, बटेर, सारू, मदिया तथा गुलगुलियों के नाम गिनाये हैं। 'मीर' ने पिदड़ी का वर्णन किया है।

हिन्दी-रीतिकाव्य में भी चिड़ियों के नाम गिनाए गए हैं, लेकिन ऐसे प्रयोग अलंकार के सिलसिले में हैं। इस प्रकार तूती, करिबानक, सारस, तोते, तीतर, तुरमुती, बटेर, सिंधुवार, श्यामा, बया तथा बटेर आदि अनेक पक्षियों के नाम आये हैं। परन्तु हिन्दी-उर्दू-काव्य के ये नाम-परिगणन सूचनाएँ मात्र हैं। इनमें पक्षियों का चित्रण करने की प्रवृत्ति नहीं है।

हिन्दी-कविता में ममोल पक्षी (शायद खंजन ?) का वर्णन उपलब्ध है। कवियों ने नायिका को ममोलदृगी कहा है—

आपने नैनन को प्रतिबिम्ब निहारि उठी कहि यों का चित चायन।
पालिबे योग ममोले अमोल हैं दै पट बेग अरी उड़ि जाय न।—रंगपाल

मिर्ज़ा 'सौदा' के काव्य में भी इस शब्द का प्रयोग है, परन्तु वहाँ उसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता—

वो तो चुना करे है उसके सदा ममोले।

लेकिन हिन्दी के उपर्युक्त उद्धरण में वह स्पष्टतः कोई छोटा चंचल पक्षी प्रतीत होता है।

हिन्दी-रीतिकाव्य में पशु-पक्षियों के पृथक् वर्णन न होकर उन्हें रसोद्रेक-सहायक रूप में चित्रित किया गया है। इस प्रकार संयोग या वियोग दोनों में वे प्रायः उद्दीपन का काम करते हैं। उदाहरणार्थ नायिका ने प्राण त्यागते समय जो विलाप किया था, उसकी व्यंजना निम्नोद्धृत दोहे में शुक के माध्यम से करके कवि ने किस प्रकार विरह-रस की निष्पत्ति की है—

कहे जु वचन वियोगिनी विरह विकल बिललाइ।
किये न को अँसुंवा-सहित सुवा ति बोल सुनाई। —बिहारी

ऋतु-वर्णन

लता, वृक्ष, फूल एवं पक्षी प्रकृति के अंग हैं। इनका वर्णन जब जलवायु के सन्दर्भ में किया जाता है तो वह वर्णन अधिक हृदयग्राही प्रतीत होता है।

भारत में पूरे वर्ष को सूर्य तथा चन्द्रमा की गति के अनुसार छह भागों में विभक्त किया जाता है, जिन्हें ऋतुएँ कहते हैं। "वृत्ताकार मार्ग पर स्थित सूर्य जब छै महीनों तक पृथ्वी के निकट होता है तब उसे उत्तरायण और शेष छै महीनों तक वह पृथ्वी से दूर होता है तब उसे दक्षिणायन कहते हैं। उत्तरायण मे शिशिर, बसंत और ग्रीष्म तथा दक्षिणायन में वर्षा, शरद् और हेमंत होती है।"[२] चन्द्रगति के अनुसार चैत्र से वर्ष का आरंभ माना जाता है।

संस्कृति में षड्ऋतु-वर्णन की व्यवस्थित परम्परा कालिदास के 'ऋतुसंहारम्' काव्य से प्रारम्भ हुई। कालिदास ने 'ऋतुसंहारम्' में वर्ष का आरम्भ ग्रीष्म से माना है—

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः
[illegible]
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो
निदाघकालोऽयमुपागतः प्रिये।

परन्तु 'मेघदूत' में वही कवि कालिदास 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' कहकर आषाढ से ऋतु-वर्णन प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकार कालिदास के इन दो काव्यों से दो परम्पराओं का जन्म हुआ—(१) ग्रीष्म से वर्ष का आरंभ। (२) आषाढ से वर्ष का प्रारम्भ।

अद्दहमाण के 'संदेशरासक' में षड्ऋतु-वर्णन ग्रीष्म से शुरू हुआ है और कवि ने बारहों महीनों का वर्णन किया है। 'संदेश रासक' वियोग-काव्य है जो भाव संभार में 'मेघदूतम्' का अनुसरण करता है, परन्तु कवि ने उसका प्रारंभ 'मेघदूतम्' की भाँति आषाढ़ से नहीं किया है।

'पृथ्वीराज रासो' में षडऋतु-वर्णन वसंत से शुरू हुआ है। पृथ्वीराज संयोगिता के हरणार्थ प्रस्थान करने से पूर्व अपनी रानी इंछिनी से विदा लेने जाते हैं। उस समय वसंत ऋतु थी। भला वसंत ऋतु में कोई अपनी पत्नी को छोड़कर कहीं जाता है? अतः वह कहती है "कंत वसंत न गम करहु।"

जायसी ने भी "प्रथम वसंत नवल ऋतु आई" कहकर वसंत को ही वर्ष का प्रथम ऋतु मानते हुए षड्ऋतु-वर्णन प्रारम्भ किया है। यह संयोग-शृंगार का वर्णन है, परन्तु नागमती-विरह वर्णन को कवि ने आषाढ़ से शुरू किया है "चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा।" यहाँ वर्ष के बारहों महीनों का वर्णन है।

'वीसलदेव रास' का बारहमासा कार्तिक से प्रारंभ होकर आश्विन में समाप्त होता है, किन्तु 'रसलीन' (र० का० १७९४-१७९८) अथ वियोगमय बारहमासा लिखकर चैत्रमास से वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

धनुष बाण दोऊ नए दै फूलन के चैत।
जैतवार सब जगत को कियो काम कमनैत।

'विरहवारीश' (र० का० १७५२-१७५८) में 'बोधा' ने लीलावती की बारहमासी ज्येष्ठ मास से प्रारम्भ की है, परन्तु विरही माधवानल सावन से बारहमासा शुरू करता है—

वनितन अपनो मारग लीन्हों।
माधव फिर ऋतु वर्णन कीन्हों।
सुनौ प्रवीन मित्र मनभावन।
दाहक अति विरहिन को सावन।

यह बारहमासा उद्दीपन-रूप है। 'बोधा' ने यद्यपि बारहमासे में कहीं-कहीं यथार्थ चित्रण भी किया है, जैसे—

गोंच जोंक अहि केंचुआ कान खजूरे भेख।
बिच्छिन कोल पतंग डस भगदर बड़हिं अलेख।

लेकिन कवि का उद्देश्य विरह-दुख उद्दीप्त करना ही है।

उपर्युक्त काव्यों के ऋतु-वर्णनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी-कवि वियोग में षड्ऋतु-वर्णन करते समय बारहमासा-पद्धति अपनाते हैं और संयोग में महीनों का अलग-अलग उल्लेख न करके ऋतुओं का अनुक्रम में चित्रण करते हैं।

हिन्दी-रीतिकवियों ने वियोग-वर्णनान्तर्गत बारहमासा-पद्धति ग्रहण की है और वर्षा से वर्ष का आरम्भ माना है, लेकिन संयोगान्तर्गत ऋतुवर्णन वसंत से प्रारंभ किया है। वियोग-वर्णन पर संस्कृत-परम्परा का प्रभाव कहा जा सकता है, परन्तु रीतिकाव्य का संयोग-वर्णन संस्कृत-परम्परा से एकदम अलग है। इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि षड्ऋतु-वर्णन की ऐसी परम्परा हिन्दी में वसंत को प्रथम ऋतु मानकर ही प्रचलित थी, जो 'पृथ्वीराज रासो' या 'पदमावत' काव्य में मिलती है। लेकिन हमें इसका बहुत बड़ा कारण इस्लामी संस्कृति का प्रभाव भी मालूम पड़ता है। इस्लामी वर्ष चान्द्रमान पर आधारित है। ईरानी साल का प्रारंभ नौरोज़ से होता है, जो २१ मार्च को पड़ता है। भारत में यह वसंत का मौसम है और चान्द्रमान से यह चैत्र मास है। मुग़ल बादशाहों द्वारा नौरोज़ का उत्सव अतिशय उत्साह तथा धूमधाम से मनाया जाता था। इस धूम में दरबार-स्थित हिन्दी-रीतिकवि भला कैसे खामोश बैठते ? उन्होंने भी होली के माध्यम से वैसे ही हर्षोल्लास का चित्रण किया। वसंत स्वयं उल्लास की ऋतु है, ऐसे में होली के संयोग से वह उल्लास दूना हो जाता है।

रुदन में जलमोचन-साम्य के कारण तथा काम-स्फुरण दुःख-वर्द्धक होने से विरह में वर्षा से षड्ऋतु-वर्णन आरंभ करना उपयुक्त ठहरता है, इसलिए हिन्दी-रीतिकवि वियोगान्तर्गत ऋतु-वर्णन वर्षा से प्रारम्भ करते हैं।

कहने का आशय यह कि षड्ऋतु-वर्णन हो या बारहमासा-वर्णन हो, हिन्दी-रीतिकाव्य में इनकी स्थिति संयोग या वियोग-उद्दीपन के अन्तर्गत ही है, उससे पृथक् नहीं। विवेच्यकालीन उर्दू-शाइरी में यद्यपि ऋतु-वर्णन की ऐसी कोई परम्परा नहीं है, फिर भी प्रकृति-वर्णन के प्रति शाइरों का दृष्टिकोण भी यही है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति के अन्य रूपों के दर्शन ही नहीं होते। दोनों काव्यों में प्रकृति का आलम्बन रूप भी उपलब्ध है।

आलम्बन-रूप

मानव तथा प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया जीवन है और यही जीवन कविता में चित्रित होता है। इसलिए मानव और प्रकृति काव्य में कभी प्रस्तुत और कभी अप्रस्तुत बनकर आते हैं। प्रकृति के प्रति (सहज, मनोदशा-सयुक्त तथा विचार-

गर्भित) तीन दृष्टियों से मनुष्य देखता है। सहज प्रवृत्ति में बाल-स्वभाव के समान मात्र आकर्षण होता है। मानव फूल को देखकर, पक्षियों का कलरव सुन-कर प्रसन्नता प्रकट करता है। सामान्य दशा में प्रकृति की यह मोहकता आल-म्बन है।

हिन्दी-रीतिकाव्य में प्रकृति-चित्रण ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत ही मिलता है। ऋतु-वर्णन का प्रारम्भ कवियों ने प्रायः वसंत से किया है। वसंत ऋतु उमंग और उल्लास की ऋतु है। हिन्दी-रीतिकविता में वसंत के प्रभाव का उल्लेख हुआ है। आलोच्यकालीन हिन्दी-कवियों ने यह प्रभाव दो प्रकार प्रकट किया है—(१) मानव पर उसका प्रभाव दिखाकर, मानव के हर्षोद्वेग का विवरण देना। (२) प्रकृति पर उसके प्रभाव का विवरण प्रस्तुत करना।

मानव के उद्वेगों या मनोवेगों से सम्बद्ध होने से प्रथम प्रकार के वर्णन को उद्दीपन कहा जा सकता है, परन्तु वसंत का प्रभाव कवि निम्नांकित ढंग से भी चित्रित करता है—

सुरही के भार सूधे शबद सुकीरन के
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
'द्विजदेव' त्यों ही मधु भारन अपारन सों
नेक झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअदौन।
खोलि इन नैननि निहारौ तौ निहारौ कहा
सुख भा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन देखात उनयो सो चन्द
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन।

घड़ी रात रहे पूर्णिमा का चन्द्र झुक जाता है, इस दृश्य को कवि ने किस खूबी के साथ चित्रित किया है? यह आलंबनरूप चित्रण है, क्योंकि प्रकृति पर वसंत का प्रभाव दिखाया है, उससे मानव-मनोभावों को उद्दीप्त करने का काम नहीं लिया गया है।

उपर्युक्त उदाहरण में प्रभाव का वर्णन है, लेकिन कहीं-कहीं प्राकृतिक परि-वर्तनों की व्यंजना मात्र से वसंत का दृश्य प्रस्तुत हुआ है—

औरै भाँति कोकिल चकोर ठौर ठौर बोलैं
औरै भाँति शबद पपीहन के व्वै गये।
औरै भाँति पल्लव लिये हैं वृंद वृंद तरु
औरै छवि पुंज कुंज कुंजन उनै गये।

औरै भाँति शीतल सुगंध मंद डोलै पौन
'द्विजदेव' देखत न ऐसे फल ह्वै गये।
औरै रीत औरै रंग औरे साज औरै संग
औरै बन और छन औरै मन ह्वै गये।

कभी-कभी वसंत का वर्णन वस्तु-वर्णन के ढंग पर भो हिन्दी-कवियों ने किया है, यथा—

कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत हैं।
पढ़ै 'पदमाकर' पराग हू में पौन हू में
पातिन में पीकन पलाशन पगंत है।
द्वार मे दिशान में दुनी में देश देशन में
देखो दीप दीपन में दीपित दिगंत है।
बीथिन में व्रज में नवलिन मे वेलिन में
बनन में बागन में बगर्‌यो बसंत है।

लेकिन इन वर्णनों में संश्लिष्टता का अभाव है। शरद् ऋतु के वर्णन वासंतिक वर्णनों से अधिक उत्कृष्ट है। 'देव' कवि ने शारदीया चंद्रिका के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसका अत्यंत शुभ्र चित्र प्रस्तुत किया है—

आसपास पूरन प्रकास के पगार सूझैं
बनन अगार डीठ गली ह्वै निबरते।
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ी
बिधु बरम्हंड उतरात विधि बरतें।
शारद जुन्हाई जन्हु शरण स्वरूप धाई
धाई सुधा सिंधु नभ शुभ्र गिरिवरतें।
उमड़ो परतु जोति मंडल अखंड, सुधा
मंडल मही में इंदु मंडल बिबर तें।

हेमंत तथा शिशिर के आलम्बन-रूप-चित्रण हिन्दी-रीतिकाव्य मे लगभग नगण्य हैं। शीत के कारण दाँत बजने का वर्णन 'बोधा' ने किया है—

मँडवा तर बरात छवि छाई।
बजैं दाँत जनु बजै बधाई।

इस प्रकार के उँगलियों पर गिने जा सकने योग्य वर्णनों को छोड़कर शरद्, हेमन्त, शिशिर तथा वसंत के आलम्बनरूप-वर्णन हिन्दी-रीतिकाव्य में नहीं मिलते। हाँ ग्रीष्म एवं पावस के आलम्बन-रूप-चित्रण प्रशंसनीय है।

ग्रीष्म के आलम्बन रूप में कवियों ने सूर्य की प्रचंडता एवं धूल-भरे बवंडरों के वेग का चित्रण किया है। पहाड़ की तरफ़ से भीषण झंझावात चलता है, सारा जगत् धूप की प्रचंडता के कारण जलने लगता है—

जेयें बिना जीरण सो जल की जिकर जीभ
जार्‌यो जात जगत जलाकन के जोर ते।
कूप सर सरिता सुखाय सिकता ते भई
धाई धुरि धौरन धराधर के ओर ते।
'बेनी' कवि कहत अनातप चहत सब
अगिन सों आतप प्रकाश चहुँ ओर ते।
तवा सों तपत धरा मंडल अखंडल
सुमारतंड मण्डल दवा सो होत भोर ते।

सब लोग अनातप चाहते हैं, लेकिन धूप चारों ओर से अग्नि-सा ताप देती है। गर्मी के क्रमशः बढ़ने, उसकी प्रचंडता तथा मानव पर उसके प्रभाव का वर्णन है। सबेरे से ही पृथ्वी तवे-सी तपने लगती है और सूर्य दावाग्नि-सा प्रचंड हो जाता है, भूख लगती नहीं, बस पानी-पानी की रट लग जाती है।

चंडकर की प्रचंड किरणों से फैल रही गर्मी, दिग्दिगन्तों का घूमिल होना, कड़ाही में खौलते तेल की तरह उछलती समुद्र की लहरें, आसमान का उल्का-सा जलना, पहाड़ों का भभूका-सा चमकना एवं पृथ्वी का भभक-भभककर दावाग्नि उगलना आदि व्यापार बहुत सावधानी से अंकित हुए हैं—

प्रबल प्रचंड चंडकर की किरणि देखौ
बैहर उदंड नवखंड धुमिलति है।
औटिकै कराही रतनाकर को तेल जैसे
'नैन' कवि जल की लहर उछलति है।
ग्रीषम की कठिन कराल ज्वाल जागी यह
काल व्याल मुख हू की देह पघिलति है।
लूका भयो आसमान भूधर भभूका भयो
भभकि भभकि भूमि दावा उगिलति है।

दिग्दिगन्त धुँधले हो गए हैं, जगत् अँवा-सा जल रहा है, पृथ्वी तवा के समान तप्त है और दावाग्नि से प्रज्ज्वलित पहाड़ धुँधुआ रहे हैं—

धुँधरे दिगंत भये विगत वसंत आली
ग्रीषम विषम दिन काहू ना सुहात हैं।

ग्रीष्म के आलम्बन रूप में कवियों ने सूर्य की प्रचंडता एवं धूल-भरे बवंडरों के वेग का चित्रण किया है। पहाड़ की तरफ़ से भीषण झंझावात चलता है, सारा जगत् धूप की प्रचंडता के कारण जलने लगता है—

जेयें बिना जीरण सो जल की जिकर जीभ
जार्‌यो जात जगत जलाकन के जोर ते।
कूप सर सरिता सुखाय सिकता ते भई
धाई धुरि धौरन धराधर के ओर ते।
'बेनी' कवि कहत अनातप चहत सब
अगिन सों आतप प्रकाश चहुँ ओर ते।
तवा सों तपत धरा मंडल अखंडल
सुमारतंड मण्डल दवा सो होत भोर ते।

सब लोग अनातप चाहते हैं, लेकिन धूप चारों ओर से अग्नि-सा ताप देती है। गर्मी के क्रमशः बढ़ने, उसकी प्रचंडता तथा मानव पर उसके प्रभाव का वर्णन है। सबेरे से ही पृथ्वी तवे-सी तपने लगती है और सूर्य दावाग्नि-सा प्रचंड हो जाता है, भूख लगती नहीं, बस पानी-पानी की रट लग जाती है।

चंडकर की प्रचंड किरणों से फैल रही गर्मी, दिग्दिगन्तों का धूमिल होना, कड़ाही में खौलते तेल की तरह उछलती समुद्र की लहरें, आसमान का उल्का-सा जलना, पहाड़ों का भभूका-सा चमकना एवं पृथ्वी का भभक-भभककर दावाग्नि उगलना आदि व्यापार बहुत सावधानी से अंकित हुए हैं—

प्रबल प्रचंड चंडकर की किरणि देखौ
बैहर उदंड नवखंड धुमिलति है।
औटिकै कराही रतनाकर को तेल जैसे
'नैन' कवि जल की लहर उछलति है।
ग्रीषम की कठिन कराल ज्वाल जागी यह
काल व्याल मुख हू की देह पघिलति है।
लूका भयो आसमान भूधर भभूका भयो
भभकि भभकि भूमि दावा उगिलति है।

दिग्दिगन्त धुंधले हो गए हैं, जगत् अँवा-सा जल रहा है, पृथ्वी तवा के समान तप्त है और दावाग्नि से प्रज्ज्वलित पहाड़ धुँधुआ रहे हैं—

धुँधरे दिगंत भये विगत वसंत आली
ग्रीषम विषम दिन काहू ना सुहात हैं।

तैसे ही प्रचंड मार्तंड नवो खंड तपैं
बलित बवंडर बहत चारों बात हैं।
सूखे से लगत द्रुम रूखे भूखे सलिल से
भंजन भयावन महावन भुरात हैं।
आवा सो जगत् भयो तावा सी तपति भूमि
दावा भरे भूधर पजावा से धुवात हैं। —'षट्०का०'

किसी-किसी कवि ने गर्मी का असह्यरूप शिवजी के तीसरे नेत्र से उपमा देकर प्रकट किया है "तीसरो त्रिलोचन को लोचन खुलायो है।"[3]

हिन्दी-रीतिकवियों के वर्णन इसी कैंड़े के हैं। उर्दू-शाइरी की मर्सिया-शैली में ग्रीष्म-वर्णन का महत्वपूर्ण स्थान है। इमामहुसैन का पूरा परिवार पिपासोपचार के सिलसिले में शहीद हुआ था, इसलिए मर्सियागो शाइर गर्मी की भयंकरता पूरे विवरण के साथ प्रस्तुत करते हैं। असह्य गर्मी का अंदाज इसी से लग सकता है कि शाइर उसका स्मरण करके ठक-सा रह जाता है, क्योंकि उसे डर है कि वर्णन करते समय कहीं उसकी ज़बान न जल उठे—

गर्मी का रोजे-जंग की क्योंकर करूँ बयाँ।
डर है कि मिस्ले-शमा न जलने लगे ज़बाँ। —अनीस

तत्पश्चात् शाइर उस गर्मी का प्रभाव प्रकृति में इतस्ततः दिखाता है। गर्मी ऐसी भयंकर कि खुदा बचाए। हवा से आग बरस रही थी, धूप के कारण दिन का रंग रात-सा काला पड़ गया था। फ़रात नदी का पानी खौल रहा था। पशु झीलों से शाम तक उठने का नाम नहीं लेते थे, अग्नि-भक्षी प्राणी तक पानी में छिपे हुए थे, चंचल हरिण शिथिल पड़े थे, चीते श्यामवर्णी थे, पत्थर पिघलकर ऐसे रह गये थे जैसे कच्चा मोम पिघलता है। फूलों से लालिमा तथा घास से हरीतिमा उड़ गई थी और तो और छाया की चाह से स्वयं पानी भी कुओं में नीचे उतर गया था।

यह हालत पशु तथा अचेतन प्राणियों की थी। मनुष्य और खराब दशा में थे। वे तो सात-सात परदों के भीतर रहने पर भी पसीने से तर हो रहे थे। दृष्टि पलक-उशीर से बाहर निकलने का साहस नहीं कर रही थी। यदि वह आँख से निकल कर रास्ते में ठहर जाय तो उसके पैरों में लाखों छाले पड़ जायँ। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण विश्व गर्मी से संतप्त था। गर्मी का भयावह रूप ऐसा था कि जो दाना पृथ्वी पर गिरता था वह भुनकर रह जाता था—

गर्मी से मुज़्तरब था ज़माना ज़मीन पर।
भुन जाता था जो गिरता था दाना ज़मीन पर। —अनीस

ग्रीष्मोपचार

'अनीस' के उपर्युक्त उद्धरण में ग्रीष्म के भीष्म ताप से बचने के उपायों का वर्णन है, जैसे "झीलों से चारपाए न उठते थे ता बः शाम," "क़ाफ़ूरे-सुब्ह ढूंढता फिरता था आफ़ताब"। इन उपचारों का वर्णन गर्मी के असह्य ताप को और गहरा रंग देने के लिए है। परन्तु हिन्दी-रीतिकाव्य में इन उपचारों के वर्णन पाँच प्रकार के हैं—

(१) वे वर्णन जिनमें अनभिज्ञ व्यक्ति को उपचारों से परिचित कराया गया है, ताकि वह गर्मी से बचाव कर सके, यथा—

शीतल गुलाब जल भरि चहबच्चन में
डारि के कमल दल न्हायबे को धँसिये।
अंक भरि प्यारी नेह नदिन सुदिन भरि
बारि के बिहार ते न बाहिर निकसिये।
'कालिदास' अंग-अंग अगर अतर संग
केसर समीर नीर घनसार घसिये।
जेठ में गोविन्दलाल चन्दन के चहलन
भरि भरि गोकुल के महलन बसिये।

उपर्युक्त उद्धरण में कविराज ने वे सब उपाय बता दिये हैं, जो उनकी नज़र में ग्रीष्म-निवारणार्थ रामबाण है। एक अन्य कवि का सुझाव है कि तुम ग्रीष्म में उच्च अट्टालिका पर शयन करना, सुगंध जल-सेंचन करना, मंजु मयंक-रश्मियों का सेवन करना, नायिका का अधरामृत पान करना और सखियों के समाज में मधुर गान सुनकर ग्रीष्म के तीक्ष्ण ताप को विलीन हुआ मानना—

श्री रघुनाथ सदा सुनिबो सजनीन समाज में सुन्दर तानै!
ग्रीषम को विरहीन को भीषम तीखन ताप को मानौ विलानै।—'षट्०का०'

(२) वे वर्णन जिनमें उपचार हो रहा है। ऐसे वर्णन दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनकी दौड़ उपचारों तक ही है, जैसे—

चोवा चौक चाँदनी चँदोवा चिकैं चौकी चौक
चम्पक चम्पाकली चमेली चारु चोज है।
खास खस फरस उसीर खसखानिन में
पजन कपूर चंदनादि करि चोज है।
लाली लखि ललित लली के लाल कोयन में
अमल गुलाब दल मलत उरोज है।

अवनिअ शीतल पै ग्रीषम तपो तल पै
 पिय हाथ ही तल पै शीतल सरोज है।—'षट्० का०'

इस उदाहरण में जिस प्रकार चोवा, चाँदनी, चँदोवा, चम्पक, चम्पाकली, खसखाने, उशीर, कपूर, चंदन आदि को गिनाया गया है, उसी प्रकार कवि ने यह भी बता दिया है कि प्रियतम एक हाथ से प्यारी के उरोजों पर गुलाब-दल मल रहा है और उसका दूसरा हाथ प्रिया के वक्ष पर शीतल सरोज का काम कर रहा है। इस वर्णन में ग्रीष्म-ताप पृष्ठभूमि में अदृश्य हो गया है।

दूसरे तरह के वर्णनों में उपचारों का उल्लेख ग्रीष्मातप का चित्रण करने के लिए होता है, उदाहरणार्थ—

घोरि घनसारन तें सखिन कपूर चूर
 लीपे तहखाने सुख दीबे को दुदंड की।
तामे खसखाने बने उजरे बिताने ताने
 सुरभौन की समाने जे निदाने ठाने ठंड की।
बहत गुलाब की सुगंध के समीर सने
 परत फुईं हैं जलयंत्रन के तंड की।
विशद उशीरन के फोर परदान प्यारे
 तऊ आनि बेधत मरीचें मारतंड की।—'षट्० का०'

(३) वे वर्णन जिनमें उपचार जारी है और उसमें रति-व्यापार चल रहा है—

शीतल महल महा शीतल पटीर पंक
 शीतल कै लियौ भिति क्षिति छातो दहरैं।
शीतल सलिल भरे शीतल विमल कुंड
 शीतल अमल जलयंत्र धारा छहरैं।
शीतल बिछौननि पै शीतल बिछाई सेज
 शीतल दुकूल पैन्हि पौढ़े हैं दुपहरैं।
'देव' दोऊ शीतल अलिंगनिनि देत लेत
 शीतल सुगंध मंद मारुत की लहरैं।

(४) ऐसे वर्णन जिनमें न उपचार हो रहा है न उसका परिचय दिया जा रहा है, अपितु कवि उपचारार्थ ललक रहा है—

खासे खसखाने खासें स्याने तहखाने नल
 छूटत सरोज की सुगंध लपटी रहै।
अतर अरगजे सों केसर गुलाब नीर
 छिरके किवार द्वार झार झपटी रहै।

कृष्णलाल जेठ में गमन कैसे कीजै प्यारे
चन्दन मलै कै पंक अंक दपटी रहै।
ज्वाल उद्‌भटी कुचबटी कामगटी तटी-
हटी मरहटी नटी लटी लपटी रहै।—'षट्० का०'

इस उदाहरण में खसखाने, तहखाने, नल, सरोज की सुगंध, इत्र, अरगजा, केसर, गुलाबजल-अवनेजन, मलयगिरि-चंदन आदि का वर्णन केवल इसलिए है कि ऐसे शीतल वातावरण में तन्वंगी मरहटी बाला लिपटे और अपनी गटी कुचबटी से उद्‌भटी गर्मी को पछाड़ दे। आशय यह है कि खस-चंदनादि नायिका के अनुकूल स्थिति-उत्पादक हैं और नायिका गर्मी दूर करने के लिए है। ऐसी ही लालसा उर्दू-शाइरों ने भी व्यक्त की है—

दोपहर गर्मियों की लुत्फ़ से गुज़रे क्या खूब
साथ लेकर हमें खसखाना में आराम करें। —आतश

(५) वे वर्णन जिनमें ऋतु का स्वरूप चित्रित करता हुआ उपचार एक हल्की रेखा उद्दीपन की भी खींचता है—

धाई है धरणि धूप दँदकि अँगार जैसे
पवन प्रचंड लूक लागे दिशि दस ते।
वेणी (?वेली) द्रुम कूप ताल कुंडन के सोत सूखे
रुखे ये कुरंग देह फूँकों बोरि पसते।
प्रीतम सुजान जान कैसे कै पयान कीजै
शीतल सुगंध सींचि राखौ बोरि रसते।
तात की कमाई वित्त बहुत मँगाय देहौं
बँगला छवाय देहौं तुम्हें खासे खस ते।—'षट्० का०'

नायिका नायक के लिए पितु-गृह से रुपया मँगवाकर बँगला छवा देगी, क्योंकि धूप अंगार-सी धधक रही है, पवन दसों दिशाओं में आग लगा रहा है, लता, वृक्ष कूप, ताल तथा कुंडों के स्रोत सूख गए हैं, हिरन काले पड़ गए है। यह वर्णन प्रकृति के आलम्बन-रूप का प्रकाशक है। वस्तुस्थिति से परिचय कराकर नायिका कहती है कि ऐसे में बाहर तभी जाया जा सकता है जब रास्ते शीतल सुगंध से सींचे गए हों। है तो यह भी शीतलोपचार का उल्लेख ही, परन्तु इस आग्रह में मनोभव-मोचनोद्देश्य की ध्वनि जरूर है।

वर्षा के रंग-बिरंगे बादलों का चित्रण रीतिकालीन हिन्दी-कवियों ने अत्यन्त सूक्ष्म विवरण के साथ किया है। काले, लाल, पीले, धौरे, धुंआरे, मटीले तथा गहरे रंगवाले बादल आकाश में दौड़ते हैं—

कारे लाल पीरे धौरे धावत धुँवा के रंग
कितने सुरंग किते रंग मट माढ़े हैं।
कितने मही के रूप माधुरी करत घोर सोर
चहूँ ओर होत गहगहे गाढ़े हैं।
'ठाकुर' कहत कवि बरनि बरनि थाके
बरने न जात यों बहसि बर बाढ़े हैं।
मोहे लेत मनन जो ऐसी बने बनन जू
आजु देखौ घनन घनेरे रंग काढ़े हैं।

कोई लाल, कोई पीला, कोई सफ़ेद, कोई नीला, कोई धारीदार, कोई सिंदूरी, तो कोई धुँआधार। ये सारे बादल ऐसे शोभित हैं मानो आषाढ़ रँगरेज ने सूखने के लिए आसमान-चौक में विविध रंग के थान फैला रक्खे हैं—

चौक आसमान में अनेक शौक साहबी के
गाहक रिझाइबे के ब्योंत बिसतारे हैं।
कोई लाल पीरे कोई सेत नीले धारीदार
कोई रंग सेंदुर के कोई धुँवाधारे हैं।
'ठाकुर' कहत देखि बादर अनेक रंग
मन मनसूबा कै विचार ये विचारे हैं।
बादर न होंय बहु भाँतिन के रेजा
ये असाढ़ रँगरेज रंग सूखिबे को डारे हैं।

रंग के पश्चात् गति पर दृष्टि जाती है। घटा का घुमड़ना, विभिन्न आकृतियाँ धारण करना, झुकना, चला जाना, दूसरी घटा का आना फिर चला जाना आदि व्यापार 'ग्वाल' कवि ने निरीक्षण की पूरी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किए हैं—

प्यारी आउ छात पै निहार नये कौतुक ये
घन की घटा तैं खाली नभ में न ठौर है।
टेढ़ो सूधो गोल ओट खूँटी बहु कोनबारी
खाली लदी मुँदी खुली करै दौरादौर है।
'ग्वाल' कवि कारी धारी घुमरारी
घहरारी धुरवारी बरसारी झुकी तौर तौर है।
यह आई वह आई येऊ गईं वेऊ गईं
और येऊ आई उठीं आवत वे और है।

टेढ़ी, सीधी, गोल तथा बहुकोणीय रूपवाली घटा का लदना, मुँदना, खुलना, दौड़ना तो वर्णित है ही, काली, धारी, घुमरारी, घहरारी, धुरवारी, और बरसारी

घटाएँ स्थान-स्थान पर झुकी हुई हैं। ये आईं, वे आईं, ये भी गईं, वे भी गईं लो ये आ गईं, ये उठीं और वे फिर आ रही हैं। कितना ब्योरेवार सशक्त चित्रण है?

बादलों की गति से अन्य वस्तु के स्वरूप पर भी हिन्दी-रीतिकवियों ने प्रकाश डाला है। रात में छाए हुए बादलों के चलने से नक्षत्र मन्द-मन्द चलते हुए प्रतीत होते हैं। कवि ने इस दृश्य का कैसा रमणीय वर्णन किया है—

मंद मंद देखिए नखत बदरान माँझ
मनौ चौंधियाने चंद ढूंढत फिरत हैं। —ठाकुर

बिजली का दौड़-दौड़ दमक-दमक कर छिपना, घनों का घूम-घूम कर घहरना और बरसना कवि ने ध्वननशील शब्दों में साकार कर दिया है—

दौरि-दौरि दमकि-दमकि दुरि दामिनि यौं
दुंद देत दसहूँ दिसान दरसतु है।
घूमि - घूमि घहरि - घहरि घन घहरात
घेरि घेरि घोर घनो सोर सरसतु है।
'ठाकुर' कहत पिक पीकि पीकि पी को रटैं
प्यारो परदेश पापी प्रान तरसतु है।
झूमि - झूमि झुकि - झुकि झमकि - झमकि आली
रिम झिम झिमिकि असाढ़ बरसतु है।

जब बिजली चमकती है तभी बादल गरजते हैं। जब घनों की धुकार होती है, तब चातक मयूर प्रसन्न होकर बोल उठते हैं। व्यापारों की यह क्रमिकता द्रष्टव्य है—

कारे कारे बद्दल सुहाये कहूँ सेत सेत
कहूँ लाल लाल कहूँ आभा पीरी पीरी री।
ज्यौं ज्यौं होत चंचल दिखात चंचला की चौंध
त्यौं त्यौं घन की धुकार होत धीरी धीरी री।
'ठाकुर' कहत फिरैं चातक चढ़े से चाउ
मोरन की अवली फिरत भीरी भीरी सी।
कैसी नीकी लागत सोहाई सुख देन आज
मंद - मंद बैहर बहत सीरी सीरी सी।

वर्षा की बूंदे बड़ी-बड़ी गिरती हैं, फिर उछल कर लम्बी हो जाती हैं, चमकती हैं, तब पानी में बुद्बुद उत्पन्न होते हैं। बुदबुद बहुत छोटे-छोटे पास-

पास इकट्ठे होकर फेन से मालूम पड़ते हैं। इस सारे दृश्य का 'पदमाकर' ने अधोलिखित कबित्त में चित्रण किया है—

फालसे के फल से सुफूल से मधूकन के
कदमकली से भली विधि के बिलासा से।
कहैं 'पदमाकर' अंगूर ऐसे आँवरे से
भाँवरे से होत मंजु मोतिन के मासा से।
फैलत फनिद फन फेन ऐसे फिरि फिरि
फूलत फुलौरी से फुलिग के तमासा से।
बुद बुद ये न आली आग ऐसी बूँदन के
जल के मँझार परे फूल के बतासा से।

वर्षा का ऐसा आलम्बन-रूप चित्रण उर्दू-शाइरी में उपलब्ध नहीं है। उर्दू-कविता प्रायः फ़ारस की बरसात का वर्णन करती है। भारत की वर्षाॠतु से उसे मतलब नहीं रहता। उर्दू-कवियों में केवल 'नज़ीर' अकबराबादी ने बरसात के वर्णन में सक्षम दृष्टि का परिचय देते हुए प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण किया है—

इक तर्फ़ ओलती की बाहम क़तार बरसे।
छाजों उमँड के पानी मूसल की धार बरसे।

पानी बरसने का ढंग वर्णन करके 'नज़ीर' बहते पानी के विभिन्न दृश्य दिखाते हैं। नाले का लहराकर चलना, लोगों का पानी छपकना तथा उसमें फिसलकर गिरना, ताल-तलैयों का भर जाना आदि सभी व्यापारों पर कवि की दृष्टि पड़ती है—

आगे दुकाँ के नाला है मौज मार चलता।
आलम तरह तरह का आगे से है निकलता।
कोई छपकता पानी और कोई है फिसलता।

बरसात के वर्णन इन रीतिकवियों और शाइरों ने प्रायः दो प्रकार के किए हैं—(१) आलम्बन-रूप में वर्षा की बहार का वर्णन है। (२) उद्दीपन रूप में उसका विरहिणियों को दुःख देने वाला रूप चित्रित है। परन्तु उसके उस रूप का वर्णन नहीं है जो सभी के लिए समान दुखद है। इस तीसरे रूप का वर्णन वही करेगा, जिसकी नज़र बरसात के शुद्ध-रूप पर तो है ही, उससे अनपेत मानव पर भी है। 'नज़ीर' द्वारा अंकित प्रकृति-संयोग से उत्पन्न स्थिति द्रष्टव्य है—

ईधर तो पसीने से पड़ी भीगें हैं खाटें।
गरमी से उधर मैल की कुछ चूटियाँ काटें।

घटाएँ स्थान-स्थान पर झुकी हुई हैं। ये आईं, वे आईं, ये भी गईं, वे भी गईं लो ये आ गईं, ये उठीं और वे फिर आ रही हैं। कितना ब्योरेवार सशक्त चित्रण है ?

बादलों की गति से अन्य वस्तु के स्वरूप पर भी हिन्दी-रीतिकवियों ने प्रकाश डाला है। रात में छाए हुए बादलों के चलने से नक्षत्र मन्द-मन्द चलते हुए प्रतीत होते हैं। कवि ने इस दृश्य का कैसा रमणीय वर्णन किया है—

मंद मंद देखिए नखत बदरान माँझ
मनौ चौंधियाने चंद ढूंढत फिरत हैं। —ठाकुर

बिजली का दौड़-दौड़ दमक-दमक कर छिपना, घनों का घूम-घूम कर घहरना और बरसना कवि ने ध्वननशील शब्दों में साकार कर दिया है—

दौरि-दौरि दमकि-दमकि दुरि दामिनि यौं
दुंद देत दसहूँ दिसान दरसतु है।
घूमि - घूमि घहरि - घहरि घन घहरात
घेरि घेरि घोर घनो सोर सरसतु है।
'ठाकुर' कहत पिक पीकि पीकि पी को रटैं
प्यारो परदेश पापो प्रान तरसतु है।
झूमि - झूमि झुकि - झुकि झमकि - झमकि आली
रिम झिम झिमिकि असाढ़ बरसतु है।

जब बिजली चमकती है तभी बादल गरजते हैं। जब घनों की धुकार होती है, तब चातक मयूर प्रसन्न होकर बोल उठते हैं। व्यापारों की यह क्रमिकता द्रष्टव्य है—

कारे कारे बद्दल सुहाये कहूँ सेत सेत
कहूँ लाल लाल कहूँ आभा पीरी पीरी री।
ज्यौं ज्यौं होत चंचल दिखात चंचला की चौंध
त्यौं त्यौं घन की धुकार होत धीरी धीरी री।
'ठाकुर' कहत फिरैं चातक चढ़े से चाउ
मोरन की अवली फिरत भीरी भीरी सी।
कैसी नीकी लागत सोहाई सुख देन आज
मंद - मंद बैहर बहत सीरी सीरी सी।

वर्षा की बूंदे बड़ी-बड़ी गिरती हैं, फिर उछल कर लम्बी हो जाती हैं, चमकती हैं, तब पानी में बुद्‌बुद उत्पन्न होते हैं। बुदबुद बहुत छोटे-छोटे पास-

पास इकट्ठे होकर फेन से मालूम पड़ते हैं। इस सारे दृश्य का 'पदमाकर' ने [illegible] कबित्त में चित्रण किया है—

फालसे के फल से सुफूल से मधूकन के
　　कदमकली से भली विधि के बिलासा से।
कहै 'पदमाकर' अंगूर ऐसे आँवरे से
　　झाँवरे से होत मंजु मोतिन के मासा से।
फैलत फनिद फन फेन ऐसे फिरि फिरि
　　फूलत फुलौरी से फुलिंग के तमासा से।
बुद बुद ये न आली आग ऐसी बूँदन के
　　जल के मँझार परे फूल के बतासा से।

वर्षा का ऐसा आलम्बन-रूप चित्रण उर्दू-शाइरी में उपलब्ध नहीं है। उर्दू-कविता प्रायः फ़ारस की बरसात का वर्णन करती है। भारत की वर्षाऋतु से उसे मतलब नहीं रहता। उर्दू-कवियों में केवल 'नज़ीर' अकबराबादी ने बरसात के वर्णन में सक्षम दृष्टि का परिचय देते हुए प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण किया है—

इक तर्फ़ ओलती की बाहम क़तार बरसे।
छाजों उमंड के पानी मूसल की धार बरसे।

पानी बरसने का ढंग वर्णन करके 'नज़ीर' बहते पानी के विभिन्न दृश्य दिखाते हैं। नाले का लहराकर चलना, लोगों का पानी छपकना तथा उसमें फिसलकर गिरना, ताल-तलैयों का भर जाना आदि सभी व्यापारों पर कवि की दृष्टि पड़ती है—

आगे दुकाँ के नाला है मौज मार चलता।
आलम तरह तरह का आगे से है निकलता।
कोई छपकता पानी और कोई है फिसलता।

बरसात के वर्णन इन रीतिकवियों और शाइरों ने प्रायः दो प्रकार के किए हैं—(१) आलम्बन-रूप में वर्षा की बहार का वर्णन है। (२) उद्दीपन रूप में उसका विरहिणियों को दुःख देने वाला रूप चित्रित है। परन्तु उसके उस रूप का वर्णन नहीं है जो सभी के लिए समान दुखद है। इस तीसरे रूप का वर्णन वही करेगा, जिसकी नज़र बरसात के शुद्ध-रूप पर तो है ही, उससे अनपेत मानव पर भी है। 'नज़ीर' द्वारा अंकित प्रकृति-संयोग से उत्पन्न स्थिति द्रष्टव्य है—

ईधर तो पसीने से पड़ी भीगें हैं खाटें।
गरमी से उधर मैल की कुछ चूटियाँ काटें।

कपड़ा जो पहनते तो पसीने उसे पाटें।
नंगा जो बदन रखते तो फिर मक्खियाँ चाटें।
बरसात के मौसम में निपट क़हर है उमस।
सब चीज तो अच्छी है मगर ज़हर है उमस।

लेकिन खूबी यह है कि दुखद स्थिति में भी 'नज़ीर' आनंदित होते हैं। जो भी मौसम हो 'नज़ीर' का दिल फड़कने लगता है। कवि में बाल-सुलभ चेष्टा है। ऐसा मालूम पड़ता है कि 'नज़ीर' सिर से पैर तक दिल ही दिल हैं। बरसात में किसी का मकान ढेर है, कोई चीख रहा है और शाइर खुद कीचड़ में गिरा हुआ है, फिर भी उसकी उमंग देखिए; वह गा रहा है "क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें"। उसे हर मौसम में बाहर दिखाई पड़ती है। जाड़े के मौसम का उदाहरण प्रस्तुत है—

जब माह अघन का ढलता हो तब देख बहारें जाड़े की।
और हँस हँस पूस सँभलता हो तब देख बहारें जाड़े की।
दिल जल्दी जल्दी चलता तो तब देख बहारें जाड़े की।
पाला बर्फ़ पिघलता हो तब देख बहारें जाड़े की।
चिल्ला खम ठोंक उछलता हो तब देख बहारें जाड़े की।

'नज़ीर' के ऋतु-वर्णन में एक ऐसी खास बात है जो रीतिकाल के हिन्दी-कवियों या अन्य उर्दू-शाइरों के काव्यों में नहीं मिलती। 'नज़ीर' के ऋतु-चक्र में भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों को स्थान प्राप्त है। सामंतीय जीवन की एक झाँकी देखिए—

बँगले सभों के हरजा ऊँचे छवाए ज़र्दे।
मेवे मिठाई अम्बा अंगूर और सर्दे।
पकवान ताज़े-ताज़े खासे पुलाव ज़र्दे।
बरसे है अब्र बाराँ खुलवा दिए हैं पर्दे।

इन धनी या बली लोगों के मुक़ाबले नोन तेल लड़की के लिए मर-पचकर ज़िन्दगी बसर करने वाले वर्ग का चित्र देखिए—

कितने खुशी से बैठे खाते हैं खुश महल में।
कितने चले हैं लेने बनिए से कर्ज़ बल में।
काँधे प दाल आटा हल्दी गिरह की बल में।
हाथों में घी की प्याली और लकड़ियाँ बग़ल में।

भोजन के अलावा दोनों वर्गों के वस्त्रों तथा वाहनों में भी अंतर है। कोई अच्छी खासी लोई ओढ़े फिरते हैं, कोई सर पर सिरकी या बोरे की खोई रखकर

पानी से अपने को बचा रहे हैं। एक ओर छतरी लगाए हाथी पर सवार लोग, दूसरी ओर कीचड़ में लथपथाते पाँयचे चढ़ाए हाथों में जूतियाँ पकड़े 'नज़ीर' जैसे ग़रीब लोग—

जो इस हवा में यारो दौलत में कुछ बड़े हैं।
हैं उनके सर प छतरी हाथी उपर चढ़े हैं।
हमसे ग़रीब गुर्बा कीचड़ में गिर पड़े हैं।
हाथों में जूतियाँ हैं और पाँइचे चढ़े हैं।
क्या-क्या मची हैं यारो बरसात की बहारें।

उद्दीपन-रूप

प्रकृति के आलम्बन रूप ऐसे चित्रणों की उपलब्धि के बावजूद मीमांस्य हिन्दी-उर्दू-काव्य में प्रकृति के उद्दीपन रूप-चित्रणों का ही प्राधान्य है। इसका कारण यह है कि रीतिकालीन हिन्दी-उर्दू-काव्य श्रृंगार-परक काव्य हैं और रति से सम्बद्ध होने से वह मानव-मानव के लगाव तथा तत्संबंधी भावों का चित्रण करता है। उद्दीपन रूप में प्रकृति तीन कार्य करती है—(१) सौन्दर्योद्दीपन, (२) प्रेमोद्दीपन (३) कामोद्दीपन।

(१) प्रकृति के सौन्दर्य-मध्य-स्थित मानव का सौंदर्य अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार ऋतु आलम्बन के सौन्दर्य को उद्दीप्त करती है। हिन्दी-रीतिकविता में ऋतु विशेष के सम्पर्क से नायिका को सुन्दरतर चित्रित किया गया है, यथा—

फटिक सिलानि सों सुधार्‌यो सुधा मंदिर
    उदधि दधि-को सो अधिकाई उमगै अमंद।
बाहेर ते भीतर लौं भीति न देखैए 'देव'
    दूध को-सो फेनु फैलो आँगन फरसबंद।
तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी झिलमिल होति
    मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद।
आरसी-से अम्बर मैं आभा सी उज्यारी लगै
    प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चंद।

राधिका सुन्दर हैं। [illegible] रूप उनका स्वाभाविक रूप है, लेकिन चंद्रिका-चर्चित यामिनी में आकाश-दर्पण के नीचे खड़ी राधिका का जो सौंदर्य उदित हुआ है वह अभूतपूर्व है। चन्द्रमा का सौंदर्य उस सौंदर्य के आगे कुछ भी नहीं है। वह तो राधा के मुख का प्रतिबिम्ब मात्र है, जो आकाश-दर्पण में दिखाई पड़ता है। वस्तुतः वह राधा के मुख के आगे मिथ्या है। वास्तविक स्वरूप तो मुख का है और उसके सौंदर्य के कारण ही चन्द्रमा में प्रकाश प्रतीत होता है। यहाँ

प्रकृति-मध्य-खड़ी राधा का सौन्दर्य उद्दीप्त हो उठा है, जिससे उसे अतुलनीय शोभा प्राप्त हुई है। उर्दू-कवि 'नज़ीर' अकबराबादी का निम्नांकित शेर भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—

आकर कहीं मज़े की नन्हीं फुहार बरसे।
चीरों का रंग छुटकर हुस्ने-निगार बरसे।

(२) प्रेमोद्दीपन वास्तव में सौन्दर्योद्दीपन का ही फल है। नायक जब नायिका को ऋतु विशेष में अधिक आकर्षक रूप में देखता है तो उसकी प्रेमवृत्ति अधिक वेग से प्रकट होती है, अर्थात् वह नायिका के प्रति अपने मन की आसक्ति पहले से अधिक अनुभव करता है। यही बात नायिका के लिए भी है। नायक-नायिका जिसके आलम्बन हैं उस आश्रय-रूप सखी पर भी यह सिद्धान्त चरितार्थ होगा। यदि और गहराई से चिन्तन करें तो सच्ची प्रेमवृत्ति आश्रय-रूप-सखी की ही है, जिसमें कामवासना-रहित-प्रेम उद्दीप्त हुआ है। नायक या नायिका में उस प्रेम को कामासक्ति से पृथक् देखना रीतिकाव्य में संभव नहीं है। प्रकृति-सम्पर्क से प्रेम-चाव-सम्वर्धन का एक मनोहर चित्र 'देव' ने निम्नोद्धृत छंद में खींचा है—

आजु गई हुती कुंजन लौं बरसे उत बुंद घने घन घोरत।
'देव' कहै हरि भीजत देखि अचानक आइ गए चित चोरत।
पोटि भटू तट ओट कटो के लपेटि पटी सो कटी पटु छोरत।
चौगुनो रंग चढ़ो चित मैं चुनरी के चुचात लला के निचोरत।

वर्षा के कारण चुनरी का चुचाना स्वाभाविक है, परन्तु यहाँ उस चुचाने ने जादू का काम किया है। सखी का कथन है। उसके चित्त में चौगुना रंग चढ़ गया अर्थात् उसकी प्रेम-वृत्ति चौगुनी उद्दीप्त हो गई। उर्दू-शाइरी में इस तरह के उदाहरण मिलना संभव नहीं है।

(३) कामोद्दीपन में प्रकृति की भूमिका बहुत बड़ी है। वह अनेक रूपों से यह कार्य सम्पन्न करती है। कभी नायिका के भीतर ऐसा उद्वेग उत्पन्न हो जाता है कि वह स्वयं मिलन के लिए चल पड़ती है, जैसे—

घटा घहराति बीजु छटा छहराति
अधिराति हहराति कोटि कीट रति रुंज लौं।
हूकत उलूक बन कूकत फिरत फेरु
भूंकत जु भेरो भूत गावै अलि गुंज लौं।
झिल्ली मुख मूंदि तहाँ बीछी गण गूंदि विष
व्यालन को रूंदि कै मृणालन के पुंज लौं।

जाई वृषभान की कन्हाई के सनेह बस
आई उठि ऐसे में अकेली केलि कुंज लौं। —देव

घटा के घहरने तथा बिज्जु छटा के छहरने की शक्ति देखिए। उसने नायिका को नायक से मिलने के लिए इतना प्रेरित किया कि वह मार्ग की सभी बाधाओं की उपेक्षा कर केलि कुंज तक पहुँच गई।

प्रकृति की इस अधर्ष्य शक्ति का उल्लेख कवियों ने दूसरे ढंग से भी किया है। सखी नायिका को धीरज बँधाती हुई कहती है कि यदि नायक परदेश चला गया है तो तुम दुखी मत हो। वसंत को आने दो, वह आएँगे कि बच रहेंगे—

फूलन दे अबै टेसू कदम्बन अम्बन बौरन छावन दे री।
री मधुमत्त मधूकन पुंजन कुंजन शोर मचावन दे री।
क्यों सहि है सुकुमारि किशोरि अरी कल कोकिल गावन दे री।
आवत ही बनि है घर कंतहि बैरी बसंतहिं आवन दे री।—'षट्०का०'

प्रकृति कामोद्दीपन तो करती ही है, उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए अनुकूल स्थिति भी प्रस्तुत करती है। इन दोनों कर्त्तव्यों को एक ही छंद में युगपत् चित्रित करनेवाले उदाहरण यद्यपि अत्यंत विरल हैं, फिर भी हिन्दी-रीति-काव्य इस दिशा में विपन्न नहीं है। 'देव' ने एक घनाक्षरी में इन दोनों व्यापारों को अत्यंत कौशल से अंकित किया है—

दोऊ मुख चंद मंद हाँसी की दमक भेष
भूषण झमक चकाचौंधी चपला की मैं।
गातन मैं घात घात घातन अघात
बात बातन न बात है लला की अबला की मैं।
मीत साथ रैनि साथ रैनि अति नीकी पीकी
सेज अति फीकी जोन्ह पूरण कला की मैं।
प्यारी और प्यारे 'देव' दीपति उज्यारे पै
अँध्यारे मुख चूमत चमक चपला की मैं।

चपला की चकचौंधी में भेष-भूषण-झमक नायक-नायिका का सौन्दर्य विवर्धित कर उन्हें परस्पर चुम्बनार्थ उद्दीप्त करती है और चपला की चौंध से उत्पन्न अँधियारी में वे एक-दूसरे का मुख चूम लेते हैं।

प्रकृति उपर्युक्त उदाहरण में मानव-लक्ष्य-सिद्ध्यर्थ सहायक है, लेकिन उर्दू-कवि 'नज़ीर' अकबराबादी ने उसके इस सहायक रूप से लाभ उठाने का एक भिन्न ढंग निकाला है—

करती है गर्चे सबको फिसलनी ज़मीन ख्वार।
आशिक़ को पर दिखाती है कुछ और ही बहार।
आया जो सामने कोई महबूब गुल अज़ार।
गिरने का मक्र करके उछल कूद एक बार।
उस शोख़ गुलबदन से लिपटकर फिसल पड़ा।

हिन्दी-रीतिकवियों ने होली की कीच में नायक-नायिकाओं को साथ-साथ रपटते अवश्य दिखाया है, परन्तु 'नज़ीर' वाली तरकीब उन्होंने ऋतुओं के सम्बन्ध में नहीं अपनाई। हिन्दी-कवि ऋतु-द्वारा अवसर प्रदान कराते हैं, लेकिन 'नज़ीर' के उद्धरण में मानव ने प्रकृति का बहाना लेकर अवसर प्राप्त किया है। दोनों ही में प्रकृति की स्थिति संयोग-सहायिका की है।

ऋतु-द्वारा उत्पन्न अंग-विकारों तथा तज्जनित मनोवृत्ति-चित्रण करके कवियों ने नायिका को संयोगार्थ उद्यत दिखाया है। ऋतु नायिका का मान भंग कर देती है, क्योंकि ऋतु-प्रभाव से प्राणियों के शरीरों में सिहरन होने लगती है—

देखि हरिआई भूमि गाइन हुलास होत
राग को प्रकासबो विकास कास कुस के।
कुच सहरात घहरात घन छन छन
धन धन आली यह कौन चाली रूस के।—'पा०क०र०'

नायिका के कुच सिहरने लगना अंग-विकार है। इस अंगविकार से संयुक्त मनोविकार उसे क्रियार्थ प्रेरित करता है। अंग की सिहरन मन में सिहरन उत्पन्न करती है और तब नायिका को शरारत सूझती है—

वही काल बाल ब्रज साँवरो पिया के सेज
कुच चुभकाति मुसक्याति मुख मोरि मोरि। —'पा०क०र०'

हिन्दी-रीतिकाव्य में ऋतु के इस रूप की ओर ध्यानाकृष्टि द्वारा मान भंग कर नायक से संयुक्त होने के लिए नायिका से बारम्बार प्रार्थनाएँ की गई हैं, यथा—

मेचक कवच साज बाहन बयार बाज,
गाढ़े दल गाज रहे दीरघ बदन के।
'भूषण' भनत शमशेर सोई दामिनी है
होत नर कामिनी के मान के कदन के।
पैंदल बलाका धुरवार के पताका गहे
घेरियत आज चहुँ ओरन सदन के।

न कर निरादर पिया सों मिल सादर
ये आये बीर बादर बहादर मदन के।

हिन्दी-काव्य की संयोग-प्रार्थनाएँ ऋतुओं के इसी रूप पर आधारित हैं। ऋतु-प्रभाव-जनित दशा-निवारण का आश्रय कवियों ने नहीं लिया है। 'नज़ीर' अकबराबादी की अनुनय-विनय द्रष्टव्य है। उन्होंने माशूक़ का संस्पर्श प्राप्त करने के लिए क्या नया उपाय निकाला है? बरसात का मौसम है, माशूक़ के गरमीदाने निकल आए हैं, अतः शाइर कहता है—

क्या मेंह बरस रहा है प्यारे ज़रा नहा ले।
छाती नहीं तो प्यारे टुक पीठ की मला ले।
क्या क्या मची है यारो बरसात की बहारें।

ऋतु-जनित कामावेग-निस्सारण में बाधा आने पर हृदय की जलन दो प्रकार से अभिव्यक्त होती है। यदि यह बाधा देश-जन्य न होकर केवल काल या व्यक्ति-जन्य है तो कामावेग उस पर विजय प्राप्त कर लेता है, किन्तु यदि वह बाधा देश-काल-जन्य है, तो उसे दूर करने मे नायिका असमर्थ हो जाती है। उसकी इस विवशता का नाम विरह है। ऋतु-उद्भूत काम-स्फुरण की उपशांति में असमर्थ नायिका ऋतु को कोसती है कि 'यदि तू न आतो तो मुझे यह कष्ट न होता।' ऋतु या उसके लक्षक पशु-पक्षियों को सम्बोधित करके हिन्दी-रीति-कविता में इस प्रकार का विरह-दुख-निवेदन खूब किया गया है—

मदमाती रसाल की डारन पै चढ़ी आनँद सों यों विराजती है।
कुल जानि की कानि करै न कछू मन हाथ परायहि मारती है।
कोऊ कैसी करै 'द्विज' तू ही कहै नहिँ नेकौ दया उर मारती है।
अरी क्वैलिया कूकि करेजन की किरचैं किरचैं किये डारती है।

यह उपालम्भ है, लेकिन ऋतु की अकाट्य कामोत्पादन-शक्ति से पूर्णतया परिचित नायिका इस बात पर क्रोध प्रकट नहीं करती कि ऋतु उसे कष्ट दे रही है। उसे तो इसलिए क्रोध आता है कि ऋतु अपनी इस सर्वजयी शक्ति का प्रयोग केवल उसी के ऊपर क्यों कर रही है? वह तो स्त्री होने से अनेक प्रकार के बंधनों में बँधी है। यदि ऋतु अपना प्रभाव नायक पर डालती तो वह उसके पास आए बिना न रहता। इस क्रोधावेश को हिन्दी-रीतिकवियों ने बार-बार प्रकट किया है—

कैधों मोर शोर तजि गये री अनत भाजि,
कैंधौं उत दादुर न बोलत हैं ऐ दई।

कैंधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे
कैंधौं बक पाँति उत अंतगत ह्वै गई।
'आलम' कहै हो आली अजहूँ न आये प्यारे
कैंधौं उत रीति विपरीति विधि ने ठई।
मदन महीप की दुहाई फिरिबे ते रही
जूझि गये मेघ कैंधौं दामिनी सती भई।

इन दो ढंगों के अतिरिक्त विरह-कष्ट की अभिव्यंजना कवि लोग प्रकृति के आतंक या उसकी भयंकरता दिखाकर भी करते हैं। हिन्दी-रीतिकविता में पावस के ऐसे अनेक चित्र मिलते हैं, जिनमें भय का वातावरण प्रस्तुत किया गया है, जैसे—

श्वेत श्वेत बक से निशान फहरान लागे
ईंचि ईंचि चपला कृपाण चमकाये री। —'पा०क०र०'

उर्दू-शाइरों ने भी चमन को युद्ध-क्षेत्र बनाकर कलियों के चटकने में तोप की आवाज़ सुनी है—

हिज्र में चिटके जो गुंचे हुई आवाज़े-तुफ़ंग
सहने-गुलज़ार है मैदान सफ़-आराई का। —नासिख़

विरहिणी की भावनाएँ जब अपने तक ही सीमित हैं तो उसके लिए ऋतु दाहक है। जब अपना हृदय जल रहा है तो वसंत में हमारे लिए सब ओर आग लगी हुई है—

ऊधौ यह सूधौ सो संदेसो कह दीजौ भले
हरि सों हमार ह्याँ न फूले वन कुंज हैं।
किंशुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोरत अँगारन के पुंज हैं। —पदमाकर

उर्दू-शाइरी भी आशिक़ के मनोभाव इसी शैली में प्रकट करती है—

दूर उससे तो अपने भाएँ आग लगी है गुलिस्ताँ को
आँखें नहीं पड़ती हैं गुल पर सेंकती हैं अंगारों से। —मीर

यदि विरहिणी का हृदय स्वार्थ-केन्द्रित न होकर व्यापक तथा उदार है तो उसे प्रकृति अपने समान सभी पीड़ितों को कष्ट देने वाली प्रतीत होगी। उदाहरणार्थ—

मदन महीप को समंत बलवंत दिशि-
विदिशनि बीरा लै वसंत उठि धाये हैं।

करत न वारन अबारन प्रताप जाको
'शंकर' बखानै यों अजब गुन गाये हैं।
फिरत दोहाई भौर भौरन के ब्याज कूर
ललकारैं कोकिला की कूकनि गनाये हैं।
फूले ये पलाश के न फूल काढ़ि काढ़ि मानो
नेजे में वियोगी के करेजे लटकाये हैं। —'षट् का०'

कामावेग जब तक मर्यादित है तब तक अभिव्यंजना प्रकृति के रूप-साम्य को लेकर होगी अर्थात् टेसू का लाल फूल अंगार-सा मालूम पड़ेगा, ओले गोली-से अनुभव होंगे—

साक़ी पहुँच कि तुझ बिन इस अब्रे बहार से
पड़ते नहीं तगर्ग बरसती हैं गोलियाँ। —सौदा

किन्तु जब कामावेग अपनी सीमा तोड़कर सनक की अवस्था को पहुँच जाएगा तो अभिव्यक्ति रूप-साम्याधारित न रहेगी और यदि कुछ साम्य मालूम भी पड़ेगा तो उसका कथन तथ्य को मिथ्यायित करके होगा, जैसे—

कढ़ी दिशि दक्षिण ते घोर घनघटा चढ़ी
बढ़ी विरही को दुख देन को न कम है।
'ठाकुर' झरोखे है तमक ताकी तीय कहो
तू री ताक आली या उतंग रंग तम है।
कहो नाहि मेघ त्यों न मानै कह जानै तू
न गरजत आवै या सु जानै जोग हम है।
है न बिज्जु होत करवारो दंड चमचम
जीव आने आवत जमात जोर यम है।

नायिका सखी से कहती है कि तू नहीं जानती। मैं जानती हूँ कि यह मेघ नहीं है, यम अपने दल बल के साथ चढ़ा आता है और यह बिजली नहीं, उसके हाथ में यमदंड है, जो चमचमा रहा है। यहाँ नायिका और सखी के कथनों में अंतर है! नायिका सखी के कथन को झुठला रही है और उससे कहती है कि तू नहीं जानती। उर्दू-कवियों ने भी आशिक़ से इसी प्रकार के उद्गार प्रकाशित कराए हैं—

आलूदा बेगुनाहों के खूँ से है तेग़े-चर्ख
नाफ़ह्मों को गुमाँ है शफ़क़ पर हिलाल का। —आतश

इस उद्धरण में भी आशिक़ अन्य व्यक्तियों को उसी प्रकार नासमझ समझता है जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में नायिका सखी को समझती है और उसे उपः

कालीन द्वितीया का चन्द्र उसी प्रकार बेगुनाहों के रक्त से सनी तलवार प्रतीत होता है, जैसे नायिका को बिजली यमदंड लगती है। बिना यमदंड देखे बिजली को यमदंड कहना अनर्गल प्रलाप है, इसी प्रकार शुभ्र चन्द्र को रक्त-सना कहना अनुपयुक्त है। चन्द्रमा लाली के मध्य अवश्य स्थित होता है, लेकिन उसके मध्य लालिमा नहीं होती। रक्तरंजित तलवार का मध्य भाग भी खून से भरा रहता है।

यह कथन विरह-वर्णन का एक घिसा-पिटा ढंग है, परन्तु जब प्रकृति को देखकर हृदय किसी टीस से भर जाय और दुःख भड़क उठे तो उस अनुभूति की दृष्टि से ऋतु उद्दीपन कही जाएगी, यथा—

कोकिल की सुनि कै कलकूकन केकी कुटेकी कुटेकन टेरे।
वीरवधू विरची सी फिरै विरहानल के मनो बीज बिखेरे।
बानक है सखी भूमि हरी लखि होई हरी न हरी फिरे हेरे।
धावत धूम से बादर देखि लगे जल मोचन लोचन मेरे। —'पा०क०र०'

इस उद्धरण में कोकिल की बोली को 'कलकूकन' कहा गया है। अतः यह विरह-वर्णन की रीति से भिन्न है। कोयल की बोली मधुर है, परन्तु उसे सुनकर मोर बुरी तरह पुकार उठते है। सारी भूमि हरी है, परन्तु हरि लौटकर नहीं आए, इसलिए नायिका प्रसन्न नहीं हो रही है। धूम से बादलों को देखकर उसकी आँखों से आँसू टपक उठते हैं। ऐसी दशा में 'बिरहानल के मनो बीज बिखेरे' कहना स्वाभाविक है। 'बोधा' ने भी ऋतु को इसी रूप में देखा है—

प्रफुलित कंज फुले बन माहीं।
मनहुँ पुत्र वाड़व के आहीं।

इसे अधिक स्वाभाविक बनाने के लिए कविगण पहले दशा का वर्णन और तब उसके कारण प्राकृतिक दृश्यों का अन्यवत् प्रतीत होना दिखाते हैं—

फूले आस पास कास विमल विकास वास
रही ना निशानी कहूँ मही में गरद की।
राजत कमल दल ऊपर मधुप मैन
छाप सी दिखाई छवि विरह-फरद की।
'श्रीपति' रसिकलाल आली वनमाली बिन
कछू ना उपाय मेरे जिय के दरद की।
हरद समान तन भयो है जरद अब
करद सी लागत है चाँदनी शरद की।

फूले काँसों की विमलता, सुगंधित वातावरण तथा गर्द-गुबार-रहित भूमि की स्वच्छता का वर्णन है। कमल के ऊपर भ्रमरों की छवि को कामदेव की छाप

वाली विरह-फ़र्द कहकर चित्रित किया गया है। काले-लाल, काले-नीले, काले-पीले या काले-श्वेत फूल-छपी हुई रंग-बिरंगी फ़र्द की जैसी शोभा होती है, वैसी ही छवि विभिन्न-वर्णी कमलों पर भौरों के बैठने से उत्पन्न हो रही है। इन आठों पंक्तियों में प्रकृति का आलम्बन रूप है। अंतिम चरणों में पहले सूचना है कि मेरे हृदय में पीड़ा है, शरीर पीला पड़ गया है। शरीर का पीलापन कमज़ोरी का लक्षण है। कमज़ोरी में शीतल चाँदनी की चहक ऐसे लगती है, जैसे किसी ने छुरी भोंक दी हो। अतः यहाँ ऋतु-वर्णन स्वाभाविक है और उसका शरीर विशेष पर तदनुकूल प्रभाव चित्रित किया गया है।

लेकिन कवियों ने नायिकाओं को प्रायः बहुत मुखर बना दिया है। नायिका सखियों को ताकीद करती है कि जब तक प्राण प्यारे नहीं आते तब तक के लिए वर्षा के व्यापार बंद करा दो—मेघ न गरजे, दादुर कान न फोड़े, कोयल शब्द न सुनाए, जुगुनू चमककर चित्त में चिनगारी न उठाए, चातक न गाए, मोर शोर न मचाए और मेघ घुमड़कर न छाए—

चातक न गावै मोर शोर न मचावै
घन घुमड़ि न छावै जौलौं लाल घर आवै ना। —'पा० क० र०'

इस मुखरता का फल यह हुआ कि ऋतु का वर्णन शून्य-सा हो गया, बस व्यंजना से वह उद्दीपन-रूप में ही सामने रही।

उद्दीपन-आलम्बन का मिश्ररूप

प्रेम या विरहोद्गार अभिव्यक्त होने पर भी सभी प्रकार के वर्णन उद्दीपन नहीं कहे जा सकते। हिन्दी-रीतिकाव्य में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिन्हें प्रेम-पोषक होने पर भी यथातथ्य चित्रण के अन्तर्गत हो रक्खा जायगा। उदाहरणार्थ—

भूमि हरी भई गैलैं गई मिटि
नीर प्रवाह बहा बेबहा है।
कारी घटान अँधेरो कियो
दिन-रैन में भेद कछू ना रहा है।
'ठाकुर' भौन तें दूसरे भौन लौं
जात बनै न विचार महा है।
कैसे कैं आवैं कहा करैं वीर
विदेशी विचारन दोस कहा है।

भूमि हरी हो गई, रास्ते मिट गए और प्रवाह जोर से बहने लगे हैं। काली-काली घटाओं ने ऐसा अँधेरा कर दिया कि रात-दिन में भेद नहीं मालूम पड़ता।

एक घर से दूसरे घर तक पहुँचना मुश्किल है। ऐसे में बेचारा प्रवासी यदि नहीं आता तो उसका क्या दोष, वह आ ही कैसे सकता है ?

इस कथन में नायिका का अनसूया-भाव नायक के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का व्यंजक है। लेकिन यहाँ वर्षा का चित्रण करते हुए उसे नायक के न आने का कारण भी बताया गया है। परन्तु वर्षा के कारण नायक का न आ पाना अत्यन्त स्वाभाविक तथा यथातथ्य है, अर्थात किसी भावना से आरोपित नहीं है। इसलिए इस वर्णन को हम उद्दीपन नहीं कह सकते। लेकिन आलम्बन-रूप होकर भी वह नायिका के हृदय की गंभीर पीड़ा व्यंजित करने में समर्थ है। अतः इस उदाहरण में आलम्बन-उद्दीपन का एक विचित्र मिश्र रूप प्राप्त होता है। इस प्रकार के अयुत-सिद्धावयवानुगत-चित्रण कवि की पूर्ण सजगता के परिचायक हैं। असावधान कवि के हाथ में पड़कर प्रतिलोम-वर्णन-क्रम में यही वर्णन उद्दीपनरूप हो जाएगा।

उपर्युक्त उदाहरण से प्रतिपादित होता है कि आलम्बन-रूप-प्रकृति-चित्रण केवल प्रकृति का ही संश्लिष्ट चित्रण नहीं है। प्रकृति के बीच खड़े मानव का हेत्वाभास-रहित अथवा मनोभावोपराग-विहीन चित्रण भी आलम्बन-रूप कहा जाएगा। 'बेनी' कवि ने वर्षा में भीगते राधा-कृष्ण का इस प्रकार का चित्र खींचा है—

राधा औ माधौ खरे दोउ भीजत वा झलरे झपके बन माहीं।
'बैनी' गए जुरि बातन में शिर पातन के छतना गल बाहीं।
पामरी प्यारी उठावति प्यारे की प्यारो पितम्बर की करै छाहीं।
आपसु में लहाछेह में छोह मैं काहू को भीजिबे की सुधि नाहीं।

वर्षा के झड़ में मनुष्य का झपक कर खड़ा होना चित्रित करने पर वर्षा की घनघोरता बिम्बित होती है। शिर पर बडे पत्ते का छाता वर्षा का वन्य दृश्य प्रस्तुत करता है। यहाँ तक का वर्णन आलम्बन रूप ही कहा जाएगा। लेकिन राधाकृष्ण का परस्पर गलबाही देकर खड़ा होना, राधा द्वारा कृष्ण की पाँवड़ी उठाना, कृष्ण का पीताम्बर की छाँह करना एवं दोनों का परस्पर प्रेम मग्न होकर बेसुध होना आदि सभी चेष्टाएँ एवं भाव सीधे उनके हृदय की रति से सम्बद्ध है। प्रकृति के आलम्बन-रूप से उनका सम्बन्ध नहीं है। यहाँ वर्षासिक्त होकर शीत-प्रभाव से उनके गलबाहीं देने में प्रकृति उद्दीपन का कार्य कर रही है। अर्थात् यह उदाहरण आलम्बन-उद्दीपन का युतसिद्धावयवानुगत उदाहरण है, क्योंकि इसमें पृथक्-पृथक् प्रतीत आलम्बन एवं उद्दीपन रूप एकत्र उपन्यस्त हैं।

अयुतसिद्धावयवानुगत चित्रणों को छोड़कर अन्य प्रकार के आलम्बन-उद्दीपन के मिश्रणों के आधार पर उद्दीपनरूप प्रकृति-वर्णन दो वर्गों में रक्खा जा सकता

है—(१) जिसमें आलम्बन-रूप प्रधान है और उद्दीपन-रूप गौण (२) जिसमें उद्दीपन-रूप प्रधान है, आलम्बन-रूप नगण्य।

आलम्बन-प्रधान-वर्णनों में प्रकृति का चित्रण ब्यौरेवार किया जाता है, बस उसका प्रभाव विपरीत कथित होता है, यथा—

उमड़ि घुमड़ि घन कोपि आए काम दल
गरजत गगन नगारन की धमकैं।
कारे पीरे राते धौरे धूमरे (ये) बादर पै
बरसत सर होत बूंदन की झमकैं।
उठे बग पाँति पाँति उड़त पताके ध्वनि
दामिनि की दमकनि खुले खर्ग चमकैं।
'नाथ' ये असाढ़ गाढ़ राढ़ की मचाई देखौ
नंद के कुमार बिना सकै कौन कम कैं।

बादल पीले, लाल, धौरे, धूमरे हैं, लेकिन जब बरसते हैं तो उनकी बूंदों की झमक बाण बन जाती है। बग-पंक्ति पताका-सी उड़ रही है, बिजली ऐसे चमकती है, जैसे म्यान से निकली तलवार हो। यहाँ बादलों का वर्णन प्रधान है।

उद्दीपन-प्रधान वर्णनों में आलम्बन का रूप उभर नहीं पाता। प्रकृति-प्रभाव का वर्णन उसके स्वरूप को दबा देता है। उदाहरणार्थ—

धूम से धुंआरे कहूँ कजार से कारे
ये निपट बिकरारे मोंहि लागत सघन से।
'श्रीपति' सुहावन सलिल बरसावन
शरीर में लगावन वियोगिन तियन के।
दरजि-दरजि हिय लरजि-लरजि करि
अरजि-अरजि पाँय पकरे मदन के।
बरजि-बरजि अति तरजि-तरजि मो पै
गरजि-गरजि उठें बादर गगन के।

यहाँ धूम धुंआरे काजर कारे बादलों का उल्लेख तो है, लेकिन उनका विवरण प्रस्तुत करने के स्थान पर उनके प्रभाव का वियोगिनी की अपेक्षा से वर्णन ही प्रधानता से हुआ है। अतः यह उद्दीपन-प्रधान मिश्ररूप है।

अलंकारिक-रूप

प्रकृति का असली उद्दिष्ट रूप जहाँ विकृत हो जाता है, वहाँ उसका आलंकारिक रूप प्रकट होता है। यह विकार दो प्रकार से घटित हो सकता

है—(१) प्रकृति के प्रस्तुत रूप पर उसके अन्य रूप का आरोपण (२) प्रकृति पर मानव रूप का आरोपण।

हिन्दी-रीतिकाव्यान्तर्गत प्रकृति के आलंकारिक रूपों की प्रचुरता है। कवियों ने प्रकृत ऋतु को दूसरी ऋतु बनाकर प्रायः प्रस्तुत किया है—

नील तट तनु पै चटान सी घुमाइ राखौं
दन्त की चमक सों छटा सी विचरति हौं।
हीरन की किरनै लगाइ राखै जुगुनू सी
कोकिला पपीहा पिकबानी सों ढरति हौं।
कीच अँसुवान की मचाऊँ कवि 'देव' कहै
प्रीतम विदेश है सिधारिबो हरति हौं।
इन्द्र कैसो धनु साजि बेसरि कसति आजु
रहुरे बसंत तोहिं पावस करति हौं। —'हफ़ी०ह०'

इस कवित्त में कवि ने बसंत को पावस बना दिया है। ऐसा करने में वसंत तो ग़ायब हो ही गया, पावस का भी यथार्थ रूप सामने न आ सका। यह ऋतु-ऋतु का टकराव है।

दूसरे प्रकार में प्रकृति के अंगों का कथन तो रहता है, लेकिन पाठक की दृष्टि उन पर न रहकर तल्लक्षित वस्तुओं पर जमती है, जैसे—

अंकुर कुसुम इन्द्रवधूगन चहूँ ओर
करि कै भगोहें राखे सूखिबे को पट है।
रूप घनश्याम घटा छटा शिर सोहत है
जल ही विभूति भूति पौनता के तट है।
हहर अवाज सुनी जात घर घर जाकी
भरिगो तलाब बड़ो खप्पर अघट है।
जग के वियोगिन को काम निसिदिन दाढ्यो
सावन ह्वै योगी यों दिखायो मरघट है। —'ष॰ ...

यहाँ अंकुर एवं इन्द्रवधू आदि का कथन है, परन्तु कवि और पाठक की दृष्टि में कुसुम तथा भगोहें पट हैं, अंकुर और इन्द्रवधूटियाँ नहीं हैं। ऐसे वर्णनों में वस्तु-परिगणन होता है, आनुक्रमिक व्यवस्था देकर अंगों को स्पन्दित नहीं किया जाता। हिन्दी-रीतिकाव्य में प्रकृति के एवंविध वर्णनों की रेल-पेल मिलती है। कवियों ने वर्षा के रूप की जगह योगी, गोपी-कृष्ण-नृत्य-साज, नवेली नायिका, वियोगिनी, प्रौढ़ा, महेश और फिरंगी को; शरद् के भीतर नरेश एवं नारी को, हेमंत के स्थान पर नारायण को, शिशिर के भीतर नागरी नवीना को तथा वसंत

या उसके अंगों में वैद्य, होम, जौहरी, फिरंगी, संत, कृष्ण, काशी, व्याह-समाज, राजा, मद्यप, तलवार, बालक, दूल्हा-दुल्हन, वज़ीर, शिव-समाज एवं कमनैत को खोज निकाला है। उर्दू-शाइर मिर्ज़ा 'सौदा' ने वसंत-वर्णन में आतशबाज़ी का लम्बा रूपक बाँधा है—

गर्म है ये बहार का मौसम
शाख़े-गुल फुलझड़ी से नहीं है कम।

और फिर शाइर ने गुलाब, चमेली, जुई, गेंदा, सदबर्ग तथा जाफ़री के फूलों में पटाखा, महताब, हतफूल, अनार, सितारों, हवाइयों, घनचक्कर, भचंपा, भूँदर तथा छकछूँदर को दिखाकर चमन में वस्तुतः शबबरात की धूम उत्पन्न कर दी है।

उर्दू-शाइरी में यद्यपि हिन्दी-रीतिकाव्य के आलंकारिक प्रकृति-वर्णनों की भाँति रूपक नहीं हैं, फिर भी वहाँ आलंकारिक वर्णन बहुत हैं। आलंकारिक वर्णनों में प्रकृति के व्यापार को लेकर उपमा, रूपक या उत्प्रेक्षादि अलंकार जुटाए गये हैं।

आलंकारिक-रूप तथा आलम्बन-रूप का अभेद

रूपक आदि होने पर भी यदि आरोपित रूप अप्रधान रहता है तथा प्रकृति का प्रस्तुत रूप विशदता से चित्रित होता है तो वह वर्णन आलंकारिक-रूप वर्णन की परिधि में नहीं आएगा। उदाहरणार्थ—

चंडक झारन झकोरत सरोष पौन
    तोरत तमालगन मन्द दिन भारो सो।
धर्ष कै धरणि गिरि तमकै प्रताप जाके
    देखत मजेज रेज जगत निदारो सो।
तरु क्षीण छाया सर सूखत समुद्र बन
    करण विचारि देखो आतप अँगारो सो।
छावत गगन धूरि धावत धधात आवै
    चाप चढ़ो ग्रीषम गयंद मतवारो सो। —'षट्०का०'

पवन सूर्य की लपटों को झकोरता, तमाल वृक्षों को सक्रोध तोड़ता चला आ रहा है। दिन लम्बा तथा भारी हो गया है। पवन की प्रचण्डता पृथ्वी-पर्वत सभी का धर्षण करके प्रकट हो रही है और उसको देखते ही संसार निद्रालु-सा हो जाता है। धूप क्या है, अंगार बरस रहे हैं। तरुओं की छाया क्षीण हो गई है और सर, समुद्र वन सूख गए हैं। आकाश को धूल से आच्छादित करता हुआ, धधकता पवन हाथी के समान संसार को रौंदता आ रहा है।

यहाँ पवन पर गयंद-रूप का आरोपण है ज़रूर, परन्तु जो वर्णन है, उससे ग्रीष्म-पवन के प्रकृत रूप का ही चित्र उभरता है, गयंद का नहीं। अतः आलंकारिक होने पर भी यह चित्रण आलम्वन-रूप ही है। वस्तुतः आलम्बन-रूप इतना स्फुट है कि आलंकारिक-रूप उसमें अन्तर्हित हो गया है। प्रकृति के आलंकारिक रूप तथा आलम्बन रूप में अभेद के ऐसे उदाहरण हिन्दी-रीतिकाव्य में यद्यपि विरल हैं, परन्तु उपलब्ध अवश्य हैं।

इस सारे विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-रीतिकविता में प्रकृति-वर्णन के कई ढंग हैं और उन ढंगों के विविध रूप हैं। उर्दू-शाइरी में प्रकृति-वर्णन अत्यन्त सीमित तथा निश्चित प्रणालियों पर हुआ है। उसमे आलम्बन, उद्दीपन, या आलंकारिक रूपों के न तो इतने विशद चित्रण हैं और न ऐसे मनोहर मिश्र रूपों के दर्शन होते हैं।

●

संदर्भ-संकेत

अध्याय १

१—३, ब्लाखमन, पृ० १००-१०१
४—६, 'तारीखे रेख़्ती०', पृ० ६३,६२
७. ब्लाखमन, पृ० १०१
८. 'तारीखे रेख़्ती,' पृ० ६२
९. देवसुधा
१०, ११ जैरेट, पृ० ३१२
१२. 'Some Aspects of Society and Culture During the Mogal Age', पृ० १३
१३. मीरहसन
१४, १५ जैरेट, पृ० ३१३
१६. 'औरंगज़ेब नामा,' तृतीय भाग, अनु० मुंसिफ़, पृ० ३९
१७, १८, जैरेट, पृ० ३१३
१९. 'औरंगज़ेब नामा,' द्वितीय भाग, अनु० मुंसिफ़, पृ० ११८
२०—२२, जैरेट, पृ० ३१३
२३—२६, जैरेट, पृ० ३१२
२७. रंगपाल
२८. जैरेट, पृ० ३१२
२९. देव
३०. ग्वाल
३१. बेनी प्रवीन
३२. जैरेट, पृ० ३१२
३३. 'प्रयाग नारायण विलास'
३४. सौदा
३५. ब्लाखमन, पृ० ८०
३६—३८, ब्लाखमन ७८-७९
३९. फ़ायज़

अध्याय २

१. 'सुधानिधि'
२. रसलीन
३. सौदा
४. रघुनाथ
५. देव
६, ७. 'षट्० का०'
९. नासिख

अध्याय ३

१. 'हि० सा० अ०,' पृ० ६०८
२. 'उ० सा०' पृ० २१
३. ग्वाल
४. 'हि० को० सा०,' पृ० ३६
५. वही, पृ० २६
६. 'हि० सा० अ०,' पृ० १४०
७. वली
८. रघुनाथ
९. मीर
१०. मीर
११. 'प्रेम लतिका'
१२. पदमाकर
१३. मीर
१४. 'षट्० का०'
१५. वली
१६. द्विजदेव
१७. नज़ीर
१८. मीर
१९. 'रहीम रत्नावली,' पृ० ६५
२०. मीर
२१. तुलसीदास

२२. पदमाकर
२३, २४. मीर
२५. देव
२६. तोष
२७. वली
२८. मीर
२९. पदमाकर
३०. मीर
३१. नज़ीर
३२. 'पा० क० र०'

अध्याय ४

१. भूषण
२. ग़ालिब

अध्याय ५

१. 'घन आनन्द कबित्त,' पृ० ९९
२. 'अलंकार मंजरी,' पृ० ९७
३. 'घन आनन्द कबित्त,' पृ० ६४
४. 'रतन हज़ारा,' पृ० ५५
५. 'घन आनन्द कबित्त,' पृ० ५७

अध्याय ६

१, २. मीर
३. 'आबेहयात'
४, ५. 'हि० सा० अ०,' पृ० ३६२, ४०६
६. 'फ़ायज़ देहलवी और दीवान्-ए-फ़ायज,' पृ० ११३
७. 'रसराज'
८. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' पृ० २६४
९, १०. वही, पृ० ३२९
११. वही, पृ० २७५
१२. 'हि० सा० अ०,' पृ० ४८०
१३. वही, पृ० ६०३
१४. 'हिन्दुस्तानी,' अक्टूबर-दिसम्बर, सन् १९७३, पृ० ९२
१५. 'हि० सा० अ०,' पृ० ५३०
१६. 'ता० रे०,' पृ० ७
१७. वही, पृ० १०
१८. वही, पृ० १२
१९. रघुनाथ
२०. मीर
२१. ग़ालिब
२२—२५. रघुनाथ
२६. नासिख़
२७. 'रस प्रबोध,' पृ० ३५-३६

अध्याय ७

१. 'भ० सं०', भूमिका 'ग'
२. 'हमीर हठ'

अध्याय ८

१. ग़ालिब
२. मीर
३. 'पा० क० र०'
४. रघुनाथ
५. ग़ालिब
६. ज़ौक़

अध्याय ९

१. नासिख़
२, ३. मीर
४. 'हितहरंगिणी'
५. पदमाकर
६. फ़ायज़
७. 'शृं० सु०'
८. 'षट्० का०'
९. 'री० मौ०,' पृ० ३२२
१०. मीर

अध्याय १०

१. ब्लाख़मन, पृ० ८१-८२
२. 'ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौन्दर्य,' पृ० १ (प्राक्कथन)
३. 'षट्० का०'

पुस्तक-नामानुक्रमणिका

अभिज्ञान शाकुन्तलम्	संपा० राघव भट्ट	सन् १९५८
अलक शतक तिल शतक	मुबारकअली 'मुबारक'	सन् १८९१
अलंकार दर्पण	रामसिंह	१९५६ वि०
अलंकार मंजरी	कन्हैया लाल पोद्दार	पंचम संस्करण
अली आदिलशाह का काव्य संग्रह	संपा० श्रीराम शर्मा और मुबारिजुद्दीन 'रफ़त'	सन् १९५८
अवध के प्रथम दो नवाब	आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव	सन् १९५७
आँख और कविगण	संपा० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी	प्र० सं०
आबेहयात (उर्दू)	मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' देहलवी	सन् १९६२
आलमकेलि	संपा० लाला भगवान दीन 'दीन'	१९७९ वि०
इंतख़ाबे कलामे आतश (उर्दू)	संपा० एजाज़ हुसेन	१९७२ वि०
इंतख़ाबे कलामे दाग़ (उर्दू)	संपा० मुहम्मद अक़ील	सन् १९६०
इंतख़ाबे क़सायदे उर्दू (उर्दू)	संपा० डा० अबू मुहम्मद 'सहर'	सन् १९६९
इंतख़ाबे मोमिन मय शरह (उर्दू)	संपा० ज़हीर अहमद सिद्दीक़ी	—
उर्दू और उसका साहित्य	गोपीनाथ 'अमन'	प्र० सं०
उर्दू-काव्य में ईश्वर-भक्ति	ज्वालाप्रसाद भार्गव	सन् १९७१
उर्दू-साहित्य का इतिहास	ब्रजरत्नदास	२०१४ वि०
उर्दू मर्सिए की रवायत (उर्दू)	मसीहुज्ज़माँ	सन् १९६९
ऋतु संहार	संपा० पं० केदारनाथ शर्मा	सन् १९६२
औरंगज़ेबनामा	अनु० मुंशी देवीप्रसाद 'मुंसिफ़'	
	भाग १	सन् १९०९
	भाग २	सन् १९१०
	भाग ३ १९७० वि०	शके १८३५
अंग दर्पण	सैयद ग़ुलाम नबी 'रसलीन'	सन् १९०५
कलामे-इंशा (उर्दू)	संपा० मिर्ज़ा मुहम्मद अस्करी व मुहम्मद रफ़ी	सन् १९५२
कविकुल कंठाभरण	दूलह	१९९२ वि०
कविता कौमुदी, भाग १	रामनरेश त्रिपाठी	तृ० सं०
कवितोष और सुधानिधि	संपा० डा० सुरेश माथुर	२०२२ वि०
कविप्रिया	संपा० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी	सन् १९६०

कवि हृदय	संपा० श्यामलाला ताजर कुतौ	प्र० सं०
काव्य कलाधर	रघुनाथ बन्दी जन	सन् १८९२
काव्य कल्पद्रुम	कन्हैयालाल पोद्दार	पंचम संस्करण
कुल्लियाते इंशा अल्लाखाँ (उर्दू) (इलाहाबाद युनिवर्सिटी लाइब्रेरी का नम्बर ८११ यू १४५)		
क़ुल्लियाते नज़ीर अकबराबादी (उर्दू)		सन् १९२२
कुल्लियाते मीर (उर्दू)	संपा० अब्दुलबारी 'आसी'	सन् १९४०
कुल्लियाते मीर आतश (उर्दू)		सन् १९१५
रसिक रसाल	कुमार मणि	१९९४ वि०
कुल्लियाते मोमिन (उर्दू)		सन् १९२३
कुल्लियाते मुसहफ़ी जिल्द २ (उर्दू)	संपा० निसार अहमद फ़ारुक़ी	सन् १९६७
कुल्लियाते वली (उर्दू)	संपा० सै० नूरुल्हसन हाशिमी	सन् १९४५
कुल्लियाते सौदा (उर्दू)	संपा० मुबारिज़ुद्दीन 'रफ़अत'	सन् १९६२
गोस्वामी तुलसी दास	रामचन्द्र शुक्ल	२००८ वि०
गंग कबित्त	संपा० बटेकृष्ण	२०१७ वि०
ग्वाल रत्नावली	संपा० कवि किंकर	सन् १९४५
घन आनन्द कबित्त	संपा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	षष्ठ संस्करण
चारुदत्तम्	संपा० त० गणपति शास्त्री	सन् १९१४
जंजीरा	कवि कालिदास	१९५१ वि०
जायसी ग्रंथावली	रामचन्द्र शुक्ल	२००८ वि०
ठाकुर ठसक	संपा० लाला भगवानदीन 'दीन'	१९८३ वि०
तारीखे-रेख्ती मय दीवाने जान साहब (उर्दू)	संपा० सै० मुहम्मद मुबीन साहब नक़बी	प्र० सं०
द आईने अकबरी ऑव अबुल फ़ज़्ल-ए-अल्लामी (अँगरेज़ी)	अनु० कर्नल एस० एस० जैरेट, जि० ३	सन् १८९४
द आईने अकबरी वाल्यूम १ (अँगरेज़ी)	अनु० एच० ब्लाखमन	सन् १९३९
थ्री मुग़ल पोएट्स (अँगरेज़ी)	राल्फ़ रसेल एंड ख़ुर्शीदुलइस्लाम	सन् १९६८
दीवान्-ए ज़ौक़ (उर्दू)	संपा० मलिक मुहम्मद इनायतउल्ला	दूसरा संस्करण
दीवान्-ए नासिख, जिल्द अव्वल व दोम (उर्दू)		सन् १९२३
देवसुधा	संपा० मिश्र बन्धु	२००५ वि०

कवि हृदय	संपा० श्यामलाला ताजर कुतौ	प्र० सं०
काव्य कलाधर	रघुनाथ बन्दी जन	सन् १८९२
काव्य कल्पद्रुम	कन्हैयालाल पोद्दार	पंचम संस्करण
कुल्लियाते इंशा अल्लाखाँ (उर्दू) (इलाहाबाद युनिवर्सिटी लाइब्रेरी का नम्बर ८११ यू १४५)		
कुल्लियाते नज़ीर अकबराबादी (उर्दू)		सन् १९२२
कुल्लियाते मीर (उर्दू)	संपा० अब्दुलबारी 'आसी'	सन् १९४०
कुल्लियाते मीर आतश (उर्दू)		सन् १९१५
रसिक रसाल	कुमार मणि	१९९४ वि०
कुल्लियाते मोमिन (उर्दू)		सन् १९२३
कुल्लियाते मुसहफ़ी जिल्द २ (उर्दू)	संपा० निसार अहमद फ़ारुक़ी	सन् १९६७
कुल्लियाते वली (उर्दू)	संपा० सै० नूरुल्हसन हाशिमी	सन् १९४५
कुल्लियाते सौदा (उर्दू)	संपा० मुबारिज़ुद्दीन 'रफ़अत'	सन् १९६२
गोस्वामी तुलसी दास	रामचन्द्र शुक्ल	२००८ वि०
गंग कबित्त	संपा० बटेकृष्ण	२०१७ वि०
ग्वाल रत्नावली	संपा० कवि किंकर	सन् १९४५
घन आनन्द कबित्त	संपा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	षष्ठ संस्करण
चारुदत्तम्	संपा० त० गणपति शास्त्री	सन् १९१४
जंजीरा	कवि कालिदास	१९५१ वि०
जायसी ग्रंथावली	रामचन्द्र शुक्ल	२००८ वि०
ठाकुर ठसक	संपा० लाला भगवानदीन 'दीन'	१९८३ वि०
तारीख़े-रेख़्ती मय दीवाने जान साहब (उर्दू)	संपा० सै० मुहम्मद मुबीन साहब नक़बी	प्र० सं०
द आईने अकबरी आॅव अबुल फ़ज़्ल-ए-अल्लामी (अँगरेज़ी)	अनु० कर्नल एस० एस० जैरेट, जि० ३	सन् १८९४
द आईने अकबरी वाल्यूम १ (अँगरेज़ी)	अनु० एच० ब्लाखमन	सन् १९३९
थ्री मुग़ल पोएट्स (अँगरेज़ी)	राल्फ़ रसेल एंड खुर्शीदुलइस्लाम	सन् १९६८
दीवान्-ए ज़ौक़ (उर्दू)	संपा० मलिक मुहम्मद इनायतउल्ला	दूसरा संस्करण
दीवान्-ए नासिख़, जिल्द अव्वल व दोम (उर्दू)		सन् १९२३
देवसुधा	संपा० मिश्र बन्धु	२००५ वि०

नखशिख बलभद्र कृत और राधामुख गोविन्द गीला भाई कृत षोडशी सन् १८९४
नवरस तरंग (बेनी प्रवीन) संपा० कृष्ण बिहारी मिश्र सन् १९२५
नागरी दास ग्रंथावली द्वि० खं० संपा० किशोरी लाल गुप्त २०२२ वि०
नाथसरोज पं० लोकनाथ कवि सन् १८८९
पद्माकर ग्रंथावली संपा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र २०१६वि०
पावस कवित्त रत्नाकर संपा० परमानन्द सुहाने सन् १८९३
प्रतिमा नाटकम् संपा० त० गणपति शास्त्री सन् १९१५
प्रयाग नारायण विलास वन्दीदीन दीक्षित प्र० सं०
प्रिया प्रकाश संपा० लाला भगवानदीन 'दीन' प्र० सं०
प्रेम लतिका रंगपाल सन् १९०२
फ़ायज़ देहलवी और दीवान्-ए-फ़ायज़ (उर्दू) संपा० सैयद मसऊदहसन रिज़वी 'अदीब' सन् १९६५
फ़ैलन का हिन्दी कहावत कोश संपा० कृष्णानन्द गुप्त सन् १९६६
बिहारी रत्नाकर टीकाकार, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' सन् १९६०
बिहारी बोधिनी टीकाकार, लाला भगवानदीन २०१० वि०
बिहारी सतसई-सञ्जीवन-भाष्य *टीकाकार, पद्मसिंह शर्मा प्र० सं०
बिहारी सतसई सटीक टीकाकार पं० कृष्ण दत्त कवि सन् १९२७
ब्रजभाषा साहित्य का ऋतु सौन्दर्य प्रभुदयाल मीतल प्र० सं०
बोस्ताने मारफ़त (उर्दू) संक० ज्वाला प्रसाद भार्गव सन् १९७१
भड़ौआ संग्रह संग्र० नकछेदी तिवारी और सुधाकर कवि प्र० खं० सन् १९२८, दूसरा खंड प्र० सं०
भारत की राष्ट्रीय संस्कृति आबिद हुसेन, अनु० महेन्द्र चतुर्वेदी २०१५ वि०
भूषण संपा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्र० सं०
भिखारीदास ग्रंथावली संपा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र खंड १ २०१३ वि०, खंड २ २०१४ वि०
भुवनेश भूषण संपा० त्रिलोकीनाथ सिंह सन् १८८४
मनोज मंजरी चतुर्थ कलिका संग्र० नकछेदी तिवारी 'अजान' सन् १९०६
महल्खाना-ए-शाही (उर्दू) मिर्जा फ़िदाअली खंजर लखनवी सन् १९१४
महाभारत (द्वि० खं०) अनु० राम नारायण दत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम' प्र० सं०
मसनवी सहरुल्बयान (उर्दू) संपा० ज़हीर अहमद सिद्दीक़ी प्र० सं०

मसनवी सहरुल्बयान (उर्दू)	संपा० रशीद हसन	सन् १९६६
मुक़द्दमाए-शेरोशायरी (उर्दू)	संपा० महमूदअली जैदी	सन् १९७२
मुग़ल साम्राज्य का पतन	अनु० मथुरालाल शर्मा प्रथम खण्ड	सन् १९६१
	द्वितीय खण्ड	सन् १९६४
	तृतीय खण्ड	सन् १९६४
	चतुर्थ खण्ड	सन् १९६४
मुश्किलाते-ग़ालिब (उर्दू)	नियाज़ अहमद फ़तहपुरी	सन् १९६१
रतन हजारा : रसनिधि	संपा० हरिमोहन मालवीय	प्र० सं०
रसराज	व्याख्याकार-रामजी मिश्र	सन् १९६०
रसविलास	देव	सन् १९००
रसिक प्रिया	संपा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	द्वि० सं०
रसिक मोहन	रघुनाथ बन्दीजन	सन् १८९०
रस प्रबोध	सै० गुलाम नबो 'रसलीन'	सन् १८९०
रहीम रत्नावली	संपा० मायाशंकर याज्ञिक	तृतीयावृत्ति
रीतिकाल के प्रमुख प्रबंध काव्य (सं० १७०० वि०-१९०० वि०)	डा० इन्द्रपाल सिंह 'इन्द्र'	सन् १९६५
रूहे-अनीस (उर्दू)	संपा० सै० मसऊदहसन रिज़वी 'अदीब'	सन् १९६४
ललित ललाम	मतिराम	प्र० सं०
वाजिदअली शाह और अवध राज्य का पतन	परिपूर्णानन्द वर्मा	प्र० सं०
विरह वारीश माधवानल काम-कंदला चरित्र भाषा	[illegible]	सन् १८९४
शब्द रसायन	संपा० जानकीनाथ सिंह 'मनोज'	तृ० सं०
शरहे दीवान्-ए-उर्दू-ए ग़ालिब (उर्दू)	जनाब मौलवी सै० अली हैदर साहब तबा तबाई लखनवी	सन् १९६१
श्रृंगार [illegible]-कार कवि चिंतामणि	संपा० भगीरथ मिश्र	सन् १९५६
श्रृंगार लतिका	महाराज मानसिंह 'द्विजदेव'	सन् १८९५
श्रृंगार बत्तीसी (द्विजदेव)	संपा० त्रिलोकी नारायण सिंह	सन् १८८५
श्रृंगार सतसई	रामसहाय	१९५३ वि०
श्रृंगार सुधाकर	संग्र० द्विजमन्नालाल	प्र० सं०
श्रृंगार संग्रह	संग्र० सरदार कवि	सन् १८८८

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण अनु० पाण्डेय रामनारायण दत्त शास्त्री प्र० सं०
षट्ऋतु काव्य संग्रह संग्र० हफ़ीजुल्लाखाँ सन् १८८६
स्टडीज इन नायक-नायिका भेद
(अँगरेज़ी) राकेश गुप्त प्र० सं०
सम आस्पेक्ट्स ऑव सोसायटी एण्ड कल्चर
ड्यूरिंग द मुग़ल एज (अँगरेज़ी) प्राणनाथ चोपड़ा सन् १९६३
सबअ-ए-मसानी जिल्द १ (उर्दू)
संपा० सै० सरफ़राज हुसैन साहब 'खबीर' सन् १९३०
सुखसागर तरंग संपा० बालादत्त मिश्र सन् १८६८
सुजान चरित्र सूदन कविकृत संपा० राधाकृष्ण दास १९८० वि०
सुन्दर शृंगार सुन्दर कवि १९२१ वि०
सूरसागर खण्ड १ नागरी प्रचारिणी सभा सं० २०२१
सूरसागर खण्ड २ नागरी प्रचारिणी सभा २०२६ वि०
सोमनाथ रत्नावली सन् १९४८
हफ़ीजुल्लाखां का हजारा भाग १ व २ सन् १९१५
हमीर हठ (चन्द्रशेखर) संपा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' प्र० सं०
हमीर हठ ग्वालकवि १९४० वि०
हम्मीररासो (जोधराज) संपा० श्यामसुन्दरदास प्र० सं०
हिततरंगिणी संपा० रत्नाकर प्र० सं०
हिन्दी काव्य में शृंगार-
परम्परा और बिहारी गणपतिचन्द्र गुप्त प्र० सं०
हिन्दी कोश साहित्य अचलानन्द जखमोला प्र० सं०
हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल छठा संस्करण
हिन्दी साहित्य का अतीत भाग २ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वि० सं०
